खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना

आशा गुप्ता

नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

much progress until the beginning of this century. The entire period of Khariboli poetry and the development of its power of expression has been treated chronologically. In one wide sweep this book covers, in the 4th chapter, the six centuries from about 1250 to 1850, from Amir Khusrau to the setting up of Khariboli as the most important language of prose in the Hindi world. After that the authoress has treated the subsequent history under the leadership of such eminent writers as Bhartendu Harishchandra, Shridhar Pathak, Bal Mukund Gupta and others, right down to 1900 A. D., when Mahavir Prasad Dwivedi came into the field and gave a new life to Khariboli, both in prose and in verse.

As an objective chronological study, this book can be fully recommended for all students of modern Hindi literature. This work shows generally a freshness of approach and outlook, but I feel that the authoress has been a little too much under the influence of the Old School of Rhetoricians in formulating her theory of expression in chapter 3.

I am glad to see that this work is at last seeing the light of the day in print, and for me its value will be primarily as an enthology of modern Hindi Khariboli poetry, giving us fairly wide glimpes of the expressiveness, together with beauty of form, which has developed in modern Hindi as the inheritor of the great literary tradition of Northern India.

May 5, 1960.

(Sd.) Suniti Kumar Chatterji

Emeritus Professor of Comparative Philology,

University of Calcutta.

Chairman, West Bengal Legislative Council.

दो शब्द

हिन्दी में शोध-कार्य का आरम्भ जितनी मंथर गति से हुआ था, उसके विकास में उतनी ही त्वरा आ गई है और गत दशक में उसके परिमाण एवं क्षेत्र दोनों का विस्तार स्वयं ही अनुसंधान का विषय बन गया है। तत्त्व-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—(१) तथ्य-परक और (२) तत्त्व-परक, जो क्रमशः सफल अनुसंधान के दो अनुबंधों अर्थात् 'अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण' तथा 'उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान' के ही प्रोद्भास हैं। तथ्य-दृष्टि से हिन्दी अनुसंधान में अनेक प्रवृत्तियों का आकलन किया जा सकता है; सबसे पहले तो हम दो व्यापक वर्ग बना सकते हैं—भाषाविज्ञान-सम्बन्धी शोध और साहित्य-विषयक शोध। इसके उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जहाँ विभिन्न धाराओं का अनुसंधान किया जा सकता है, वहाँ साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक अंतःप्रवृत्तियों का उद्घाटन सहज सम्भव है। इस क्षेत्र में तीन आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं ऐतिहासिक, वैयक्तिक और शास्त्रीय। ऐतिहासिक अनुसंधान के अंतर्गत एक ओर हिन्दी साहित्य के किसी काल-खण्ड का ऐतिहासिक विवेचन मिलता है और दूसरी ओर किसी साहित्य-विधा या साहित्य-सम्प्रदाय अथवा साहित्य-धारा की परम्परा का भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है—और साथ ही सांस्कृतिक तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का भी अध्ययन हो रहा है। वैयक्तिक अनुसंधान से अभिप्राय है कवि-लेखकों का स्वतंत्र शोधपरक अध्ययन—सामान्य लेखकों का अध्ययन सर्वांग होता है, महान् कवि-लेखकों के एक-एक अंग को लेकर भी अनुसंधान होता है। शास्त्रीय अनुसंधान की परिधि व्यापक है; उसके अंतर्गत साहित्य के वस्तु-तत्त्व और कला-तत्त्व दोनों का अध्ययन अनेक शास्त्रों के प्रकाश में किया जा रहा है; वस्तु-तत्त्व से सम्बद्ध शास्त्र हैं दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि, और कलातत्त्व के सहायक शास्त्र हैं काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आदि। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, रसशास्त्रीय अध्ययन और उधर साहित्य-विधाओं के सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन अर्थात् उनके कला-रूपों के सौन्दर्य-तत्त्वों का अध्ययन, शास्त्रीय अनुसंधान के अन्तर्गत आते हैं। तीसरा वर्गीकरण पद्धतिमूलक भी हो सकता है; पद्धतियाँ सामान्यतः तीन हैं—ऐतिहासिक, शास्त्रीय और वैज्ञानिक। ऐतिहासिक पद्धति में प्राधान्य रहता है परिवेश और परम्परा का और इसका मूलवर्ती दृष्टिकोण विश्लेषात्मक तथा व्यक्तिपरक न होकर संश्लेषात्मक एवं सामासिक होता है। शास्त्रीय पद्धति का आधार है शास्त्र जिसमें विश्लेषण प्रमुख रहता है; अनुसंधाता की दृष्टि सिद्धान्त के प्रकाश में वस्तु और

रूप का निरीक्षण-परीक्षण करती है। वैज्ञानिक पद्धति सामान्यतः अनुसंधान के सभी रूपों को बींधती हुई अपने वस्तुगत तथ्य-ग्राही दृष्टिकोण के कारण शेष दो से भिन्न हो जाती है--शास्त्रीय पद्धति से भिन्न यह निगमन की अपेक्षा अनुगमन का ही अवलंब लेती है और सांख्यिकी की विधियों तथा उपायों पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

हिन्दी में अनुसंधान की प्रायः ये सभी प्रवृत्तियाँ-पद्धतियाँ लक्षित होती हैं और सभी पर प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ऐतिहासिक और शास्त्रीय पद्धतियों का संमिश्रण है। लेखिका ने कई वर्षों के अनवरत परिश्रम से खड़ीबोली कविता के अज्ञात स्रोतों का अन्वेषण कर जहाँ एक ओर हिन्दी की एक विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है वहाँ दूसरी ओर काव्य-रूपों के विभिन्न प्रकारों का प्राचीन तथा नवीन अलंकारशास्त्र के प्रकाश में स्वच्छ विश्लेषण भी किया है। हिन्दी के काव्य-सम्प्रदायों या काव्य-प्रवृत्तियों के भाव-तत्त्व तथा विचार-तत्त्व का विवेचन जिस प्रभूत मात्रा में आज उपलब्ध है उसकी अपेक्षा में रूप और अभिव्यंजना का प्रामाणिक विश्लेषण कहीं कम है। मुझे संतोष है कि डॉक्टर आशा गुप्ता ने इस क्षेत्र में अभीष्ट सफलता प्राप्त की है। इस अनुसंधान से अनेक अज्ञात तथ्य प्रकाश में आए हैं और ज्ञात तथ्यों के आख्यान से आधुनिक कविता के अभिव्यंजना-शिल्प के मोहक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। लेखिका का यह प्रयास रहा है कि विषय से संबद्ध अधिकाधिक उपलब्ध सामग्री का संचयन कर, प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाये। इसलिए उनके निष्कर्षों में यथेष्ट प्रामाणिकता है। आज के हिन्दी अनुसंधाता का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह उपाधि प्राप्त करने की अधीरता में मूल सामग्री का संचय न कर प्रायः पराश्रित रहकर ही संतोष कर लेता है। अनेक शोध-ग्रन्थों का परीक्षण करने पर यह दोष सहज ही परिलक्षित हो जाता है। इसके कारण शोध में दो और दोष उत्पन्न हो जाते हैं—एक तो यह कि पुनरावृत्ति के कारण ज्ञान का प्रसार अवरुद्ध हो जाता है और दूसरा यह कि अनेक अशुद्ध तथ्य अथवा अशुद्ध निष्कर्ष अनायास ही पुष्ट होते रहते हैं। मेरा विचार है कि इस ग्रन्थ में अधीरता-जन्य यह दोष नहीं है।

इन शब्दों के साथ मैं अपनी शुभकामनाओं के साथ, डॉ० आशा गुप्ता के शोध-प्रबन्ध को हिन्दी के विद्वानों एवं काव्य-मर्मज्ञों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—नगेन्द्र

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध में खड़ीबोली-काव्य के अभिव्यंजना सौष्ठव पर प्रकाश डालने का यत्किञ्चित प्रयास किया गया है। हिन्दी-जगत् में प्राय: यह धारणा बद्ध-मूल हो चुकी है कि 'खड़ीबोली' शब्द का नामकरण और अर्थ 'ब्रजभाषा' सापेक्ष्य है। किन्तु तथ्यों एवं प्रमाणों पर दृष्टिपात करने से वस्तुस्थिति कुछ और ही लक्षित हुई। प्रबन्ध के पहले अध्याय में इन्हीं तथ्यों और प्रमाणों के आधार पर 'खड़ीबोली' शब्द के सम्बन्ध में तर्क और प्रमाणाश्रित निष्कर्ष प्रस्तुत करके इस भ्रान्त धारणा के निराकरण का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट वर्ग की यह धारणा भी है कि भारतेन्दु युग से पूर्व रहीम, आलम, सीतल प्रभृति गिने-चुने कवियों को छोड़कर अधिकांश ने खड़ीबोली-काव्य-प्रणयन की ओर विशेष अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। खड़ीबोली-कविता के अखण्ड प्रवाह का सन्धान करते हुए दूसरे अध्याय में प्रदर्शित किया गया है कि भारतेन्दु-युग से पूर्व शताधिक कवि खड़ीबोली-काव्य-रचना में प्रवृत्त रहे।

प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में अभिव्यंजना के शास्त्रीय पक्ष का विस्तार है। अभिव्यंजना के विविध उपकरणों में 'छन्द' को समाविष्ट न करने का कारण स्पष्ट है। 'छन्द' काव्य के शब्द और अर्थ का बाह्य अथवा आन्तरिक गुण न होकर वाक्य-विचार का बन्ध मात्र माना जा सकता है ; क्योंकि छन्द-मुक्त पद भी 'कविता' कहलाने का अधिकारी होता है। चौथे अध्याय में भारतेन्दु-युग से पूर्व के केवल उन्हीं कवियों के काव्य-शिल्प का विवेचन किया गया है जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भाषा के स्वरूप या अभिव्यंजना के विकास में योगदान किया। पाँचवें अध्याय में भारतेन्दु-युगीन कवियों की खड़ीबोली-रचनाओं का समवेतरूप से अध्ययन इसलिए किया गया क्योंकि उनमें न तो अभिव्यंजना-कौशल का वैविध्य है और न रचयिताओं की आत्मा का प्रधान एवं प्रखर स्वर। काल की दृष्टि से श्रीधर पाठक एवं बालमुकुन्द गुप्त, भारतेन्दु और द्विवेदी युग के 'सन्धि-स्थल' पर खड़े हैं। अतः उनकी खड़ीबोली-कविता का अनुशीलन स्वतंत्र रूप से छठे अध्याय में किया गया है।

द्विवेदी-युगीन कवियों में हमने माधव शुक्ल, मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी', बद्रीनाथ भट्ट, गिरिधर शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, गोपालशरणसिंह, भगवानदीन प्रभृति कवियों की रचनाओं का अनुशीलन नहीं किया है। क्योंकि कलेवर की दृष्टि से प्रचुर होने पर भी उनमें काव्य-शिल्प, भंगिमा, विच्छित्ति, लाक्षणिकता, विदग्धता आदि गुणों का प्राय: अभाव है। हाँ, माखनलाल चतुर्वेदी की आठ-दस रचनाएँ सन् १९२० ई० तक अवश्य प्रकाशित हो चुकी थीं, किन्तु इन स्वल्प संख्यक रचनाओं से चतुर्वेदीजी की भावी काव्य-प्रतिभा और

अभिव्यंजना सामर्थ्य का समुचित अनुमान लगाना दुष्कर है। इस कारण उनकी कविताओं का भी मूल्यांकन नहीं किया जा सका। एक बात और, प्रस्तुत प्रबन्ध में खड़ीबोली-काव्य के वर्ण्य-विषय का उतना ही संकेत दिया गया है जितना उसकी काव्य-शैली पर प्रभाव डालता है ; इससे अधिक कहना अनावश्यक विषय-विस्तार होता।

इस प्रबन्ध के लिखने की प्रेरणा मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र से मिली थी। उन्होंने इसकी रूपरेखा निश्चित की थी और वे ही समय-समय पर गुत्थियाँ सुलझाकर मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहे। इस प्रबन्ध के निरीक्षक पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने शोध-पद्धति का यथार्थ निर्देशन करके अनेक स्थलों पर मुझे पथ-भ्रान्त होने से बचाया। प्रस्तुत प्रबन्ध वस्तुतः उन्हीं के अनुग्रह का परिणाम है। इन गुरुजनों के सतत पथ-निर्देश से ही मैं ऐसा कृच्छ्र-साध्य कार्य पूर्ण कर सकी हूँ। अतः उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करने के लिए शिष्टाचार की वाणी में औपचारिक धन्यवाद देकर मैं कदापि उऋण न हो सकूँगी।

श्रद्धेय डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है जिन्होंने मेरे इस बाल-प्रयास को आद्योपान्त पढ़कर अपनी सम्मति से गौरवान्वित किया है। उनकी लेखनी से प्रशंसा का एक शब्द भी पा लेना मेरे जैसे अकिंचन विद्यार्थी के लिए सचमुच ही कितना उत्साह-वर्द्धक है यह शब्दों द्वारा व्यक्त करना बड़ा कठिन है।

अन्त में नेशनल-लाइब्रेरी कलकत्ता, आर्य भाषा पुस्तकालय काशी, मारवाड़ी लाइब्रेरी दिल्ली, महावीर जैन लाइब्रेरी दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के अध्यक्षों तथा अन्य कार्यकर्ताओं को मेरे अनेकानेक धन्यवाद हैं जिनके सहयोग से दुर्लभ एवं अप्राप्य ग्रन्थों का सन्धान सम्भव हो सका।

इस प्रबन्ध के आकार-प्रकार के विषय में भी दो शब्द कहूँ। प्रकाशक और मुद्रक का यदि सजग प्रयास एवं सहयोग न होता तो यह प्रबन्ध सम्भवतः इस रूप में प्रस्तुत न हो पाता। यदि इसमें कहीं त्रुटि है तो इसका कारण केवल मेरी अबोधता है।

दिनांक—१ मई, १९६१.

—आशा गुप्ता

विषय-सूची

पहला अध्याय खड़ीबोली की व्युत्पत्ति, क्षेत्र तथा रूप पृ० १—४२

खड़ीबोली की व्युत्पत्ति—पृ० १-१३, हिन्दी, हिन्दवी एवं हिन्दुई नाम—पृ० १३, उर्दू, रेख़्ता अथवा हिन्दुस्तानी नाम—पृ० १३-१६, खड़ीबोली शब्द के अर्थ—पृ० १६-३१, खड़ीबोली का क्षेत्र—पृ० ३१-३३, खड़ीबोली के रूप—पृष्ठ ३४, बोलचाल (ग्रामीण) की खड़ीबोली एवं साहित्यिक खड़ीबोली में अन्तर—पृ० ३४-३८, खड़ीबोली एवं उर्दू में अन्तर—पृ० ३८-४२

दूसरा अध्याय खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त इतिहास पृ० ४३—७५

प्राचीन काव्य में खड़ीबोली के प्रयोग—पृ० ४३-४५, दक्खिनी हिन्दी—पृ० ४५-४६, संतकाव्य में खड़ीबोली—पृ० ४६-५०, सूफ़ी-काव्य में खड़ीबोली—पृ० ५०-५१, भक्तिकालीन सगुण काव्य में खड़ीबोली—पृ० ५१-५२, रीतिकाल में खड़ीबोली-काव्य—पृ० ५२-५८, भारतेन्दु युग—पृ० ५८-६४, खड़ीबोली-आन्दोलन—पृ० ६४-६७, द्विवेदी युग—पृ० ६७-७५

तीसरा अध्याय अभिव्यंजना पृ० ७६—१०६

अभिव्यंजना—पृ० ७६-७७, अभिव्यंजना और काव्य—पृ० ७७-८८, अभिव्यंजना के मूल तत्व—पृ० ८८-८६, अभिव्यंजना की विविधता—पृ० ८६-६०, शब्दकोश—पृ० ६०-६३, वाक्य-विन्यास—पृ० ६३-६५, अलंकार—पृ० ६५-६८, प्रतीक-योजना—पृ० ६६-१००, पाश्चात्य अलंकार—पृ० १००-१०१, शब्द-शक्ति—पृ० १०१-१०३, गुण—पृ० १०३-१०४, रीति-वृत्ति —पृ० १०४-१०६

चौथा अध्याय खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना (सं० १३००-१६००) पृ० १०७—१६६

अमीर खुसरो—खुसरो-काव्य की प्रामाणिकता—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, गुण —पृ० १०७-११४

दक्खिनी काव्य—भाषा —पृ० ११४-१२०

संत-साहित्य—कबीर—कबीर के काव्य की प्रामाणिकता, कबीर तथा अन्य संत-कवियों के खड़ीबोली-पदों की विषयवस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, प्रतीक-योजना, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० १२०-१२६
अन्य संत-कवि—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० १२६-१४०
अब्दुर्रहीम खानखाना—विषय-वस्तु, भाषा, अलंकार, काव्य-गुण, —पृ० १४०-१४४
आलम—अध्ययन-सामग्री, विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, —पृ० १४४-१४८
घनानन्द—'वियोग बेलि' की भाषा —पृ० १४८-१५०
नागरीदास—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-सौष्ठव, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० १५०-१५४
शाह आलम—विषय-वस्तु, अजिव्यंजना-सौष्ठव, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि —पृ० १५४-१५८
नजीर अकबराबादी—अभिव्यंजना पक्ष, भाषा —पृ० १५८-१६१
पद्माकर भट्ट—भाषा —पृ० १६१-१६२
सवाई प्रतापसिंहदेव 'ब्रजनिधि'—खड़ीबोली-काव्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० १६२-१७५
सीतलदास—खड़ीबोली-काव्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० १७५-१८४
वृन्दावन जैन—विषय-वस्तु, भाषा, अलंकार-विधान, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण, —पृ० १८४-१८६
साह कुन्दनलाल, 'ललितकिशोरी' तथा साह फुन्दनलाल 'ललितमाधुरी'—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, गुण—पृ० १८६-१९३
सिंहावलोकन —पृ० १९३-१९६

पाँचवाँ अध्याय भारतेन्दु युग (सं० १९००-१९४२) पृ० १९७—२१२
भारतेन्दु तथा उनके युग का खड़ीबोली-काव्य—वर्ण्य-विषय, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्यगुण, —पृ० १९८-२१२

छठा अध्याय सन्धि-काल (सं० १९४१-१९६०) पृ० २१३—२४०
श्रीधर पाठक—अनूदित खड़ीबोली-काव्य—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना पक्ष,

भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति एवं काव्य-गुण —पृ० २१४-२३०
स्वतंत्र खड़ीबोली-काव्य—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० २३०-२३७
बालमुकुन्द गुप्त—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा—पृ० २३७-२४०

सातवाँ अध्याय द्विवेदी युग (सं० १९५७-१९७७) पृ० २४१—४५३

महावीरप्रसाद द्विवेदी—मौलिक काव्य, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति —पृ० २४२-२५३
अनूदित काव्य —भावपूर्ण स्थलों का सफल निर्वाह, अलंकार —पृ० २५३-२६२
नाथूराम शंकर शर्मा—वर्ण्य-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण—पृ० २६२-२८०
पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—प्रबन्ध काव्य तथा फुटकर काव्य की विषय-वस्तु, प्रिय प्रवास का अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण— —पृ० २८०-३०७
फुटकर काव्य—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार-योजना, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० ३०७-३२३
राय देवीप्रसाद पूर्ण—विषय-वस्तु अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अप्रस्तुत-विधान, शब्द-शक्ति—पृ० ३२३-३३७
पं० रामचरित उपाध्याय — विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० ३३७-३६३
पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि —पृ० ३६३-३७२
मैथिलीशरण गुप्त—मौलिक काव्य—प्रबन्ध काव्य तथा फुटकर काव्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार—शब्द-शक्ति, काव्य-गुण —पृ० ३७२—४०२
अनूदित काव्य —पृ० ४०२-४०६
पं० रामनरेश त्रिपाठी—विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-शैली, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे—अप्रस्तुत-विधान, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण, —पृ० ४०६-४२१
सियारामशरण गुप्त—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार-योजना, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण—पृ० ४२१-४३३

पं० मुकुटधर शर्मा पाण्डेय—अभिव्यंजना-पक्ष, भाषा, लोकोक्ति-मुहावरे, अलंकार, प्रतीक-योजना, काव्य-गुण —पृ० ४३३-४४४

अभिव्यंजना में समृद्धि के लक्षण—पृ० ४४५-४५३

परिशिष्ट १ पृ० ४५५—४६६

सहायक ग्रंथ-सूची—संस्कृत-ग्रंथ —पृ० ४५५

हिन्दी-ग्रंथ —पृ० ४५६-४६२

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ —पृ० ४६३

उर्दू ग्रंथ —पृ० ४६३

अंग्रेजी-ग्रंथ —पृ० ४६४-४६६

अनुक्रमणिका— ग्रंथकार —पृ० ४६७-४७३

परिशिष्ट २ पृ० ४६७—४७९

ग्रंथ —पृ० ४७३-४७९

पहला अध्याय

खड़ीबोली की व्युत्पत्ति, क्षेत्र तथा रूप

खड़ीबोली की व्युत्पत्ति

भाषा-विशेष के अर्थ में **खड़ीबोली** नाम ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि अन्य भाषाओं की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' एवं 'रामचरित्र' में मिलता है। ये गद्य-ग्रन्थ फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डॉ० जान गिलक्राइस्ट के आदेश से लिखे गये थे। लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र अपने ग्रन्थों की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं:—

१—"श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की **खड़ीबोली** में कह नाम प्रेमसागर धरा।"[1]

२—"अब सं० १८६० में नासिकेतोपाख्यान को जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है देववाणी से कोई-कोई समझ नहीं सकता। इसलिये **खड़ीबोली** में किया।"[2]

३—"अब इस पोथी को भाषा करने का कारण सिद्ध है कि·········मिस्टर जान गिलक्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्म रामायण को ऐसी बोली में करो जिसमें अरबी-फ़ारसी न आवे······तब मैं इसको **खड़ीबोली** में कहने लगा और सं० १८६२ में इस पोथी को समाप्त किया और नाम इसका रामचरित रखा।"[3]

इसके पश्चात् डॉ० गिलक्राइस्ट द्वारा रचित 'द हिन्दी स्टोरी टेलर', 'द ओरिएंटल फव्युलिस्ट' तथा 'द हिन्दी रोमन ऑर्थोएपिग्रेफिक अल्टिमेटम' में भी इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ प्रयोग विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण उल्लेख्य हैं।

१—"इन (कहानियों) में से कई **खड़ीबोली** अथवा हिन्दुस्तानी के शुद्ध हिन्दवी ढंग की हैं; कुछ व्रजभाषा में लिखी जायंगी।"[4]

---

१. प्रेमसागर, पृ० १, १८०५, प्रथम संस्करण

२. नासिकेतोपाख्यान, पृ० २

३. रामचरित्र—पृ० २ (हस्तलिखित प्रति) इंडिया आफिस
—हिन्दी अनुशीलन—पृ० ३४ : चैत्र-ज्येष्ठ २०११, वर्ष ७ अंक १ से उद्धृत।

4. "Many of those are in the Khuree Bolee or the pure Hinduwee style of the Hindustanee, while some will be given in the Brij Bhasha."
—The Hindee Story Teller. Vol. II 1803. p. 2 Calcutta.

२—"मुझे खेद है कि ब्रजभाषा के साथ **खड़ीबोली** की भी उपेक्षा कर दी गई थी। हिन्दुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली उस भाषा के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती।"[1]

३—"ठेठ **खड़ीबोली** में हिन्दुस्तानी के व्याकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता है और अरबी-फ़ारसी का प्रायः पूर्ण परित्याग रहता है।"[2]

४—"शकुन्तला का दूसरा अनुवाद **खड़ीबोली** अथवा भारतवर्ष की 'निराली' (ख़ालिस) बोली में है। हिन्दुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात में है कि अरबी और फ़ारसी का प्रत्येक शब्द छांट दिया जाता है।"[3]

५—"प्रेमसागर एक बहुत ही मनोरंजक पुस्तक है जिसे लल्लूजीलाल ने हमारे विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की शिक्षा देने के निमित्त ब्रजभाषा की सुन्दरता और स्वच्छता के साथ **खड़ीबोली** में किया। इससे अंग्रेज़ी भारत की हिन्दू जनता के वृहत् समुदाय को भी लाभ होगा।"[4]

प्रेमसागर से पहले के किसी अन्य साहित्यिक गद्य-पद्य ग्रन्थ अथवा ऐतिहासिक पुस्तक में खड़ीबोली शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। स्वयं डॉ० गिलक्राइस्ट भी इस शब्द से पहले अपरिचित थे, यह सदल मिश्र की उक्ति से स्पष्ट है कि, "एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्म रामायण को **ऐसी बोली** में करो जिसमें अरबी-फ़ारसी न आवे !" सम्भवतः इसीलिये उनके प्रेमसागर से पूर्व रचित ग्रन्थ—ओरिएंटल लिंग्विस्ट (१७९८ ई०) तथा अपेंडिक्स टु गिलक्राइस्ट डिक्शनरी (१७९८ ई०) में 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे उनका तात्पर्य "भारत की उस प्राचीन भाषा से है जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व देश की भाषा

1. "I very much regret that along with Brij Bhasha the Khuree Bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindustanee would have proved highly useful to the students of that language."
—The Oriental Fabulist, p. 5. 1803 Calcutta. Hurkaru Office.

2. "The real Khuree Bolee is distinguished by the general observance of Hindustanee grammar and nearly a total exclusion of Arabic and Persian words."
—The Oriental Fabulist. p. 5. 1803. Calcutta.

3. "Another version of Sukoontala is in the Khuree Bolee or sterling tongue of India. This differs from the Hindustanee merely by excluding every Arabic and Persian word."
—The Hindee-roman ortho-epigraphic ultimatum. p. 19 (foot note), 1804 Calcutta.

4. "The Prem Sagur, a very entertaining book, rendered with elegance and fidelity from the Brij Bhasha into the Khuree Bolee by Lalloojee Lal expressly to effect the grand object of teaching our scholars the Hindoostanee in its most extended sense and with proper advantages among the grand Hindoo mass of the people at large in British India."
—The Hindee-roman ortho-epigraphic ultimatum. p. 20 (footnote), 1804. Calcutta.

थी और जो अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी का मूलाधार है।"[1] खड़ीबोली शब्द की अनुपलब्धि इस तथ्य का द्योतक है कि उस समय तक यह शब्द भाषा विशेष के अर्थ में प्रचलित न था।

भाषा के इस नूतन नाम को देखकर कतिपय परवर्ती विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि खड़ीबोली नाम से व्यवहृत यह बोली 'नई' है। अतएव उन्होंने इसके उद्‌भव के सम्बन्ध में अनेकानेक कल्पनाएं कर डालीं।

राजा शिवप्रसाद ने लिखा कि, "(जब) डा० गिलक्राइस्ट ने मीर अम्मन और लल्लूजी-लाल कवि से भाषा में कुछ गद्य पुस्तकें लिखने को कहा तो वे दोनों बहुत ही द्विविधा में पड़ गये होंगे (क्योंकि) वह (भाषा) उनके लिए एक नई चीज थी। (अतः) उन्होंने लिखा तो परन्तु दोनों ही ने कृत्रिम भाषा में लिखा।"[2] और डॉ० ग्रियर्सन ने कहा कि "यह हिन्दी भाषा के उद्‌भव का समय था जिसे अंग्रेज़ों ने आविष्कृत किया और गद्य-साहित्य में इसका उपयोग गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में सर्वप्रथम १८०३ में 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूजी लाल ने किया।"[3] इसके अतिरिक्त सदल मिश्र और लल्लूजीलाल दोनों 'भाखा'-मुंशियों ने डॉ० गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार कथा-वाचनार्थ अरबी-फ़ारसी शब्दों का पूर्ण परित्याग कर दिया था। अतएव 'यामनी भाषा को छोड़' जैसे वाक्यांशों के कारण उर्दू-हिन्दी साहित्य जगत् में यह भी भ्रान्ति फैली कि उर्दू ही खड़ीबोली की जन्मदात्री है। डॉ० अब्दुल हक़ ने दावा पेश किया कि, "फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के मुंशियों ने (खुदा उनकी अरवाह को शरमाए) बैठे-बिठाए बिला वजह और बग़ैर ज़रूरत यह शोशा छोड़ा। लल्लूजीलाल ने जो उर्दू के ज़बादां और उर्दू किताबों के मुसन्निफ़ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ चुन-चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिन्दी के नामानूस लफ़्ज़ जमा दिए; लीजिए हिन्दी बन गई।"[4]

---

1. "Hinduwee I have constantly applied to the old language of India which prevailed before the Moosalman invasion and in fact now constitutes among them the basis or ground work of the Hindustanee, a comparatively recent superstructure composed of Arabic and Persian."
—Oriental Linguist. p. 3, 1798. Calcutta.

2. "When Dr. Gilchrist asked Mir. Amman and Lalloji Lal Kavi to write some vernacular books in Prose, they must have felt themselves very puzzled. It was quite a new thing for them; they wrote but they both wrote in an artificial language."
—Hindi Selections. Part. II. 1867. Shiv Prasad.

3. "It was the period of the birth of the Hindi language invented by the English and first used as a vehicle of literary prose composition in 1803, under Gilchrist's tuition by Lalloji Lal, the author of the Prem Sagar.
—The modern vernacular literature of Hindoostanee—Introduction. p. 22, G.A. Grierson. 1889.

४. 'उर्दू' पृ० ३८३, अंजुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू, औरंगाबाद (दकन), अप्रैल १९३७

यह भ्रम हिन्दी साहित्य के अनेक मनीषी विद्वानों को भी हो गया। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कहा कि, "खड़ीबोली या पक्की बोली या रेख़ता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू-रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई।.........हिन्दी गद्य-भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरम्भ होती है.........पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी है।......विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' बोली को 'खड़ी' बताकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।"[1] जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी शब्द-भेद से यही बात दोहराई। उन्होंने कहा कि "जो भाषा आजकल खड़ीबोली के नाम से कही जाती है वह हमारी समझ में उर्दू का ही रूपान्तर है। आरम्भ में तो वह उर्दू भाषा में 'भाखा' के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई और फिर शनैः शनैः उसमें संस्कृत के शब्द मिलाये जाने लगे।"[2] लाला भगवानदीन के विचार से "फ़ारसी में ही कुछ व्रज और कुछ बांगड़ू का टेक लगाकर बोली को 'खड़ा' कर दिया गया और उसका नाम पड़ गया खड़ीबोली। (खड़ीबोली किसी बोली का नाम नहीं है वह सिर्फ हिन्दी की तारीफ है फ़ारसी आर्याई बोली है।)"[3] कदाचित् इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसे 'नई भाषा' या 'साधु भाषा' नाम से अभिहित किया है।[4]

इसके अतिरिक्त प्रेमसागर की खड़ीबोली अत्यधिक व्रजरंजित थी और डॉ० गिलक्राइस्ट व्रजभाखा को हिन्दुस्तानी का मूलाधार भी घोषित कर चुके थे।[5] अतएव उर्दू-हिन्दी के लेखकों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि दोनों शैलियाँ व्रजभाषा की ही औरस पुत्री हैं। एक ओर बालमुकुन्द गुप्त ने अपने 'हिन्दी-भाषा' शीर्षक लेख में कहा कि, "वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं व्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।"[6] और दूसरी ओर मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद (१८३३-१९१० ई०) ने 'आबेहयात' में ज़बाने-उर्दू की तारीख बताते हुए फ़रमाया कि, "इतनी बात हर शख़्स जानता है कि हमारी नई ज़बान बिरजभाषा से निकली है और बिरजभाषा ख़ास हिन्दोस्तानी ज़बान है। लेकिन वो ऐसी ज़बान नहीं है कि दुनिया के परदे पर हिन्दोस्तान के साथ आई हो। उसकी उम्र

---

१. पुरानी हिन्दी, पृ० १०८, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

२. खड़ी बोली का आन्दोलन, पृ० २१, डा० शितिकंठ मिश्र

३. हिन्दुस्तानी पत्रिका (१९४६), पृ० २५१, महात्मा भगवानदीन

४. हिन्दी भाषा, पृ० १०, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

5. "The Hindustanee is so immediately connected with the Brij Bhasha in the ground work of the whole, which the moonshees understand very imperfectly, that I am often at a loss for adequate assistance in that position of the language."
—Proceedings of the Council of the College of Fort William. Home Miscellaneous Vol. I p. 62-63.
Extract from a letter of Dr. Gilchrist, dated the 4th January, 1802 to Charles Rothman, Secretary to the College Council.

६. हिन्दी भाषा—भूमिका 'क'—बालमुकुन्द गुप्त

आठ सौ बरस से ज़्यादह नहीं है और बिरज सब्ज़ाज़ार उसका वतन है।"[1]

इस प्रकार के अवैज्ञानिक मतों का तर्कपूर्ण खण्डन करने की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविदों ने अनेक तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि शौरसेनी अपभ्रंश-प्रसूत "पश्चिमी हिन्दी के मेरठ-बिजनौर के निकट बोले जाने वाले एक रूप 'खड़ीबोली' से वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है······भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली रहा, अतः फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता से बातचीत और व्यवहार करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के अड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतंत्रतापूर्वक मिला लेना इनके लिये स्वाभाविक था।······शाही दरबार से सम्पर्क में आने वाले हिन्दुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक था क्योंकि फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित किन्तु अपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी······शासकों द्वारा अपनाए जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट समुदाय की भाषा मानी जाने लगी ······उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।······उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ीबोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं।"[2] प्रारम्भ में यह बोली स्वरूप और स्थान-भेद के कारण कितने नामों से जानी जाती थी और इसका नाम 'खड़ीबोली' किस प्रकार पड़ा, यह डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में सुनने योग्य है। "हिन्दी, हिन्दुस्तानी या 'हिन्दुस्थानी' और 'खड़ीबोली' वगैरह भिन्न-भिन्न नामों से कही जाने वाली केवल एक मूल भाषा है जो पश्चिमी श्रेणी के अन्तर्गत एक बोली या भाषा या उपभाषा मात्र है ······दिल्ली की बोली 'पाएतख़्त' अर्थात् राजधानी की बोली थी······मुसलमान राज्य-शक्ति तथा उससे सम्बन्धित हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य की भाषा न होने

---

१. आबेहयात 'ज़बाने उर्दू की तारीख़' पृ० ६, मुहम्मद हुसैन आज़ाद

२ (क) हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका, पृ० ५६, ६१-६२, डा० धीरेन्द्र वर्मा

(ख) "Western Apabhramsa was something like Hindustani in those days; it created everywhere mixed literary dialects on its own basis with local elements which were unavoidable ...... it fell also on Hindustani (Hindi) when it came to be characterised at first at Delhi and then in the Deccan......The nobles at Delhi and Agra spoke an old form of Hindustani—Khari Boli mingled with contiguous dialects Panjabi, Braj, Jaipuri, Marwari, and with a fairly large Perso-Arabic vocabulary."

—Indo-Aryan and Hindi. p. 175, 179, Dr. S.K. Chatterjee, 1942.

(ग) पश्चिमी हिन्दी, अथवा केन्द्रीय हिन्दी आर्यभाषा की प्रधान पांच विभाषाएं हैं—खड़ीबोली, ब्रजभाषा, कनौजी, बांगरू और बुन्देली······इसकी (खड़ीबोली) उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है······यह खड़ीबोली ही आजकल की हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों का मूलाधार है······खड़ीबोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है।

—भाषा विज्ञान; पृ० १०६, डॉ० श्यामसुन्दरदास

पर भी बोलचाल की मुख्य अथवा प्रतिष्ठित भाषा होने से पीछे इसका नया नाम पड़ा खड़ीबोली।"[१] डॉ० ताराचन्द ने भी हिन्दुस्तानी की व्याख्या करते हुए कहा है कि, "हिन्दुस्तानी कोई मनगढ़न्त नई भाषा नहीं है, वह वही खड़ीबोली है जिसे दिल्ली और मेरठ के आस-पास रहने वाले बहुत पुराने वक्तों से बोलते चले आते हैं।"[२] हॉब्सन-जॉब्सन कोश के प्रणेताओं ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का उर्दू भाषा के पर्याय में प्रयोग किया है किन्तु उसका आधार आगरा-दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों की बोली ही माना है।[३] सन् १८८१ की जनसंख्या रिपोर्ट में पंजाब की विभिन्न बोलियों का उल्लेख करते हुए चार्ल्स इब्बट्सन ने भी शब्द-भेद से यही कहा।[४] इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैयाकरण मिस्टर बीम्स का भी मत है कि बोलचाल की हिन्दी (खड़ीबोली) के आधार पर उर्दू का भवन टिका हुआ है। वे कहते हैं, "यह सामान्य बोली प्राचीन राजधानी दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र में उत्पन्न हुई। बोलचाल की वही हिन्दी, भाषा के नए रूप का आधार बनी जिसमें संज्ञा और क्रियाओं का रूप-परिवर्तन हिन्दी का था और अत्यन्त प्रचलित शब्द भी रखे गए। किन्तु फ़ारसी, अरबी, यहां तक कि तुर्की शब्द इस प्रकार सन्निविष्ट हो गये जैसे अंग्रेज़ी में लेटिन और ग्रीक शब्द।"[५]

यही नहीं, विदेशी गवर्नर, इतिहासज्ञ, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष

---

१. भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं, पृ० ५८

२. हिन्दुस्तानी १९३८, पृ० २१३

3. Hindostanee, S. Hindustani, properly an adjective but, used substantively in two senses, viz (a) a native of Hindustan and (b) (Hindustani Zaban) "The language of that country but in fact the language of the Mohammedans of Upper India and eventually of the Mohammedans of the Deccan, developed out of the Hindi dialect of the Doab chiefly, and of the territory round Agra and Delhi with a mixture of Persian vocables and phrases, and a readiness to adopt other foreign words .It is also called Oordoo. i.e. the language of the Urdu ('Horde')or camp.

—Hobson-Jobson. p. 317. Edited by Williom Crooke.

4. The Urdu form of Hindi—the modern literary form had sprung from the ancient literary dialect of Hindi and the Lingua Franca of the educated and official classes through out Bengal Presidency.

—Report on the Census of Panjab. p. 161. (Taken on the 17th Feb. 1881) by Dr. Charles J. Ibbetson, Vol. I. Calcutta 1883.

5. This common dialect had its origin apparently in the country round Delhi, the ancient capital and the form of Hindi, spoken in that neighbourhood, was adopted by degrees as the basis of a new phase of the language in which, though the inflections of nouns and verbs remained purely and absolutely Hindi and vast number of the commonest vocables were retained, a large quantity of Persian and Arabic and even Turkish words found a place just as Latin and Greek words do in English.

—Report on the Census of the Panjab. (Taken on the 17th Feb. 1881.) p. 162. by D. Charles J. Ibbetson, Vol. I Calcutta. 1883.

तथा परीक्षक आदि सभी ने यह अनुभव कर लिया था कि उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी भारत की जन-प्रचलित भाषा नहीं है, अतएव इसके सम्यक् एवं समुचित ज्ञान के लिए उसकी मूलाधार बोली का ज्ञान अनिवार्य है चाहे वह खड़ीबोली हो अथवा 'हिन्दवी'। छह वर्ष काम करने के उपरान्त जब एल्फ़िन्स्टन अवकाश लेकर सन् १८०६ में कलकत्ता गये तब उन्होंने कहा था कि, "यहां के लोग इस भाषा 'मूर्स' अर्थात् उर्दू में बात करते हैं जिसमें वे सोचते नहीं।"[1] और मिस्टर ब्लॉक मैन के अनुसार, "हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही बोली में बात करते थे जिसका नाम 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' था।"[2] इस हिन्दी में फ़ारसी के शब्द कैसे अधिकाधिक सन्निविष्ट होते गये यह ई० होरविट्ज़ के शब्दों में सुनिए। वे कहते हैं, "यह विशेष आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दी अधिकाधिक फ़ारसीमय हो गई। मुगलों ने हिन्दुओं पर विजय पाई पर हिन्दी की विजय उससे भी बड़ी थी। उसने असभ्य विजेताओं को जीत लिया। एक पीढ़ी के बाद हिन्दी ज़बान तैमूर के अनुयायियों के कैम्प में स्थापित हो गई। उन्होंने हिन्दी को अपनी आवश्यकतानुसार नवीन सांचे में ढाल लिया और उसे 'उर्दू' भाषा अर्थात् कैम्प की भाषा कहा। किन्तु हम इसे 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं क्योंकि उर्दू सारे भारत में प्रचलित है।"[3]

खड़ीबोली में प्रेमसागर लिखने की प्रेरणा देने वाले हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डॉ० गिलक्राइस्ट ने स्वयं भी 'हिन्दवी' को मुसलमानी आक्रमण से पूर्व भारत की प्रचलित बोली तथा उस पर आधृत अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी को अपेक्षाकृत अर्वाचीन कहा है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तानी' की 'सैक्सन' और 'अंग्रेज़ी' भाषा के सम्बन्ध से तुलना की है।[4] बाद में जब फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विद्यार्थियों के हिन्दी पठन-

1. Elphinstone—"Where people speak what they do not think in Moor's—that is Urdu".
—The Men who rule India—The Founders—Philip Woodruff.
2. "Both Hindus and Mohammedans spoke the same vernacular, viz., Hindi or as it was then called Hindvi".
—"The Hindu Rajas under the Moghuls"—Calcutta Review, 1871.
3. "It is no great matter for surprise that Hindi was more and more persianised. The Moghuls had conquered the Hindus, but Hindi gained a victory greater still, over the rude conquerers. After another generation, the Hindi tongue was firmly established in the camp of Timur's followers. They modernized Hindi according to their needs and called it Urdu i.e. camp language, but we say Hindustani because Urdu is still current all over Hindustan".
—Short History of Indian literature. p. 159. by Horrwitz.
4. Hinduwee, I have treated as the exclusive property of the Hindoos alone, and have therefore constantly applied it to the old language of India which prevailed before Moosulman invasion and in fact now constitutes among them the basis or ground work of the Hindoostanee, a comparatively recent superstructure composed of Arabic and Persian, in which the two last may be considered in the same relation that Latin and French bear to English, while we may justly treat the Hinduwee of the modern speech or Hindoostanee as the Saxon of the former. —Oriental Linguist, p. 3 Calcutta, 1798.

पाठन पर विशेष बल नहीं दिया गया तो तत्कालीन हिन्दुस्तानी अध्यक्ष जे० टेलर एवं परीक्षक जे० रौएवक ने कौंसिल के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों के नाम (क्रम से १४ नवम्बर १८१२ तथा १६ नवम्बर १८१२ को) जो पत्र लिखे थे, उनमें स्पष्ट कहा था कि, "हिन्दी मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व भारत के सारे उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में बोली जाती थी और अब भी इन प्रान्तों के आदिम हिन्दू इसे बोलते हैं। यही खड़ीबोली या 'ठेठ' हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी की विशिष्ट बोली जो सारे भारत विशेषतया दिल्ली-आगरे में बोली जाती है कालेज में उसी रूप में नहीं पढ़ाई जाती जैसे प्रारम्भ में पढ़ाई जाती थी जब हिन्दुस्तानी अध्यक्ष के पास दो भाखा-मुंशी थे।"[१] एस० डब्ल्यू फैलन ने अपने भाषा निबन्ध में स्पष्ट कहा कि, "जो ट्यूटॉनिक और अंग्रेज़ी का सम्बन्ध है वही हिन्दी और उर्दू का है। जो उत्तम अंश अंग्रेज़ी में लैटिन और ग्रीक का है वही उर्दू में फ़ारसी-अरबी का है। हिन्दी इस कपड़े का 'ताना' तथा फ़ारसी-अरबी उसका बाना है। उनके विचार से, "यह मिश्रित भाषा, जो हिन्दुओं और फ़ारसी-भाषी मुगल विजेताओं के निकट सम्पर्क के कारण सहज रूप में विकसित हुई, बाद में सम्पर्क न रहने पर भी विदेशी मुहावरों से अनुप्राणित होती रही··· (इस तरह) सच्ची भाषा दब गई, उसको घृणापूर्वक तिरस्कार करके किनारे ढकेल दिया गया···दरबार और सार्वजनिक कार्यालयों से अपमानित होकर यह 'प्रकृत हिन्दी' आज भी सामाजिक या घरेलू जीवन एवं बाज़ारों में जीवित है। देश की सारपूर्ण उक्तियों, लोकोक्तियों, राष्ट्र-गीतों आदि में आज भी उसकी आत्मा का ऐसा प्रभाव है जिसके समक्ष विदेशी और अपेक्षाकृत कम परिचित बोली (उनका तात्पर्य उर्दू से था) दुर्बल एवं अशक्त दृष्टिगत होती है। इन हिन्दी पद-पदांशों की जड़ें जनता के स्वभाव और सभा-समाजों में गहराई तक

---

1. (A) "In answer to that part of your letter in which you beg to be informed whether there has been any sensible decline of learning in the college, I sincerely declare my opinion that in the Hindoostanee, abstractly considered, none has taken place but......I speak only of the Hindoostanee or Rekhta in the Persian character......and not of the Hindee in its own character or that language, which, totally divested of all Persian and Arabic, was the vernacular one of all the N.W. Provinces before the Moossalman invasion of India and is still in use amongst the Hindu aboriginies of those Provinces—"

   —Letter from J.W. Taylor to J. Tombelle, President and members of the college council dated 14th Nov. 1812.
   Proceedings of the College of Fort William.
   Home miscellaneous, Volume IV. p. 276-277.

   (B) "I find that the dialect called Khuree Bolee or teuth Hindee or the dialect of the Hindusstanee spoken by the great body of the Hindus through out the whole of Hindoostan and particularly in the cities of Dillee and Agra is not taught in the college as it used to be, when the Hindoostani professor had two assistants.

   —ibid. p. 282-291. Letter dated 16th Nov. 1812, from J. Roebuck (Examiner to the Council of the College of Fort William.)

जमी हुई हैं जो उच्चतम से लेकर निम्नतम (लोगों) के भावानुरूप एवं बुद्धिगम्य हैं।"[१] कदाचित् इसीलिए इसे 'कृत्रिम भाषा' घोषित करने वाले राजा शिवप्रसाद इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए आगे चलकर कहते हैं कि, "फ़ारसी-अरबी शब्दों से लदी हुई इस 'नई भाषा प्राकृत' को हिन्दी, हिन्दुस्तानी, भाखा, ब्रजभाषा, रेख़ता, खड़ीबोली, उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला कुछ भी नाम दिया जाय (परन्तु यह निश्चित है कि) इसका बीजारोपण महमूद ग़जनी के परवर्तियों के हाथों हुआ।"[२] मौलाना अब्दुल हक़ ने भी अपने 'क़वायदे उर्दू' में स्वीकार कर लिया है कि 'उर्दू' हिन्दुस्तान में जन्मी है और इसकी बुनियाद 'पुरानी हिन्दी' पर है, क्रिया पद जो भाषा का प्रधान अंग हैं और सर्वनाम तथा कारक चिह्न सबके सब हिन्दी हैं, सिर्फ संज्ञा और विशेषण अरबी-फ़ारसी के दाखिल हो गये हैं।[3] और सम्भवतः इसीलिए डाक्टर ग्रियर्सन भी पश्चिमी हिन्दी की बोली के रूप में 'हिन्दुस्तानी' के अनेक प्रकारों का अस्तित्व मानते हैं।[४]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है खड़ीबोली और उर्दू दोनों आत्मजाओं के ब्रजभाषा

1. "What the teutonic element is to English, Hindi is to Urdu. What the classical element Latin and Greek is to English, Persian and Arabic are to Urdu. Hindi is the warp of the texture, Persian and Arabic are the woof .... This mixed language, the natural growth originally of close intercourse between the Hindoos and their moghul conquerors who spoke Persian, continued to receive large accessions of foreign idiom for years after all intercourse had ceased. ...... The true vernacular is overwhelmed, thrust aside and scornfully ignored .... Beaten off from the courts and Public offices, native Hindi still lives in the busy mart and in the familiarities of social and domestic life. In the pithy sayings, proverbs and national songs of the country dwells a spirit and an influence beside which the foreign and less familiar speech seems feeble and flat. These Hindi phrases have deep root in the habits and associations of the people. They come home to the feelings and understanding of the highest and the lowest."
   —An English Hindustani Law and Commercial Dictionary of words and phrases. S. W. Fallon. Calcutta. 1858. Dissertation p. 11, 12. 14.

2. "Whether this new dialect, the Prakrit enriched with Persian and Arabic words, be called Hindi or Hindustani, Bhakha or Braj Bhasha, Rekhta or Khari Boli, Urdu or Urdu-i-muallah, its seeds were sown by the followers of Mohammed of Ghaznee."
   —Hindi Selections, Part VI. p. 10. Shiv Prasad.

३. हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० ४८-४६, पद्मसिंह शर्मा

4. As a dialect of Western Hindi, Hindustani presents itself under several forms. These may first of all be considered under two heads viz. Vernacular Hindustani and literary Hindustani founded thereon. Vernacular Hindustani is the language of the Upper Gangetic Doab and of Western Rohilkhand.
   —A Linguistic Survey of India. Vol. IX. Part I p. 47. G. A. Grierson.

से उद्भूत मानने की भ्रान्ति का कारण कुछ तो प्रेमसागर की ब्रजरंजित भाषा और कुछ फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के 'हिन्दुस्तानी' अध्यक्षों की नासमझी था। पन्द्रह-सोलह वर्ष (१७८२-१७९८) तक 'हिन्दुस्तानी' का पर्याप्त अध्ययन करके तथा समस्त उत्तरप्रदेश में घूम-फिरकर डॉ० गिलक्राइस्ट को यह तो विदित हो गया था कि भारत की मूलभाषा 'हिन्दवी' है, किन्तु यह शब्द (हिन्दवी) उन्होंने स्थान-भेद से बोली जाने वाली दोआब की सभी बोलियों के लिए व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया था। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हिन्दुस्तानी का आधार 'ब्रजभाखा' निश्चित किया।[१] कॉलेज के कर्मचारियों को भाषा-भेद का समुचित ज्ञान हो जाने पर भी 'हिन्दुस्तानी' के आधार के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही। विलियम प्राइस ने कॉलेज के हिन्दी-अध्यक्ष के पद से ११ अक्तूबर १८२४ को कौंसिल के सैक्रेटरी कैप्टेन रडेल के नाम जो पत्र लिखा उसमें खड़ीबोली का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया, उसे ही उर्दू का आधार माना और सैक्रेटरी से अनुरोध किया कि खड़ीबोली को हिन्दी नाम से व्यवहृत किया जाय। उन्होंने यह भी कहा कि अन्य भगिनी भाषाओं से इसके पार्थक्य का कारण विदेशी पदांशों का प्रभाव मात्र है, क्योंकि सब प्रकार का अन्तर होते हुए भी सबका एक ही व्याकरण है। उनके विचार में उच्चतम उर्दू तथा निम्नतम 'भाषा' की वाक्य-रचना, तथा अन्य रूप प्रायः समान ही हैं। उदाहरण देते हुए प्राइस साहब ने कहा कि, "उर्दू तथा भाषा के सम्बन्ध-कारक-चिह्न 'का-के-की' तथा 'को-के-की' में विशेष अन्तर नहीं है। (और) भाषा का 'मैं मारचो जातो हौं' तथा उर्दू का 'मैं मारा जाता हूं' भी लगभग एक से हैं।" वे आगे चलकर कहते हैं कि, "ब्रजभाषा और उर्दू के उदाहरणों में जो थोड़ा-बहुत अन्तर अभी स्पष्ट किया गया है उस शैली-वैविध्य का कारण केवल प्रान्तीयता है।"[२] सम्भवतः इसीलिए रडेल ने लुशिंगटन को २४ सितम्बर

१. देखिए : प्रस्तुत प्रबन्ध ; पृ० ४

2. "Much perplexity has arisen with regard to the languages of the Upper Provinces from a disposition to consider them as distinct from Hindoostanee and each other, and from not regarding them as mere modifications of one common form, the construction of which is still essentially the same in all, although the words may occasionally vary-......Whatever, therefore, may be its origin we have now a Hindee grammar of unborrowed construction, distinct on the one hand from what might be conceived to be parent of the whole, and on the other, from dialects supposed to be its descendents as Maharatta and Bengalee. It, therefore, gives to the language, to which it belongs, a fair claim to be considered as an independent form of speech, to which the denomination 'Hindee' will be most conveniently attached though "Hindoove" corruptly, "Hindwee" might be a more accurate terms....The predominating influence of foreign term has so modified the 'Hindee' as to give some of its dialects the appearance of being different languages......amidst all the shades of difference; however the grammar has remained unaffected. It is still essentially but one, and the highest Oodroo and the lowest Bhasha, observe the same or a very similar system of constuction. There is no redical difference between ka, ke, kee, and ko, ke, kee the terminations of the possessive

१८२४ को पत्र में लिखा था कि, "इस प्रेज़ीडेंसी के अन्तर्गत क्षेत्रों में प्रचलित किसी भी संस्कृत-प्रसूत बोली का व्याकरण-ज्ञान उसी स्रोत से निकलने के कारण अन्य भगिनी भाषाओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा । अतएव कॉलेज कौंसिल में······नये नियमों के अन्तर्गत फ़ारसी भाषा के साथ हिन्दुस्तानी की जगह बंगाली या ब्रजभाषा (जिसे ठेठ हिन्दी या हिन्दवी भी कहा जाता है) का पर्याप्त ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय ।"[१]

एच० टी० कोलब्रुक ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से सम्बन्धित एक लेख में कहा है कि, "कान्यकुब्जों का बहुत बड़ा राज्य था जिसकी राजधानी कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज थी । उन्हींकी भाषा सम्भवतः 'आधुनिक हिन्दुस्तानी' का आधार है जिसे 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' नाम से भी अभिहित किया जाता है । इसकी दोनों बोलियों में अन्तर स्पष्ट है । एक अधिक सभ्य है दूसरी कम । इसमें से पहली का नाम 'हिन्दी' है और दूसरी 'प्राकृत' के समान 'कुत्सित' है ।"[२] ईस्ट इंडिया कॉलेज हेलबरी के उर्दू अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने भी इनका

---

case respectively, of Oordoo and Bhakha; and the Bhasha "muin maryo jatoo huon" is much the same as the "muin mara jata hoon", of the Oordoo. The slightest difference between the Brij Bhasha and the Oordoo just exemplified are mere provincialisms' corresponding varieties.'

—Letter from William Price (dated 11th October 1824) to Captain Ruddel, Secretary to the College Council. p. 503-506. Proceedings of the College of Fort William. Home miscellaneous, Vol. IX

1. "A grammatical knowledge of any one of the vernacular dialects derived from the Sanscrit and current within the territories under this Presidency, could not fail of being attended with advantages in facilitating the acquirement of any other sister dialect derived from the same source almost equal to what would be denied from an elementary knowledge of the Sanscrit itself ...... The Council of the College may consider the propriety of making such an alteration in the statute......(Section XIX of the fourth chapter of the statutes) so modified in addition to the Persian language, a competent knowledge of either the Bengalee or Brij Bhakha (also called the theuth Hindee or Hindovee) instead of the Hindoostanee Language."

   —Letter from Ruddell (24th September 1824) to C. Lushington, Secretary to the Government, General Department. p. 495-500. Proceedings of the College of Fort William. Home Miscellaneous. Vol. IX

2. "The Canya-cubjas possessed a great empire, the metropolis of which was the ancient city of Canyacubja or Canoj. Theirs' seem to be the language which forms the ground work of modern Hindustani and which is known by the appellation of Hindi or Hindavi. Two dialects of it may be easily distinguished, one more refind the other less so. To this last the name of Hindi is sometimes restricted while the other is often confounded with Pracrit."

   —Asiatic Researches p. 220. Vol. VII 1803. "On the Sanscrit and Pracrit languages."by H. T. Colebrooke. (Second imp.).

समर्थन कर डाला। आपने फरमाया कि, "हिन्दी, हिन्दुस्तानी दोनों का आधार मिस्टर कोलब्रुक ने ठीक ही कहा है, उत्तरभारत की राजधानी कन्नौज की भाषा 'हिन्दवी' है। यह मथुरा के आसपास ब्रजक्षेत्र में अब भी बोली जाती है। इसलिए इसे ब्रजभाषा भी कहते हैं।"[1]

वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भी खड़ीबोली की विशिष्टताओं का अध्ययन करने की ओर न तो किसीका ध्यान गया और न उसका अपना कोई व्याकरण बना था। इस सम्बन्ध में मि० विलसन का कथन उल्लेखनीय है। आप कहते हैं "हिन्दी की बोलियों की विशिष्टताओं का कभी अध्ययन ही नहीं किया गया। हमारे पास केवल एक ब्रजभाषा का व्याकरण है जो बहुत छोटा है। कहने योग्य कोश जैसा भी कुछ उपलब्ध नहीं होता। 'प्रेमसागर' ही मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसका (इस दृष्टि से) कुछ मूल्य है।"[2]

निष्कर्षतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि खड़ीबोली विदेशियों की देन नहीं है। न वह "उर्दू पर से बनाई गई" और न ब्रजभाषा उसकी माता है। ब्रजभाषा की तरह यह भी शौरसेनी-अपभ्रंश-प्रसूत पश्चिमी-हिन्दी से उत्पन्न हुई। प्रारम्भ में यह दिल्ली-मेरठ तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी। देश में जब मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली राजधानी घोषित कर दी गई तो फ़ारसी-भाषी विदेशियों का भारतीय जनता के साथ सम्पर्क बढ़ा। शनैः-शनैः दिल्ली की स्थानीय बोली फ़ारसी-कोश से जीवनदायिनी शब्द-शक्ति संचित करने लगी। दोनों जातियों की सामाजिक एवं राजनीतिक मैत्री के साथ इसका प्रचार एवं प्रसार हुआ और स्थान-भेद तथा प्रयोग-भेद से इसके स्वरूप-भेद भी होते गये। इस प्रकार साहित्य-जगत् में यह हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई, उर्दू, रेखता, दाकिनी आदि अनेक नामों से पहिचानी जाने लगी। इसके बोलचाल के रूप को हिन्दोस्थानी अथवा 'मूर्स' भी कहा जाता था।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जब प्रस्तुत बोली के इतने नाम प्रचलित थे तब 'खड़ीबोली' नये नाम की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इन्ही में से एक नाम क्यों नहीं चुन लिया गया ? इसकी एक ही संभावना है। डॉ० गिलक्राइस्ट द्वारा निर्धारित 'हिन्दुस्तानी' की विभिन्न

1. "The ground work, both of Hindi and Hindustani is, without doubt as stated by Mr. Colebrooke in the seventh volume of the Asiatic Researches, 'the Hindawi', the language of Canoj, the ancient metropolis of Northern India. It is still spoken in the district of Brij, in the neighbourhood of Mathura. Hence it is also called Braj Bhakha."
—"A concise grammar of the Hindustani language"
Preface by E.B. Eastwick.

2. "The peculiarities of the Hindi dialects have never been investigated and we have a grammar of only one of them, the Braj, which is some what meagre. There is nothing that deserves the name of a Dictionary ...... Prem Sagar is the only work that is an authority of any value."
—A glossary of Judicial and Revenue terms. Preface p. 25,
—by H.H. Wilson. 1855. Enlarged edition by Ganguli and Basu—
Eastern Law House, Calcutta. 1950.

शैलियों तथा उनके प्रचलित रूढ़ नामों ने लल्लूजीलाल को 'प्रेमसागर' की भाषा को नवीन नाम देने पर बाध्य किया हो। प्रचलित नामों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस सम्भावना की पुष्टि भी हो जाती है।

हिन्दी, हिन्दवी एवं हिन्दुई नाम

उर्दू साहित्य में इसके जितने नाम प्रचलित हैं उनमें 'हिन्दी' 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दुई' सबसे पुराना है। मुसलमान लेखकों ने इसका सर्वत्र प्रयोग किया है। कहा जाता है कि सादल्दवलाह मसउद (मृत्यु ५२५ हि०) ने एक हिन्दी दीवान लिखा था।[1] अमीर ख़ुसरो के नाम से प्राप्त 'ख़ालिक बारी' (उर्दू-हिन्दी कोश) में बारह बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का उल्लेख मिलता है। कवि सौदा के उस्ताद शाह हातम और आतिश भी अपने अभिव्यक्ति-माध्यम को इसी नाम से अभिहित करते थे। सादी के समकालीन बाक़र आगाह (११५७ हि० में जन्म) ने अपने उर्दू-दीवान का नाम 'दीवाने हिन्द' रखा था।[2] उर्दू के उस्ताद इंशा ने अपने 'दरिया-ए-लताफ़त' में भी इस शब्द का कई स्थलों पर प्रयोग किया है। अब्दुल क़ादिर सरवरी साहब ने बाक़र आगाह के दीवान का मुताला करते हुए कहा है कि, 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' इसका (उर्दू) कदीम तरीन नाम था''''''उर्दू' और 'दखनी' के लिए भी यह लफ़्ज़ बिला तकल्लुफ़ इस्तेमाल होता था। उर्दू, हिन्दी, दखनी एक ही ज़बान के मुखतलिफ़ नाम हैं।"[3]

उर्दू, रेख़ता अथवा हिन्दुस्तानी नाम

उर्दू पद्य-साहित्य की भाषा को 'रेख़ता' नाम से भी अभिहित किया जाता था। कहते हैं कि 'रेख़ता' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सादी दक्खिनी के कलाम में मिलता है जो वली दक्खिनी से पूर्व आदिलशाह अव्वल के समय (सन् १५८६) में हुआ था।[4] बाद में शाह मुबारक आबरू, मीर, सौदा, ग़ालिब, जुरअत, क़ायम आदि सभी शायरों ने अपनी काव्य-भाषा को 'रेख़ता' संज्ञा दी। अरबी-फ़ारसी मिश्रित पद्यबद्ध शेरों की भाषा के लिए उर्दू नाम कब से चल पड़ा, इसका निर्णय अभी तक किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर नहीं हुआ है। कहा जाता है अठारहवीं शती के अन्त में (१७९७ ई०) सैयद अताहुसेन तहसीन ने चहार दरवेश का तर्जुमा 'नौतर्ज़ेमुरस्सा' के नाम से किया था। उसमें इन्होंने अपनी ज़ुबान के लिए 'रेख़ता', 'हिन्दी' और ज़बान 'उर्दू-ए-मुअल्ला' तीनों नाम एक ही प्रसंग और एक ही पृष्ठ पर साथ-साथ दिये हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'उर्दू' शब्द भाषा के लिए तब तक रूढ़ नहीं हुआ था।[5]

---

1. Early Hindustani poetry, by A. Sprenger.
—Journal of Asiatic Society of Bengal. Vol. 21 (1853) p. 442.

२. हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० ४८-४९—पद्मसिंह शर्मा

३. उर्दू : अप्रैल—सन् १९२९ ई० जिल्द ९, हिस्सा ३४, पृ० २८१—३१८
—'बाक़र आगाह', मुहम्मद अब्दुल कादिर सरवरी

४, ५. हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० १९–२०, पद्मसिंह शर्मा

इधर खड़ीबोली साहित्य में भी कबीर, पलटू, तुलसी साहब आदि के कुछ 'रेख़ता' शीर्षक पद मिलते हैं।[१] यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन संत-कवियों ने ही स्वयं इन पदों की भाषा को 'रेख़ता' संज्ञा दी थी, क्योंकि अधिकांश संत अपढ़ थे और इनकी बानियों का संकलन इनके शिष्यों या परवर्त्ती लिपिकारों ने किया। परन्तु इस शब्द के प्रयोग से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि 'रेख़ता' शब्द हिन्दी-साहित्य में प्रचलित था। कदाचित् इसीलिए आलम (सं० १६४०–१६८०) ने अपने काव्य 'सुदामा-चरित' को 'रेखता वन्द सम्पूर्ण' कहा है।[२] और सवाई प्रतापसिंहदेव 'व्रजनिधि' ने (सं० १८२१--१८६०) 'रास का रेखता' शीर्षक रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'रेखता' नाम से सैकड़ों पद रचे जिनकी भाषा प्रायः अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ीबोली है। कहते हैं कि व्रजनिधि की सभा में 'रेखता' शायरों का बड़ा मान था जिनमें रसराज तथा रसपुंज विशेष रूप में समादृत थे।[3] रेख़ता शीर्षक पदों को पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि ये कवि 'रेखता' को भाषा के अतिरिक्त संगीत का पारिभाषिक शब्द भी समझकर राग-रागिनियां बांधा करते थे। तात्पर्य यह है कि अठारहवीं शताब्दी तक शायर और कवि दोनों अपनी-अपनी पद्य भाषा—उर्दू और खड़ीबोली—के लिए 'रेख़ता' शब्द का निस्संकोच उपयोग करते थे।

अब फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में भाषा के नाम की स्थिति देखिए। कह आये हैं कि यूरोपियन इतिहासज्ञ, यात्री एवं साहित्यकार 'हिन्द' की इस जन प्रचलित और विकसित भाषा को 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' कहा करते थे।[४] गिलक्राइस्ट 'मूर्स' शब्द को अनुपयुक्त समझते थे।[५] फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में वे हिन्दुस्तानी प्रोफ़ेसर क्यों कहलाये, इसका उन्होंने कारण भी स्पष्ट किया था।[६] उनके अनुसार ब्रिटिश राज्य के सुशासन के निमित्त सिविल कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी में पूर्ण दक्षता प्राप्त कराने के लिए उसकी आधारभूत बोली 'हिन्दवी' का ज्ञान

१–२. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध—चौथा अध्याय

३. व्रजनिधि ग्रंथावली—प्रस्तावना, सं० हरिनारायण पुरोहित शर्मा

4. Hobson-Jobson (being, a Glossary of Anglo-Indian colloquial words and phrases and of kindred terms.) p. 147, 584.
—by Col. Henry Yule and Arthur Coke Burnell.

5. See—The title page of the Oriental Linguist (an easy and familiar introduction to the Popular language of Hindoostan, vulgarly, but improperly called the moors.) Calcutta, 1798.

6. Hindoostanee ...... I have adopted for the following reasons. This name of the country (Hindoostan) being modern, as well as the vernacular tongue, in question, no other appeared so appropriate as it did to me, when I was first engaged in the study and cultivation thereof. That the natives and others call it also Hindee i.e. Indian from Hind, the ancient appellation of India, cannot be denied but as this is apt to be confounded with Hinduwee, Hindooee, Hindvee, the derivation form from Hindoo, I adhere to my original opinion, that we should invariably discard all other denominations of the poular speech of this country including the unmeaning word moors and substitute for them Hindustanee.
—Introduction, P. 3. Oriential Linguist. Calcutta 1798.

अनिवार्य था। डॉ० गिलक्राइस्ट के विचार में पृथक्-पृथक् शब्द कोष तथा विभिन्न लिपियाँ ही आधेय (उर्दू) एवं आधारभूत (हिन्दवी) भाषाओं में प्रधान भेद था और कदाचित् इसलिए उन्होंने कॉलेज-कौंसिल से नागरी-खुशनवीस तथा भाखा-मुंशी के लिए मांग पेश की थी[1] जिसके परिणामस्वरूप लल्लूजीलाल और सदल मिश्र दोनों भाखा-मुंशियों की नियुक्ति हुई। डॉ० गिलक्राइस्ट ने दोनों मुंशियों से कथा में 'यामनी भाषा छोड़ने' या 'अरबी-फ़ारसी न आने' देने का अनुरोध किया। फलतः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान रूपान्तरित हुए। डाक्टर साहब के अनुसार 'हिन्दवी' शब्द उत्तरप्रदेश की सब बोलियों का द्योतक था और ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी तथा विद्यार्थी 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी' या 'रेख़ता' उर्दू के पर्याय में प्रयुक्त करते थे।[2] स्वयं डॉ० गिलक्राइस्ट भी 'रेख़ता'—मिश्रित भाषा—को (उर्दू) का पर्यायवाची समझते थे।[3] दूसरे लल्लूजीलाल खुद रेख़ता-उर्दू के पंडित थे। जब उनसे 'साहिब' ने कहा कि, "ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे 'रेख़ते' की बोली में कहो" तो उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तो भलीभांति लिखी जाय।"[४] तीसरे, उस युग तक 'रेख़ता' नाम से प्राप्त खड़ीबोली-काव्य में सामान्यतया अरबी-फ़ारसी आदि शब्दों का प्राचुर्य रहता था। उसे भाषा के अतिरिक्त गेय पदों की एक विशिष्ट शैली मानकर कभी किसी कवि ने विदेशी शब्दों के बहिष्कार की चेष्टा न की थी। साथ ही प्रेमसागर की भाषा के लिए 'रेख़ता' शब्द का उपयोग कालेज के अध्यक्ष,

---

1. "May I beg the Council to encourage the Nagree in the same proportion (as the Persian script). As soon as I can procure a real Khushnawees of that character, I hope, a salary of Rs. 50 to such a person ...... will not be deemed unreasonable. The Hindustani is so immediately connected with the Brij Bhasha in the ground work of the whole ...... that I am often at a loss for adequate assistance in that position of the language. May I therefore solicit salary of 50 rupees also to any person qualified to aid my exertion in that difficult part of my collegiate labour."

    —Proceedings of the College of Fort William p. 62-63.
    Home miscellaneous, Vol. I.

२. (ए) हिन्दुस्तानी जवान कि जिसका ज़िक्र मेरे दावे में है उसको हिन्दी, उरदू, वा रेख़तः भी कहते हैं।—बेली का थीसिस जो ६ फरवरी १८०२ को फोर्ट विलियम कालेज में पढ़ा गया।

द्र०—फोर्ट विलियम कालेज, पृ० २०६, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(B) Rekhtu—the dialect of Hindustan.
(For suggestions and additions—The term is applied to the best description of the Oordoo language).
Glossary of India terms for the use of the various departments of the Government ot East India Company.
—Pub : J. & H. Cox Brothers, Printers for East India Company.

3. Rekhtu—Mortor, plaster, mixed dialect.
Oriental Linguist, p. 105. Calcutta. 1798.

4. Lal Candrika—p. 3, by G.A. Grierson.
Government Printing, Calcutta 1896.

अन्य कर्मचारियों, विद्यार्थियों एवं साहित्यिकों के मस्तिष्क में उलझन पैदा कर सकता था; अतएव आश्चर्य नहीं जो इन सब कारणों के देखते हुए लल्लूजीलाल ने उसे 'खड़ीबोली' नया नाम दे दिया हो।

खड़ीबोली शब्द के अर्थ :—जिस प्रकार नाम की नवीनता को देखकर कतिपय विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं बना लीं, उसी प्रकार नाम की विशिष्टता के आधार पर खड़ीबोली शब्द के भी विभिन्न अर्थ स्थिर करने के यत्न किये गये। ईस्ट इण्डिया कालेज हेलबरी के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने 'खड़ा' और 'खरा' को समानार्थक मानकर प्रेमसागर के नवीन संस्करण (१८५१) के हर्टफोर्ड कोश में खड़ी-बोली के अर्थ इस प्रकार दिये :

खड़ा :—1. Erect, upright, steep, standing.
2. Genuine, pure when it=खरा (Khara)

खड़ी बोली :—Khari Boli, the true genuine language i.e. the pure language.[1]

पादरी कलॉग ने भी 'खड़ीबोली' को 'खरीबोली' कहकर उसका अर्थ 'प्योर स्पीच' किया।[2]

जॉन प्लैट्स ने भी 'खड़ा' और 'खरा' में कोई भेद न किया। 'खरा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के शस्त+क: शब्द से कल्पित करते हुए आप कहते हैं : खरा (Khara)—(Perhaps from Sanskrit शस्त+क:) adj. good, excellent, best, prime choice, genuine, real, true, not false or counterfiet, pure, undebased, unalloyed......upright, right, exact, fixed, complete, full standard, settled, valid—Khara karna (v.t. to separate good from bad)

Khari Boli (vulgar khari boli) pure language or idiom, coin of the true mint[3]

कदाचित् विदेशी विद्वानों का ही प्रभाव था कि पं० सुधाकर द्विवेदी और बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने भी 'खरी' को खड़ी का पर्यायवाची समझ लिया। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'सीधी बोली की रामकहानी की भूमिका' में कहा कि, "हिन्दी और संस्कृत में र, ड़, ल का अदल-बदल हुआ करता है। इसलिए खरीबोली के स्थान पर 'खड़ीबोली' हो गई। खरी-खोटी बोलियों में से खरी-खरी बोलियों को चुनकर 'खड़ीबोली' बनी है। अपनी भाषा में भूलकर जो शब्द दूसरे आ गए हों उन्हें खोटे शब्द, और उन्हें निकाल देने से 'खरे' शब्दों की 'खरीबोली' हो जाती है। इसी अर्थ में 'ठेठ हिन्दी' भी प्रचलित है। 'ठेठ'

---

1. Prem Sagur, p. 40. (Hertford) 1851 Ed.
2. A Grammar of the Hindi language. Preface to the first edition (1875) p. 18. Foot-note S. H. Kellogg.
3. A Dictionary of Urdu, classical Hindi and English. by John. T. Platts. 1930. Oxford University Press, fifth imp.

हिन्दी का अर्थ है 'सूखी हिन्दी' जिसमें दूसरी भाषा के रस न हों।"[१] वदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने तृतीय साहित्य सम्मेलन में सभापति के पद से कहा कि, "आजकल के लोगों के इस कथन में कुछ भी सार नहीं है जो 'खरी बोली' को 'खड़ी बोली' लिखते और कहते हैं कि यह ईजाद बन्दा है। स्व० वाबू अयोध्या प्रसाद की उत्तेजना से जिसका आरम्भ वा अधिक प्रचार हुआ है।"[२]

टी० ग्राहम वेली ने खड़ीवोली शब्द के प्रयोग एवं अर्थ (Use and meaning of the term Khari Boli) सम्बन्धित लेख में अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर विद्वानों में फैले हुए खरी-खड़ी के भ्रम को दूर करना चाहा और अन्त में उसकी व्याख्या में शब्द के सामान्य अर्थ 'खड़ा' फिर 'प्रस्तुत', 'प्रचलित' और 'स्थापित' निश्चित किये।[3] इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्यत्र कहा है कि 'खरी' शब्द का अर्थ 'शुद्ध' अथवा 'जिसमें किसी का मिश्रण न हो' आदि अवश्य माना जा सकता है और यह (शब्द) किसी भी भाषा का विशेषण हो सकता है परन्तु (वस्तुस्थिति यह है कि) यह किसी वोली का नाम कभी नहीं था चाहे वह 'गँवारी' रही हो या न रही हो।"[४] मौलाना अब्दुल हक़ ने भी 'खड़ी' और 'खरी' का फ़र्क तो किया किन्तु अर्थ प्रायः वही रखे अर्थात् 'मुरव्वजा' आममुस्तनद (Standard) ज़बान, और शायद जॉन प्लॅट्स के 'वलगर' विशेषण से ही संकेत लेकर यह भी कह डाला कि "खड़ीवोली के माने हिन्दुस्तान में आमतौर पर 'गँवारी वोली' के हैं जिसे हिन्दुस्तान का वच्चा-वच्चा जानता है। वह न कोई खास ज़वान है और न ज़वान की कोई शाख।"[५] इधर वंशीधर विद्यालंकार 'र' और 'ड़' के झमेले में ही फँसे रहे। उन्होंने लिखा, "खड़ी का लफ़्ज़ संस्कृत के 'खर' से बना है जिसके माने सख़्त, कठोर और खुरदुरा है। जिसमें किसी तरह की नरमी और नज़ाक़त न हो। इस 'खर' लफ़्ज़ से खड़ी बना है। 'खरी' के माने सच्ची या हक़ीक़ी हैं। इसलिए कहते हैं कि सच्ची वात अक्सर सख़्त होती है।"[६] पं० चन्द्रवली पाण्डेय ने 'खड़ीवोली की निरुक्ति' शीर्षक लेख में अपने से पूर्व स्थापित सभी मतों का तर्कपूर्ण

१. खड़ी बोली की रामकहानी, भूमिका—पृ० ११—सुधाकर द्विवेदी

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १९१३, भाग १७, सं० ७, पृ० १०६

3. My own explanation is, that the word simply means standing, then existing, current, established.
—Journal of the Royal Asiatic Society. 1926. October. p. 717-723. (Also Studies in North Indian Languages. p. 159-165 by T.G. Bailey. 1938.)

4. Khari (खरी) means unadulterated or pure and, while it may be applied as an adjective to a language, it has never been the name of any variety of speech whether rustic or not.
See—Does Khari Boli mean nothing more than rustic speech ?
—Vol. VIII, Bulletin of the School of Oriental Studies, 1935-37.

५. उर्दू (औरंगाबाद) जनवरी १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफ़ा १५१-१६०
लेख—'वाज़ गलतफ़हमियाँ'—पं० मनोहरलाल ज़ुत्शी

६. उर्दू (औरंगाबाद) अप्रैल १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सफ़ा ४७१-४७८
लेख—'खड़ीवोली'—वंशीधर विद्यालंकार

अन्य कर्मचारियों, विद्यार्थियों एवं साहित्यिकों के मस्तिष्क में उलझन पैदा कर सकता था ; अतएव आश्चर्य नहीं जो इन सब कारणों के देखते हुए लल्लूजीलाल ने उसे 'खड़ीबोली' नया नाम दे दिया हो।

खड़ीबोली शब्द के अर्थ :—जिस प्रकार नाम की नवीनता को देखकर कतिपय विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं बना लीं, उसी प्रकार नाम की विशिष्टता के आधार पर खड़ीबोली शब्द के भी विभिन्न अर्थ स्थिर करने के यत्न किये गये। ईस्ट इण्डिया कालेज हेलबरी के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने 'खड़ा' और 'खरा' को समानार्थक मानकर प्रेमसागर के नवीन संस्करण (१८५१) के हर्टफोर्ड कोश में खड़ी-बोली के अर्थ इस प्रकार दिये :

खड़ा :—1. Erect, upright, steep, standing.
2. Genuine, pure when it = खरा (Khara)

खड़ी बोली :—Khari Boli, the true genuine language i.e. the pure language.[1]

पादरी कलॉग ने भी 'खड़ीबोली' को 'खरीबोली' कहकर उसका अर्थ 'प्योर स्पीच' किया।[2]

जॉन प्लैट्स ने भी 'खड़ा' और 'खरा' में कोई भेद न किया। 'खरा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के शस्त+क : शब्द से कल्पित करते हुए आप कहते हैं : खरा (Khara)—(Perhaps from Sanskrit शस्त+कः) adj. good, excellent, best, prime choice, genuine, real, true, not false or counterfiet, pure, undebased, unalloyed......upright, right, exact, fixed, complete, full standard, settled, valid—Khara karna (v.t. to separate good from bad)

Khari Boli (vulgar khari boli) pure language or idiom, coin of the true mint[3]

कदाचित् विदेशी विद्वानों का ही प्रभाव था कि पं० सुधाकर द्विवेदी और बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने भी 'खरी' को खड़ी का पर्यायवाची समझ लिया। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'सीधी बोली की रामकहानी की भूमिका' में कहा कि, "हिन्दी और संस्कृत में र, ड़, ल का अदल-बदल हुआ करता है। इसलिए खरीबोली के स्थान पर 'खड़ीबोली' हो गई। खरी-खोटी बोलियों में से खरी-खरी बोलियों को चुनकर 'खड़ीबोली' बनी है। अपनी भाषा में भूलकर जो शब्द दूसरे आ गए हों उन्हें खोटे शब्द, और उन्हें निकाल देने से 'खरे' शब्दों की 'खरीबोली' हो जाती है। इसी अर्थ में 'ठेठ हिन्दी' भी प्रचलित है। 'ठेठ'

1. Prem Sagur, p. 40. (Hertford) 1851 Ed.

2. A Grammar of the Hindi language. Preface to the first edition (1875) p. 18. Foot-note S. H. Kellogg.

3. A Dictionary of Urdu, classical Hindi and English. by John. T. Platts. 1930. Oxford University Press, fifth imp.

हिन्दी का अर्थ है 'सूखी हिन्दी' जिसमें दूसरी भाषा के रस न हों।"[1] बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने तृतीय साहित्य सम्मेलन में सभापति के पद से कहा कि, "आजकल के लोगों के इस कथन में कुछ भी सार नहीं है जो 'खरी बोली' को 'खड़ी बोली' लिखते और कहते हैं कि यह ईजाद बन्दा है। स्व० बाबू अयोध्या प्रसाद की उत्तेजना से जिसका आरम्भ वा अधिक प्रचार हुआ है।"[2]

टी० ग्राहम बेली ने खड़ीबोली शब्द के प्रयोग एवं अर्थ (Use and meaning of the term Khari Boli) सम्बन्धित लेख में अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर विद्वानों में फैले हुए खरी-खड़ी के भ्रम को दूर करना चाहा और अन्त में उसकी व्याख्या में शब्द के सामान्य अर्थ 'खड़ा' फिर 'प्रस्तुत', 'प्रचलित' और 'स्थापित' निश्चित किये।[3] इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्यत्र कहा है कि 'खरी' शब्द का अर्थ 'शुद्ध' अथवा 'जिसमें किसी का मिश्रण न हो' आदि अवश्य माना जा सकता है और यह (शब्द) किसी भी भाषा का विशेषण हो सकता है परन्तु (वस्तुस्थिति यह है कि) यह किसी बोली का नाम कभी नहीं था चाहे वह 'गँवारी' रही हो या न रही हो।"[4] मौलाना अब्दुल हक़ ने भी 'खड़ी' और 'खरी' का फ़र्क तो किया किन्तु अर्थ प्रायः वही रखे अर्थात् 'मुरव्वजा' आममुस्तनद (Standard) ज़बान, और शायद जॉन प्लॅट्स के 'वल्गर' विशेषण से ही संकेत लेकर यह भी कह डाला कि "खड़ीबोली के माने हिन्दुस्तान में आमतौर पर 'गँवारी बोली' के हैं जिसे हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है। वह न कोई ख़ास ज़बान है और न ज़बान की कोई शाख।"[5] इधर वंशीधर विद्यालंकार 'र' और 'ड़' के झमेले में ही फँसे रहे। उन्होंने लिखा, "खड़ी का लफ़्ज़ संस्कृत के 'खर' से बना है जिसके माने सख़्त, कठोर और खुरदुरा है। जिसमें किसी तरह की नरमी और नज़ाक़त न हो। इस 'खर' लफ़्ज़ से खड़ी बना है। 'खरी' के माने सच्ची या हक़ीक़ी हैं। इसलिए कहते हैं कि सच्ची बात अक्सर सख़्त होती है।"[6] पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने 'खड़ीबोली की निरुक्ति' शीर्षक लेख में अपने से पूर्व स्थापित सभी मतों का तर्कपूर्ण

१. सीधी बोली की रामकहानी, भूमिका—पृ० ११—सुधाकर द्विवेदी

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १९१३, भाग १७, सं० ७, पृ० १०६

3. My own explanation is, that the word simply means standing, then existing, current, established.
—Journal of the Royal Asiatic Society. 1926. October. p. 717-723. (Also Studies in North Indian Languages. p. 159-165 by T.G. Bailey. 1938.)

4. Khari (खरी) means unadulterated or pure and, while it may be applied as an adjective to a language, it has never been the name of any variety of speech whether rustic or not.
See—Does Khari Boli mean nothing more than rustic speech?
—Vol. VIII, Bulletin of the School of Oriental Studies, 1935-37.

५. उर्दू (औरंगाबाद) जनवरी १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफ़ा १५१-१६०
लेख—'बाज़ ग़लतफ़हमियाँ'—पं० मनोहरलाल ज़ुत्शी

६. उर्दू (औरंगाबाद) अप्रैल १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सफ़ा ४७१-४७८
लेख—'खड़ीबोली'—वंशीधर विद्यालंकार

खण्डन करते हुए कहा कि, "खड़ीबोली का अर्थ है प्रकृत, ठेठ या शुद्ध बोली"। उनकी तर्क पद्धति इस प्रकार है :—

खड़ा—१—बिना पका, असिद्ध, कच्चा, जैसे खड़ा चावल

२—समूचा, पूरा जैसे खड़ा चना चवाना।

पाण्डेय जी को पं० सुधाकर द्विवेदी का खड़ीबोली के लिए 'सीधी बोली' शब्द प्रयोग तो मान्य है किन्तु ग्राहम वेली द्वारा प्रस्तुत 'टकसाली' अथवा 'प्रचलित' (current) अर्थ से वे बिल्कुल सहमत नहीं हुए।[१] मातावदल जायसवाल ने चन्द्रबली पाण्डेय के शुद्ध, अर्थ का तो तिरस्कार कर दिया और 'प्रचलित बोली' को ही 'खड़ीबोली' का सार्थक अर्थ निश्चित किया। इसके प्रमाण में उन्होंने 'मोल्सवर्थ' के मराठी शब्दकोष से 'खडी चाकरी, खडी किमत, खडी ताजीम' आदि प्रयोग भी उद्धृत किये हैं।[२] डा० शितिकंठ मिश्र ने भी कहा कि, "मौलिक प्रयोगों से इसका जो प्रचलित अर्थ निकलता है उसका रहस्य इसकी सर्वजन सुबोधता और सरलता ही है। अतः ग्राहम वेली के 'प्रचलित' अर्थ को मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिए।"[३]

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिन्होंने अपनी रुचि के अनुसार 'खड़ीबोली' भाषा में कतिपय दोष देखे और उन दोषों को 'खड़ी' शब्द पर अर्थ-रूप में आरोपित कर दिया। इन सबने शब्द-भेद से 'खड़ी' शब्द को कर्कशता, कर्णकटुता, नीरसता आदि अवगुणों का द्योतक बताया। कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी व्याकरण में लिखा कि, "ब्रजभाषा के ओकारान्त रूपों से मिलान करने पर हिन्दी के आकारान्त रूप खड़े जान पड़ते हैं······बुन्देलखण्ड में इस भाषा को ठाढ़ बोली (या तुर्की) भी कहते हैं।"[४] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी कुछ ऐसी ही कल्पना की, कि, "ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी-खड़ी लगती है कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ीबोली पड़ा।"[५] किशोरीदास वाजपेयी ने 'खड़ीबोली' के सम्बन्ध में प्रकारांतर से कामताप्रसाद गुरु की धारणा ही दोहरा दी। आप कहते हैं कि, "मीठा, जाता, खाता, आदि में जो खड़ी पाई, आप अन्त में देखते हैं वह दिल्ली के अतिरिक्त इसकी किसी भी दूसरी बोली में न मिलेगी। ब्रज में 'मीठो' और अवधी में 'मीठ' चलता है, मीठो जल, मीठ पानी। इसी तरह जात है, खात है आदि रूप होते हैं। केवल कुरुजनपद में ही नहीं यह खड़ी पाई आगे पंजाब तक चली गई है—मिट्ठा पाणी लाँवंदा है। सो, इस खड़ी पाई के कारण इसका नाम 'खड़ीबोली' बहुत ही सार्थक है।"[६]

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति विद्वानों ने न तो 'खड़ी'

१. उर्दू का रहस्य—खड़ी बोली की निरुक्ति, पृ० ५९-८३, चन्द्रबली पाण्डेय
२. हिन्दी अनुशीलन, चैत्र-ज्येष्ठ, २०११ वर्ष ७, अंक १, भारतीय हिन्दी परिषद्, पृ० ३२-३८ "खड़ी बोली नाम का इतिहास" मातावदल जायसवाल।
३. खड़ी बोली का आन्दोलन—पृ० ११-१२, डा० शितिकंठ मिश्र
४. हिन्दी व्याकरण—पाद टिप्पणी, पृ० २५, कामताप्रसाद गुरु
५. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ४१, डा० धीरेन्द्र वर्मा
६. हिन्दी शब्दानुशासन—पृ० १५, किशोरीदास वाजपेयी

शब्द के अर्थ किये और न उस भाषा के गुण-दोषों की आलोचना की। उन्होंने केवल ब्रज-भाषा, अवधी आदि को 'पड़ी बोली' संज्ञा देकर 'खड़ी' नाम सार्थक माना। गुलेरीजी लिखते हैं कि, "हिन्दुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती आदि ही में मिलती है—अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। 'खड़ी बोली' या 'पक्की बोली' या 'रेखता' या 'वर्तमान हिन्दी' के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू-रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई······विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी बोली' को 'खड़ी' बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।"[१] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के विचारानुसार, "अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दुओं का ध्यान दरबार की 'परिनिष्ठित' (Standard) बोली की ओर गया उसका नाम तो पड़ा 'खड़ीबोली' और ब्रजभाषा, अवधी आदि शेष बोलियाँ 'पड़ी बोली' कही जाती थीं।"[२]

ब्रजरत्नदास ने 'खड़ी' नाम तो 'पड़ी' के वज़न पर अवश्य आधारित माना किन्तु उन्होंने इस 'पड़ी' को ब्रज, अवधी आदि भाषाओं का द्योतक न मानकर 'रेख़्ता' से सम्बंधित बताया। उन्होंने लिखा कि, "मुसलमानगण ने जब हिन्दी का साहित्य-रचना में उपयोग करना आरम्भ किया तब वे उसमें अपने छोड़े हुए देशों की भाषाओं के शब्द तथा भाव आदि का भी प्रयोग करने लगे और इसलिये उन्होंने इस मिश्रित भाषा का नाम रेख़्ता रखा जिसका अर्थ मिली-जुली या गिरी, पड़ी है। ब्रजभाषा-भाषी लल्लूजीलाल ने जो उर्दू-दाँ मुंशियों की सह-कारिता में काम कर रहे थे, और "यामनी भाषा छोड़ दिल्ली-आगरे" की बोली में ग्रन्थ रचना कर रहे थे; गिरी-पड़ी रेख़्ते की बोली से यावनी शब्दावली निकाल कर जिस भाषा में प्रेमसागर लिखा उसे 'रेख़्ते' अर्थात् मिश्रित या गिरी-पड़ी बोली के वज़न पर खड़ीबोली नाम दे दिया जो नाम उनके बाद चल पड़ा।"[३] हाँ, डॉ० श्यामसुन्दरदास इस सम्बन्ध में कुछ अनिश्चित मत के ही रहे। उन्होंने कहा, "इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर नहीं है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब रेख़ता का नाम दिया। रेख़ता का अर्थ गिरता या पड़ता है। क्या इसी गिरी या पड़ी भाषा के नाम पर विरोध सूचित करने के लिये इसका नाम खड़ीबोली रखा गया?······कुछ लोगों का कहना है कि यह 'खड़ी' शब्द खरी (टकसाली) का बिगड़ा रूप है।"[४]

खड़ीबोली शब्द के उपर्युक्त अर्थ-निर्वाचनों में विद्वानों के स्थूलतः चार दृष्टिकोण लक्षित होते हैं जिन पर क्रमशः तर्क एवं प्रमाण पुरस्सर विचार करना आवश्यक है।

---

१. पुरानी हिन्दी—पृ० १०७, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

2. Towards the end of the 18th century, the Hindus had turned their attention to this standard language (खड़ीबोली) while the dialects Braj Bhakha, Awdhi and the rest, were 'fallen languages' (पड़ी बोली).
—Indo-Aryan and Hindi, p. 189, by S.K. Chatterjee (1940).

३. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १०-११, ब्रजरत्नदास

४. हिन्दी भाषा, पृ० ३१ (पाद टिप्पणी), डॉ० श्यामसुन्दरदास

प्रथमवर्ग के विद्वानों में इस्टविक एवं प्लॅट्स ने 'खड़ी' और 'खरी' को समानार्थक मानकर 'खड़ीबोली' शब्द के 'ट्रू, जैनुइन' अथवा 'प्योर' अर्थ किये हैं। प्लॅट्स ने एक अर्थ 'वलगर' इस्टविक से अधिक दिया है। सबसे पहले देखना यह है कि लल्लूजीलाल ने 'खड़ी' या 'खरी' में से किस शब्द का प्रयोग किया था। जैसा कि ग्राहम बेली ने कहा है लल्लूजीलाल ने जिस भाषा में प्रेमसागर लिखा था, उसको उन्होंने स्पष्ट 'खड़ीबोली' कहा है। १८०३ तथा १८०५ ई० के दो प्रकाशित अपूर्ण संस्करणों में इसका यही अक्षरीकरण था। ग्रन्थ का पूर्ण संस्करण १८१० ई० में स्वयं लल्लूजीलाल की देख-रेख में छपा था उसमें भी खड़ीबोली शब्द ज्यों का त्यों बना रहा। इनके अतिरिक्त सदल मिश्र ने अपना 'नासिकेतोपाख्यान' (१८६० ई०) तथा 'रामचरित' (१८६२ ई०) लगभग दो वर्ष के अन्तर में लिखे थे किन्तु शब्द-प्रयोग में उल्लेखनीय परिवर्तन यहाँ भी दृष्टिगत नहीं होता। १८१४ ई० में विलियम प्राइस ने 'प्रेमसागर' के आधार पर 'खड़ीबोली' का इंगलिश कोश तैयार किया था, उसकी भूमिका में भी 'खरी' नहीं बल्कि 'खड़ी' का ही उपयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी कारण 'खरी' का रूप लेखक या प्रकाशक की भूल से 'खड़ी' लिख अथवा छप गया होता तो पन्द्रह वर्ष की अवधि में इसे कहीं न कहीं अवश्य शुद्ध कर दिया जाता। अतएव यह निश्चित है कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के भाखा मुंशी लल्लूजीलाल ने उसका नाम 'खड़ी बोली' ही रखा था।

अब विचारणीय प्रश्न है कि क्या 'खड़ी' और 'खरी' पर्यायवाची अथवा समानार्थक शब्द हैं? शब्दार्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से 'खड़ी' और 'खरी' पर्यायवाची नहीं हैं। तब फिर ऐसे शब्दों को पर्यायवाची मानने की भ्रान्ति कब, कहाँ और कैसे उत्पन्न हुई? यह तो नहीं कहा जा सकता है कि 'ड़' और 'र' के सूक्ष्म अन्तर को यूरोपियन विद्वान् समझते न थे। डॉ० गिलक्राइस्ट ने अपने 'ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' के कोश में 'खड़ा' और 'खरा' के पृथक्-पृथक् अर्थ किये हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'खड़ा' और 'खरा' को एक समझने की ग़लती सर्वप्रथम इस्टविक को हुई और इस्टविक के कोश से यह भ्रान्ति प्लॅट्स तक संक्रमित हुई तब प्रश्न यह उठता है कि इस्टविक को यह भ्रान्ति किस प्रकार हुई? इस्टविक उर्दू के पण्डित थे। ईस्ट इंडिया कॉलेज, हेलबरी में हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष थे। १८४७ ई० में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण (A Concise Grammar of the Hindustani Language) लिखकर ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतएव यह कहना तो युक्तिसंगत न होगा कि उन्हें 'ड़' और 'र' में अन्तर नहीं ज्ञात था। तब फिर? ग्राहम बेली इस भ्रान्ति के सूत्रपात का समस्त दोष गार्सां द तासी पर मढ़ते हैं, जिन्होंने अपने 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर ऐन्दुई-ए-ऐन्दुस्तानी' के प्रथम संस्करण (१८३९ ई०) में 'खड़ी' और 'खरी' शब्द को पर्याय माना और दूसरे संस्करण [१८७० ई०] में 'खड़ी' शब्द देने की आवश्यकता ही न समझी।[1] किन्तु तासी साहब भी तो उर्दू

1. Use and meaning of the term Khari Boli, p. 717-723.
—Journal of the Royal Asiatic Society, Oct. 1926. T.G. Bailey.
(Also See—Historie de *la* literature Hindovie et Hindoustanie p. IV. Vol. I, 1st edition. 1839, and p. 307, 2nd edition, 1870).

के जबाँ दाँ थे। वस्तु-स्थिति यह है कि डॉ० गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त खड़ीबोली के 'प्योर', 'स्टर्लिग टंग', 'पार्टिक्युलर ईडियम' आदि विशेषण, प्रच्छन्न रूप से, इस ग़लतफ़हमी का कारण बने। तासीसाहब का sans melange de mots arabes un persans—पदांश डॉ० गिलक्राइस्ट के nearly a total exclusion of Arabic and Persian का भाषान्तर मात्र था, और 'प्योर' को उन्होंने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। तासी साहब की नासमझी बस इतनी ही हुई कि उन्होंने इसे 'खड़ी' का विशेषण न मानकर शब्द का 'अर्थ' कल्पित कर लिया। सम्भवतः इस 'प्योर' को ही फ़िट बैठाने के लिए उन्हें 'खड़ी' को 'खरी' कर देना पड़ा। तासी के बाद इस्टविक, प्लॅट्स, बेली आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न अर्थों के लिए भी डॉ० गिलक्राइस्ट के 'प्योर' स्टर्लिग, ईडियम आदि शब्दों से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। डॉ० गिलक्राइस्ट ने प्योर, स्टर्लिग तथा 'खरा' के अनेक अर्थ बताये हैं, जिनमें से कतिपय विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है, जैसे :—

Pure — saf (साफ़) nirmal (निर्मल)
clear, **genuine,** real,
usl (अस्ल) khalis (ख़ालिस) theuth (ठेठ)
Sterling :—V. Standard, **genuine**,
khalis (ख़ालिस), nirala (निराला) poora (पूरा)[1]
खरा — khura — honest, **genuine.**[2]

इस्टविक ने देखा कि 'खरा' का 'जैनुइन', 'प्योर' एवं 'स्टर्लिग' में भी विद्यमान है। अतः उन्होंने pure and genuine when it=खरा स्पष्ट करके कोश में the true genuine language i. e. the pure language खड़ीबोली शब्द के अर्थ ही कल्पित कर लिये। जॉन प्लॅट्स ने तासी के 'प्योर' तथा गिलक्राइस्ट के 'ईडियम' से 'पर्टिक्युलर ईडियम' और 'स्टाइल' तो ले लिया, किन्तु इस्टविक द्वारा कल्पित 'जैनुइन' का तिरस्कार कर दिया। इस प्रकार इन्हीं तीन-चार शब्दों को लेकर बेली, चन्द्रबली पाण्डेय, जायसवाल, शितिकंठ मिश्र आदि विद्वानों ने अपने से पूर्व प्रतिपादित मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना की, उनका खण्डन-मण्डन किया और अपनी-अपनी रुचि एवं धारणानुसार विभिन्न अर्थ कर डाले। डॉ० बेली ने 'खड़ा' को 'करंट' तथा 'अस्टेब्लिश्ड' आदि अर्थों का द्योतक बताया। चन्द्रबली पाण्डेय ने 'जैनुइन' या 'प्रकृत' को ही सर्वथा साधु अर्थ कहा। और मातावदल जायसवाल तथा डॉ० शितिकंठ मिश्र को डॉ० बेली का 'करंट' अर्थ ही 'खड़ी' की उचित व्याख्या प्रतीत हुई। इनके अतिरिक्त प्लॅट्स द्वारा किये गये अर्थों में 'वल्गर' शब्द भी डॉ० गिलक्राइस्ट की ही देन है। डॉ० साहब ने प्रयोग-भेद के आधार पर हिन्दुस्तानी की तीन प्रचलित शैलियाँ निर्धारित की थीं, जिनमें से तीसरी प्रकार की 'हिन्दवी' शैली को 'वल्गर'

1. Hindoostani Philology. Vol. I.—by G.B. Gilchrist. Calcutta. Second Edition. 1810.
2. Oriental Linguist—by G. B. Gilchrist, Calcutta. 1798.

कहा था।[1] यह शब्द डॉ० गिलक्राइस्ट ने अपने पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों एवं लेखकों से ही सीखा था। इसके प्रमाण में हॉब्सन-जॉब्सन में दिये अनेक अवतरण उद्धृत किये जा सकते हैं।[2] देश में जब तक फ़ारसी राज दरबार की भाषा रही, आम बोलचाल में व्यवहृत होने वाली तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' विदेशियों द्वारा 'वल्गर' कहलाती रही। किन्तु अंग्रेज़ों द्वारा वही 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' अब शिष्ट एवं शिक्षित व्यक्तियों की भाषा समझी जाने लगी थी। डॉ० गिलक्राइस्ट के ही शब्दों में 'पॉलिश्ड लैंग्वेज' अथवा 'पाप्युलर स्पीच' थी।[3] हिन्दवी ही ऐसी बोली थी जो शिक्षित एवं अशिक्षितों (ग्रामीणों) की अभिव्यक्ति का माध्यम थी। अतएव डॉ० गिलक्राइस्ट ने उसे 'वल्गर' हिन्दवी कहा। यही शब्द प्लॅट्स ने 'खड़ी' शब्द के विशेषण रूप में दे दिया। डॉ० अब्दुल हक ने 'खड़ी' और 'खरी' में फ़र्क बताकर भी डॉ० गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त 'स्टर्लिंग' शब्द के अर्थ 'स्टैण्डर्ड' अर्थात् 'आममुस्तनद जबान' प्रस्तुत किये।

सुधाकर द्विवेदी और प्रेमघनजी का 'खरी बोली' 'सूखी हिन्दी' आदि कहने का कारण बहुत स्पष्ट है। द्विवेदीजी ब्रजभाषा के प्रेमी थे। उन दिनों 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' ज़ोरों पर था। विशेष आश्चर्य नहीं जो उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य के कारण इसे खरी-खोटी अथवा 'सूखी हिन्दी' आदि अर्थों में प्रयुक्त किया हो। वास्तव में ऐसे ही ब्रजभाषा प्रेमियों की विचारधारा से प्रभावित होकर वंशीधर विद्यालंकार ने 'खड़ी' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'खर' शब्द तक खींच डाली और इसके सख़्त, कठोर और खुरदुरा अर्थ किये। यह उन्होंने

---

1. "In the Hindoostanee, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake I shall only notice three here ......, 1st. the High Court of Persian Style, 2nd the middle or genuine Hindoostanee style, 3rd the Vulgar or Hinduwee".
—Appendix to Gilchrist's Dictonary. 1798, Calcutta.

2.(a) 1616. After this he (Tom Coryate) got a great mastery in the Indostan, or more vulgar language. Terry ; Extracts relating to J.

(b) 1772—Transcript of the title page of Hadley's grammar, the earliest English grammar of Hindustani. "Grammatical Remarks/on the/practical and vulgar dialect/or the/Indostan language/commonly called moors/with a vocabulary/English and moors.

(c) 1778—Grammatica Indostana—A mais vulgar—que se practica no imperio do gram mogol—offerecida—Aos muitos Reverendos Padres missionarios—Do dito Imperio. En Roma MDCC LXXVIII—Na Estamperia de Segrada Congregacao—de Propaganda fide (Title Transcribed).
—Hobson Jobson, p. 417, 584, 417.

3.(a) "In the mixed dialect also called Oordoo or the *polished language* of the court."
—A grammar of the Hindustani language, p. 261, by G.B. Gilchrist. Calcutta. 1796.

(b) "I adhere to my original opinion that we should invariably discard all other denominations of the *popular speech* of this country including the unmeaning word moors and substitute for them Hindoostanee."
—Oriental Linguist, Introduction. p. 3, by Gilchrist, Calcutta. 1798.

25608

उसी लेख में आगे चलकर स्पष्ट भी कर दिया है कि, "इसका सिर्फ़ यह मतलब है कि उस ज़बान को उस जमाने के हिन्दीदाँ व्रजभाषा के मुक़ाबले में न तो मीठी समझते थे और न उसमें वो सलाहियत थी जो व्रजभाषा में थी। इसका ग़ैर शुस्तापन और करख़्तगी व्रजभाषा के मुक़ाबले में थी। लल्लूजीलाल जहाँ के रहने वाले थे वहाँ खड़ी के लफ़्ज़ से वही माने लिये जाते हैं। दिल्ली-आगरे के इलाक़ों में आज 'खड़ी' का लफ़्ज़ ग़ैर शुस्ता और 'कर्ख़' के माने में इस्तेमाल होता है। इसलिए अगर उन्होंने इस लफ़्ज़ को उन्ही मानों में इस्तेमाल किया हो तो कुछ ताज्जुब की बात नहीं।"[१] शायद कुछ इसी 'करख़्तगी' की वजह से और कुछ 'रेख़्ती' के वज़न पर नूर-उल-लुग़ात में खड़ीबोली की व्याख्या इस प्रकार की गई है, "मरदों के लबो-लहजे में जो गुफ्तगू की जाती है उसको खड़ीबोली कहते हैं।"[२]

एक बात और! मौलाना अब्दुल हक़ ने खड़ीबोली को 'गँवारी बोली' कहा है।[3] इनसे पूर्व डॉ० ग्रियर्सन भी अपने भाषा सर्वे में इसे 'गँवारी बोली' के नाम से प्रचलित बता चुके थे।[४] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह 'गँवारी' शब्द डॉ० गिलक्राइस्ट के 'वल्गर' शब्द से संकेत लेकर प्रयुक्त नहीं हुआ है। क्योंकि उस समय तक 'वल्गर' शब्द सामान्यतया भाषा के साथ 'गँवारी' नहीं अपितु 'प्रकृत', 'आम-फ़हम', 'प्रसिद्ध', 'मशहूर' आदि अर्थों में इस्तेमाल किया जाता था। कोलब्रुक ने 'प्राकृत' भाषा का समानार्थक अंग्रेज़ी शब्द 'वल्गर' दिया है,[५] और गिलक्राइस्ट ने 'वल्गर' के 'आम, प्रसिद्ध, प्रगट, मशहूर' आदि अर्थ दिये हैं।[६] वास्तव में उनका तात्पर्य उस बोली से रहता था जो 'ठेठ रूप' में शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों वर्गों

१. 'खड़ी बोली', —वंशीधर विद्यालंकार
उर्दू-अप्रैल १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सफ़ा ४७१-४७८.

२. नूर-उल-लुग़ात, जिल्द ४, मौलवी नैय्यर-उल-हसन, नैय्यर प्रेस लखनऊ, १९२९ (प्र० सं०)

३. उर्दू, जनवरी १९३४, (औरंगाबाद) जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफ़ा १६०—(नोट)

4. "Four Principal dialects have been reported as spoken in the district of Agra. ......The rest of the district is divided into two nearly equal parts by a line running approximately north and south. To the west of this line in the country, touching the district of Muttra and the state of Bharatpur, the local official report the dialect to be Braj Bhakha; to its east in the country abounded by Aligarh, Etah, and Mainpuri, they call the dialect simply Gaw-wari or Khari Boli".
—Linguistic Survey of India, p. 291. Vol. IX, Part I. Grierson.

5. "Quoting from a treatise on rhetoric compiled for the use of Manicya Chandra, Raja of Tirabhukti or Tirhut, a brief enumeration of languages used by Hindu poets, H.T. Colebrook has literally translated two passages as follows :—

"Language again the virtuous have declared to be four fold—Sanscrita (or the polished dialect), Pracrita (or the vulgar dialect), Apabramsa (or Jargon) and Misra (or mixed).

"On the Sanscrit and Pracrit languages," by H.T. Colebrook.
—p. 220.Asiatic Researches. Vol. VIII. 1803

6. See—Vulgar —(a) Hindoostani Philology. Vol. I. Gilchrist. 1810.
and (b) Oriental Linguist, Calcutta. 1798.

द्वारा आम तौर पर भावाभिव्यक्ति के लिए उपयोग में लायी जाती थी और जिसे गाँव का बच्चा-बच्चा समझता था। अतएव डॉ० गिलक्राइस्ट का 'वलगर' उनके दिये हुए आम, प्रसिद्ध या मशहूर (हिन्दवी) आदि अर्थों तक ही सीमित रखा जा सकता है। सच तो यह है कि खड़ीबोली के साथ 'गँवारी' शब्द जोड़ने में सबसे बड़ा हाथ मौलाना अब्दुल हक़ के पूर्ववर्त्ती उर्दू-समर्थकों का ही है। सन् १८३७ में 'उर्दू' सब प्रान्तों के दफ़्तरों की भाषा तो घोषित हो ही चुकी थी; जब स्कूली शिक्षा के प्रबन्ध में भाषा का प्रश्न उठा तो वहाँ से भी खड़ीबोली को दूर रखने का जागरूक प्रयत्न किया गया। खड़ीबोली का विरोध करने वालों में सबसे प्रखर स्वर सैय्यद अहमद खाँ (१८१७-१८९८) का था। कहते हैं कि वे हिन्दी को एक 'गँवारी बोली' बताकर अंग्रेज़ों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे।[१] उस युग के मौलवी और अन्य उर्दूदाँ 'खड़ीबोली' को किस प्रकार घृणा की दृष्टि से देखते थे और १८७९ तक 'गँवारी' विशेषण किस उदारता से खड़ीबोली के साथ प्रयुक्त होने लगा था, यह फ़ैलन साहब के 'इंगलिश हिन्दुस्तानी लॉ एण्ड कमर्शल डिक्शनरी' (१८५८) तथा 'ए न्यू हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी' (१८७९) की भूमिका पढ़ने से ज्ञात हो जाता है।[२] अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संगृहीत 'खड़ीबोली का पद्य' नामक पुस्तक के भूमिका-लेखक फ्रेड्रिक पिंकॉट ने भी इसकी ओर संकेत किया था।[३] इसके अतिरिक्त इस समय तक हिन्दी साहित्य में भी 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' चल चुका था और ब्रजभाषा-प्रेमियों का एक दल इसे 'डाकिनी, पिशाचिनी, बाँस, भद्दी बोली, बाज़ारू भाषा', आदि कहकर तिरस्कृत कर रहा था। अतएव खड़ीबोली-विरोध के ऐसे युग तथा ऐसी परम्परा में डॉ० ग्रियर्सन एवं मौलाना अब्दुल हक़ आदि का 'खड़ीबोली' और 'गँवारी' को पर्यायवाची समझना कुछ आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता।

सत्य तो यह है कि लल्लूजीलाल, सदल मिश्र, डॉ० गिलक्राइस्ट आदि किसी ने भी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३३, पं० रामचन्द्र शुक्ल

2. (a) Hindi is distinguished by a degree of simplicity and expressiveness probably unsurpassed......even half learned moulvis, who smile disdainfully upon what they call the *vulgar tongue*, are unable, in spite of deep-rooted prejudices, to withstand a practical appeal like this.

—Dissertation—p. 19. An English Hindustani law and commercial Dictionary of words and Phrases—S.W. Fallon. Calcutta, 1851.

(b) "Let moulvis and Pandits magnify, as they will, the artificial language which they affect in public to distinguish them from the common herd; it is by these same vulgarisms 'so called (*ganwari*) which they would fain ignorance, that they are stirred and quickened in the household and in the market and in their public and social lives".

Preface 3. A new Hindustani English Dictionary with illustrations from Hindustani literature and folklore, Banaras, by S.W. Fallon. 1879.

3. "They esteem it the uncourtly idiom of the *vulgar*."
खड़ीबोली का पद्य, पृ० ५ (भूमिका), लन्दन संस्करण

दिल्ली-आगरे की इस बोली के लिए 'खड़ी' शब्द का उपयोग किसी भी उपर्युक्त विशेष अर्थ में नहीं किया था। १८५० ई० तक जितने भी हिन्दुस्तानी-इंगलिश शब्दकोश प्रकाशित हुए उनमें से किसी में खड़ीवोली शब्द का उल्लेख तक नहीं मिलता। टेलर-हंटर कृत 'हिन्दुस्तानी ऍण्ड इंगलिश डिक्शनरी' (१८०८), डब्ल्यू० सी० स्मिथ की 'ए डिक्शनरी-हिन्दुस्तानी ऍण्ड इंगलिश' (संक्षिप्त १८२०), टॉम्पसन की 'ए डिक्शनरी उर्दू ऍण्ड इंगलिश' (१८३८) तथा डन्कन फ़ोर्ब्स की 'डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश' (१८१८) आदि अधिकांश कोशों की भूमिका में उन ग्रन्थों के नाम गिनाये गये हैं जिनके आधार पर वे तैयार किये गये थे। लगभग सब में 'प्रेमसागर' का उल्लेख मिलता है। और 'खरा', 'खड़ा', 'खड़ी' और 'खरी' के अर्थ भी मिलते हैं, किन्तु वे सब केवल शब्दों के अर्थ तक सीमित हैं। यहाँ तक कि टॉम्पसन एवं डन्कन फोर्ब्स ने अपने कोश में 'ब्रज-भाषा' के अर्थ तो दिये हैं किन्तु 'खड़ीवोली' के अर्थ उन्होंने भी नहीं दिये। यही नहीं लेफ़्टिनेन्ट विलियम प्राइस ने केवल 'प्रेमसागर' में समस्त प्रयुक्त शब्दों के आधार पर एक 'खड़ीबोली और इंगलिश कोश' (१८१४) तैयार किया था। इसकी भूमिका में कोश-कर्ता ने 'खड़ीबोली' शब्द का उल्लेख तो किया है, किन्तु कोश में इसका कहीं अर्थ नहीं दिया गया। अन्य कोशों की तरह खरी-खड़ी का अर्थ 'मिट्टी' ही दिया गया है। इनके अतिरिक्त टेलर, रोअबक, रडॅल, विलियम प्राइस आदि परवर्ती हिन्दुस्तानी अध्यक्ष एवं परीक्षकों ने भी खड़ीवोली के लिए 'ठेठ हिन्दवी' या 'हिन्दी' नाम का व्यवहार किया है।[1] वास्तव में ये ठेठ भी डॉ० गिलक्राइस्ट के 'प्योर', 'स्टर्लिंग' आदि शब्दों की तरह 'खड़ीबोली भाषा' के विशेषण मात्र थे, 'खड़ी' शब्द के अर्थ नहीं। और ये विशेषण उसके प्रकृत स्वरूप, जन-प्रचलन एवं सुगमता आदि गुणों की ओर संकेत करते हैं।

पं० कामताप्रसाद गुरु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि द्वितीय वर्ग के विद्वान् 'खड़ीवोली' की आकारान्त प्रवृत्ति को ब्रजभाषा की ओकार-बहुला वृत्ति की तुलना में कर्णकटु एवं नीरस समझते हैं। उनकी धारणा है कि 'खड़ी' शब्द इस बोली के उल्लिखित अवगुणों का सूचक है। तात्पर्य यह है कि ये लोग भी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविज्ञों के समान 'खड़ी' नाम ब्रजभाषा-सापेक्ष्य ही कल्पित करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि पं० कामताप्रसाद, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि इस 'खड़ी' को माधुर्यगुण-विहीन कल्पित करते हैं और डॉ० सुनीतिकुमार आदि ब्रज, अवधी जैसी प्रान्तीय भाषाओं को 'पड़ीवोली' अभिहित कर 'खड़ी' नाम की सार्थकता बताते हैं। किन्तु

1. "It is my duty to state that, although there has been no decline whatsoever in the acquisition of that dialect of the Hindoostani language called Oordoo, but on the contrary improvement, yet I find that the dialect called Khuree Bolee or theuth Hindee or the dialect of the Hindoostanee, spoken by the great body of the Hindoos throughout the whole of Hindoostan and particularly in the cities of Dillee and Agra, is not taught in the college as it used to be when the Hindoostanee Professor had two assistants".
—from J. Roebuck, (examiner), an address to the Council of College of Fort William (16th Nov. 1812).
p. 282-291. Home Miscellaneous, Vol. IV.

द्वारा आम तौर पर भावाभिव्यक्ति के लिए उपयोग में लायी जाती थी और जिसे गाँव का बच्चा-बच्चा समझता था। अतएव डॉ० गिलक्राइस्ट का 'वलगर' उनके दिये हुए आम, प्रसिद्ध या मशहूर (हिन्दवी) आदि अर्थों तक ही सीमित रखा जा सकता है। सच तो यह है कि खड़ीबोली के साथ 'गँवारी' शब्द जोड़ने में सबसे बड़ा हाथ मौलाना अब्दुल हक़ के पूर्ववर्ती उर्दू-समर्थकों का ही है। सन् १८३७ में 'उर्दू' सब प्रान्तों के दफ़्तरों की भाषा तो घोषित हो ही चुकी थी; जब स्कूली शिक्षा के प्रबन्ध में भाषा का प्रश्न उठा तो वहाँ से भी खड़ीबोली को दूर रखने का जागरूक प्रयत्न किया गया। खड़ीबोली का विरोध करने वालों में सबसे प्रखर स्वर सैय्यद अहमद खाँ (१८१७-१८९८) का था। कहते हैं कि वे हिन्दी को एक 'गँवारी बोली' बताकर अंग्रेज़ों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे।[1] उस युग के मौलवी और अन्य उर्दूदाँ 'खड़ीबोली' को किस प्रकार घृणा की दृष्टि से देखते थे और १८७९ तक 'गँवारी' विशेषण किस उदारता से खड़ीबोली के साथ प्रयुक्त होने लगा था, यह फ़ैलन साहब के 'इंगलिश हिन्दुस्तानी लॉ एण्ड कमर्शल डिक्शनरी' (१८५८) तथा 'ए न्यू हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी' (१८७९) की भूमिका पढ़ने से ज्ञात हो जाता है।[2] अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संगृहीत 'खड़ीबोली का पद्य' नामक पुस्तक के भूमिका-लेखक फ्रेड्रिक पिंकॉट ने भी इसकी ओर संकेत किया था।[3] इसके अतिरिक्त इस समय तक हिन्दी साहित्य में भी 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' चल चुका था और ब्रजभाषा-प्रेमियों का एक दल इसे 'डाकिनी, पिशाचिनी, बाँस, भद्दी बोली, बाज़ारू भाषा', आदि कहकर तिरस्कृत कर रहा था। अतएव खड़ीबोली-विरोध के ऐसे युग तथा ऐसी परम्परा में डॉ० ग्रियर्सन एवं मौलाना अब्दुल हक़ आदि का 'खड़ीबोली' और 'गँवारी' को पर्यायवाची समझना कुछ आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता।

सत्य तो यह है कि लल्लूजीलाल, सदल मिश्र, डॉ० गिलक्राइस्ट आदि किसी ने भी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३३, पं० रामचन्द्र शुक्ल
2. (a) Hindi is distinguished by a degree of simplicity and expressiveness probably unsurpassed......even half learned moulvis, who smile disdainfully upon what they call the *vulgar tongue*, are unable, in spite of deep-rooted prejudices, to withstand a practical appeal like this.

   —Dissertation—p. 19. An English Hindustani law and commercial Dictionary of words and Phrases—S.W. Fallon. Calcutta, 1851.

   (b) "Let moulvis and Pandits magnify, as they will, the artificial language which they affect in public to distinguish them from the common herd; it is by these same vulgarisms 'so called (*ganwari*) which they would fain ignorance, that they are stirred and quickened in the household and in the market and in their public and social lives".

   Preface 3. A new Hindustani English Dictionary with illustrations from Hindustani literature and folklore, Banaras, by S.W. Fallon. 1879.
3. "They esteem it the uncourtly idiom of the *vulgar*."
   खड़ीबोली का पद्य, पृ० ५ (भूमिका), लन्दन संस्करण

दिल्ली-आगरे की इस बोली के लिए 'खड़ी' शब्द का उपयोग किसी भी उपर्युक्त विशेष अर्थ में नहीं किया था। १८५० ई० तक जितने भी हिन्दुस्तानी-इंगलिश शब्दकोश प्रकाशित हुए उनमें से किसी में खड़ीबोली शब्द का उल्लेख तक नहीं मिलता। टेलर-हंटर कृत 'हिन्दुस्तानी ऍण्ड इंगलिश डिक्शनरी' (१८०८), डब्ल्यू० सी० स्मिथ की 'ए डिक्शनरी-हिन्दुस्तानी ऍण्ड इंगलिश' (संक्षिप्त १८२०), टॉम्पसन की 'ए डिक्शनरी उर्दू ऍण्ड इंगलिश' (१८३८) तथा डन्कन फ़ोर्ब्स की 'डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश' (१८१८) आदि अधिकांश कोशों की भूमिका में उन ग्रन्थों के नाम गिनाये गये हैं जिनके आधार पर वे तैयार किये गये थे। लगभग सब में 'प्रेमसागर' का उल्लेख मिलता है। और 'खरा', 'खड़ा', 'खड़ी' और 'खरी' के अर्थ भी मिलते हैं, किन्तु वे सब केवल शब्दों के अर्थ तक सीमित हैं। यहाँ तक कि टॉम्पसन एवं डन्कन फोर्ब्स ने अपने कोश में 'व्रज-भाषा' के अर्थ तो दिये हैं किन्तु 'खड़ीबोली' के अर्थ उन्होंने भी नहीं दिये। यही नहीं लेफ़्टिनेन्ट विलियम प्राइस ने केवल 'प्रेमसागर' में समस्त प्रयुक्त शब्दों के आधार पर एक 'खड़ीबोली और इंगलिश कोश' (१८१४) तैयार किया था। इसकी भूमिका में कोश-कर्ता ने 'खड़ीबोली' शब्द का उल्लेख तो किया है, किन्तु कोश में इसका कहीं अर्थ नहीं दिया गया। अन्य कोशों की तरह खरी-खड़ी का अर्थ 'मिट्टी' ही दिया गया है। इनके अतिरिक्त टेलर, रोअबक, रडॅल, विलियम प्राइस आदि परवर्ती हिन्दुस्तानी अध्यक्ष एवं परीक्षकों ने भी खड़ीबोली के लिए 'ठेठ हिन्दवी' या 'हिन्दी' नाम का व्यवहार किया है।[1] वास्तव में ये ठेठ भी डॉ० गिलक्राइस्ट के 'प्योर', 'स्टर्लिंग' आदि शब्दों की तरह 'खड़ीबोली भाषा' के विशेषण मात्र थे, 'खड़ी' शब्द के अर्थ नहीं। और ये विशेषण उसके प्रकृत स्वरूप, जन-प्रचलन एवं सुगमता आदि गुणों की ओर संकेत करते हैं।

पं० कामताप्रसाद गुरु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि द्वितीय वर्ग के विद्वान् 'खड़ीबोली' की आकारान्त प्रवृत्ति को व्रजभाषा की ओकार-बहुला वृत्ति की तुलना में कर्णकटु एवं नीरस समझते हैं। उनकी धारणा है कि 'खड़ी' शब्द इस बोली के उल्लिखित अवगुणों का सूचक है। तात्पर्य यह है कि ये लोग भी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविज्ञों के समान 'खड़ी' नाम व्रजभाषा-सापेक्ष्य ही कल्पित करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि पं० कामताप्रसाद, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि इस 'खड़ी' को माधुर्यगुण-विहीन कल्पित करते हैं और डॉ० सुनीतिकुमार आदि व्रज, अवधी जैसी प्रान्तीय भाषाओं को 'पड़ीबोली' अभिहित कर 'खड़ी' नाम की सार्थकता बताते हैं। किन्तु

1. "It is my duty to state that, although there has been no decline whatsoever in the acquisition of that dialect of the Hindoostani language called Oordoo, but on the contrary improvement, yet I find that the dialect called Khuree Bolee or theuth Hindee or the dialect of the Hindoostanee, spoken by the great body of the Hindoos throughout the whole of Hindoostan and particularly in the cities of Dillee and Agra, is not taught in the college as it used to be when the Hindoostanee Professor had two assistants".
—from J. Roebuck, (examiner), an address to the Council of College of Fort William (16th Nov. 1812).
p. 282-291. Home Miscellaneous, Vol. IV.

वस्तुस्थिति को देखते हुए 'खड़ीबोली' को ब्रज सापेक्ष सिद्ध नहीं किया जा सकता जिसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम 'प्रेमसागर' की भाषा पर ही दृष्टिपात कीजिए। बोली के नाम-दाता लल्लूजीलाल ने अपना प्रेमसागर चतुर्भुज मिश्र कृत ब्रजभाषा-काव्य से खड़ीबोली में गद्यान्तरित किया था। उपर्युक्त भाषा-मनीषियों की धारणानुसार लल्लूजीलाल को खड़ीबोली के प्रकृत स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए ब्रजभाषा के संज्ञा, सविभक्तिक सर्वनाम, अव्यय, क्रिया-पद आदि प्रयोगों का वहिष्कार अभीष्ट होना चाहिए था; किन्तु लेखक ने डॉ॰ गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार केवल 'यामनी भाषा न आने देने' पर ही ध्यान जमाये रखा। कदाचित् इसीलिए प्रेमसागर की भाषा अनेक स्थलों पर अत्यधिक 'ब्रजरंजित' है यथा:—

१—जब सब मिल जैवन बैठे तब नंदराय बोले, सुनो भाइयो अब इस गोकुल में रहना कैसे बने, दिन दिन होने लगे उपद्रव घने, चलो कहीं ऐसी ठौर जावें जहाँ जल का सुख पावें। उपनन्द बोले वृन्दावन जाय वसिये तौ आनद से रहिये। यह वचन सुन नन्दजी ने सब को खिलाय पिलाय, पान दे बैठाय। त्यौंही एक ज्योतिषी को बुलाय यात्रा का मुहूर्त पूछा। विसने विचार के कहा इस दिसा की यात्रा को कल का दिन अति उत्तम है—त्रयोदशोध्याय।

२—गोपियाँ लगी पूछने और कहने कि कहो बलराम सुखधाम अब कहाँ बिराजते हैं। हमारे प्राण सुन्दर स्याम कभी हमारी सुरत करते हैं बिहारी कि राजपाट पाय पिछली प्रीति सब बिसारी''''''अब जाय समुद्र माहि बसे तौ काहे को किसी की सुध लेंगे। इतनी बात के सुनते ही एक गोपी बोल उठी कि सखी हरि की प्रीति का कौन करे परेखा उनका तो देखा सबसे यही लेखा।[1]

तात्पर्य यह है कि यदि डॉ॰ गिलक्राइस्ट का उद्देश्य इसे ब्रजभाषा से पृथक् करना होता तो प्रथमतः वे 'यामिनी भाषा छोड़ने' आ आदेश न देकर ब्रजभाषा छोड़ने का आदेश देते, और ब्रजरंजित होने के कारण प्रेमसागर की भाषा को दोषपूर्ण ठहराकर उसे फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तक-रूप में कदापि स्वीकृत न करते। दूसरे, लालचन्द्रिका की भूमिका में लल्लूजीलाल ने **रेखते की बोली, ब्रजभाषा और खड़ी बोली** तीन भाषाओं का उल्लेख किया है, ब्रजभाषा-सापेक्ष्य होने पर केवल दो ही नामों का उल्लेख पर्याप्त होता। तीसरे, भाखा-मुंशियों द्वारा रचित माधोनल कामकन्दला, शकुन्तला, सिंहासन-बत्तीसी और वैताल पचीसी आदि ग्रन्थों का ही अध्ययन पर्याप्त समझकर डॉ॰ गिलक्राइस्ट फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में भाखा-मुंशियों की नियुक्ति की माँग पेश न करते।[2] कारण यह है कि इन रचनाओं की भाषा प्रेमसागर की खड़ीबोली से कहीं अधिक स्वच्छ एवं परिमार्जित है। उदाहरणार्थ वैताल पचीसी के कुछ अवतरण द्रष्टव्य हैं:—

१—ग़रज कितने दिनों के पीछे राजा के ऐक लड़का पैदा हुआ, राजा ने बाजे-गाजे से कुटुम्ब समेत जाकर देवी की पूजा की। इस अरसे में ऐक दिन का इत्तिफ़ाक है कि नगर से एक धोबी अपने दोस्त को साथ लिये इस शहर की तरफ आता था कि देवी का मन्दिर उसे

१. प्रेमसागर—पृ॰ ३४, २२२

२. द्र॰ प्रस्तुत प्रबन्ध, प्रथम अध्याय

नज़र आया। उसने दण्डवत करने का इरादा किया। इसमें ऐक धोबी की लड़की अति सुन्दरी आती साम्हने से इसने देखी। उसे देख मोहित हुआ और देवी के दरशन को गया। दण्डवत कर हाथ जोड़ उसने अपने मन में कहा, हे देवी ! जो इस सुन्दरी से मेरा विवाह तेरी कृपा से हो तो मैं अपना सिर तुझे चढ़ाऊँ। यह मन्नत मान, दण्डवत कर, दोस्त को साथ ले अपने नगर को आया। जब वहाँ पहुँचा तो उसके विरह ने यह सताया कि नींद भूख प्यास सब बिसर गई; आठ पहर उसीके ध्यान में रहने लगा।

(बैताल पचीसी—छठी कहणी)

२—तब मनस्वी बोला कि संसार में भगवान् ने बहुत रत्न पैदा किये हैं पर स्त्री रत्न सबसे उत्तम है। और उसीके लिए मनुष धन की इच्छा करते हैं। जब नारी को त्यागा तो धन लेके क्या करेंगे; जिनको हसीन औरत मुयस्सर न हो उनसे संसार में पशु भले हैं। धर्म का फल है धन; और धन का फल है सुख; और सुख का फल है नारी। और जहाँ नारी नहीं तहाँ सुख कहाँ। यह सुनके मूलदेव बोला जो तू माँगेगा सो दूँगा। तब उसने कहा, ऐ ब्राह्मण ! मुझे वो ही कन्या दिला दे।[1]

(बैताल पचीसी—चौधवीं कहणी)

बैताल पचीसी की उद्धृत पंक्तियाँ देखने से स्पष्ट हो जायगा कि खड़ीबोली-व्याकरण की दृष्टि से इनमें कोई दोष नहीं है। हाँ ग़रज़, अरसे, इत्तिफ़ाक, दोस्त, तरफ़, नज़र, इराद, मन्नत, हसीन, औरत, मुयस्सर आदि 'यामिनी भाषा' के शब्द अवश्य आगये हैं। इन्हीं पर डॉ० गिलक्राइस्ट को आपत्ति हुई क्योंकि उनका विचार था कि खड़ीबोली ब्रजभाषा का 'मौडिफ़िकेशन' मात्र है।[2] अतः खाय, बुलाय, चलाय अथवा तिनका, परेखा, पुनि, भई आदि शब्दों का सन्निवेश हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार की भाषा का उदाहरण डॉ० गिलक्राइस्ट ने अपने 'पॉलिग्लॉट फ़ैब्युलिस्ट' में भी दिया है :—

खड़ीबोली

"एक समय किसी नगर में चर्चा फैली कि उसके पड़ोस के पहाड़ को प्रसूत की पीर हुई। और कहते हैं कि अति आह कर कराहने का शब्द उससे सुना जाता था। और सबकी ध्यान उसी पर थी कि कुछ अनूठी वस्तु छिन एक में प्रकट होगी। अधिक चाओ से लोगों की भीड़ उस नए कौतुक के देखने को इकट्ठी थी। एक तो तक रहा था कि कोई दैवयत जनैगा, दूसरा इस बात पर कि कोई अद्भुत राच्छस होगा।"

हिन्दुस्तानी

"एक बार किसी शहर में यूँ शुहरत हुई कि उसके नज़दीक के पहाड़ को जन्ने का दर्द उठा। और कहते हैं कि बहुत आह औ नाले की आवाज़ उससे सुनी जाती थी। और सब

1. Hindi and Hindoostanee Selections. Vol. I (Baital Pachisee p. 33, 51) William Price.
2. "The Scholar, therefore, has frequently little more to do than......to modify the present Brij Bhasha version by the modern rules of the language."

—Oriental Fabulist. Preface p. 5. Calcutta. 1803.

किसी पर नजर थी कि कुछ अनूठी चीज अनंक़रीब जाहिर होगी । बड़े शौक़ से आदमियों की भीड़ उस अजायब तमाश देखने को जमा थी । एक तो मुन्तजिर था कि कोई देव पैदा होगा, दूसरा इस बात पर कि कोई अनोखा राकस होगा ।"[1]

यही 'रेख़ता' अर्थात् 'हिन्दुस्तानी' तथा 'हिन्दवी' यानी 'खड़ीबोली' में अन्तर भी था, और सम्भवतः इसी आधार पर उन्होंने 'रेख़ता' को मिश्रित (Mixed) बोली और हिन्दवी को शुद्ध (Pure) कहा था। यही नहीं फ़ैलन, देवीप्रसाद आदि ने भी अपने निबन्ध एवं व्याकरण आदि में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनमें हिन्दुस्तानी और हिन्दी का अन्तर अरबी फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों के प्रयोगों द्वारा ही स्पष्ट किया है। फ़ैलन अपने निबन्ध में हिन्दी की मौलिक क्रियाओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि "प्रश्न किया जा सकता है कि अरबी के हासिल करना, मनक़्लीब करना, मुतग़यार करना, फ़तेह, ग़ैर मुमकिन, नामुक़म्मल आदि हिन्दी के अधिक परिचित क्रियापदों 'पाना, पलटना, बदलना, जीत, अनहोनी, अधूरा' आदि से किस प्रकार अधिक अच्छे हैं ।[2] इसी प्रकार देवीप्रसाद ने भी अपने व्याकरण में ऐसे ही उदाहरण दिये हैं :—

उर्दू—तुम्हारे उस्ताद के नजदीक पढ़ने आया हूँ ।

हिन्दी—तुम्हारे गुरु के समीप अध्ययन करणे आया हौं ।

उर्दू—मोलवी साहब घर में है या ना । किस तरह संवाद पावैं कि मैं मुलाक़ात को आया हूँ उनको ।

हिन्दी—मलौबि साहेब घर में हैं कै नहीं । क़िस भांति संवाद पावैं कि मैं साक्षात को आया हौं ।[3]

सम्भवतः इसीको देखकर डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि "वे महोदय (डॉ० गिलक्राइस्ट) अरबी-फ़ारसी शब्द हटवा कर और उनके स्थान पर हिन्दी शब्द भरती करवाकर एक उर्दू की ही किताब लिखवाना चाहते थे ।"[4] और जैसा कि खड़ीबोली की व्युत्पत्ति के प्रकरण में दिखाया भी जा चुका है फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष बहुत समय तक हिन्दुस्तानी के ज्ञान के लिए ब्रजभाषा व्याकरण का अध्ययन ही पर्याप्त समझते रहे थे। परिणामस्वरूप उन्होंने 'मैं मारयो जातो हौं" ओकारान्त वाक्य एवं 'मैं मारा जाता हूँ'—आकारान्त वाक्य में

1. Oriental Fabulist. Preface p. 5 and p. 59 (fable X, 'The mountain in labour).' Gilchrist. Calcutta. 1803.
2. An English Hindustani law and Commercial dictionary of words and Phrases. p. 15. Dissertation—S.W. Fallon. Calcutta, 1858.
3. Debi Prasad's Polyglot grammar and exercises. p. 59. (in Persian, English, Arabic, Hindee, Oordoo and Bengali), Calcutta. 1854.
4. That gentleman wanted an Urdu book written, with all the Arabic and Persian words excluded, their places being taken by Hindi words.

——The Satsaiya of Bihari. p. 12 (Lal Chandrika). Edited by G.A. Grierson.

विशेष अन्तर नहीं देखा।[1] अतएव यह कहना, कि व्रजभाषा की औकारान्त प्रवृत्ति की तुलना में आकारान्त प्रवृत्ति तथा व्रजभाषा के माधुर्य एवं कोमलता आदि गुणों की समता में कर्कशता-परुषता जैसे अवगुणों के कारण भाषा को खड़ीबोली नाम दिया गया, निस्सार प्रतीत होता है। तब फिर विचारणीय प्रश्न यह है कि खड़ीबोली को व्रजभाषा सापेक्ष मानने की धारणा किन कारणों से बद्धमूल हुई? वास्तव में इसका कारण, जैसा कि पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने स्पष्ट ही कहा है, व्रजभाषा और खड़ीबोली का द्वन्द्व था।[2] भारतेन्दु काल में जिस समय खड़ीबोली को काव्य का माध्यम स्वीकृत करने का प्रश्न उठा, तब व्रजभाषा के कुछ प्रेमी लालित्य के परिरक्षण के लिए व्रजभाषा को हिन्दी साहित्य में बनाये रखने के पक्षपाती रहे। प्रतापनारायण मिश्र, शिवनाथ शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि कवि-आलोचक व्रजभाषा की रसपूर्णता के समक्ष खड़ीबोली को काव्यभाषा बनाना युग का दुराग्रह मात्र समझते थे। परन्तु काल की दृष्टि से तथाकथित अवगुणों का आरोप 'खड़ी' शब्द पर किसी प्रकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह आन्दोलन 'खड़ीबोली' नामकरण के लगभग पचहत्तर वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ था। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि व्रज, अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओं का नाम कभी भी 'पड़ी बोलियाँ' नहीं रहा। अतएव डॉ० सुनीतिकुमार, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि की तद्विषयक धारणा में कोई बल नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमसागर व्रजभाषा से नहीं अपितु 'हिन्दुस्तानी' या 'रेख़ता' से पृथक् करने के लिए रचा गया था। यह निष्कर्ष व्रजरत्नदास के "रेख़्ता के वज़न पर खड़ीबोली नामकरण" मत का समर्थन करता है।[3] इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि किसी भाषा के नामकरण का प्रायः क्या आधार होता है?

संसार की विभिन्न भाषाओं के नामों पर दृष्टिपात करने से भाषा-नामकरण के तीन आधार लक्षित होते हैं:—

(१) भाषा का नाम, जाति अथवा देशपरक होता है, जैसे ग्रीक, जर्मन, इंगलिश, इटैलियन, मराठी, गुजराती, व्रज, अवधी, राजस्थानी आदि।

(२) भाषा का नाम गुणपरक हो सकता है, जैसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि।

(३) भाषा का नाम किसी प्रचलित भाषा के वज़न पर रख दिया जाता है जैसे पिंगल के वज़न पर डिंगल।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है और डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी कहा है 'खड़ी' शब्द किसी स्थान, देश अथवा जाति का द्योतक नहीं है। और यह शब्द किसी प्रकार के गुण या अवगुण पर भी प्रकाश नहीं डालता। अब एक ही सम्भावना शेष रह जाती है कि 'खड़ी' नाम किसी प्रचलित बोली के नाम के वज़न पर रखा गया। बाबू व्रजरत्नदास का कहना है कि 'खड़ी'

१. द्र० प्रस्तुत प्रबन्ध, प्रथम अध्याय
२. उर्दू का रहस्य, पृ० ६६, 'खड़ीबोली की निरुक्ति'—चन्द्रबली पाण्डेय
३. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०-११—व्रजरत्नदास

नाम 'रेख़्ता' अथवा 'गिरी,' 'पड़ी' अर्थों के वज़न पर रखा गया होगा। और कारण यही हो भी सकता है। क्योंकि 'रेख़्ता' शब्द से पृथक् करने के लिए ही 'खड़ीबोली' नये नाम की आवश्यकता पड़ी थी, और गिलक्राइस्ट ने अरबी-फ़ारसी-मिश्रित भाषा से विदेशी शब्दों के बहिष्कार द्वारा खड़ीबोली का प्रकृत स्वरूप निश्चित किया था। उर्दू के साहित्यिक एवं कोषकारों द्वारा 'रेख़्ता' शब्द की अर्थगत व्याख्या इस मत को और भी पुष्ट कर देती है। मुहम्मद हुसेन आज़ाद ने अपने 'आबेहयात' में 'रेख़्ता' शब्द के अर्थ इस प्रकार दिये हैं :—

"रेख़्ता के माने हैं **गिरी, पड़ी,** परीशान चीज़ क्योंकि इसमें लफ़्ज़े-परीशान जमा है इसलिए इसे रेख़्ता कहते हैं। यही सबब है कि इसमें अरबी-फ़ारसी, तुर्की वग़ैरह कई ज़बानों के अल्फ़ाज शामिल हैं और अब अंग्रेज़ी भी दाखिल होती गयी है।"[१]

फ़रहंग आसफ़िया में इसकी पहली सिफ़त **गिरा हुआ,** और बिखरा हुआ बताई गई है।[२] नूर-उल-लुग़ात में भी मुहम्मद हुसेन आज़ाद की बात ज्यों की त्यों दोहरा दी गई है, अर्थात् "रेख़्ता के माने हैं **गिरी, पड़ी** परीशान चीज़, क्योंकि उस ज़बान में अरबी-फ़ारसी, तुर्की वग़ैरह कई ज़बानों के अल्फ़ाज़ शामिल हैं इसलिए 'रेख़्ता' कहलाती है।"[३]

सैयद एहतिशाम हुसेन ने भी 'रेख़्ता' का अर्थ मिला-जुला, **गिरा, पड़ा** या पक्का दिया है।[४] फ्रांसिस जॉनसन तथा स्टेनगैस के फ़ारसी-अंग्रेज़ी शब्दकोशों में 'रेख़्ता' शब्द की व्युत्पत्ति फ़ारसी के रेख़्तः से बताकर उसके अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं :—

१—रेख़्ता—**poured, cast** or founded, scattered ;
A sort of language formed of the Persian and Hindustani mixed, in which many poems have been written.[५]

२—रेख़्ता—रेख़्तः—**poured, spilled,** scattered, a mess made by spilling anything cast or founded.

ज़बाने रेख़्ता—a gibberish, a mixed language—name given to Hindustani language.[६]

रेख़्ता के उपर्युक्त अर्थों से जो **'गिरी', 'पड़ी'** अर्थ निकलता है वह **'खड़ी'** शब्द के नामकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। लल्लूजीलाल को 'खड़ी' नाम देने का स्फुरण सम्भवतः

१. आबेहयात, सफ़ा २१—मुहम्मद हुसेन आज़ाद

२. रेख़्ता—सिफ़्त—१. गिरा हुआ, चक़ीदा, टपका हुआ, बेसाख़्ता, निकला हुआ, बिला तकलीफ़ वा बिला तसन्नीह, ज़बान से निकला हुआ।
२. बिखरा हुआ, मुन्तशिर, परेशान—फ़रहंगे आसफ़िया—मुं० सैयद अहमद

३. नूर-उल-लुग़ात, जिल्द III, मौलवी नैयर-उल-हसन

४. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० ६२, सैयद एहतिशाम हुसेन

5. A Dictionary of Persian Arabic and English.
(Published under the patronage of the honourable East India Company) by Francis Johnson, London 1852.

6. Persian English Dictionary. F. Steingass.
Kegan Paul Trench Trubner & Co., London, (3rd Imp.)

रेख़्ता के अर्थ (गिरी-पड़ी) के वज़न पर ही हुआ था।

खड़ीबोली की व्युत्पत्ति एवं अर्थों से सम्बन्धित विभिन्न मतों एवं व्याख्याओं की युक्तियुक्त मीमांसा करने के उपरान्त सारांशत: यह कहा जा सकता है कि लल्लूजीलाल कृत प्रेमसागर से पूर्व 'खड़ोबोली' शब्द का प्रयोग यद्यपि हिन्दी साहित्य के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता किन्तु यह बोली भारत में स्थान एवं स्वरूप-भेद से हिन्दवी, हिन्दुई, रेख़्ता, हिन्दुस्तानी आदि अनेक नामों से प्रचलित थी। शताब्दियों तक मुसलमान जाति के साथ सम्पर्क में आने के कारण इस बोली में शनैः शनैः अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों का सन्निवेश होता गया। इस प्रकार अठारहवीं शती के अन्त तक यह मिश्रित भाषा यद्यपि शिष्ट एवं शिक्षित जन-समुदाय की अभिव्यक्ति का माध्यम हो चुकी थी किन्तु इसका ठेठ प्रकृत रूप दिल्ली-मेरठ और उसके आसपास के गाँवों में बोला जाता था। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष डॉ० गिलक्राइस्ट ने वस्तुत: 'रेख़्ता' या 'हिन्दुस्तानी' की इसी आधारभूत बोली में लल्लूजीलाल को प्रेमसागर तथा सदल मिश्र को नासिकेतोपाख्यान लिखने का आदेश दिया था। इसका मिश्रित रूप उर्दू-काव्य की तरह हिन्दी-काव्य में भी प्रयुक्त होता था और दोनों शैलियों में यह 'रेख़्ता' नाम से ही जानी जाती थी। इस 'रेख़्ता' नाम का एक तो हिन्दी साहित्य में पर्याप्त प्रचार न था, दूसरे फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष और विद्यार्थी इसे उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के पर्याय में प्रयुक्त करते थे इसलिए लल्लूजीलाल ने उसी 'रेख़्ता' शब्द के गिरी-पड़ी अर्थ के वज़न पर, अरबी-फ़ारसी मुक्त इस बोली को 'खड़ी' नाम दे दिया। और परवर्त्ती काल में जिस तरह पिंगल के वज़न पर निर्मित 'डिंगल' शब्द की अनेकानेक मनगढ़न्त व्याख्याएँ की गईं उसी प्रकार खड़ीबोली शब्द के भी विभिन्न अर्थ कर डाले गये। सच तो यह है कि गिलक्राइस्ट महोदय ने खड़ीबोली भाषा के लिए जितने विशेषण-परक शब्दों का इस्तेमाल किया था, परवर्त्ती विद्वानों ने उन्हीं विशेषणों के आधार पर 'खड़ी' शब्द के अर्थ घटित कर लिये; उन अर्थों से प्रस्तुत शब्द का कोई सम्बन्ध न था।

खड़ी बोली का क्षेत्र

जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, खड़ीबोली की उत्पत्ति शौरसेनी-अपभ्रंश-प्रसूत पश्चिमी हिन्दी से मानी जाती है। डॉ० गुने ने पश्चिमी हिन्दी की सीमाएँ पूर्वी पंजाब, उत्तर-प्रदेश का आधा पश्चिमी भाग, रुहेलखण्ड, सिन्धिया का स्पर्श करती हुई उत्तरप्रदेश की हद तथा बुन्देलखण्ड तक निर्धारित की है, और हिन्दुस्तानी, बाँगड़ू, ब्रजभाषा, कन्नौजी एवं बुन्देली इसकी पाँच मुख्य विभाषाएँ बताई हैं।[1] डॉ० ग्रियर्सन ने आगरा को हिन्दुस्तानी भाषी प्रदेश

1. "The Western Hindi is the name of a group of various dialects such as the Hindustani, the Bangru, the Braj Bhakha, the Kanauji and Bundeli. Roughly speaking, parts of eastern Punjab, western half of the United Provinces, Ruhelkhand and part of Scindia's Territory touching the United Provinces and Bundel Khand, is the region of these dialects".
—An introduction to Comparative Philology, p. 258. by Dr. P.D. Gune.

का मुख्य केन्द्र मानकर ज़िले की चार प्रचलित बोलियों का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि आगरा वर्षों तक मुगल बादशाहों की राजधानी रहा है अतः उसमें तथा उसके अत्यन्त समीपस्थ क्षेत्रों में उर्दू बोली जाती है। इसके दक्षिण में बुन्देली की एक विशिष्ट शैली 'भदौड़ी' है। शेष प्रान्त दक्षिण से उत्तर तक जाती हुई रेखा से दो समान भागों में विभक्त है। इस रेखा के पश्चिम की ओर जो भाग मथुरा और भरतपुर रियासत को छूता है स्थानीय सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्रजभाषा क्षेत्र है तथा उसके पूर्व का जो हिस्सा अलीगढ़, एटा, मैनपुरी से घिरा है उसकी बोली को 'गँवारी' अथवा 'खड़ीवोली' कहते हैं।[1] इस खड़ीवोली को उन्होंने हिन्दुस्तानी का पर्याय माना है।[2] तथा उर्दू एवं साहित्यिक हिन्दी को इसकी विशिष्ट शैलियाँ कहा है।[3] इस प्रकार ग्रियर्सन महोदय ने वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी (बोलचाल की खड़ीबोली) की सीमाएँ व्यापक रूप से अम्बाला, रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, गंगा के पूर्वी भाग, पश्चिमी रुहेलखण्ड (दक्षिण से उत्तर की ओर) मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, एवं देहरादून बताई हैं।[4] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी 'नागरी-हिन्दी-उर्दू (खड़ीबोली) को प्रादेशिक

---

1. Four Principal dialects have been reported as spoken in the district of Agra. The town of Agra, the head quarters of the district, was for many years the capital of the moghul Emperors. Hence we have here, and in the country immediately surrounding it, Urdu. In the south of the district......the language is the Bhadauri form of Bundeli. The rest of the district is divided into two nearly equal parts by a line running approximately north and south. To the west of this line, in the country touching the district of Muttra and the state of Bharatpur, the local official report the dialect to be Braj Bhakha ; to its east in the country abounded by Aligarh, Etah and Mainpuri, they call the dialect simply gaw-wari or Khari Boli."
—Linguistic survey of India, p. 391, Vol IX, Part I. G.A. Grierson.

2. Khari Boli—a name given to Braj Bhakha in the east of the Agra district (U.P) also a common name for Hindustani-(Remark Column)
—Index of language names—comp. by Grierson, Calcutta 1220.

3. "We may now define the three varieties of Hindustani as follows :—
Hindustani is primarily the language of the upper gangetic Doab and is also the lingua franca of India, capable of being written in both Persian and Devanagari characters, and without purism, avoiding alike the excessive use of either Persian or Sanskrit words when employed for literature. The name Urdu can, thereby, be confined to that special variety of Hindustani in which Persian words are of frequent occurence and, which, hence can only be written in the Persian character and similarly Hindi can be confined to the form of Hindustani in which Sanskrit words abound, and which, hence can only be written in the Devanagari character"
—Linguistic survey of India, p. 47, Vol. IX, Part I—G.A. Grierson.

4. "The dialect of western Hindi spoken in Western Rohilkhand, in the upper gangetic Doab, and in the Punjab district of Ambala is what I call, literary Hindostani. That is to say, it is the form of speech on which the literary Hindostani, that took its rise in Delhi, is based. The language of the state of Rampur and of the district of Moradabad

या वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी के व्याकरण का परिष्कृत एवं सुसम्बद्ध तथा सुगठित रूप' बताकर इसमें पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा पूर्वी पंजाब के क्रमशः रुहेलखण्ड एवं मेरठ डिवीज़न तथा अम्बाला ज़िले की बोलियाँ तथा उनके निकटवर्त्ती प्रदेश (करनाल-रोहतक के कुछ भाग, पेप्सू (जीन्द) राज्य के कुछ भाग, तथा जमुना के पश्चिमी तट पर के लगभग सारे दिल्ली इलाके) में बोली जाने वाली बाँगरू बोली सम्मिलित की है।[1] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी खड़ीबोली का मूल अर्थ लेते हुए 'रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाने वाली बोली' को 'खड़ीबोली' कहा है।[2] ग्रियर्सन महोदय द्वारा निर्धारित यही खड़ीबोली की सीमाएँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को मान्य हैं। वे खड़ीबोली-भाषी स्थानों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "खड़ीबोली निम्नलिखित स्थानों में गाँवों में बोली जाती है—रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग।"[3] डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी अपने 'हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास' शीर्षक ग्रन्थ में खड़ीबोली-क्षेत्र के अन्तर्गत उल्लिखित स्थान परिगणित किये हैं।[4]

खड़ीबोली की उपर्युक्त भौगोलिक स्थिति को देखकर सहज ही ज्ञात हो जाता है कि इसका क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी के उत्तरी-पश्चिमी कोने में है। "इसके पश्चिम में पंजाबी, उत्तर में भारतीय आर्य-परिवार की पहाड़ी भाषाएँ (जिनका सम्बन्ध राजस्थानी से है) तथा दक्षिण एवं पूर्व में ब्रजभाषा का क्षेत्र है।"[5] खड़ीबोली के इस निर्धारित सीमा-क्षेत्र को अन्तिम मानते हुए भी यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि व्यापक जन एवं साहित्यिक प्रचार और दूसरे दैशिक परिवर्तनों के फलस्वरूप आज खड़ीबोली इस संकुचित दायरे से निकलकर प्रसारित होने की चेष्टा कर रही है। क्योंकि (डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में) "आजकल समस्त उत्तरप्रदेश (जिसमें मध्यवर्ती तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश भी सम्मिलित है) के बहुत से हिन्दुओं ने नागरी हिन्दी को अपने घर की तथा सामाजिक व्यवहार की भी भाषा बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया है।"[6]

---

and Bijnaur, east of the Ganges and in the western Rohilkhand, possess the strongest resemblance to literary Hindostani......for our present purposes we may take this as including (going from south to north) the district of Meerut, Muzaffarnagar, Saharanpur and plain portion of Dehradun.

—Linguistic Survey of India. p. 63 (Vernacular Hindostani) Vol.IX, Part I, by G.A. Grierson.

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—पृ० १८०, डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

२. भाषा विज्ञान—पृ० १०६, डॉ० श्यामसुन्दरदास

३. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृ० ६५, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

४, ५. हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास—पृ० २२६-२३०, डॉ० उदयनारायण तिवारी

६. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—पृ० १७६, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

खड़ीबोली के रूप

वर्तमान काल में प्रायः ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि अन्य साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिए आधुनिक परिनिष्ठित हिन्दी को 'खड़ीबोली' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त भौगोलिक दृष्टि से यह राजस्थानी, पंजाबी एवं ब्रजभाषा से घिरी हुई है। अतएव इन पाँचों भाषाओं का तुलनात्मक दृष्टि से खड़ीबोली-स्वरूप से पार्थक्य दिखाना अपेक्षित तो है किन्तु विषय के विचार से इसका समावेश प्रवन्ध का कलेवर-मात्र बढ़ाना होगा। क्योंकि इन भाषाओं के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषरण, कारक-चिह्न, वचन, कृदन्त, तद्धित, क्रिया आदि रूप खड़ीबोली से पर्याप्त भिन्न हैं। अतएव यहाँ 'खड़ीबोली' को इस क्षेत्र की 'ठेठ' बोली के अर्थ में लेकर इसके केवल उन दो परिनिष्ठित रूपों की चर्चा की जायगी जिनका मूलतः एक ही व्याकरण था पर साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह एवं लिपिभेद के कारण आज 'साहित्यिक खड़ीबोली' एवं 'उर्दू' नाम से दो प्रचलित शैलियाँ प्राप्त हैं। इस प्रसंग में सर्वप्रथम 'बोलचाल की खड़ीबोली' से 'साहित्यिक खड़ीबोली' का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। अस्तु!

बोलचाल (ग्रामीण) की खड़ीबोली एवं साहित्यिक खड़ीबोली में अन्तर

ध्वनि

स्वर—साहित्यिक हिन्दी का 'ऐ' तथा 'औ' बोलचाल की खड़ीबोली में 'ए' एवं 'ओ' रहता है; यथा, पैर=पेर, है=हे, हैं=हें, और=ओर, लौंडा=लोंडा, दौड़=दोड़ आदि। कभी-कभी और का 'अर' या 'हर' भी सुनाई पड़ता है। यह सहारनपुर और देहरादून में 'होर' में परिरणत हो जाता है। साहित्यिक हिन्दी का 'बैठ' बोलचाल में 'बट्ठ' और मेरठ में 'बट्ट' हो जाता है। 'कहा' एवं 'केहा' दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। स्वराघातहीन अक्षरों में 'इ' का 'अ' होता भी देखा जाता है जैसे शिकारी, सिकारी=सकारी, मिठाई=मठाई, कहीं-कहीं तो 'इ' लुप्त भी हो जाता है जैसे, इकट्ठा=कट्ठा।

व्यंजन—पंजाबी की तरह बोलचाल की खड़ी-हिन्दी में मूर्धन्य व्यंजन-वर्णों का अधिक व्यवहार होता है। मध्य तथा अन्त्य दन्त्य 'न' एवं 'ल' क्रम से 'ण' तथा 'ळ' हो जाते हैं। साहित्यिक हिन्दी में 'ळ' का उच्चारण होता ही नहीं, उदाहरणार्थ—

मनुष्य, मानुस	= माणुस	जंगल	= जंगळ
अपना	= अपणा	बैल, बलद	= बळद
खोना	= खोवणा	बाल	= बाळ
सुनना	= सुणणा		

साहित्यिक हिन्दी के 'ड़' और 'ढ़' ऊपरी दोआब में 'ड' और 'ढ' रहते हैं; जैसे बड़ा=बडा, गाड़ी=गाडी या गाड्डी, चढ़ना=चढना आदि। स्वराघात-युक्त दीर्घ स्वर के बाद के व्यंजन का इसमें द्वित्व, तथा दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार द्वित्व व्यंजन से पूर्व के ई=इ, ऊ=उ, तथा ए=ऍ में परिरणत हो जाते हैं। इसका अपवाद केवल 'आ' है जो लिखने में 'आ' ही रहता है पर उच्चारण में किंचित ह्रस्व हो जाता है; यथा,

बाप=बाप्पू, बर्तन (बासन)=बास्सह्न, गाड़ी=गाड्डी, रोटी=रोट्टी, खेतों में=खेत्तों में, छोटा=छोट्टा, लोगों पे=लोग्गों पै, भूखा=भुक्खा आदि। बोलचाल की खड़ीबोली में व्यजनों को द्वित्व करने की यह प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि वर्तमानकालिक कृदन्त भी इससे नहीं बच सके; यथा 'पाता' और 'जाता' क्रिया-शब्द 'पात्ता' और 'जात्ता' की तरह बोले जाते हैं।

रूप

संज्ञा—व्यंजनान्त संज्ञाओं के सविभक्तिक एकवचन रूपों के अन्त में 'ओ' के अतिरिक्त बोलचाल में 'ऊँ' भी आ जाता है; जैसे, घरूँ, (घरों में) मरदूँ का, बेट्यूँ का, यादम्यूँ का (आदमियों का) आदि। ईकारान्त कर्त्ता (स्त्रीलिंग) के बहुवचन रूपों के अन्त में साहित्यिक हिन्दी की तरह 'इयाँ' न होकर 'ई' मिलता है, जैसे, 'बेट्टी' (बेटियाँ)।

कारक चिह्न

	साहित्यिक खड़ीबोली	बोलचाल की खड़ीबोली
कर्त्ता	ने (केवल सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं में)	ने नें (एकवचन में 'ने' नहीं आता)
कर्म-सम्प्रदान	को	को, के, कूँ, नूँ, ने
करण-अपादान	से	से, सेत्ती, ते
अधिकरण	पर	पै, प..

सर्वनाम

	साहित्यिक खड़ीबोली		बोलचाल की खड़ीबोली	
	उत्तम पुरुष	**मध्यम पुरुष**	**उत्तम पुरुष**	**मध्यम पुरुष**
कर्त्ता	मैं, मैंने	तू, तुम	मैं, मैंने	तू, तम
	हम, हमने	तूने, तुमने	हम, हमने	तैं, तमने
सविभक्तिक	मुझ, हम	तुझ, तुम	मझ, मुझ, हम	तझ, तुझ, तम
कर्म-सम्प्रदान	मुझको, मुझे	तुझको, तुझे	मझे, मुझे	तझे, तुझे
	हमको, हमें	तुमको, तुम्हें	हमें	तमें
सम्बन्ध	मेरा, हमारा	तेरा, तुम्हारा	मेरा, हमारा, म्हारा	तेरा, तम्हारा, थारा

अन्यपुरुष में साहित्यिक हिन्दी के एकवचन 'वह' के बोलचाल में 'ओ', 'ओह' बनते हैं। इसका स्त्रीलिंग रूप 'वा' भी प्रयुक्त होता है। अन्य सर्वनामों में बोलचाल के अपणा (अपना), कोण के (कौन), के (क्या), के (कितने), असा (ऐसा), इब, इभी (अब, अभी), जिब (जब या तब), ह्वाँसी (वहाँ) आदि रूप भी उल्लेखनीय हैं।

क्रिया-रूप—वर्तमान काल की सहायक क्रिया 'हैं' या 'है' को क्रम से 'हें' अथवा 'हे' कहना बोलचाल की विशेषता है। हाँ, अतीत काल के 'था' के रूप साहित्यिक खड़ीबोली के समान ही रहते हैं।

कर्तृवाच्य क्रियापद—साहित्यिक हिन्दी के सम्भाव्य वर्तमान का भाव द्योतित करने वाले क्रियापद यहाँ साधारण वर्तमान के मूल भाव को भी प्रकट करते हैं; जैसे 'में मारूँ' का अर्थ 'मैं मारता हूँ' और 'मार सकता हूँ' दोनों हो सकता है।

निश्चयार्थ वर्तमान के रूपों में 'मैं मार रहा हूँ' या 'हम मार रहे हैं' के बोलचाल में क्रम से 'मैं मारूँ हूँ' या 'हम मारे हैं' आदि रूप बनते हैं। वर्तमान तथा भविष्यत् में दीर्घ स्वरान्त क्रियापदों के रूप संक्षिप्त हो जाते हैं; यथा, खाएँ हैं=खाँ हैं, जाएँ हैं=जा हैं, जाऊँगा=जाँगा, खाएगा=खागा, जाएँगे=जाँगे, खाएँगे=खाँगे आदि।

इनके अतिरिक्त करण के अतीतकाल में साहित्यिक हिन्दी के 'किया' के अतिरिक्त बोलचाल में 'केरा' भी मिलता है और 'गया' के साथ 'गिया' दोनों चलते हैं। नकारार्थक में 'नहीं' के साथ 'ने', और 'नी' भी व्यवहृत होते हैं। 'नी' का उपयोग उत्तमपुरुष में और 'ने' का अन्यपुरुष में होता है। मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, बिजनौर आदि ज़िलों में बोली जाने वाली ग्रामीण खड़ीबोली के कतिपय उदाहरणों में यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जायगा, देखिए—

मेरठ जिला

एक दिन अकबर बादसा ने बीरबल तें पुच्छा, ओ बीरबल तू हमें बळद का दूध ला दे और नहीं तेरी खाल कढ़वाई जागी। बीरबल कूँ बहोत रंज हुआ और हुन्तर आण के अपने घरूँ पड़ रहा। बीरबल की लोंन्डी ने अपणे मन में कहा कि आज तो मेरा बाप बहोत सोच में पड़ा है। आज के जाणे इसका के ढब हुआ। जिब उननें अपणे बाप कूँ पुच्छा अरे बाप आज तेरा के ढब हे। बीरबल ने कहा की बेटी कुछ ना है। फेर लोंन्डी ने पुच्छा की पिता अपणे मन का भेद बताणा चाहये। जिब उननें कहा की बादसा नें कहा की के तो बळद का दूध ला दे नहीं तझें कोल्हू में पिळवाऊँगा। मेरे तें कुछ नहीं कहा गया और हाम्मी भर के आया हूँ और कुछ राह नहीं पात्ता। लोन्डी ने कहा की पिताजी या तो कुछ भी बात नां है। तुम बेफिकर रहो।[1]

मुज़फ़्फ़रनगर

एक यादमी के दो बेट्टे थे। उनमें ते छोट्टे ने बाप्पू ते कहा अक बाप्पू जोण सा हिस्सा माल में ते मेरे बाँटे आये है ओह मुझे दे। जिब उसने माल उन्हें बाँट दिया। छोट्टे बेट्टे ने थोड़े दिन पाच्छे सब कट्ठा करके दूर मुलक में चला गया और व्हाँसी अपणा माल लुचपने में खो दिया। जिब जाँ ओह सारा खरच में आ लिया, जिब उस मुलक में काल पड़ गिया ओर ओह भुक्का हो गिया। जिब जाँ उस मुलक में एक साहूकार के जा लगा। उसने अपणे खेतों में सूर चुगावण भेज्जा। उसे यह चाहणा थी अक जोण सी छोलकों ने सूर खाँ हैं उनते अपणा पेट भर लूँ। वे भी उसे को ने देता। जिब सोंधी में आ के केहा—अक मेरे बाप्पू के कितने नौकरों कूँ रोट्टी मिलें है अर मैं भुक्का मरूँ। मैं उठ के अपणे बाप्पू

1. Linguistic Survey of India, Vol IX, Part I, p. 213, 215, 226, 231, 238.

धोरे जाऊँगा अर उससे कहूँगा, हे बाप्पू मैं आसमान की अर तेरे हजूर की बड़ी खता करी।[1]

बिजनौर

एक आदमी के दो बेटे थे। उनमें से छोटे ने बाप से कहा कि जो कुछ मेरे हिस्से की चीज है मुझे बाँट दे। तब उसने उसके हिस्से का माल बाँट दिया। थोड़े दिन बाद छोटा बेटा सब माल कूँ लेकर परदेस को चला गया और वहाँ सब माल कुचाल में खो दिया और उसके पास कुछ नहीं रहा। उस मुल्क में भारी काल पड़ा और वुह कंगाल होने लगा। तब उस देस के एक अमीर के पास चला गया। उसने अपने खेतों में सूअर चराने भेज दिया।[2]

अम्बाला

उसके जी माँ यूँ आई कि जिन छोलकाँ नो सँवर खाये हैं उनसे अपना पेट भर लूँ। पर उसे कोई नहीं दे था। तो फेर उसनों अकल आई कि मेरे बाप के कितने ही नौकर खाये हैं और मैं भूका मरूँ हूँ। अब मैं अपने बाप के पास जाऊँगा और उसनों कहूँगा कि मेरे ते रब का और तेरा कसूर हुआ है और अब मैं इस लायक नहीं हूँ कि तेरा बेटा कहाऊँ। मननूँ भी अपने नौकरों माँ नोकर करके राख ले। फेर ओह वहाँ ते अपने बाप ओड़ी चला। होर ओह अजो दूर था कि उसे देख के उसके बाप ने तरस खाया। दोड के झंपी पाली और उसे पचकारा।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से बोलचाल की खड़ीबोली और साहित्यिक खड़ीबोली में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि साहित्यिक खड़ीबोली के भी दो रूप मिलते हैं। एक रूप में, तत्सम शब्दावली के विशेष आग्रह से क्लिष्टता आ जाती है और वह कतिपय क्रियापद एवं कारक-चिह्नों के प्रयोग को छोड़कर संस्कृत से बहुत दूर नहीं जान पड़ती। दूसरी में, तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है। इससे भाषा का प्रांजल रूप सुरक्षित रहता है और भाषा की बोधगम्यता भी नष्ट नहीं होती; देखिए :—

क्लिष्ट साहित्यिक खड़ीबोली

१—जितना ही सबल रस प्लावन होगा उतना ही सबल उसका आविर्भाव और प्रभाव होगा ऐसे हृदय को तरल-तरंगायित, सुधा-सरोवर, उत्ताल-तरंग-माला-संकुल-जलधि, मन्द मलयानिल-आन्दोलित कल्पतरु, प्रबल प्रभंजन-प्रकम्पित-सरिता-प्रवाह, मार्तण्ड-प्रखर-प्रताप-तप्त-मरुस्थल, वात्या-विताड़ित-उद्यान, विकचकुसुमचय-विलसित-नन्दन-कानन-निबड-घनाच्छन्न-गगन, दावा-दग्ध-विपिन, महाभयंकर श्मशान सब कुछ कह सकते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध—"बोलचाल"

प्रांजल साहित्यिक खड़ीबोली

२—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना

1-2 Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part I, 213, 215, 926, 231, 238.
3. Linguistie Survey of India, Vol. IX, Part 1, P. 241

ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायगी, जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्यभूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है ८न सुन्दर को कोई एक बारगी कुरूप कहता है, और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर।

रामचन्द्र शुक्ल—"कविता क्या है ?"

खड़ीबोली एवं उर्दू में अन्तर

कहा जा चुका है कि खड़ीबोली अपने प्रकृत रूप में केवल एक बोली है। जब वह साहित्यिक रूप धारण कर लेती है तब देशी वेशभूषा में 'हिन्दी' (साहित्यिक खड़ीबोली) एवं विदेशी बाने में 'उर्दू' कहलाती है। अतएव व्याकरण के रूपों की दृष्टि से दोनों भाषाओं का मूलाधार एक है। किन्तु साहित्यिक वातावरण के विचार से खड़ीबोली (यह शब्द साहित्यिक एवं परिनिष्ठित रूप के लिए प्रचलित हो चुका है)भारत की प्राचीन संस्कृति एवं उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है और 'उर्दू' भारत में उत्पन्न तथा विकसित होने पर भी ईरान एवं अरब की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है। खड़ीबोली का शब्द-समूह संस्कृत के तत्सम-तद्भव रूपों से और उर्दू का शब्द-समूह अरबी-फ़ारसी अलफ़ाज़ से भरा पड़ा है। हिन्दी देवनागरी लिपि में और उर्दू फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। इन कारणों से इन दोनों शैलियों के व्याकरण में भी थोड़ा-बहुत अन्तर आ गया है जिस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

ध्वनि—उर्दू में हिन्दी के सब स्वर-व्यंजनों (ङ, ञ, ण को छोड़कर) के अतिरिक्त फ़ारसी-अरबी के क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ह., अ़ आदि ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं। इस कारण हिन्दी में गृहीत कुछ विदेशी शब्दों में स्वर-लोप, स्वर-परिवर्तन अथवा स्वरागम बराबर मिलता है यथा, मसला (मसलह) मामला (मुआमलह) माफ़िक़ (मुआफ़िक़) हुकुम (हुक्म) आदि। उर्दू-पद्य की भाषा में ए-ऐ तथा ओ-औ के बीच की ध्वनियाँ भी मिलती हैं किन्तु हिन्दी-कविता में यह दोष माना जाता है, जैसे :—

> कोई मेरे **दिल** से **पूछे** तेरे **तीरे-नीम-कश को**।
> यह **ख़लिश कहाँ** से होती जो **जिगर के पार होता**।

व्यंजनों में फ़ारसी का अन्त्य स्वर ह. उच्चरित न होने के कारण हिन्दी-स्वर 'आ' में परिवर्तित हो जाता है, जैसे परदा (परदह), ज़्यादा (ज़्यादह), किनारा (किनारह), ख़ज़ाना (ख़ज़ानह), इरादा (इरादह), चश्मा (चश्मह) आदि। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य असाधारण व्यंजन-परिवर्तन या लोप भी दृष्टिगत होते हैं यथा लानत (लअ़नत), मज़दूर (मुज़्दूर), ज़िद (ज़िद्द), लहमा (लमहा), रैयत (रएयत) आदि। उर्दू के प्रभाव से दूर रहने वाले कुछ साहित्यिक लेखक या बोलने वाले प्रायः क़, ख़, ग़, ज़, फ़, आदि को क, ख, ग, ज, फ भी लिखते या बोलते हैं, जैसे कीमत (क़ीमत), खबर (ख़बर), गरीब (ग़रीब), जालिम (ज़ालिम), फायदा (फ़ायदा)। हिन्दी के महाप्राण व्यंजन कभी-कभी उर्दू में अल्पप्राण भी

हो जाते हैं, जैसे पौधा (पौदा), भूख (भूक), धोखा (धोका), भिखारी (भिकारी) आदि।

रूप

संज्ञा—उर्दू में पुल्लिग संज्ञाओं को स्त्रीलिंग में परिवर्तित करने के लिए हिन्दी प्रत्यय 'ई' 'इन', 'नी', 'आनी', 'इया' आदि के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी के 'ह' या 'अन' भी जोड़ दिये जाते हैं। जैसे वालिदह, साहिबह, मालिकह, रहीमन, नूरन, नसीबन, क़रीमन, आदि। भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए 'ता' 'आई' 'पन' आदि हिन्दी प्रत्ययों के अलावा उर्दू में फ़ारसी के 'गी' की भी इजाफ़त की जाती है। जैसे उम्दगी, गन्दगी, नाराज़गी, आवारगी, तोहफ़गी आदि।

विशेषणों को संज्ञा-रूप देने में कुछ अन्य प्रकार के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे ग़रीब=गुरबत, अमीर=अमारत आदि।

वचन-परिवर्तन—उर्दू में भी वचन-परिवर्तन खड़ीबोली के समान स्त्रीलिग में 'आँ' अथवा 'इयाँ' तथा आकारान्त पुल्लिग शब्दों में 'ए' लगाकर बनाये जाते हैं, किन्तु उर्दू में फ़ारसी की चाल पर अप्राणिवाचक शब्दों में 'आत' तथा प्राणि-वाचक में 'आन' जोड़कर भी बहुवचन बनाये जा सकते हैं, यथा काग़ज़ात, मकानात, तसलीमात, देहात, उमूरात, तथा साहिबान, मालिकान, गवाहान, बिरादरान आदि। इनके अतिरिक्त कुछ अनियमित रूप-परिवर्तन भी मिलते हैं; यथा, शायर=शुअरा, अमीर=उमरा, आलिम=उल्मा, क़ायदा=क़वाइद, सबब=असबाब, किताब=कुतुब, हक़=हक़ूक, हर्फ़=हरुफ़, लफ़्ज़=अल्फ़ाज़, हाल=अहवाल, शेर=अशआर, शजर=अशजार, हाक़िम=हुक्क़ाम, ख़बर=अखबार, अव्वल=अवायल आदि।

सर्वनाम—उर्दू और खड़ीबोली के सर्वनाम एक से होते हैं। केवल अन्य पुरुष में उर्दू एकवचन-बहुवचन दोनों में 'वोह' या 'वो' रहता है; जबकि खड़ीबोली में उसके क्रम से 'वह' और 'वे' रूप बनते हैं। निजवाचक सर्वनाम में खड़ीबोली के आपको, अपने आपको आदि रूपों के अलावा उर्दू में 'खुद' भी प्रयुक्त होता है।

कारक-चिह्न—उर्दू में खड़ीबोली के समान 'ने, को, से, के लिए, का-के-की-की, में, पर' आदि कारक-चिह्नों के अतिरिक्त करण में 'अज़', और 'बराय' का (जैसे अज खुदा, अज़-तरफ़, बराय मेहरबानी आदि) तथा सम्बन्ध में 'ए' की इजाफ़त (जैसे मालिके-मकान, दर्दे-सर, नक्शे-कदम, पैग़ामे-ज़बानी, हालेदिल, शबेहिजराँ, ताक़तेपरवाज़ आदि) भी की जाती है। अधिकरण के चिह्न 'पर' के अतिरिक्त उर्दू पद्य में 'पै' और 'प' भी इस्तेमाल होते हैं, और 'में' के अलावा 'दर' (दरहक़ीक़त दरअसल आदि) भी उपसर्ग की तरह जोड़ा जाता है। सम्बोधन का चिह्न खड़ीबोली में 'हे' और उर्दू में 'ऐ' तथा 'या' अथवा 'वाय' भी होता है।

उपसर्ग-प्रत्यय—खड़ीबोली में तत्सम उपसर्गों के अतिरिक्त अ (अबेर), अध (अध-कच्चा), औ (औगुन), नि (निकम्मा), भर (भरपेट), आदि भी तद्भव शब्दों से पूर्व जोड़े जाते हैं। उर्दू में संस्कृत के तत्सम उपसर्गों के स्थान पर अरबी-फ़ारसी के कम, खुश, ग़ैर, ना, ब, बद, बा, बे, हम, सर, ला, कज, कता आदि का उपयोग रहता है। जैसे कमज़ोर, खुश-

नसीब, ग़ैरमुमकिन, नालायक़, बदस्तूर, बदनाम, बाअदब, बेइमान, हमसफ़र, सरताज, लापता, कज़अदा, कतानज़र, आदि। इनमें खड़ीबोली में केवल 'बे' तथा 'हर' का प्रचुर प्रयोग होता है; जैसे बेचैन, बेजोड़, हरदिन, हरएक, आदि। उर्दू में प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी के प्रत्यय 'ई कार, दान, दानी, बान, वान, आना, खाना, ख़ोर, गीरी, बाज़, बाज़ी' आदि में से अधिकांश खड़ीबोली में भी इस्तेमाल कर लिये जाते हैं; जैसे दोस्ती, चायदानी, गाड़ीवान, घराना, कारीगरी आदि।

खड़ीबोली-गद्य में वाक्य-रचना के कर्ता, कर्म एवं क्रिया आदि का प्रायः स्थान-परिवर्तन नहीं होता जब तक कि किसी विशेष शब्द अथवा भाव पर बल न देना हो। किन्तु डॉ० ग्रियर्सन का कहना है कि सेमेटिक परिवार की भाषाओं एवं फ़ारसी के प्रभाव से उर्दू में ऐसा क्रम-परिपालन बहुत आवश्यक नहीं है। इसमें क्रिया अन्त में ही नहीं बल्कि बीच अथवा प्रारंभ में भी आ सकती है। उनका विचार है कि इंशा की 'ठेठ हिन्दी' में कहानी इस वाक्य-रचना के कारण ही 'उर्दू' कही जाती है।[1]

खड़ीबोली के समान साहित्यिक उर्दू के भी दो रूप हो सकते हैं :

(१) सक़ील उर्दू, (२) साधारण उर्दू। दोनों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

सक़ील उर्दू

जिस तरह दौलत और मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा वग़ैरह में हमको फ़ौक़ियत हासिल है इसी तरह ज़बान और लबोलहजे में भी हम दिल्ली से फ़ायक़ हैं लेकिन ज़बान में फ़ौक़ियत साबित करने के लिये ज़रूर था कि अपनी और दिल्ली की ज़बान में कोई अमर माबउल-इम्तियाज़ पैदा करते, चूंकि मन्तिक़ व फ़िलसफ़ा वतिब व इल्मे क़लाम वग़ैरह की मुमारसत ज्यादा थी। ख़ुद बख़ुद तबीअतें इस बात की मुक़तज़ी हुई कि बोलबाल में हिन्दी अलफ़ाज़ रफ़्ता रफ़्ता तर्क और उनकी जगह अरबी अलफ़ाज़ कसरत से दाख़िल होने लगे।

—मोहम्मद हाली

साधारण उर्दू

अम्मीजान ख़ुदा करे आप सलामत रहें। बहिन, झम्मन साहिबा आज लखनऊ में दाख़िल हुई, उनसे आपकी सब ख़ैर-ओ-सलाह मालूम हुई। बड़े मामू का जी आये दिन माँदा रहता है। लखनऊ में बहुत दवा दर्मत की, मगर कुछ फ़ायदा नहीं हुआ। कल्ह अगर ऊपर वाला हो गया तो जुमेरात को वोह ज़रूर इलाज करने फ़ैज़ाबाद सिधारेंगे। आज कल्ह यहाँ चोरों का बड़ा नर्ग़ा है। पड़ोस में ख़ानम साहिब के यहाँ कल्ह दिन दहाड़े कई चोर घुस आये। बडा गुलगपाड़ा मचा। सिपाही निगौड़े गँवार के लठ, समझे न बूझे। हुल्लड़ सुनते ही हमारे मकान में दर्रान चले आये। वोह तो कहिये बड़ी ख़ैरियत गुज़री। आदमी ड्यौढ़ी पर मौजूद था उसने रोका थामा, नहीं तो सबका सामना हो जाता।

—बेगमाती उर्दू—ग्रामीण हिन्दी से

1. Linguistic Survey of India, Vol. IX, Part I, P. 52—G. A. Grierson

सामान्य खड़ीबोली और साधारण उर्दू का एक मिला-जुला रूप है जिसे आधुनिक युग में 'बोलचाल की हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी' भी कहा जाता है। हिन्दुस्तानी में भाषा को दुर्बोधता से बचाने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्द एवं फ़ारसी-अरबी की क्लिष्ट पदावली का तिरस्कार करके अधिकांशतः सर्वसाधारण में प्रचलित तद्भव शब्दों का ही उपयोग किया जाता है। उसकी अभिव्यंजना शक्ति मुहावरों में केन्द्रित रहती है और स्वच्छता एवं सरलता उसका सौन्दर्य होता है। वह चाहे फ़ारसी लिपि में लिखी जाय अथवा देवनागरी में, पंडित और मौलवी से लेकर सामान्य वर्ग के शिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति तक उसे समझ सकते हैं। एक उदाहरण देखिए :—

१—बरसात का समाँ बाँधते हैं तो कहते हैं—सामने से काली घटा झूम कर उठी, अब्र धुआँधार है, बिजली कौंदती चली आती है। सियाही में सारस और बगुलों की सफ़ेद-सफ़ेद क़तारें बहारें दिखा रही हैं। जब बादल कड़कता है, और बिजली चमकती है तो परिन्दे कभी दबक कर टहनियों में छिप जाते हैं, कभी दीवारों से लग जाते हैं, मोर जुदा चिंघाड़ते हैं, पपीहे अलग पुकारते हैं, मुहब्बत का मतवाला चमेली के झुरमुट में आता है, तो ठंडी-ठंडी हवा लहक कर फुहार भी पड़ने लगती है।

—मुहम्मद हुसेन आज़ाद—आबेहयात से

२—एक दिन अपने शान्तिनिकेतन में बैठा हुआ मैं कुछ सोच रहा था। अछूते फूल तोड़ना चाहता था। अच्छे बेल-बूटे तराशने में लगा था, किन्तु अपना-सा मुँह लेकर रह जाता था। समुद्र में डुबकी बहुत लोग लगाते हैं पर मोती सबके हाथ नहीं लगता। हलवा खाने के लिए मुँह चाहिए, आकाश के तारे तोड़ना सुलभ नहीं। परन्तु उमंगें छलांगें भर रही थीं, वामन होकर चाँद को छूना चाहती थीं, जी में तरह-तरह की लहरें उठती थीं, रंग लाती थीं, चमकती-दमकती थीं किन्तु थोड़ी ही देर में लोप हो जाती थीं। विचार कहता था जो काम तुम करना चाहते हो वह तुम्हारे मान का नहीं।[१]

—अयोध्यासिंह उपाध्याय—बोलचाल से

खड़ीबोली के विविध रूपों के उल्लिखित विवेचन से दो तथ्य बड़े स्पष्ट रूप में हमारे सामने आते हैं। एक तो यह कि बोलचाल की (ग्रामीण) खड़ीबोली और साहित्यिक (परिनिष्ठित) खड़ीबोली में ध्वनि, शब्द-विन्यास और वाक्य-रचना की दृष्टि से बहुत अन्तर है। दूसरा यह कि साहित्यिक (परिनिष्ठित) खड़ीबोली के भी शब्द-समूह और वाक्य-विन्यास-शैली के भेद के कारण तीन रूप उपलब्ध होते हैं :—

१—तत्सम एवं समास-प्रधान—क्लिष्ट शैली।

२—प्रांजल एवं व्यास-प्रधान—सुबोध शैली।

३—तद्भव एवं मुहावरा-प्रधान—सरल शैली।

१—टिप्पणी : खड़ीबोली के विविध रूपों के प्रसंग में हमने ऊपर केवल गद्य के ही उदाहरण दिये हैं, क्योंकि किसी भाषा के रूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक सहायक होता है।

उपर्युक्त रूपों में से तीसरे रूप को आजकल बोलचाल की खड़ीबोली अथवा 'हिन्दुस्तानी' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस रूप में उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य ही हिन्दुस्तानी नाम की सार्थकता का कारण है। प्रस्तुत प्रबंध में उपर्युक्त तीन शैलियों में निर्मित खड़ीबोली-काव्य अभिव्यंजना के अनुशीलन का विनम्र प्रयास किया गया है। बोलचाल की ग्रामीण खड़ीबोली का क्षेत्र विस्तृत होने पर भी साहित्यिक न होने के कारण हमने अपने अध्ययन क्षेत्र में उसे समाविष्ट नहीं किया है।

दूसरा अध्याय

खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त इतिहास

प्राचीन काव्य में खड़ीबोली के प्रयोग

उत्तर भारत की अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के समान खड़ीबोली के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रमाण भी परवर्त्ती प्राकृताभास अपभ्रंश साहित्य में उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य में सिद्धों और नाथपंथी जोगियों की उक्तियाँ अत्यन्त प्राचीन मानी जाती हैं। संक्रान्ति काल की इस काव्य-भाषा को विद्वानों ने 'सन्धा' अथवा 'सन्ध्या'[1] भाषा नाम से अभिहित किया है। इन सिद्धों की कुछ रचनाओं में खड़ीबोली के प्रारम्भिक लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते हैं, यथा—

ऊचा-ऊचा **पावत तहि बसइ सबरी बाली**[2]

शवरपा ८८० ई०

देव अम्हारी **सीष,** कीजइ **अवगिणअह नहीं**[3]

अज्ञात १०१० ई०

भौंहा कविला, उच्चा निअला, मज्झा पिअला, नैत्ता जुअला,
रुक्खा वअणा, दंता बिरला, कैसे जिविला ताका पअला[4]

बब्बर १०५० ई०

उपर्युक्त आकारान्त संज्ञा और विशेषण तथा आदरसूचक सर्वनामों के प्रयोग खड़ीबोली की उत्पत्ति का संकेत देने वाले हैं।

नाथों का समय ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों के पद, साखी आदि में भी खड़ीबोली का प्रारूप विद्यमान मिलता है—

नाथ कहंता सब जग नाथ्या, गोरख कहंता गोई।
कलमा का **गुरु महंमद** होता, पहले मूवा सोई॥[5]

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२-४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २०, २८८, ३१६, राहुल सांकृत्यायन
५. गोरखबानी, पृ० ५, डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल

गगनमण्डल में अंधा कूवा, तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होई समरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा ॥[1]

बैठा अवधू लोह की षूँटी, चलता अवधू पवन की मूँठी।
सोचता अवधू जीवता मूवा, वोलता अवधू प्यंजरे सूवा ॥[2]

नाथ निरंजन आरती गाऊँ
गुरदयाल अग्या जो पाऊँ
जहाँ अनन्त सिधाँ मिलि आरती गाई,
तहाँ जग की बाच न नैड़ी आई ॥[3]

भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश-जैन-साहित्य भी विशेष महत्वपूर्ण है। गुलेरीजी ने इसे 'पुरानी हिन्दी' कहा है। समस्त प्रारम्भिक जैन-साहित्य में पंजाबी, व्रज, गुजराती, खड़ीबोली आदि के प्रयोग भरे पड़े हैं। हेमचन्द्र सूरि के 'प्राकृत व्याकरण', 'देशीनाममाला' आदि में आकारान्त प्रवृत्ति वाले कतिपय प्रयोग खड़ीवोली-विकास के सूचक हैं, देखिए :—

भल्ला हुआ जु मारिआं, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजंतु वयंसि अहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥[4]

जइ भग्गा पारक्कड़ा, तो सही मुज्झ पियेण।
अह भग्गा अम्हैह तणा, तो तैं मरिअ देण ॥[5]

नेमि दयालू सखि निरदोसू, कीजई अप्रणिण पर रोसू।[6]

सत्य तो यह है कि जिन धर्म-प्रचारकों को गेय पदों द्वारा अपने भाव जन-साधारण तक पहुँचाने अभीष्ट थे उन सभी ने जन-प्रचलित वोलचाल की भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम वनाया, चाहे वे दक्खिनी और महाराष्ट्र के वारकरी पंथ के महानुभाव रहे हों और चाहे उत्तर के नाथपंथी। वस्तुतः इस भाषा के पद-अनुशीलन से ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक खड़ीवोली का व्यापक प्रचार एवं प्रसार हो चुका था।

जगनिक का 'आल्हा खण्ड' (सं० १२३०) भी खड़ीवोली-विकास का अध्ययन करने के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ होता यदि उसकी कोई प्रामाणिक प्रति आज उपलब्ध होती।[7] किन्तु यह वीर-गीतात्मक काव्य चिरकाल से केवल मौखिक रूप में गँवई-गाँव में प्रतिध्वनित होता आ रहा है। दीर्घकालीन यात्रा में इसका कलेवर इतना बदल गया है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'गूँज मात्र' कहा है 'मूल शब्द' नहीं।[8]

१-३. गोरखबानी, पृ० ६, २५, १५७—डॉ० पीताम्बर वड़थ्वाल
४-५ प्राकृत व्याकरण, पृ० १५०, १५२
६. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४२८—राहुल सांकृत्यायन
७. जो प्रति आज उपलब्ध है वह सी० ई० इलियट द्वारा सम्पादित सं० १९३० की हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित हुई है—
द्रष्टव्य—हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का विवरण, पृ० ३५,—डॉ० हीरालाल, सं० २०१०
८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१, पं० रामचन्द्र शुक्ल

लगभग इसी काल में चारण और भाटों द्वारा कुछ वीर-काव्य भी निर्मित हुआ। काव्य की भाषा राजपूती प्रभाव से डिंगल या राजस्थानी हो गई तथा काव्य-रचना का केन्द्र राजस्थान रहा। आश्चर्य नहीं कि खड़ीबोली के प्रयोगों की मात्रा प्रस्तुत साहित्य में नगण्य रही हो। हाँ, विदेशी आक्रमणकारियों के सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप मनोरंजन का जो साहित्य तैयार होता रहा उसमें खड़ीबोली यत्र-तत्र अपने स्वरूप का पूर्ण आभास देती रही। इस दृष्टि से खड़ीबोली काव्य के स्रष्टा तुर्क कवि अमीर खुसरो (सं० १३१२-१३८१) का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इनके फुटकर गीतों, पहेलियों, कहमुकरियों आदि में खड़ीबोली का जो ठाठ मिलता है उसका विस्तृत विवेचन इस प्रबन्ध के 'खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना' शीर्षक चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

दक्खिनी हिन्दी

अमीर खुसरो का समय खड़ीबोली भाषा के विकास तथा समृद्धि की दृष्टि से यथार्थ रूप में उषाकाल न था। वास्तव में इस भाषा का लालन-पालन चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्षिण में बीजापुर एवं गोलकुण्डा की रियासतों में हुआ। जन-भाषा के दक्षिण तक प्रसार पाने का मुख्य कारण देश की राजनीतिक परिस्थिति था। तुग़लक का दौलताबाद को राजधानी बनाना, बहमनी सल्तनत में खड़ीबोली की दरबारी भाषा के रूप में स्वीकृति, हिन्दू-मुसलमानों की सांस्कृतिक मैत्री आदि अनेक कारणों ने खड़ीबोली को प्रसारित तथा उसे महत्वपूर्ण पद पर आसीन करने में पर्याप्त सहायता दी। फलतः वहाँ पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक 'दक्खिनी' अथवा 'हिन्दवी' नाम से अभिहित भाषा में जो साहित्य-रचना हुई वह दिल्ली-मेरठ की स्थानीय बोली का ही विकसित रूप थी। गवासी, वजही, इब्न निशाती, बुर्हानुद्दीन जानिम, सनाती, नुसरती आदि उच्चकोटि के शायरों ने जो प्रवन्ध-काव्य एवं फुटकर कविताएँ लिखी उनमें खड़ीबोली का मूल रूप स्थल-स्थल पर उभर आता था, जैसे :—

दिसे धनि मुख बीच नैना के मोती थाल में ढुलते।
लटाँ छूट तन उपर यूँ है, भुवँग ज्यूँ नीर पर झुलते॥[1] —वजही

पूनम चाँद ज्यूँ दोनों घटने लगे
सितारे अख्याँ में ते टुटने लगे

कहे शाह मा-बाप कूँ फिर यो बात
के मैं दिल के हात में, ना दिल मेरे हात॥[2] —वजही

अजब रात निर्मल थी उस दिन की रात
झमकते थे नूराँ में लक धात धात॥
निकल आये कर चाँद तारयाँ सिते।
झमकता अथा जगमगारयाँ सिते॥[3] —ग़वासी

१. २ कुतुब मुशतरी—पृ० ७१,८७
३. सैफुल मुलक व बदीउल जमाल, पृ० ४६

चमन फूल सब वास खुशबू का पाए
सुघड़ सुन्दरी जब अपस केस खोल[1] —सुल्तान कुली कुतुबशाह

सहेली मदनलाल मो चित्त भावे
किस तिल-तिल दिल उस छंद पर वारी जावे ।।
किसे चित्त बुलावे, किसे रे जगावे
किसे दिल तपावे, किसे मन रिझावे ।।[2] —सुल्तान कुली कुतुबशाह

इन कलाकारों की अधिकांश रचनाएँ फ़ारसी-ग्रन्थों से भाषान्तरित की गई थीं । अतः इनमें विदेशी कलेवर तथा देशी वेशभूषा का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है । बाह्य रूप से भाषा में समानता होने पर भी दकिनी भाषा के काव्य को खड़ीबोली-काव्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता । इस तथ्य का कारण सहित पर्यालोचन प्रस्तुत प्रबन्ध के चौथे अध्याय में किया गया है । हाँ, भाषा के व्यापक प्रचार एवं प्रसार में 'दकिनी' का जो अमित योगदान रहा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसीलिए कुछ पद उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर दिये गये हैं ।

संत-काव्य में खड़ीबोली

बारहवीं शती में महाराष्ट्र देश में महानुभाव पंथ का प्रवर्त्तन हुआ था । इस पंथ के प्रचारक संतों ने अपने मत का प्रचार सामान्य वर्ग के लोगों में किया था । अतः सर्वसामान्य भाषा के रूप में खड़ीबोली के प्रयोग इनकी रचनाओं में स्वभावतः मिल जाते हैं । कतिपय उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट होता है :—

सुन हो तुम्ह सिद्धान्त गुरुआ
सारा **ज्ञान पंथु** हमारा ।।[3] —दामोदर पण्डित

सब घट देखो माणिक मौला,
कैसे कहूँ मैं काला धवला,
पंचरंग से न्यारा **होय,**
लेना एक और देना **दोय** ।[4]

महानुभाव पंथ के अतिरिक्त महाराष्ट्र को प्रभावित करने वाला दूसरा शक्तिशाली पंथ वारकरियों का था । यह पंथ ईसा की तेरहवीं शती से चला जिसमें नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि अनेक प्रसिद्ध संत हुए । इन्होंने खड़ीबोली-प्रधान पदों में अपने मत का पर्याप्त प्रचार किया :—

लोभी के चीत धन बैठा
कामीन के चीत काम

१. कुल्लियात, भाग II—पृ० २३४
२. कुल्लियात, भाग II, पृ० २८४
३. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ८६—डॉ० विनयमोहन शर्मा
४. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ६१

माता के चीत पुत्र बैठा
तुका के चीत राम ॥[1]—तुकोबा

पाँडे तुमारी गायत्री
लोधे का खेत खाती थी।
लेकर टेंगा-टेंकरी तेरी,
लाँगत-लाँगत जाती थी॥
पाँडे तुम्हारा महादेव,
धौल बलद चढ्या आवत देखा था॥
मोदी के घर खाना पाका,
वा का लड़का मार्या था॥[2] —नामदेव

चुरा-चुराकर माखन खाया ग्वालिन का नन्दकुमार कन्हैया
और बात सुन अरबल सो गला बाँध लिया तूने अपना गोपाल।
फिरता बन-बन गाय चरावत कहे तुकया बंधु लकरी ले ले हाथ॥[3]
—कान्होबा

रामानुज की शिष्य-परम्परा की चौथी पीढ़ी में रामानन्द का समय सं० १३५६-१४६७ माना गया है। रामानन्द की आध्यात्मिक कविताओं में नाथ-पंथ तथा वैष्णव-मत की अद्भुत संसृष्टि दिखाई देती है। जिन रचनाओं में निराकार ब्रह्म के महत्व का प्रतिपादन किया गया है, उनमें जनभाषा का सामान्य रूप ग्रहण किया है। ऐसे पदों में खड़ीबोली का पर्याप्त पुट मिलता है :—

उलटिया सूर गगन भेद न किया
नवग्रह डंक छेद न किया
पेषिया चन्द जहाँ कला सारी,
अगनि परगट भई जुरा वेदन जरी।
डंकनी संकनी घेरि मारि।[4]

संतों बन्दगी दीदार, सहज उतरो सागर पार
सोहै शब्दै सो कर प्रीत, अनुभव अषंड घर जीत।
अब उलटा चढ़ना, दूर, जहाँ मगर बसता है पूर,
तन कर फिकिर कर भाई, जिसमें राम रोसनाई॥[5] —रामानन्द

रामानन्द के समकालीन कबीर तथा उनके परवर्ती, अधिकांश संत कवि पढ़े-लिखे

१. अस्सल गाथा, पृ० १५५
२. ग्रंथ साहित्य, पृ० ८७५
३. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० १७८
४-५. रामानन्द की हिन्दी-रचनाएँ, पृ० ४, ६, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

चमन फूल सब वास खुशबू का पाए
सुघड़ सुन्दरी जब अपस केस खोल[१] —सुल्तान कुली कुतुबशाह

सहेली मदनलाल मो चित्त भावे
किस तिल-तिल दिल उस छंद पर वारी जावे ।।
किसे चित्त बुलावे, किसे रे जगावे
किसे दिल तपावे, किसे मन रिझावे ।।[२] —सुल्तान कुली कुतुबशाह

इन कलाकारों की अधिकांश रचनाएँ फ़ारसी-ग्रन्थों से भाषान्तरित की गई थीं । अतः इनमें विदेशी कलेवर तथा देशी वेशभूषा का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है । बाह्य रूप से भाषा में समानता होने पर भी दकिनी भाषा के काव्य को खड़ीबोली-काव्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता । इस तथ्य का कारण सहित पर्यालोचन प्रस्तुत प्रबन्ध के चौथे अध्याय में किया गया है । हाँ, भाषा के व्यापक प्रचार एवं प्रसार में 'दकिनी' का जो अमित योगदान रहा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसीलिए कुछ पद उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर दिये गये हैं ।

संत-काव्य में खड़ीबोली

बारहवीं शती में महाराष्ट्र देश में महानुभाव पंथ का प्रवर्त्तन हुआ था । इस पंथ के प्रचारक संतों ने अपने मत का प्रचार सामान्य वर्ग के लोगों में किया था । अतः सर्वसामान्य भाषा के रूप में खड़ीबोली के प्रयोग इनकी रचनाओं में स्वभावतः मिल जाते हैं । कतिपय उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट होता है :—

सुन हो तुम्ह सिद्धान्त गुरुआ
सारा **ज्ञान पंथु** हमारा ।।[३] —दामोदर पण्डित

सब घट देखो माणिक मौला,
कैसे कहूँ मैं काला धवला,
पंचरंग से न्यारा **होय,**
लेना एक और देना **दोय** ।[४]

महानुभाव पंथ के अतिरिक्त महाराष्ट्र को प्रभावित करने वाला दूसरा शक्तिशाली पंथ वारकरियों का था । यह पंथ ईसा की तेरहवीं शती से चला जिसमें नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि अनेक प्रसिद्ध संत हुए । इन्होंने खड़ीबोली-प्रधान पदों में अपने मत का पर्याप्त प्रचार किया :—

लोभी के चीत धन बैठा
कामीन के चीत काम

१. कुल्लियात, भाग II—पृ० २३४
२. कुल्लियात, भाग II, पृ० २८४
३. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ८९—डॉ० विनयमोहन शर्मा
४. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ९१

माता के चीत पुत्र बैठा
तुका के चीत राम ॥[1]—तुकोबा

पाँडे तुमारी गायत्री
लोधे का खेत खाती थी ।
लेकर टेंगा-टेंकरी तेरी,
लाँगत-लाँगत जाती थी ॥
पाँडे तुम्हारा महादेव,
धौल बलद चढ्या आवत देखा था ॥
मोदी के घर खाना पाका,
वा का लड़का मार्या था ॥[2] —नामदेव

चुरा-चुराकर माखन खाया ग्वालिन का नन्दकुमार कन्हैया
और बात सुन अरबल सो गला बाँध लिया तूने अपना गोपाल ।
फिरता बन-बन गाय चरावत कहे तुकया बंधु लकरी ले ले हाथ ॥[3]
—कान्होबा

रामानुज की शिष्य-परम्परा की चौथी पीढ़ी में रामानन्द का समय सं० १३५६-१४६७ माना गया है । रामानन्द की आध्यात्मिक कविताओं में नाथ-पंथ तथा वैष्णव-मत की अद्भुत संसृष्टि दिखाई देती है । जिन रचनाओं में निराकार ब्रह्म के महत्व का प्रतिपादन किया गया है, उनमें जनभाषा का सामान्य रूप ग्रहण किया है । ऐसे पदों में खड़ीवोली का पर्याप्त पुट मिलता है :—

उलटिया सूर गगन भेद न किया
नवग्रह डंक छेद न किया
पेषिया चन्द जहाँ कला सारी,
अगनि परगट भई जुरा वेदन जरी ।
डंकनी संकनी घेरि मारि ।[4]

संतों बन्दगी दीदार, सहज उतरो सागर पार
सोहै शब्दै सो कर प्रीत, अनुभव अखंड घर जीत ।
अब उलटा चढ़ना, दूर, जहाँ मगर बसता है पूर,
तन कर फिकिर कर भाई, जिसमें राम रोसनाई ॥[5] —रामानन्द

रामानन्द के समकालीन कबीर तथा उनके परवर्ती, अधिकांश संत कवि पढ़े-लिखे

---

१. अस्सल गाथा, पृ० १५५
२. ग्रंथ साहित्य, पृ० ८७५
३. हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० १७८
४-५. रामानन्द की हिन्दी-रचनाएँ, पृ० ४, ६, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

न थे। उनकी भाषा 'मसि कागद न छूने' के कारण साहित्यिक दृष्टि से सुव्यवस्थित नहीं रही। स्थान-स्थान घूमकर जन-साधारण में अपने मत-प्रचार की आकांक्षा रखने के कारण उनकी काव्य-भाषा में लोक-प्रचलित प्रमुख बोलियों की विशेषताएँ विद्यमान हैं। निम्न अवतरणों में खड़ीबोली का प्राधान्य द्रष्टव्य है :—

काठ के बीच में अगिनि जैसे,
जैसे तिल में तेल निवास है जी।
दूध के बीच में घीव जैसे
ऐसे फूल के बीच में बास है जी।
कबीर कहै घट को जो मथै,
तब पावै सबद प्रकाश है जी ॥[1]

—कबीर (सं० १४५६-१५७५)

आज दिवस लेऊँ बलिहारी,
मेरे घर आया राम का प्यारा।
आँगन बँगला भवन भयो पावन,
हरिजन बैठे हरिजस गावन।
करूँ डंडवत, चरन पखारूँ,
तन मन धन उन उपरि वारूँ ॥[2]

—रैदास (सं० १५ वीं. श.)

दिल दरिया में गुसल हमारा, ऊजू करि चितलाऊँ,
साहिब आगे करूँ बन्दगी, बेर बेर बलि जाऊँ ॥
दादू हिन्दू मारग कहै हमारा, तुरक कहै रह मोरी,
कहाँ पंथ है कहाँ अलह का, तुम तो ऐसी हेरी ॥[3]

—दादू (सं० १६०१-१६६०)

आया था एक आया था, खबरि उहाँ की ल्याया था।
आदि अन्त की जाणै था, पूरण ब्रह्म बखाणै था।
बूझ्या थे सब कहता था, धोखा कछु न रहता था।
हरि का सेवक आदू था, नाँव उन्हो का दादू था ॥[4]

—बषनाजी

है दिल में दिलदार सही, अँखियाँ उलटि करि ताहि चितैइये,
आब मैं, खाक मैं, बाद मैं, आतस, जान में सुन्दर जानि जनैइये।
नूर में नूर है, तेज में तेज है, ज्योति में ज्योति मिलै मिलि जाइये,
क्या कहिये कहते न बने, कछु जो कहिये कहते ही लजइये ॥[5]

—सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६)

१. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेख्ते और झूलने—पृ० ४७
२-५. संत-सुधा-सार, पृ० १९३, ४७९, ५४१, ६३१—वियोगी हरि।

जौन कोई भूखा गोपाल की मोहब्बत का,
तौन दुर्वेसन का पैंडा निराला है।
रहते महजूज वे तो साहेब की सूरत पर,
दुनिया को तर्क मार दीन को सम्हाला है।
किसी से न करें स्वाल, उनका कुछ और ख्याल,
फिरते अलमस्त, वजूद भी बिसारा है॥[1]

—मलूक (सं० १६३१-१७३९)

रे बन्दे तू काहे को होत दिवाना,
एक अलह दोस्त है तेरा, अवर तमाम वेगाना।
कौल करार बिसारि बावरी, मान मनी मनमाना,
आखिर नहिं दुनिया में रहना, बहुरि उहाँई जाना।
जाहिर जीव जहान जहाँ लगि, सब मौं एक खुदाई,
बहुरि ग़नीम कहाँ ते आया, जा पर छुरी चलाई॥[2]

—धरनीदास

प्रेम धगा यह टूटत ना,
गर टूटि कंठी फिर बाँधना क्या।
यह तिलक सतनाम छापा करूँ,
और त्रिविध है साधना क्या॥
ग्यान का दंड न डगमगै कर,
दण्ड दिये काहू मारना क्या।
यह भूलना दरिया साहेब कहा,
सत नाम सही बहु पेखना क्या॥[3]

—दरिया साहब (बिहार वाले)

इक कूप गगन के बीच यारो,
जहँ सुरति की डोर लगावता है।
गुर मुख होवै सो भरि पीवै,
निगुरा नहीं जल पावता है।
बिन हाथ से ताल मृदंग बाजे,
बिन जंत्री जंत्र बजावता है॥[4]

—पलटू (सं० १९वीं श. में वर्तमान)

---

१. मलूकदासजी की बानी, पृ० २७
२. संत सुधा सार खंड २, पृ० ४६, पृ० ९२, वियोगी हरि
३. संत सुधा सार खंड २, पृ० ९२, वियोगी हरि
४. पलटू साहब की बानी, पृ० २८

दिन चार है बसेरा, जग में नहीं कोई तेरा,
सब ही बटाऊ लोग हैं, उठ जाँइँगे सवेरा।
अपनी करो फ़िकर, चलने की जो फ़िकर,
यहँ रहन का नहिं काम है, फिर जा करो नहिं फेरा॥[१]

—तुलसी साहब

सूफ़ी-काव्य में खड़ीबोली

समस्त सूफ़ी-साहित्य भारतीय अद्वैत मत की छाप लिए है। इस मार्ग पर आरूढ़ कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान एवं नूरमुहम्मद आदि प्रमुख कवियों ने अपने रूपकों का प्रासाद अवधी भाषा की भित्ति पर निर्मित किया। इन सूफ़ी-कवियों की मसनवियों की भाषा—ठेठ अवधी—इतनी परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित है कि किसी अन्य भाषा का मेल उसमें दृष्टिगत नहीं होता। यदि गिने-चुने स्थलों पर अनायास कोई अन्य भाषा-सम्बन्धी-प्रयोग मिल भी जाए तो उसे काव्य के दोष-रूप में ही माना जा सकता है। हाँ, परवर्ती काल के सूफ़ी संतों ने अपने विचारों को ज्ञानाश्रयी संतों की तरह मुक्तक काव्य का रूप दिया और 'सधुक्कड़ी भाषा' को अपनाया। फलस्वरूप बरकतुल्लाह पेमी, यारी साहब, बुल्लेशाह, भीखा साहब आदि की रचनाओं की भाषा में भी कबीर, दादू, पलटू आदि संतों के समान अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है। खड़ीबोली का आभास लिए कतिपय पद द्रष्टव्य हैं—

चमक महताब की मुख में, लचक ज़ुलफ़ों की अँधियारी,
मुकुट तारे भये लेकिन, न आमो यह गिलायत है॥
मौजों के घेर को जो दिले ग़ैर बूझता,
जब सिंध के भँवर में परी, तब समझ परी॥
तकिया जो मखमली व दिगर सेज छोड़ के,
जब ईंट, ज़ेर, सीस धरी, तब समझ परी॥[२]

—पेमी

बिन बन्दगी इस आलम में, खाना तुझे हराम है रे।
बन्दा करे सोइ बन्दगी, खिदमत में आठों जाम है रे।[३]

—यारी साहब

झूठ में साँच इक बोलता ब्रह्म है,
　　ताहि को भेद सतसंग पावे।
धन्य सो भाग जो करन सेवा टहल,
　　रात दिन प्रीत लवलीन लावे॥[४]

—भीखा साहब

---

१. तुलसी साहिब की शब्दावली और जीवन-चरित्र, पृ० ७८
2. Shah Barkatullah's contribution to Hindi Literature, P. 131.
—Dr. Lachchami Dhar Kalla.
३. सूफ़ी-काव्य-संग्रह, पृ० २१३—परशुराम चतुर्वेदी
४. भीखा साहिब की बानी, पृ० ५४

स्पष्ट है कि इन पदों की खड़ीबोली में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्राचुर्य्य है।

भक्तिकालीन सगुण-काव्य में खड़ीबोली

उत्तर भारत में सगुणोपासना का श्रेय रामानन्द तथा वल्लभाचार्य को दिया जाता है। गुरु रामानन्द की शिष्य-परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त हृदयराम, प्राणनाथ, नाभादास आदि उच्चकोटि के भक्त-कवि हुए। इन्होंने राम-महिमा का संकीर्तन अवधी भाषा में ही किया। उधर वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में दीक्षित कृष्ण-काव्य-परम्परा के भक्त प्रवर सूरदास, 'जड़िया' नन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने व्रज-बोली में अपनी मधुर वाग्धारा प्रवाहित की। सगुण-काव्य की दोनों धाराओं के साहित्य में अन्य भाषा-सम्मिश्रण अपेक्षाकृत कम है। फिर भी खड़ीबोली के विरल प्रयोग मिल ही जाते हैं, यथा:—

विना भक्ति माल भक्ति रूप अति दूर है।
×× एक झोंपड़ी की छाया करि लीजिये।
×× एक नई पोथी मैं बनाऊँ मन कीजिये॥[1]

—नाभादास (१६५७ के आसपास वर्तमान)

बरजो जसोदा जी कहान
ये क्या जाने रसकी बतियाँ।
क्या जाने खेल जहाना॥[2]

—सूरदास

हे दैया मतवाला योगी, द्वारे तेरे आया है,
देखो मैया तेरा बालक, जिन मोय चटक लगाया है।[3]

—सूरदास

यह मूरत खेलत नैनन में, यही हृदय में ध्यान,
चरन रेनु चाहत मन मेरौ, यही दीजिये दान॥[4]

—कृष्णदास

देखोरी यह कैसा बालक रानी जसुमति जाया है,
सुन्दर वदन कमल दल लोचन, देखत चन्द्र लजाया है।
पूरन ब्रह्म अलख अविनासी, प्रगट नन्द घर आया है,
परमानन्द कृष्ण मनमोहन, चरन कमल चित लाया है॥[5]

—परमानन्ददास

मित्र कलत्र सुबन्ध सुत, इनमें सहज सनेह,
शुद्ध प्रेम इनमें नहीं, अकथ कथा सविसेह॥[6]

—रसखान

---

१. भक्तमाल, पृ० १४, २६३—नाभादास
२. ३. सूर निर्णय, पृ० १२, १२—द्वारिकादास पारिख तथा प्रभुदयाल मीतल
४. अष्टछाप के कवि, पृ० २४०—प्रभुदयाल मीतल।
५. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २७७
६. कविता कौमुदी, पृ० ३०६—रामनरेश त्रिपाठी

गोस्वामी तुलसीदास की समसामयिक तथा मेवाड़ के राठौर रत्नसिंह की पुत्री मीराबाई कृष्ण की अनन्य उपासिका थी। इनकी कृष्ण-भक्ति माधुर्य भाव की थी। इनके नाम से प्राप्त कतिपय पदों में खड़ीबोली का भी पुट मिलता है :—

आऊँ आऊँ कर गया साँवरा,
कर गया कौल अनेक।
गिणते गिणते घिस गई अँगुली,
घिस गई अँगुली की रेख॥[1]

—मीरा

तेरा कोइ नहिं रोकन हार, मगन होय मीरा चली,
लाज सरम कुल की मरजादा, सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ घर पटके, निकली हूँ ज्ञान गली,
ऊँची अटरिया लाल किवड़ियाँ, निरगुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहे, फूलन फूल कली॥[2]

—मीरा

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अकबर के दरबारी कवियों में अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे कुछ कवि थे जिन्होंने राजदरबार में रह कर एक ओर ब्रजभाषा में नीति-सम्बन्धी दोहे कहे तथा दूसरी ओर संस्कृत-मिश्रित-खड़ीबोली में 'मदनाष्टक' नामक आठ पद लिखकर खड़ीबोली-काव्य-परम्परा में भी अक्षय यश अर्जित किया। 'मदनाष्टक' की अभिव्यंजना-कला का विवेचन इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

रीतिकाल में खड़ीबोली-काव्य

रीतिकाल के कवि खड़ीबोली की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग में जटमल, गंजन, वृन्द, गिरधर कविराय, ग्वाल, दयाराम आदि वे कवि हैं जिनके काव्य-खण्डों, दोहों, पदों आदि में कहीं-कहीं खड़ीबोली का मिश्रण तो मिल जाता है किन्तु खड़ीबोली की स्वतंत्र पद-रचना नगण्य है, देखिए :—

पान लिये पदमावती, गई बादल के पास[3]
रे बालक बादल तुही, जो है जीवन मेरा,
रे बालक बादल तु, मुझे आसरा तेरा॥[4]

—जटमल

मीना के महल ज़रबाफ़ दर परदा है,
हलबी फ़ानूसन में रोशनी चिराग़ की।

१. कविता कौमुदी, पृ० २०४—रामनरेश त्रिपाठी
२. मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई का पद्य संग्रह, पृ० १६—सं० ब्रजराज तथा वियोगी हरि
३. गोराबादल की कथा, पृ० २३— पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा
४. गोराबादल की कथा, पृ० २६—पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा

गुलगुली गिल में गरक आब पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की ॥[1]

—जटमल

अपनी अपनी ठौर पर, सब को लागे दाव,
जल में गाड़ी नाव पर, थल गाड़ी पर नाव ।[2]

—वृन्द

साईं सब संसार में, मतलब का व्यवहार,
जब लग पैसा गाँठ में, तब लग ताको यार ॥[3]

—गिरिधर कविराज

गफ़लत टोटा बड़ा दिवाना, क्यों गफ़लत में पड़ा,
कर्म कूट में जान गँवाया, चाम दाम में चित्त न भाया ॥[4]

—दयाराम

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो देव लेव, यहीं रह जाना है ।
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे,
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है ।
आए परवाना पर चले न बहाना यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है ।[5]

—ग्वाल

रोजगार तेरा रोज लगा रहे दम साथ,
गम साथ क्या है अवसोस कधी ना लाने ।
जिसने दिया दम वह दम नहीं देगा यार,
वेगम गुजार बनाने कियों के दालानें ।
ग्वाल कवि हाजर खुदा की बन्दगी में रहु,
उसी पसंदगी के कार सब बजा लाने ।
दाना छितराना जहाँ जाना है जरूर अरु,
अरु पाना भी वही है जो दिलाना हक्क तालाने ॥[6]

—ग्वाल

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २७५—पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. वृन्द सतसई, पृ० ५—शंकरदेव शास्त्री
३. कविता कौमुदी, पृ० ४२४—रामनरेश त्रिपाठी
४. सरस्वती, मार्च १९१३, पृ० १७८
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१५—रामचन्द्र शुक्ल
६. ग्वाल रत्नावली, पृ० ४५

द्वितीय वर्ग के कवियों ने केवल मुसलमान पात्रों द्वारा उच्चरित वाक्यों अथवा उनसे सम्बन्धित प्रसंगों में ही खड़ीबोली का उपयोग किया है। अन्य स्थलों पर उनकी ब्रजभाषा में कितनी ही विकृति, कितनी ही अव्यवस्था क्यों न मिले, खड़ीबोली का मिश्रण कम है। भूषण और सूदन का नाम इसी वर्ग के कवियों में लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए निम्न अवतरणों में मुसलमान पात्रों के प्रसंग में खड़ीबोली का प्रयोग देखिए :—

अफ़ज़ल खान को जिन्होंने मयदान मारा,
बीजापुर गोलकुंडा मारा **जिन** आज है।[1]

—भूषन

निसि वक्त मनसूर से यों कहि भिजवाया
जाना अपने मुलक को हज़रत फ़ुरमाया।
फेरि साहि मनसूर को अहदी लगवाया,
साहि जिहानबाद तें लद **ही** कढ़वाया॥[2]

—सूदन

इन दोनों वर्गों के कवियों की ब्रजभाषा में खड़ीबोली के मिश्रण का कारण निस्संदेह मुसलमान शासकों एवं सैनिकों के साथ नित्यप्रति का सम्पर्क था।

तृतीय वर्ग के कवियों ने स्वतन्त्र पद-रचना के लिए ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ीबोली को भी काव्याभिव्यंजन का माध्यम स्वीकार किया। आलम (सं० १६४०-१६८०) कृत 'सुदामाचरित', घनानन्द (सं० १७४६-१७९६) कृत 'वियोग वेलि', नागरीदास (सं० १७५६-१८१९) कृत 'इश्क चमन', रघुनाथ (कविता-काल, सं० १७९०-१८१०) कृत 'इश्क महोत्सव'[3], शाहआलम सानी (सं० १७८५-१८६३) विरचित 'नादिरातेशाही', पद्माकर भट्ट (सं० १८१०-१८९०) का 'कलियुग पंच्चीसी', सवाई प्रतापसिंह देव 'ब्रजनिधि' (१८२१-१८६०) का 'रास का रेखता', 'विरह की सलिता' तथा अन्य स्फुट पद, सीतल (१९ वीं श० में वर्त्तमान) कृत 'गुलजार चमन', 'आनन्द चमन' तथा 'विहार चमन', नजीर (मृत्यु १८८७) के स्फुट पद, वृन्दावन जैन (सं० १८४८-१९१५) के 'वृन्दावन विलास' में संगृहीत फुटकर काव्य तथा ललितकिशोरी (कविता काल सं० १९१३-१९३०) के 'झूलने-रेखते' तथा 'लावनियाँ' खड़ीबोली के एकान्त प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जाते हैं। इनकी अभिव्यंजना-कला का सविस्तर उल्लेख प्रस्तुत प्रवन्ध के 'खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

इनके अतिरिक्त शिवसिंह सरोज एवं हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज-रिपोर्टों में कुछ ऐसे कवियों का उल्लेख भी है, जिनकी रचनाएँ अभिव्यंजना की दृष्टि से नगण्य होते हुए भी खड़ीबोली-भाषा के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। मुसलमान कवियों में कारबेग फ़क़ीर,

१. भूषण ग्रन्थावली, पृ० ८३—ब्रजरत्न दास
२. सूदन रत्नावली, पृ० ८६—संग्रहकर्त्ता, सत्यप्रिय
३. रघुनाथ कवि का 'इश्कमहोत्सव' अप्राप्य है।

तालिब शाह, शेख़ भुल्लन, हैदर, खैराशाह आदि,तथा हिन्दू कलाकारों में चतुरसिंह राना, भक्तराम, कुँवरसेन, रूपराम, बिसराम, जयकवि भाट, अचलदास, प्रियादास, प्रेमसागर, गंगादास साधु, धनपत आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमें से अधिकांश ने ग़ज़ल, तुर्रे, ख़याल, लावनी अथवा रेख़ते गाये हैं। अतः इनके पदों में उर्दू-फ़ारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कतिपय उद्धरण देखिए :—

माफ़ किया मुलुक मताहदी विभीषन को,
कही थी जुबान क़ुरबान ये क़रार की।
बैठिबे को ताइफ़ तख़्त दे तख़त दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुनारदार यार की।
तब क्या कहा था अबं सर्फ़ राज आप हुए,
जब की अरज की सुनी चिड़ीमार ख्वार की।
कारे के कसर माँह क्यों जी दिलदार हुए,
एरे नन्दलाल क्यों हमारी बार बार की॥[1]

—कारबेग फ़कीर (सं० १७५६)

महबूब बागे सुहागे बने हैं,
सुमोहन गरे माल फूलों हिये हैं।
महारंग माते अमाते मदन के,
बिलोकत बदन खौर चंदन दिये हैं।
यही भेष हरिदेव भृकुटी तुम्हारे,
सुलकुटी भँवर लेख या लख लिये हैं।
दिवाना हुआ है, निभाना दरस का,
सु तालिब वही श्याम गिरिवर लिये हैं॥[2]

—तालिबशाह (सं० १७६८)

सुदामा के जु हमराही थे, वे असे कृष्णचन्द,
एक पल में दलदर के, सब काटि दिये फंद।
मैं उनकी सैन बानी में, कहता हूँ नये छन्द,
तुम ऐसे श्री महाराज हो, मेटौगे मेरे दंद॥[3]

—शेख भुल्लन (सं० १८७६)

आसाढ़ में विनती करै, खैराशाह अधीन,
तुम बिन व्याकुल नैन हैं, जल बिन जैसे मीन।
आसाढ़ में सोहे परी सब ख्वाब देखे कामिनी,

१,२ शिवसिंह सरोज, पृ० ४१, पृ० १२६, संग्रहकर्त्ता—शिवसिंह सेंगर

३. हस्तलिखित ग्रन्थों का त्रैवार्षिक त्रयोदश विवरण, सन् १९२६-१९२८ ई०, पृ० १७६—डॉ० हीरालाल।

अवर न बिजलीं खिले, दुष देन दोनों दामिनी ।
हर वक्त मत उठ बोल कोयल, पी बिना नैना झुरें,
काली घटा चहुँ ओर छाई, पवन पुरवाई अति चले ।।[1]

—खैराशाह (सं० १९२७)

जिस भाषा को शिवसिंह सेंगर ने 'सीधीबोली' भी कहा है उसका शनैः शनैः किस प्रकार विकास हो रहा था, निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

काहे को तू घर छोड़ा, काहे को घरनि छोड़ी,
काहे को तू इज्जति खोई, दरबेस आने की ।
काहे को तू नंगा हुआ, काहे को विभूति लाई,
किन रे सीख दई, तुझे जंगल के जाने की ।।[2]

—चतुरसिंह राना (सं० १७०१-१७३०)

प्यारे जी ऐसे दीन दयाल मास कातिक का आया,
हुआ मगन संसार जहान गुलजार बनाया ।
राजाजी श्री नन्द महाराज ध्यान उनको यह आया,
सबही ब्रह्म के लोग यही मन माँहि समाया ।
जज्य करें हम ब्रज में सब ही हुए तैयार,
बैठे ब्रजवासी सब ही सभा करी गुलजार ।।[3]

—कुँवरसेन (सं० १८९४)

जब तक है परदा ख्वाब गफ़लत का आँखों पर,
तभी तक लज्जत बादशाही औ वजीरी है ।
किसी वक्त चौंक जावे भूलि परदे को उठावै,
रंग लाल नजर आवे, होत रोशन दिल भँभीरी ।।[4]

—जय कविभाट (सं० १९०९)

न खोल घूँघट के पट तूँ प्यारी,
चलेंगे नाराच चितवानी के ।।
सरोज सकुचेंगे चन्द्रबदनी,
ये तेरी लखते ही चाँदनी के ।
है चौथ तू मत महल पर चढ़ियो,
समय अँधेरी ये भामिनी के ।[5]

—रूपराम या रूपकिशोर (सं०१९२५)

१. हस्तलिखित ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, सन् १९२६-१९२८ ई०, पृ० ३७१—डॉ० हीरालाल
२. शिवसिंह सरोज, पृ० ९४, ४१४—संग्रहकर्त्ता, शिवसिंह सेंगर ।
३. हस्तलिखित ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, सन् १९२६-१९२८ ई०, पृ० ३९३—डॉ० हीरालाल ।
४. शिवसिंह सरोज, पृ० १११
५-६. हस्तलिखित ग्रन्थोंका त्रयोदश वार्षिक विवरण,सन् १९२६-१९२८ ई०, पृ०३९३,पृ० २५४, डॉ० हीरालाल ।

सोम नाम इक ब्राह्मण था,
वो ऊजन नगरी का वासी।
गेह त्यागि के गया वो बन को,
बन के सन्यासी।
प्राणायाम चढ़ाय समाधी खेंच,
गया वो तो खासी।
देख तपस्या हो गये,
उस पे अबिनासी ॥[1]

—गंगादास साधु (सं० १९२४)

लगभग इसी काल में मुसलमान कवि मिर्ज़ा वाला क़दर साहिब (सं० १८९५-१९५९) ने 'कदर पिया' के नाम से 'भाका' में कुछ फुटकर पद कहे हैं। ये नवाब वाजिदअली के दरबार में रहते थे। यों तो कदर साहिब फ़ारसी और उर्दू के अच्छे विद्वान् थे तथापि उर्दू में कविता नहीं करते थे। 'भाका' में 'शृंगारोक्तियाँ' तथा 'नयन व दिल की लड़ाई' आदि जो प्रकीर्णक काव्य इन्होंने रचा वह अभिव्यंजना-सौष्ठव की दृष्टि से स्वल्प होते हुए भी खड़ीबोली भाषा के स्वच्छ एवं प्रांजल रूप की दृष्टि से उल्लेखनीय है :—

शृंगारोक्ति

चाहन हैगी बुरी बला, करत है सब का नास
है अचम्भा जिया जले, औ निकसे ठंडी साँस।

नयन व दिल की लड़ाई

नयन—नयनों ने यह दिल से कहा, कि तुम तो बड़े हुशियार
तुम तो बहले याद में उनकी, हमी रहे बेकार
दिल—आड़ में हम तो बैठे, किसने बुरा भला बतलाया,
तुमने पहले छाँट लिया, तब तो हमने चाहा।[2]

खड़ीबोली में इस प्रकार की स्फुट पद-रचना करने वालों में नारायण स्वामी (सं० १८८५-१९५७) का नाम भी लिया जा सकता है :—

जहाँ ब्रजराज कल पाये चलो सखी आज वा बन में,
बिना वा रूप के देखे विरह की लौ लगी तन में।
न कल परती है वेकल को न जी लगता है बिन जानी,
भई फिरती हूँ जोगन सी सरे बाज़ार गलियन में।

१. हस्तलिखित ग्रंथों का त्रयोदश वार्षिक विवरण, सन् १९२६-१९२८ई०, पृ० ३६३, पृ० २५४ डॉ० हीरालाल।
२. द्र० 'कदरपिया'—ले० गोपालचन्द्र सिंह, पृ० ६३ ६५,

करूँ कुरबान जी उस पर जनम भर गुन न भूलूँगी,
मेरा महबूब जो लाकर बिठा दे मेरे आँगन में।
नहीं कछु गरज दुनियाँ से न मतलब लाज सो मेरा,
जो चाहो सो कहो कोई बसा अब तो वही मन में।
तेरी यह बात साँची है, नहीं शक इसमें नारायण,
जो सूरत का है मस्ताना वह परचे कैसे बातन में ॥[1]

—नारायण स्वामी

मिश्रबन्धु विनोद[2] के 'अज्ञात कालिक प्रकरण' में किसी बहाव नामक कवि का 'बारहमासा' तथा हस्तलिखित ग्रंथों के विवरणों में प्रेमसागर, प्रियादास, रामकृष्ण, रामराय, सहदेव[3] आदि कवियों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु इनका समय ज्ञात नहीं।

संक्षेप में, उपर्युक्त विवेचन से यह विदित हो जाता है कि अपभ्रंश साहित्य के उद्‌गम काल से ही अन्य भाषाओं के समान खड़ीबोली भी आकार ग्रहण करने लगी थी। खड़ीबोली का संसर्ग मुसलमानों से जुड़ते ही उसका विकास तीव्र गति से हुआ और १४वीं शती के उपरान्त लोक-साहित्य-निर्माण के लिए इसे ही माध्यम-रूप में ग्रहण किया जाने लगा। सामान्य जनता के मनोरंजनार्थ रेखते, लावनी, झूलने, तुर्रे आदि गेय पदों का खड़ीबोली में गाया जाना भाषा के सार्वजनीन प्रचलन का प्रमाण है। खड़ीबोली के इस व्यापक प्रचार को देखकर ही साहित्यिक वर्ग के कतिपय कलाकार समय-समय पर इसमें प्रकीर्णक काव्य रचते रहे। अतः यद्यपि अनेक राजनीतिक एवं साहित्यिक कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व इसे काव्य-भाषा बनाने का कोई आग्रह नहीं किया गया, तथापि यह निश्चित है कि उससे पूर्व इसकी अपनी एक काव्य-परम्परा क्षीण धारा के रूप में सतत प्रवाहित रही। यह स्थिति भारतेन्दु काल में उस समय तक बनी रही जब तक खड़ीबोली ने गद्य-क्षेत्र में अपने पाँव पूर्णतया न जमा लिये और विद्वत् वर्ग को साहित्य में गद्य और पद्य की दो पृथक् भाषाओं का अस्तित्व खटकने न लगा।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली की स्थिति अत्यन्त विचित्र रही। एक ओर तो वह गद्य-क्षेत्र में नाटक, उपन्यास, कथा, कहानी, निबन्ध और अन्य लेखों में विकास पाती रही और दूसरी ओर उसमें ग्राम-गीत, लावनी, ग़ज़ल, ख्याल, तुर्रे, झूलने, बारहमासे, दादरा, ठुमरी आदि शृंगारी संगीत तथा स्वाँग, भजन आदि लिखे जाते रहे। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की महत्वपूर्ण लूट का वर्णन करती हुई एक स्त्री पति के भोलेपन की ओर संकेत करती है :—

१. द्र० 'ब्रजविहार'—आलमकेलि—सं० ला० भगवानदीन
२. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० १०७
३. हस्तलिखित ग्रंथों का त्रयोदश वार्षिक विवरण, सन् १६२६-१६२८—डॉ० हीरालाल

ग्राम-गीत

लोगों ने लूटे शाल दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल
मेरठ का सदर बाजार है, मेरे सैंया लूट न जानें।
लोगों ने लूटे प्याली कटोरे, मेरे प्यारे ने लूटे गिलास
मेरठ का सदर बाजार......
लोगों ने लूटे गोले छुहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम
लोगों ने लूटे मोहर अशर्फ़ी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम।[1]

सुन सुन रे पीतम खुशहाल, मैं भी चलूँगी तेरे नाल
तेरा हाल सो मेरा हवाल, मुझे दुनिया ने बदनाम किया।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध लावनी का भी स्वर्ण युग था। उस समय इसके उस्ताद नत्थासिंह 'तालिब', बाबा रामकरन गिरि, बाबा शम्भुपुरी, पं० रामप्रसाद आदि सभी तुर्रे वाले थे। इनके साथ कलंगी सम्प्रदाय में बाबा बनारसीदास भी प्रसिद्ध लावनीबाज़ हुए। इनकी लावनियों की खड़ीबोली में उर्दू और ब्रजभाषा का पुट मिलता है। भाषा में मात्रा-व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी बराबर पाई जाती हैं क्योंकि ये लोग प्रायः पढ़े-लिखे न होते थे। किन्तु लय और प्रवाह के कारण सामान्य जनता में लावनियाँ बहुत लोकप्रिय हुईं, उदाहरणार्थ—

बिन काज आज महाराज लाज गई मेरी,
दुख हरो द्वारकानाथ शरण मैं तेरी।
दुशासन वंश कुठार महादुखदाई,
कर पकरत मेरी चीर लाज नहीं आई।
अब भयो धरम को नाश पाप रही छाई,
लखि अधम सभा की ओर नारि बिलखाई
शकुनी दुर्योधन करण खड़े सब घेरी,
दुख हरो द्वारकानाथ..............[3]

—ला० गणेशप्रसाद

यह है बैशाख गर्मी का महीना,
रुखे गुल पर है शबनम का पसीना
महक फूलों की कोई ले रहा है,
किसी को कोई बीड़े दे रहा है[4]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० २८७, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
२. द्र० 'खड़ीबोली की कविता'—ले० श्रीधर पाठक, प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्य-विवरण—द्वितीय भाग
३. 'लावनी चौदह रत्न', पृ० २-५, संग्रहकर्त्ता, राजाराम मिश्र
४. द्र०—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी—रूपाभ, जुलाई, वर्ष १, सं० १

द्रोपदी विपत्ति में करुणानिधि काटे री
पति चले विपत्ति में नाथ रखो पति मेरी।
यह दुर्योधन पापी ने भला क्या कीता,
करि कष्ट से मेरे पाँचौ पति को जीता।[1]

—बनारसी

तन मन्दिर के बीच निरख क्या रंग बिरंगी मूरत है,
जनक परख हृदय से तू, इस मूरत की क्या सूरत है।[2]

—लल्लाराम

हूँ कर्म के फन्दे फँसा सुधारा करे,
गंगा अपने गुणों में प्यारा कर दे।
मद, काम, क्रोध, लोभ से किनारा करे,
छवि दिखा के छल बल से छुटकारा कर दे॥[3]

—महादेवसिंह

कदाचित् इनकी लोकप्रियता को देखकर भारतेन्दु तथा उनकी मंडली के अन्य कलाकारों ने भी उर्दू-मिश्रित खड़ीबोली में कुछ लावनी और कजलियाँ रच डालीं, यथा—

श्री राधा माधव जुगल चरन, रस का अपने को मस्त बना,
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इसमें का भी देख मजा।
यह वह मै है जिसका पीने से, और ध्यान छुट जाता है,
अपने में और दिलवर में फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है।
इसके सरूर से मस्त हरेक अपने को नजर बस आता है,
फिर और हवस रहती न जरा कुछ ऐसा मजा दिखाता है॥[4]

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जब से देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा,
संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा।
इच्छा रहती है नित्य यह शोभा देखें,
लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें,
इस छवि के आगे और भला का देखें।
आहा, यह अनुपम रूप जगत से न्यारा,
संसार तुच्छ जँचता है मुझको सारा॥[5]

—प्रतापनारायण मिश्र

---

१. लावनी—बनारसीदास
२, ३. आधुनिक काव्यधारा, पृ० १२०, पृ० १२०—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल
४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १०—डॉ० रामविलास शर्मा
५. आधुनिक काव्यधारा, पृ० १२२—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल

इनके अतिरिक्त जनता का मनोरंजन ठुमरियों, संगीतों और नौटंकियों से भी हो रहा था। अमानत ने सन् १८५३ में 'इन्दरसभा' नामक संगीत की रचना की थी। इससे पूर्व भजनलाल सन् १८११ में 'हीर-राँझा' नामक स्वाँग रच चुके थे। तत्कालीन नवाबों और रईसों की अभिरुचि के कारण ग़ज़ल और ठुमरियाँ भी बराबर बनती रहीं। इन सबके कारण जनता की रुचि इतनी भ्रष्ट हो गई कि भारतीय पौराणिक एवं धार्मिक आख्यानों में देवी, देवता, अप्सरा आदि तक का विचित्र रूप खड़ा किया जाता था, यथा—

भजन कहैं जब हीर की बाँह पकड़ी उठ राँझे गले लगाई है रे।
उठी हीर तो राँझे की बाँह पकड़ ले के खिड़की के बीच आई है रे।
दोनों सेज बिछाय के बैठ गये पढ़ कुरान लई कंठ लगाई है रे।
पाक दोनों की एक सी है जोड़ी हक ताला ने बनाई है रे॥[1]

—हीर राँझा

राजा हूँ मैं कौम का इन्दर मेरा नाम,
बिन परियों के दीद के नहीं मुझे आराम।
सुन ले मेरे देव अब दिल को नहीं करार,
जल्दी से मेरे वास्ते सभा करो तैयार।
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन,
मुझको शब भर बैठना महफ़िल के दरम्यान॥[2]

—इन्दर सभा

खिला नूर भरपूर अजब जोबन जमाल दिखलाती है,
परी मेनका माहरू परिसतान से आती है लटक।
रही नागिन लट काली क्या बहार गुलबदन के बीच,
मिसाल कामिन हवा रुख माह मुनव्वर गहन के बीच।[3]

—शकुन्तला नाटक

जातीय संगीत

इस युग के नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। उनसे कितने ही भावों को साहित्य में बल मिला और कितनी ही विचारधाराएँ पुष्ट हुईं। लावनी, होली, ग़ज़ल, ठुमरी आदि का जनता पर वृहद् प्रभाव देखकर उन्होंने 'जातीय संगीत' के लिए सत्-विषय चुनने की अपील की,[4] तथा स्वयं 'प्रेम तरंग,' 'रस बरसात,' 'फूलों का गुच्छा,' 'वर्षा विनोद,' 'विनय प्रेम पचासा' आदि कई जातीय संगीत के ग्रन्थ लिखकर दूसरों का पथ-प्रदर्शन भी किया। इस प्रकार भारतेन्दु के प्रयत्न से उनके मण्डल के सभी कवियों ने जातीय संगीत की राशि-राशि रचनाएँ कीं। अम्बिकादत्त व्यास कृत 'धर्म की धूम', 'रसीली कजरी', 'हो हो होरी,' पं० प्रतापनारायण मिश्र

१. हीर रांझा, पृ० २६—भजनलाल
२. इन्दर सभा, पृ० १—अमानत, हरिप्रकाश यंत्रालय, सं० १९४६, द्वितीय संस्करण
३. शकुन्तला नाटक, भाग १, पृ० १४—गणेशप्रसाद
४. जातीय संगीत—भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग ३, पृष्ठ ६३५

कृत 'मन की लहर', 'होली है,' देवकीनन्दन तिवारी कृत 'कवीर,' देवीप्रसाद का 'योगीड़ा' आदि रचनाएँ धड़ाधड़ निकलीं। शुभ अवसरों पर गाने के लिए 'श्री बृजराज विलास' (गिरिराज कुंवरि) तथा 'मंगल गीतावली' संग्रह भी प्रकाशित हुए। हाँ, अर्द्धशिक्षित वर्ग द्वारा ग्राम-गीत परम्परा बराबर जारी रही।

प्रचारात्मक काव्य—ईसाई मिशनरियों एवं आर्य समाज के प्रचारकों ने भी पद, ग़ज़ल, लावनी, अंग्रेज़ी ढंग के कुछ मुक्त छन्द तथा वारहमासे, गेय भजन आदि लिखकर अपने धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। ईसाई साहित्य के गीत वहुत गद्यात्मक हैं और इनमें प्रायः उर्दू-फ़ारसी रहित सरल एवं सामान्य भाषा को अपनाने का ही प्रयत्न किया गया है। इधर आर्य समाज के प्रचारात्मक एवं उपदेशात्मक संग्रहों में भाव की अक्खड़ता के साथ भाषा में पंजाबी का पुट मिलता है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

मेरी नौका अब टूटी जाती मुझे ऐसा आता डर।
लहर ऐसी प्रबल उठती डूब के मरता हूँ उस पर।
प्रभु यीशु, अब लगाव किनारे पर।[1]

एक द्वारा खुला रहता है, कि जिससे सदा आता
एक नूर जो क्रूस से फैलता है मसीह का प्रेम बतलाता
क्या यह हो सकता प्रेम अपार कि खुला रहा मुक्ति का द्वार
कि मैं, कि मैं,
कि मैं प्रवेश करूँ।[2]

ईश्वर हम पर दया करें और हमें आशीस दें,
और अपना मुख हम पर चमकावें सितारा
जिसमें तेरा मार्ग पृथिवी में जाना जाय,
सारे गुणों में तेरी मुक्ति।
हे ईश्वर जाति गण तेरी स्तुति करेंगे।
सारे जाति गण तेरी स्तुति करेंगे।[3]

चढ़ा वैशाख विचार पियारे किस पर आकड़ करता हूँ,
मात पिता सुत होत पराये जिनकी खातर मरता हूँ।
अपने सुख का सब कोई गाहक किसको समझे घर का तूं॥
सबको त्याग जाग कर श्रद्धा नाम सिमर ले हरि का तूं॥[4]

ये चाल चलावें क्या उलटी जो पत्थर को पुजवाते हैं।
क्या पत्थर फिर भगवान मिले जब उनका ध्यान छुड़ाते हैं।

---

१. ए कलेक्शन ऑफ़ हीम्स ऑफ़ डेली वरशिप, पृ० ८२—जॉन पारसन और जॉन क्रिश्चियन
२. गीत और भजन, पृ० १७६
३. गीतों की पुस्तक, पृ० ७१
४. सत्य धर्म मुक्तावली, पृ० ४७—श्रद्धाराम

सब नदी नाले ढूँढ चुके तब रेती पर भी वार करें,
ये गौर पुजावें देवी को फिर रेती का भरमार करें ॥[1]

सामयिक विषयों के प्रतिपादन एवं सुधारवादी आन्दोलनों के निमित्त लिखे गये पदों में भी खड़ीबोली का प्रयोग बढ़ रहा था, यथा—

प्रचलित हाय अंध परिपाटी, पर तुम चलते जाते,
आर्य वंश को लज्जित करते, कुछ भी नहीं लजाते।
धर्म आग्रह सब है केवल, करने ही को झगड़ा,
नहिं तो सत्य धर्म प्रेमी से, कैसा किससे रगड़ा।[2]

—प्रेमघन

साहूकारों के अब तो प्रति वर्ष दिवाले कढ़ते हैं,
आठों पहर घोर आपद है, ऋण के तूदे बढ़ते हैं।
बाबा उन से कह दो, जो सीमा की रक्षा करते हैं,
लोहे की सीमा कर लेने की चिन्ता में मरते हैं ॥[3]

—बालमुकुन्द गुप्त

माता तुम्हारी गऊ, इसको बचाना चाहिये,
दरदो ग़म रंजो अलम, सबसे छुड़ाना चाहिये।
यह तुम्हे दूधो दही मक्खन खिलाती और मही,
इसके एवज न गला इसका कटाना चाहिए ॥[4]

हाय शादी हुई थी,
बेहोश मैं जब थी।
मैं सौलह बरस की,
वे अस्सी बरस के।
देख इनको मैं रोती,
देख हमको वह हँसते।[5]

भारतेन्दु युग में जो नाटक रचे गये उनके पद्य भी प्रायः खड़ीबोली में लिखे जाने लगे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' में नशे में पुरोहित और पाचक वाले की भाषा खड़ीबोली रही। प्रतापनारायण मिश्र का 'संगीत शाकुन्तल' और 'भारत दुर्दशा,' अम्बिकादत्त व्यास कृत 'भारत सौभाग्य' राधाचरण गोस्वामी कृत 'भंग तरंग' आदि रचनाओं में खड़ीबोली के अनेक पद्य मिलते हैं।

१. भारत दुर्दशा प्रवर्त्तक खंड ४, सं २
२. द्र० प्रेमघन सर्वस्व
३. जातीय गान, 'स्फुट कविता' पृ० ६४—बालमुकुन्द गुप्त
४. कलिराजकथा, पृ० ६
५. बिहार बन्धु, १३ अक्तूबर, १८८१ ई०

किन्तु भारतेन्दु युग के सत्काव्य की भाषा, परम्परा से चली आती हुई ब्रजभाषा ही रही। प्रायः सभी क्षेत्रों में नवीनता के साथ प्राचीनता बनी रही। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार देशभक्ति के साथ राजभक्ति, सुधारवादी प्रवृत्ति के साथ शृंगारिकता का अद्भुत मिश्रण इस युग की विशेषता रही, उसी प्रकार भारतेन्दु-साहित्य में भी सर्वत्र दो प्रकार की भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है :—

(१) गद्य और लोक-साहित्य-निर्माण में खड़ीबोली,

(२) परम्परा-भुक्त शृंगारिक काव्य-निर्माण में ब्रजभाषा।

गद्य-पद्य में इन दो पृथक् भाषाओं का उपयोग रूढ़ि-विरोधी भारतेन्दु कालीन प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल पड़ा; कदाचित् इसीलिए स्वयं भारतेन्दु ने प्रचलित 'साधुभाषा' में कविता लिखने का प्रयास किया था। किन्तु ब्रजभाषा के माधुर्य से पगे हुए हृदय को खड़ीबोली-कविता पसन्द न आई। इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने सितम्बर १८८१ ई० के 'भारत-मित्र' में कहा, "मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ + + पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रजभाषा है। यह निर्णीत हो चुका है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं + + मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी + + मैंने इसका कारण सोचा तो मुझको सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है।"[१] भारतेन्दु चाहे खड़ीबोली-पद्य-रचना में सफल हुए हों या नहीं, यह निश्चय है कि एक ओर ब्रजभाषा की संकुचित विषय-वस्तु, रूढ़ एवं परम्परागत अभिव्यक्ति, तथा दूसरी ओर लोक-साहित्य में खड़ीबोली का विस्तृत प्रसार और गद्य-साहित्य में उसकी स्वरूप परिनिष्ठिति आदि कारणों से हिन्दी साहित्य के प्रमुख अंग पद्य का प्राचीन भाषा में पड़ा रहना विचारशील पुरुषों को खटकने लगा था। अतएव दोनों भाषाओं के पक्ष-विपक्ष में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में लेख निकलने लगे और 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।[२]

खड़ीबोली आन्दोलन

जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है, सन् १८७८ तक खड़ीबोली का खूब प्रचार हो चुका था। खड़ीबोली के पक्षपाती कर्मठ विद्वान् उसे पद्य-क्षेत्र में सफल बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न-

१. हिन्दी भाषा, पृ० २—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२. हिन्दी पद्य की अवस्था शोचनीय है। हिन्दी के प्राचीन कवि अपने समय की भाषा में रचना करते थे और केवल कविताई पर ध्यान देते थे। भाषा पर उनका कुछ भी ध्यान न था। उनकी रचना का क्योंकर अन्वय होगा, किसी पद का व्याकरण से कौनसा रूप बताया जायगा, इसका उनको भान ही न था। जैसा वाक्य मुख से निकला वैसा ही लिख दिया, दीर्घ को ह्रस्व कर दिया, युक्ताक्षर को असंयुक्त और असंयुक्त को युक्त बना दिया। जो किसी विभक्ति ने कुछ गड़बड़ किया तो उसे भी उड़ा दिया। स्त्रीलिंग को पुलिंग और पुलिंग को स्त्रीलिंग, एकवचन को बहुवचन और बहुवचन को एकवचन जैसा जी में आता था करते थे। आधुनिक कवि भी अंध परम्परा की लीक पर चले आते हैं। यहाँ तक कि इन्होंने प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का पिंड भी न छोड़ा।"

—बिहार बन्धु, १६ दिसम्बर, सन् १८८६.

शील है। पं० श्रीधर पाठक विरचित 'एकान्तवासी योगी' (सन् १८८६) तथा 'जगत सचाई सार' (सन् १८८७) इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास थे। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का 'खड़ीबोली का पद्य' शीर्षक संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ। इनके द्वारा उत्साह पाकर गोविन्दप्रसाद ने भी खड़ीबोली के उत्तमोत्तम पद्य 'चम्पारण चन्द्रिका' में प्रकाशित कराये। किन्तु श्रीधर पाठक के 'कहाँ जले है वह आगी' को लेकर उसके विपक्षियों ने 'एकान्तवासी योगी' की निर्मम आलोचना की। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ीबोली का पद्य' की आलोचना में पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा डॉ० ग्रियर्सन ने भारतेन्दुजी की असफलता की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार के प्रयास को निष्फल एवं व्यर्थ बताया।[1]

इस प्रकार पद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली और ब्रजभाषा को लेकर विद्वानों में तीन दल हो गये। प्रथम दल के साहित्य-सेवी पद्य की भाषा ब्रज को हटाकर उसके स्थान पर खड़ीबोली को आपन्न करना चाहते थे। इनमें श्रीधर पाठक का स्वर सबसे प्रखर था। उन्होंने 'हिन्दोस्थान' के एक लेख में गद्य-पद्य की भाषा का भिन्न-भिन्न होना 'लज्जास्पद'[2] बताया और खड़ीबोली को काव्य के अनुपयुक्त घोषित करनेवालों के उत्तर में कहा कि "किसी शिष्ट भाषा के विषय में यह कहना कि वह कविता के योग्य नहीं है, भाषा के सामान्य स्वरूप और कविता के उद्देश्य से अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शन करना है।"[3] 'हिन्दोस्थान' के सम्पादक ने भाषा-माधुर्य पर अपना विचार प्रकट करते हुए यह भी कहा, कि "चिरकाल के परिचय और अभ्यास तथा कुछ स्वरादिकों की कोमलता के कारण हिन्दी के उस रूप की कविता जिसको हम ब्रजभाषा कहते हैं हमको अधिक मधुर, मनोहर और प्यारी लगती है किन्तु कालान्तर में प्रचलित भाषा की कविता भी हमको वैसी ही मधुर और मनोहर लगेगी।"[4] खड़ीबोली के समर्थक विद्वान् कभी-कभी ब्रजभाषा-कवियों के प्रतिरोधों से चिढ़कर कटूक्तियाँ कर बैठते थे। पं० प्रताप-नारायण मिश्र के ब्रजभाषा को 'ऊख' तथा खड़ीबोली को 'बाँस' कहने पर श्रीधर पाठक ने लिखा, "नवीन हिन्दी का जन्म बहुत ही थोड़े काल से हुआ है और अभी उसमें कविता की चेष्टा बहुत ही कम की गई है। इसकी कविता की अवस्था भी कच्ची और कोमल है और ब्रजभाषा की पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हो गई है। यह अभी वयःसन्धि में है, पर ब्रजभाषा प्रौढ़ावस्था को 'बुड्ढी नायिका' की दशा पर भी आ पहुँची।"[5]

दूसरे दल के विद्वान् ब्रज के माधुर्य और प्राचीन समृद्ध साहित्य के चाकचिक्य से अभिभूत थे। अतः वे पद्य-क्षेत्र में ब्रज का एकान्त साम्राज्य चाहते थे। ब्रजभाषा की माधुरी पर लट्टू होकर पं० प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था—"जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है……उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस 'खड़ी' और 'बैठी' बोलियों में ला सकें यह किसी के बाप की मजाल नहीं।"[6] खड़ीबोली कविता की अवस्था को 'कच्ची' 'कोमल' कहने वालों की बात प्रकारान्तर से पं० शिवनाथ शर्मा

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० २४, ४५
२. हिन्दोस्थान, ८ मार्च, १८८८ ई०
३, ४, ५. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० २६, ५, २६—बा० अयोध्याप्रसाद खत्री
६. प्रताप पीयूष, पृ० ६८—पं० रमाकान्त त्रिपाठी।

ने भी दोहरा दी। आपने कहा—"आज कम से कम १५ बरस के समय से खड़ीबोली में लावनी, ख्याल और भजन बनते हैं। पर व्रजभाषा की समता करने पर एक भी योग्य नहीं ठहरता। यही नहीं नव्वाव खानखाना आदि के समय के वहुत से श्लोक खड़ीबोली में प्रस्तुत हैं पर केवल संस्कृत-काव्य के नक़ल करने वाले भाँडों के समान मालूम पड़ते हैं, यथा 'भया वालका वादशाही करेगा'—और कोई भी लालित्य उसमें न आया।"[1] राधाचरण गोस्वामी ने व्रज-साहित्य की अक्षय और अमूल्य निधि की सराहना करते हुए यहाँ तक कह डाला कि "व्रजभाषा के इतने बड़े रत्न-भंडार को छोड़कर नए कंकर-पत्थर चुनना हिन्दी के लिए कुछ सौभाग्य की वात नहीं वरंच इस व्रजभाषा के भंडार को निकाल देने से फिर हिन्दी में क्या गौरव की सामग्री रह जायगी। हमारी कविता की भाषा अभी मरी नहीं है, जीती है, तब फिर क्यों न इसमें कविता की जाय।"[2] इनका समर्थन पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे प्रमुख कवियों की काव्य-शैली से भी हुआ।

विद्वानों का एक तीसरा दल और था जो खड़ीबोली और व्रजभाषा के झगड़े में न पड़कर समय एवं विषय के अनुकूल दोनों भाषाओं के उपयोग का पक्षपाती था। राधाकृष्णदास के समन्वयवादी सिद्धान्त के अनुसार प्रथम दोनों दल वाले कुछ-न-कुछ भ्रम में थे। उनका विचार था कि व्रजभाषा सैकड़ों वर्षों से कविता में परिष्कृत होती आ रही है, इसलिए आवश्यकतानुसार उसके शब्दों का उपयोग कर लेने में कोई हानि नहीं। और केवल भाषा के लिए कवियों को उनकी इच्छा से रोकना तथा छेड़छाड़ करना उचित नहीं। यही नहीं, उन्होंने स्वयं इस प्रकार की कविता लिखकर अन्य व्यक्तियों के मार्ग-निर्देश का प्रयत्न भी किया, जैसे :—

फूले वास आस वर्षा की टूटी, पछवाँ वाय बही।
स्वच्छ हुआ आकाश चिलकती धूप चार दिस छाय रही॥
पहली वर्षा पाय खेत में पौधे जो थे हरखाये।
हाय धूप की तेज़ी से सो जाते हैं अब मुरझाये॥[3]

यदि वास्तव में देखा जाय तो खड़ीवोली-आन्दोलन के प्रथम दोनों दल दोनों भाषाओं का पृथक्-पृथक् समर्थन करते हुए भी दूसरी भाषा में कविता रचना के विरोधी न थे। जगन्नाथ-दास रत्नाकर को छोड़कर (जिन्होंने आद्योपान्त व्रजभाषा में ही कविता की) इस काल के अधिकांश कवि जाने-अनजाने वावू राधाकृष्णदास द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ही आरूढ़ रहे। जैसे एक ओर खड़ीवोली के समर्थक श्रीधर पाठक ने व्रजभाषा में अनेक पद्य रचे उसी प्रकार दूसरी ओर व्रजभाषा के पोषक वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' (१८९७ ई०) तथा 'आनन्द-अरुणोदय' (१९०६ ई०), अम्बिकादत्त व्यास ने 'कंसवध' और पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'सांगीत शाकुन्तल' खड़ीवोली में ही लिखे।

---

१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ४१, ४२—बा० अयोध्याप्रसाद खत्री
२. हिन्दोस्थान, ११ नवम्बर, १८८७ ई०
३. राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, पहला खण्ड

खड़ीबोली के इस विवाद का सुपरिणाम यह हुआ कि लेखकों को वस्तुस्थिति का बोध हो गया। वे समय की माँग पहिचानकर तथा खड़ीबोली की अभिव्यंजन-क्षमता को परखकर खड़ीबोली से प्रेम करने लगे और खड़ीबोली का विरोधी स्वर दुर्बल हो चला। राधाचरण गोस्वामी ने गद्य-पद्य के झगड़े को समाप्त करने की इच्छा से विद्वानों की 'कविता-विचारिणी' नामक सभा बुलाई[1] और सम्पादक 'हिन्दोस्थान' से कहा, "जो हो हम इस विषय में एक बात से बहुत डरते हैं और क्षमा चाहते हैं कि हिन्दी की उन्नति चाहनेवालों में परस्पर विरोध होना उचित नहीं। इस झगड़े का आगे बढ़ना हानिप्रद है। आशा है सम्पादक 'हिन्दोस्थान' इसका प्रबन्ध करेंगे।"[2] प्रतापनारायण मिश्र ने तो खड़ीबोली का विरोधी होने का आरोप स्वीकार ही न किया। उन्होंने 'ब्राह्मण' में कहा, "क्षमा करें। हम खड़ी हिन्दी के विरोधी होते तो हानि पर हानि सहकर 'ब्राह्मण' का सम्पादन क्यों करते।"[3] उन्होंने तो उसे 'ब्रजभाषा की बहिन एवं गद्य की पूर्ण स्वामिनी' बताकर पद्य-रचना की अनुमति तक दे डाली।[4] और पं० शिवनाथ शर्मा का यह कथन, कि "खड़ी हिन्दी हमारी भाषा है और उसकी उन्नति में हमारा गौरव है"[5], प्रमाणित करता है कि खड़ीबोली का विरोधी स्वर लुप्तप्राय हो चुका था।

संक्षेप में, भारतेन्दु-युग की रचनाओं को देखते हुए उस काल के साहित्य में ब्रजभाषा-पद्य का ही प्राधान्य दिखाई देता है। सन् १८८५ से १९०३ तक की खड़ीबोली-रचनाओं में बड़ी अव्यवस्था रही। सबकी अपनी डफली और अपना राग था। कहीं खड़ीबोली-कविताओं में संस्कृत का आधिक्य रहा और कहीं ब्रजभाषा का प्राधान्य। कुछ कवि विभक्तियों को सर्वनामों के साथ मिलाकर लिखना श्रेयस्कर समझते थे और कुछ ब्रजभाषा के कृदन्त-अव्ययों आदि का प्रयोग कर लेते थे। तात्पर्य यह कि भाषा का कोई स्थिर रूप न था, उसका कोई निश्चित व्याकरण न था। कवि-लेखक शब्द की मात्राओं को आवश्यकतानुसार दीर्घ अथवा लघु कर देना विशेष अपराध न समझते थे। किसी समर्थ पथ-निर्देशक के अभाव में खड़ीबोली अब तक अपना मार्ग सुनिश्चित करने में असमर्थ रही। ऐसी विषम परिस्थितियों में ही सन् १९०० में 'सरस्वती' का जन्म हुआ और खड़ीबोली के सौभाग्य से सन् १९०३ में पत्रिका का सम्पादन-भार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कंधों पर पड़ा।

द्विवेदी-युग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का कार्य-भार सँभालते ही यह अनुभव किया कि खड़ीबोली की उपलब्ध काव्य-रचना उच्चकोटि की नहीं है। समस्त काव्य अशुद्ध, संकर, अपरिष्कृत एवं अपरिमार्जित भाषा में निर्मित हो रहा है। खड़ीबोली के व्याकरण-सम्बन्धी-दोषों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। भाषा-प्रयोग में सर्वत्र अस्थिरता तथा उच्छृंखलता थी। द्विवेदी जी ने देखा कि ब्रजभाषा-समर्थकों का मुख सदा के लिए बन्द

---

१. द्र० 'खड़ीबोली का आन्दोलन' पृ० ३९—हिन्दोस्थान, २३ मार्च, १८८८ ई०

२. हिन्दोस्थान, ११ अप्रैल, सन् १८८८

३, ४, ५. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ३७, ३४, ४४

करने को उसका सर्वरूपेण परिष्कार एवं उन्नयन आवश्यक है। अतएव सर्वप्रथम उन्होंने खड़ीबोली को व्याकरण-सम्मत बनाने की चेष्टा की। नवम्बर १९०५ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख लिखा, जिसके बाद भाषा की शुद्धि की ओर लेखकों का ध्यान गया और इस चर्चा ने उग्र रूप धारण कर लिया।[1] इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने लेखकों से पत्र-व्यवहार, प्रूफ़-संशोधन और सम्यक् पर्यवेक्षण द्वारा रचनाओं को काट-छाँटकर सुधारने का भी भगीरथ प्रयत्न किया। क्योंकि द्विवेदी जी की अधिकाँश शक्ति भाषा को माँजने-सँवारने में ही व्यय हो जाती थी अतः उनके लिए भावों की सरसता और काव्यात्मकता की ओर ध्यान देना उस समय सम्भव न हुआ। मैथिलीशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा, सत्यशरण रतूड़ी आदि की रचनाओं की संशोधन-सम्बन्धी टिप्पणियों को देखने पर विदित होता है कि द्विवेदी जी ने कितने परिश्रम से खड़ीबोली को शनैः शनैः काव्योपयुक्त बनाया था। नेता और पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्होंने स्वयं खड़ीबोली-काव्य-रचना करके अन्य कवियों का मार्ग निर्देश किया। यही नहीं, इनके प्रोत्साहन एवं प्रभाव से साहित्य में अनेक छोटे-बड़े कवियों ने जन्म लिया। इस प्रभाव की व्यापकता के फलस्वरूप राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लोचनप्रसाद पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही आदि व्रजभाषा-प्रेमियों ने भी खड़ीबोली में कविता लिखनी प्रारम्भ कर दी।[2]

इस प्रकार 'सरस्वती' के आलोचनात्मक लेखों, अनूदित कविताओं और रविवर्मा कृत चित्रों पर रचित परिचयात्मक पदों द्वारा खड़ीबोली की अनेकमुखी उन्नति हो चली। और 'सरस्वती' की देखा-देखी साहित्य में मर्यादा, प्रभा, विद्यार्थी, प्रतिभा, शारदा आदि मासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं।

विषय की दृष्टि से भारतेन्दु-युग तक खड़ीबोली में लोकगीतों के अतिरिक्त देश, समाज और धर्म-सम्बन्धी सामयिक विषयों का ही प्रतिपादन किया जाता था। रविवर्मा कृत चित्रों पर रचित पदों के प्रभाव से ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों को प्रेरणा मिली। अतः मुक्तक के अतिरिक्त प्रबन्ध और खण्ड काव्यों की भी इस युग में कमी न रही।

भाषा के विचार से द्विवेदी-युग में सन् १९०७-८ तक खड़ीबोली प्रायः व्याकरण-सम्मत एवं परिष्कृत हो चुकी थी। प्रारम्भिक वर्षों में कवि नव स्वीकृत काव्य-भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने में इतना अधिक संलग्न रहा कि भाषा की लाक्षणिक एवं सांकेतिक शक्ति तथा मधुरता आदि गुणों पर उसका ध्यान गया ही नहीं था। अब कतिपय आलोचक-कवियों का इन पद्य-निबन्धों की शुष्कता की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। द्विवेदी जी ने पद्यों की नीरसता की ओर संकेत करते हुए कहा कि "कविता पढ़ते समय तद्गत रस में यदि पढ़ने वाला डूब न गया तो वह कविता कविता नहीं। और यह बात क्या अकेली व्रजभाषा ही ने अपने हिस्से में ले ली है?"[3] स्वयं मैथिलीशरण गुप्त को खड़ीबोली-पद्यों की गद्यात्मकता रुचिकर न हुई। उन्होंने कहा, "आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ

१. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५३२
२. द्र० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानुसिंह
३. द्र० 'उर्दू शतक'—सरस्वती, भाग ८, सन् १९०७, पृ० ३२

रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेज़ी की 'पोयट्री' और 'वर्स' में। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्ता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है।"[1] लगभग इन्हीं भावों को उन्होंने पद्य में भी व्यक्त किया :—

कवि का भी यही हाल हो रहा यहाँ है,
तुकबन्दी ही निरी दीखती जहाँ तहाँ है।
प्रतिभाशाली मनुष्य इधर कुछ दया दिखाते,
तो मुझसे मतिमन्द मनुज क्यों कवि कहलाते।[2]

महावीरप्रसाद द्विवेदी कभी-कभी तो झुँझलाकर यहाँ तक कह उठते, "आजकल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते हैं और उसे कविता समझकर छपाने दौड़ते हैं···(वे) अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से बढ़कर समझते हैं।"[3] कदाचित् कविता की इस इतिवृत्तात्मकता से चिढ़कर ही बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'सरस्वती' में 'भद्दी कविता' शीर्षक लेख लिखा जिसमें गद्य की भाषा को उत्तम और 'सरस्वती' में छपी हुई कविताओं को 'भद्दी' कहा।[4] 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट को भी खड़ीबोली की कविता रुचिकर न हुई। उन्होंने लिखा, "खड़ीबोली की कविता पर हमारे लेखकों का समूह इस समय टूट पड़ा है···हमें तो काव्य के गुण इसमें बहुत कम जँचते हैं।"[5]

इस प्रकार एक अज्ञात लेखक ने 'धृष्ट समालोचक' के नाम से द्विवेदीजी की पुस्तक 'कविता कलाप' तथा नाथूराम शर्मा 'शंकर', मैथिलीशरण गुप्त आदि की कविताओं पर मई १९१३ ई० की 'मर्यादा' में कटूक्तियों से परिपूर्ण एक लेख लिखा; शीर्षक था 'कलाप या प्रलाप?' उसमें "भाषा की गद्यात्मकता, शब्द-योजना, समासों की सेवा, उपमाएँ और रसिकता, गुड़ नहीं गुड़हर" आदि बातों को लेकर निर्मम आलोचना की गई। सरस्वती में 'होली में खड़ीबोली' शीर्षक एक लम्बी व्यंग्यात्मक कविता भी प्रकाशित हुई।[6] ऐसे लेखों और व्यंग्यात्मक आलोचनाओं का परिणाम यह हुआ कि विषय-प्रधान खड़ीबोली-काव्य में भाव का प्राधान्य हुआ और 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती', 'प्रिय प्रवास', 'वीर पंचरत्न', 'मौर्य-विजय', 'प्रणवीर प्रताप', 'कृषक क्रन्दन', 'आर्त्त कृषक' आदि भावात्मक कोटि की रचनाएँ प्रकाशित हुईं। सन् १९१३ ई० की 'सरस्वती' में कवीन्द्र रवीन्द्र का परिचय प्रकाशित हुआ। इसी समय रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' को प्रतिष्ठा मिली थी। फल यह हुआ कि हिन्दी-जगत् में भी रवीन्द्र की गीतांजलि की धूम मच गई। उनसे कितने ही साहित्यिक प्रभावित हुए। सियारामशरण गुप्त और 'सनेही' ने तो उनके कई गीतों को खड़ीबोली में रूपान्तरित भी

---

१. सरस्वती, भाग ८, सन् १९०७, पृ० २८०
२. वही, भाग १२, सन् १९११, सं० १०, पृ० ४९५
३. द्र० 'कवि और कविता', सरस्वती, भाग ८, सन् १९०७
४. द्र० 'भद्दी कविता' वही, भाग ७, सन् १९०६
५. प्रिय प्रवास, पृ० ९, 'हरिऔध', १९२१ ई०
६. सरस्वती, भाग १४, सन् १९१३, सं० ३

किया। इससे प्रभावित होकर मैथिलीशरण गुप्त ने 'अनुरोध' (सन् १९१५), 'यात्री' (सन् १९१७), 'दूती' (सन् १९१८), 'खेल' (सन् १९१८) आदि, रायकृष्ण दास ने 'खुला द्वार' (सन् १९१६), 'सम्बन्ध' (सन् १९१६), 'शुभ काल' (सन् १९१७) और मुकुटधर पांडेय ने 'विश्व-बोध' (सन् १९१७), 'रूप का जादू' (सन् १९१८), 'मर्दित मान' (सन् १९१८), आदि कविताएँ लिखी। बदरीनाथ भट्ट एवं सियारामशरण गुप्त की सन् १९१७-२० तक की रचनाओं में भी रवीन्द्र की बहुत कुछ छाया विद्यमान रही।

लेखकों को 'इंगलिश के ग्रन्थ-समूह से अर्थ रत्न' ले लेने के लिए भी 'सरस्वती' संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही प्रोत्साहित किया। अतः कई कवि अंग्रेज़ी की मुक्तक कविताओं के अन्तःसौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्हें भाषा में रूपान्तरित करते रहे। अनुवादों की उस परम्परा का सूत्रपात वस्तुतः बंगाल में पहले ही हो चुका था। रंगलाल कवि का 'हार्मिट' १८६० ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त वंग कवि ने वॉट, कूपर और मिल्टन की कविताओं के क्रम से 'प्रभात संगीत', 'नदी ओ कालेर समता', तथा 'आदिम नरदम्पतीर प्रातरुपासना' नाम से अनुवाद किए। गिरीशचन्द्र वसु ने मिल्टन के महाकाव्य 'पैराडाइस लॉस्ट' का 'स्वर्गभ्रष्ट काव्य' (१८६९ ई०) नाम से सात सर्गों में पद्यबद्ध अनुवाद किया था, यद्यपि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं। लगभग इसी समय अक्षयचन्द्र चौधरी (सन् १८५०-१८९८ ई०) के 'उदासिनी' (१८७४ ई०) शीर्षक आख्यायिका काव्य ने बंगला साहित्य में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की। इस पर पार्नेल के 'दि हर्मिट' की स्पष्ट छाप थी।

हिन्दी साहित्य में श्रीधर पाठक ने 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री' नामक अनुवाद (सन् १८८५) किया। यह परंपरा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहन पाकर खूब पनपी। जैनेन्द्र किशोर, गौरीदत्त वाजपेयी, अनन्तराम पाण्डेय, कन्हैयालाल पोद्दार, सत्यशरण रतूड़ी आदि कवियों ने ग्रे, वर्ड्सवर्थ, पोप, जेम्स टेलर, बायरन, लॉगफ़ैलो, स्कॉट आदि की स्फुट रचनाओं का भाषान्तर किया। अधिकांश कविताओं में पर्याप्त भाव-स्वतन्त्रता मिलती है अतः उन्हें अक्षरशः अनुवाद नहीं कहा जा सकता। बायरन की 'फ़ेयर दी वैल' का हिन्दी अनुवाद 'आशीर्वाद' (जून १९०३ ई०) जेम्स टेलर की 'माई मदर' का 'मेरी मैया' (फरवरी १९०४ ई०) लॉगफ़ैलो की 'साम्स ऑफ़ लाइफ़' का 'जीवन गीत' (अगस्त १९०५ ई०), अर्नेस्ट जोन्स की 'द पोयट एण्ड लिबर्टी' का 'कवि और स्वतन्त्रता' (जुलाई १९०६ ई०), ग्रे की 'एलिजी' का 'ग्रामीण गीत' (मार्च १९०७ ई०) इनमें विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पोप, टेनीसन तथा लॉवेल की रचनाओं के कुछ छायानुवाद भी प्रकाशित हुए। इससे कवियों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ एवं भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता में प्रचुर परिवर्तन भी हुआ। कुछ कवियों ने पाश्चात्य वीरों पर भी हिन्दी में कविताएँ लिखीं।[१] कामताप्रसाद गुरु का 'यूलिसस' और मैथिलीशरण गुप्त का 'टाइटेनिक' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। अनूदित काव्य की भाषा अधिकांशतः परिनिष्ठित एवं प्रांजल है; दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

१. सरस्वती, भाग ५, सन् १९०४, सं० २

(१) बिलख-बिलखकर रोता था जब नींद न मुझको आती थी,
आरी निंदिया ! आरी निंदिया ! कहकर कौन सुलाती थी ?
और प्यार से पलने में रख मुझको कौन झुलाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !

—'मेरी मैया' (माई मदर)

(२) होगा नहीं कहीं भी ऐसा अति दुरात्मा वह प्राणी,
अपनी प्यारी मातृभूमि है जिससे नहीं गई जानी।
मेरी जननी यही भूमि है इस विचार से जिसका मन,
नहीं उमंगित हुआ वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन।

—'स्वदेश प्रीति' (लव ऑफ़ कन्ट्री)

इस प्रकार सन् १९१४-१५ तक खड़ीबोली की भाषागत असमर्थता और कर्ण-कटुता दूर हो चुकी थी। उसमें संस्कृत की शुद्धि और ओज, उर्दू की सजीवता एवं प्रवाह, बंगला की कोमलता एवं सामसिकता तथा अँग्रेज़ी की व्यंजकता और सरलता सन्निविष्ट हुई। गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रूपनारायण पाण्डेय तथा रायकृष्णदास आदि की स्फुट रचनाओं ने काव्यभाषा की व्यंजकता में अभूतपूर्व संवृद्धि कर दी थी। साथ ही सियारामशरण गुप्त एवं ठाकुर गोपालशरण सिंह की रचनाओं द्वारा उसमें स्निग्धता और मार्दव भी आया।

सन् १९१७-१८ तक द्विवेदीयुगीन कविता विषय-प्रधानता की सीमा पार कर चुकी थी। उसमें जीवन के वाह्य पक्ष का सांगोपांग अंकन और आलेखन हो चुका था। जीवन के दृश्यमान स्थूल विषयों पर शत-शत अभिव्यक्ति करके कवि का भावात्मक हृदय थक गया था। 'लोक हिताय' एवं 'जन हिताय' कविता से उसका कवि-हृदय सन्तुष्ट नहीं होता था। कवि की आत्मानुभूति की पुकार इतनी उत्कट हो उठी कि उसे अपने अन्तस् में भी झाँकना पड़ा। अस्तु, अब कविता आत्मानुभूति की ओर प्रवृत्त हुई। तभी साहित्य के क्षितिज पर ऐसे नवतारकों का आविर्भाव हुआ जो मर्मलोक का आलोक लेकर आये। प्रसाद की 'झरना' की कविताओं, पंत कृत 'पल्लव' के 'छाया', 'स्वप्न', 'अनुरोध', और निराला की 'जुही की कली', 'अधिवास' आदि में अनुभूति की विदग्धता, कल्पना का स्पर्श, वेदना की छाया और लाक्षणिक भंगिमा का सन्निवेश मिलता है। और सरस्वती-सम्पादक ने सन् १९२० में प्रकाशित 'हिन्दी कविता का भविष्य' शीर्षक लेख में उस कविता का आह्वान किया जो कालान्तर में 'छायावाद' के नाम से अभिहित हुई। 'सरस्वती' के मंच से आपने कहा कि, "वाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत् की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्य में कवि का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य मनुष्य हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है। भविष्य-कवि का लक्ष्य इधर ही होगा।"[1]

---

१. द्र०, 'हिन्दी कविता का भविष्य'—सम्पादकीय, 'सरस्वती', सन् १९२०, भाग २१, सं० ३ खंड, २

अभिव्यंजना-कला की दृष्टि से द्विवेदी-युग के कवियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शर्मा 'शंकर', रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पाण्डेय आदि वे कवि हैं जिनका काव्य विषय की मौलिकता के अतिरिक्त अभिव्यंजन-कौशल की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अतः इनकी समीक्षात्मक विवेचना हम 'द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली में अभिव्यंजना' शीर्षक अध्याय में करेंगे। दूसरे वर्ग के कवियों में, माधव शुक्ल, भगवानदीन, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बदरीनाथ भट्ट, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, गिरिधर शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, जगदम्बाप्रसाद हितैषी, रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, रायकृष्णदास आदि वे कलाकार हैं जिन्होंने कविता के कलापक्ष की अपेक्षा विषय और भाव को प्राधान्य देकर प्रभूत काव्य-रचना की। अतः इनकी रचनाओं में विषय और कलेवर की दृष्टि से वैविध्य एवं समृद्धि होते हुए भी अभिव्यंजना-सौष्ठव की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं मिलती। रचनाओं से कतिपय पद उदाहरण स्वरूप नीचे दिए जाते हैं :—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रो दी उज्ज्वल प्रभा पताका अन्धकार हिय कूल।
इसके जीवन-तरु का केवल आत्म त्याग है सूल,
जिसमें बल मनहरण सुरभिमय, खिलता है यश-फूल॥
जीवन मरण डोरियों पर, हाँ, आप रहा है झूल,
हँस-हँस खाय हवा में झोंके—अपना आपा भूल।
पर हित साधन में मर मिटना—हरना नाश कबूल,
सुख पाता है सोच हृदय में—'जीवन हुआ वसूल'॥[1]

'आत्म त्याग'—बदरीनाथ भट्ट

सागर में तिनका है बहता,
उछल रहा है लहरों के बल 'मैं हूँ! मैं हूँ!' कहता।
इस तरंग में मारे फिरते बड़, पीपल अभिमानी,
उनकी कथा जान कर भी यह बना हुआ अज्ञानी।
अपने को है बड़ा समझता—यह उसकी नादानी,
धीरे-धीरे गला रहा है इसको खारा पानी॥[2]

'मनुष्य और संसार'—बदरीनाथ भट्ट

भूमि के संपूर्ण देशों में कभी जो एक था,
हा! वो भारत घर गुलामों का कहा जाने लगा।
थी जगद्विख्यात जिस्की वीरता, कारीगरी,
धर्म तत्परता, सुजनता, एकता सौदागरी॥

१. सरस्वती, भाग १५, सन् १९१४, सं० ५, खंड २
२. सरस्वती, भाग १७, सन् १९१६, सं० ४, खंड २

और विद्या का भरा आगार था जिस देश में,
हा ! वही सहता अनादर दासता के भेख में ॥[1]

'दासता'—माधव शुक्ल

खुशी से छीन लो घर बार जीवन प्रान धन मेरा।
ये आँखें छोड़कर सारा जला दो तन बदन मेरा॥
हमारा बाग मिट्टी में मिला दो धूर कर डालो।
मेरे प्यारे खिलौनों को भी चकनाचूर कर डालो॥
हमें पर्वा नहीं, इसका न लेंगे बदला हम अपना।
अगर कुछ लेंगे बदले में, तो लेंगे होमरूल अपना॥[2]

'स्वराज्य या होमरूल'—माधव शुक्ल

आनन्द मृत्यु का भी कारण कहते हैं होता कभी-कभी,
क्या छू जाने ही से मुझसे वह मोदमन्त निर्जीव हुआ ?
या जड़ शरीर को छोड़ प्रेममय होकर अन्तर्धान हुआ ?
मिल गया स्नेह के सागर में उसके जल का कण हो करके ॥[3]

'गुलाब की पाँखुरी'—मन्नन द्विवेदी गजपुरी

कुन्द समान श्वेत सारी को,
पहन प्रेमियों की प्यारी।
चली मुदित माना मनोज ने,
करी विजै की तैयारी।
उच्च अट्टा पर प्राणनाथ के,
साथ मचाते हँस-खेली।
अठिलाती मदमाती गाती,
अँगराती है अलबेली॥[4]

'अर्धरात्रि'—मन्नन द्विवेदी गजपुरी

ढूँढू तुमको कहाँ बताते क्यों नहीं,
पाऊँ कैसे तुम्हें सिखाते क्यों नहीं।
क्षणिक छटा को दिखा, फिरे छिपते कहाँ।
क्यों प्रकटित नहीं होते, हो रहते कहाँ।
कभी लता सौन्दर्य बीच में ही मिलो,
कभी कुसुम की नई कली में ही खिलो।

---

१. हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर, सन् १६०७, जिल्द २६, सं० १०
२. मर्यादा, भाग १४, जुलाई-अगस्त, सन् १६०७, सं०१
३. सरस्वती, भाग १६, सन् १६१५, सं० ३, खण्ड २
४. मर्यादा, मई-अक्टूबर, सन् १६११; भाग ४, सं० ४

पक्षीगण के मधुर मनोहर गान में,
पाते तुमको कभी-कभी उद्यान में ॥[१]

'वह छवि'—रामचन्द्र शुक्ल

वीर शिवाजी एक समय उद्दण्ड दण्ड को लेकर साथ,
जाकर डटे हठ करने के लिए गोलकुण्डा का माथ।
सुनकर प्रबल सैन्य से आगम इनका हुआ नवाब अचेत।
जैसे-तैसे किया सामना, रहा अन्त में लड़कर खेत,
थी नवाब नन्दिनी सुधा से सींची सुन्दरता की बेल।
सारे भ्रमर मुग्ध थे उस पर, पर न हुआ था उससे मेल ॥[२]

'शिवाजी का मनःसंयम'—पं० केशवप्रसाद मिश्र

नलिनी मधुर गंध से भीना पवन तुम्हें थपकी देकर,
पैर बढ़ाने को उत्तेजित बार बार करता प्रियवर।
कोकिल उधर बोल कर मानो तुमसे करता है परिहास,
पहुँच द्वार तक अब क्यों भीतर किया न जाता पद-विन्यास ॥[३]

'खुला द्वार'—रायकृष्णदास

एक बार वन की वीथी में, आयुर्वेद शास्त्र के धाम,
मिले उसे स्ववैद्य किया तब इसने सादर उन्हें प्रणाम।
इसे देखकर वे बोले यों, "सुन्दरि ! यह सौन्दर्य्य कहाँ !
त्रिगुण, दुर्लभ ! और वृद्धतर, जराजीर्ण वे च्यवन कहाँ ?"[४]

'सुकन्या'—गिरिधर शर्मा

मानस के हो कमल, सुगन्ध न क्यों देते हो ?
खिलकर, खुलकर, क्यों न विमुग्ध बना लेते हो ?
तुम्हें पूर्ण विश्वास अभी तक क्या न हुआ है ?
या कोई अपराध देखकर मान हुआ है ?
यों बन कर गंभीर हटो, हटते हँसमुख से।
हँस दो मेरी कसम, न हो वंचित इस सुख से।[५]

'उपालंभ'—रूपनारायण पाण्डेय

उदासी घोर निशा में छा रही थी, पवन भी काँपती थर्रा रही थी।
विकल थी जाह्नवी की वारि धारा, पटक कर सिर गिराती थी कगारा ॥

---

१. सरस्वती, भाग १८, सन् १९१७, खंड १, सं० २
२. इन्दु, सन् १९१४, कला ५, खंड २, किरण ३
३. इन्दु, फरवरी, सन् १९१४, कला ५, किरण २
४. सुकन्या, श्री गिरिधर शर्मा
५. इन्दु, नवम्बर, सन् १९१३, कला ४, खंड २, किरण ५

घटा घनघोर नभ पर घिर रही थी, बिलखती चंचला भी फिर रही थी।
न थे वे बूँद आँसू गिर रहे थे, कलेजे बादलों के चिर रहे थे॥
कहीं धकधक चितायें जल रही थीं, धुआँ मुँह से उगल बेकल रही थीं।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था, निठुरता काल की दिखला रहा था॥
खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी, फटी दो टूक छाती हो रही थी।
कलेजा हाय ! मुँह को आ रहा था, भरा था दर्द वह, तड़पा रहा था।[1]

'शैव्या का विलाप'—सनेही

पेड़ जाते उजड़, झुलस जातीं झाड़ियाँ भी, बेलें बेल जातीं, घास त्रास कौन हरता,
पक्षी परहीन होते, मृगगण दीन होते, मीन होते विकल कलोल कौन करता।
झड़ती झपाटे से न वारिधार झरनों से, सुर सरितादि में सलिल कौन भरता,
तपनि की ताप से तपा-सा तप जाता यदि, धरा धराधिप हित सिर पै न धरता।
ग्रीष्म स्वर्णकार बना, भट्टी-सा नगरवर, घरिया सघर वस्त्र भूषण अंगारा से,
मारुत की धौंकनी प्रचण्ड तन फूँके देती, उठते बगूले हैं विचित्र धूम धारा से।[2]

'ग्रीष्म'—सनेही

जैसा कि पहले भी कह आये हैं द्विवेदी युग का अन्तिम चरण संक्रमण की अवस्था का द्योतन करता है। अब तक ऋजु और सरल-स्पष्ट अभिव्यक्ति खड़ीबोली-कविता की प्रकृति थी, आदर्श और सन्देश उसका हार्द था, पवित्र एवं उदात्त भाव उसका आत्मन् था, मर्यादा और नियम-पालन उसका धर्मानुशासन था। वस्तु-जीवन का समग्र प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त अब कवि-प्रतिभा जीवन-जगत् के अज्ञात एवं रहस्यमय प्रदेशों में पदक्षेप करने के लिए प्रस्तुत हुई और इसके सजग प्रहरी हुए—जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला। डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में "कविता का धर्म आत्म-रंजन-आत्मदर्शन हो उठा। अतः वह लौकिक घटना और लोक-दृश्यों का प्रत्यक्ष आकलन-आलेखन छोड़कर आत्मानुभूति की ओर मुड़ गई। बहिरंग से अन्तरंग की ओर उसकी दिशा हो गई। कवि ने अंतरंग को चित्रित करना आरम्भ किया किन्तु बहिरंग की तूली से, और कवि ने बहिरंग को देखा परन्तु अपनी आभ्यन्तर आँखों से। आत्मानुभूति के क्षेत्र में उसकी सूक्ष्म दृष्टि को उतना ही विराट् और गहन जगत् मिल गया, जितना जटिल और विशाल विश्व स्थूल दृष्टि को बाहर मिला था। कवि के अन्तश्चक्षु खुले थे, वह अन्तर्मुख था। आत्मानुभूति का माधुर्य इतना उत्कट और इतना अनिर्वचनीय था कि उसमें कवि के सारे साधन रंग-रूप-रेखा जुट गए।"[3]

आत्मानुभूतिमयी कविताओं के द्वारा मुकुटधर पाण्डेय ने, रहस्यपरक भावों से बदरीनाथ भट्ट ने तथा गीतिकाव्य द्वारा मैथिलीशरण गुप्त ने जिस युग का सूत्रपात किया था उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा पंत, प्रसाद और निराला की त्रिमूर्ति ने की। ये तीनों छायावाद के प्रमुख कवि माने जाते हैं जिसकी विविध दिशाएँ और विविध प्रवृत्तियाँ हैं।

---

१. सरस्वती, भाग २१, सन् १९२०, सं० १, पृ० २९
२. वही, भाग १६, सन् १९१८, सं० १ खंड १, पृ० ३०
३. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३५९-३६०—डॉ० सुधीन्द्र

तीसरा अध्याय

अभिव्यंजना

मनुष्य केवल विचारशील ही नहीं, सामाजिक प्राणी भी है इसलिये इसकी भावानुभूतियाँ अभिव्यक्ति पाने के लिये अत्यन्त आतुर रहती हैं; क्योंकि एक के मस्तिष्क तथा हृदय को तरंगायित तथा उद्वेलित करने वाले विचार और भाव जब तक समान रूप से दूसरे के हृदय की निधि नहीं बन जाते, अभिव्यंजना के लिये व्याकुल हृदय तुष्टि नहीं पाता। कदाचित्, आत्माभिव्यंजना की इसी अतृप्त अभिलाषा ने मात्र इंगित अथवा संकेत-व्यापारों को अपर्याप्त पाकर रंग, रेखा, तूलिका, छेनी, शब्द आदि अभिव्यक्ति के अनेकानेक माध्यमों को जन्म दिया, और यही चित्र, मूर्ति, संगीत, साहित्य आदि ललित कलाओं के आविर्भाव का कारण बनी।

सामान्यतः अभिव्यंजना व्यवहार-भेद से सब प्रकार की भाव-प्रकाशन विधाओं को अपनी सीमा में समेट लेती है। अतएव अभिव्यक्ति का लक्षण व्यापक अर्थ में प्रयोग-वैविध्य के आधार पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

अभिव्यक्ति वह विशिष्ट भाव-प्रकाशन-व्यापार है जो अंग-चेष्टा, प्रतीक या शब्द के माध्यम से किसी भाव, विचार या संवेदना को प्रकट तथा स्पष्ट करता है। उक्त परिभाषा के आधार पर स्थूल रूप में अभिव्यक्ति तीन प्रकार की कही जा सकती है :—

(क) संकेतात्मक अभिव्यक्ति

(ख) प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

(ग) शाब्दिक अभिव्यक्ति

संकेतात्मक अभिव्यक्ति—इंगित, अंगचेष्टा आदि द्वारा मनोविकारों को व्यक्त करने की प्रक्रिया है, जैसे हिलना, डोलना, काँपना, भृकुटि चढ़ाना आदि।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति—रंग, रेखा, पट, तूलिका आदि की सहायता से वास्तु, चित्र, मूर्ति आदि उपयोगी एवं ललित कलाओं द्वारा भावों का प्रतिरूप उपस्थित करने की विशिष्ट विधा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति कही जा सकती है।

शाब्दिक अभिव्यक्ति को वाणी अथवा भाषागत अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। इसमें विचारों, भावों, अनुभूतियों या संवेदनाओं को शब्द-रूप देना अपेक्षित होता है। ललित-

कलाओं में संगीत तथा साहित्य का वाङ्मयी अभिव्यक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल इस शाब्दिक अभिव्यक्ति का ही विवेचन करेंगे।

ऋग्वेद में वाग्देवी को 'ब्रह्म के समान व्यापक' माना गया है।[1] भर्तृहरि ने 'शब्द' को संसार को एक सूत्र में बाँधने वाली शक्ति कहा है। तदनुसार शब्द को ही नेत्र तथा समस्त वस्तुओं का ज्ञापक भी बताया है।[2] वस्तुतः यह ठीक भी है, क्योंकि वाणी या भाषा सामाजिक प्राणी की भावाभिव्यक्ति का अधिक समर्थ एवं विलक्षण साधन है। वाङ्मयी अभिव्यक्ति की बोधात्मिका तथा रागात्मिका दो वृत्तियाँ हैं। सामान्यतः वाणी का सहज सम्बन्ध बोधात्मिका वृत्ति से ही होता है। किन्तु काव्यमयी अभिव्यंजना उक्त बोधात्मिका वृत्ति के अतिरिक्त शब्द की रागात्मिका वृत्ति से भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है। अतएव साहित्य में अभिव्यंजना सामान्य अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटकर 'विशिष्ट शैली' का रूप धारण करती है। इन वृत्तियों के आधार पर वाङ्मयी-अभिव्यक्ति को दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१—सामान्य अभिव्यक्ति

२—कलात्मक अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना

सामान्य अभिव्यक्ति साधारणतः भावों के आदान-प्रदान या विचारों के विनिमयार्थ उपयोग में लायी जाती है। यहाँ कहने वाले का मुख्य लक्ष्य समुचित शब्द-प्रयोग द्वारा अपने आशय का बोध कराना होता है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र इत्यादि विषय इस अभिव्यक्ति से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार की अर्थपरक अभिव्यक्ति को 'तथ्यबोधक अभिव्यक्ति' भी कह सकते हैं।

कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यंजना का भाषा की रागात्मकता से सीधा सम्बन्ध है। इस विशिष्ट व्यापार द्वारा अर्थ और शब्द, अर्थात् भाव-वस्तु (matter) तथा कथन-भंगिमा (form) एकात्म होकर साहित्य-सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। साहित्य में कलाकार अथवा कवि का उद्देश्य स्वानुभूत भाव या विषय का बिम्ब उपस्थित करने में निहित होता है। अतएव सक्षम कलात्मक अभिव्यक्ति का प्राण शब्द और अर्थ का सुन्दर तादात्म्य है, चाहे उस अभिव्यंजना का आधार बाह्यार्थ निरूपक अनुभूति (Objective) हो अथवा आभ्यन्तरिक अनुभूति (Subjective) हो।

प्रस्तुत प्रसंग में हम इसी कलात्मक अभिव्यक्ति अर्थात् अभिव्यंजना की मीमांसा करेंगे क्योंकि काव्य में यही सर्वेसर्वा है।

अभिव्यंजना और काव्य—हम पहले भी प्रतिपादित कर आये हैं कि कविता में रचना-नैपुण्य का बहुत महत्व है, क्योंकि कवि अथवा कलाकार अपनी हृद्‌गत भावनाओं को उपज्ञात प्रतिभा शक्ति द्वारा जब तक रम्य रूप प्रदान नहीं करता, उसकी अनुभूति 'कविता' की संज्ञा नहीं पा सकती। यह अनुभूति चाहे संवेदना (Sensation) हो, सहजानुभूति (Intuition) हो, आवेग-संवेग (Emotion) हो, अथवा धारणा (Concept) हो, इसकी सार्थकता रूप-सृष्टि

१—यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्—ऋग्वेद।

२—शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिः विश्वस्यास्यनिबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥—वाक्य पदीय—१-११९.

में है। यह सर्वमान्य है कि वह अनुभूति जिसे हम काव्य का 'अर्थ' अथवा 'भाव' भी कह सकते हैं, समस्त सामाजिकों के मन में किसी न किसी रूप में उत्पन्न होती है, अतः वह सर्व-जन-सुलभ है। दूसरे शब्दों में, भावगत सामग्री मानव-हृदय में समान रूप से वर्तमान पायी जाती है, उदाहरणार्थ प्रेम, मोह, दया, ममता, घृणा आदि मनोविकारों पर किसका अधिकार नहीं है। सागर का गर्जन, मयूर-नर्त्तन, हिमाच्छादित गिरि-शृंग, सूर्योदय-सूर्यास्त के मनोरम दृश्य किसे नहीं मोह लेते। कवि-मानस और सामान्य हृदय में स्थित इन अनुभूतियों में विस्तार-भेद या मात्रा-वैषम्य भले ही हो, तात्विक अन्तर अथवा गुण-भेद कदापि नहीं होता। वास्तव में अभिव्यक्ति की क्षमता या कथन-वैशिष्ट्य ही दोनों में अन्तर उपस्थित करता है। किसी रमणीय एवं मनोरम प्राकृतिक दृश्य को देखकर, एक ओर जब हम केवल यह कहकर संतुष्ट हो जाते हैं कि 'कितना सुन्दर दृश्य है' तो दूसरी ओर कवि-हृदय उस भावना को शब्द-चित्र के माध्यम से साकार कर देता है। वह तभी संतुष्ट होता है जब स्वानुभूति में कल्पना का पुट देकर वह उसका प्रतिरूप (Image) उपस्थित कर दे। और उसके प्रतिरूप की सार्थकता भी तभी है जब उसका आत्म अनात्म में, स्वानुभूति परानुभूति में तथा विशेष निर्विशेष में परिणत हो जाय तथा उसकी भावानुभूति, पाठक अथवा श्रोता की अनुभूति बनने की क्षमता प्राप्त कर ले। कर्ता और भोक्ता—कवि और सहृदय पाठक—की अनुभूति का यही तादात्म्य साहित्यशास्त्र में 'साधारणीकरण' नाम से व्यवहृत है। अभिव्यंजना का यही व्यापार पाठक के हृदय में रसोन्मेष करने में सहायक होता है। अतएव अभिव्यंजना और काव्य के अनिवार्य सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अभिव्यंजना और काव्य के अविच्छेद्य सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने के उपरान्त कवि के व्यक्तित्व के महत्व का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्म का स्फुरण ही तो उसके व्यक्तित्व का परिचायक है। इस व्यक्तिगत अनुभूति को विशिष्ट शैली से अभिव्यक्त करने में ही काव्य सौन्दर्य के मूल-तत्व निहित हैं। 'रामकथा' सदृश एक ही विषय पर रचित वाल्मीकि-रामायण, तुलसी कृत 'रामचरित मानस', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' आदि इसके प्रमाण हैं। इन सब प्रबन्ध काव्यों की विषय-वस्तु एक है किन्तु रूप-सृष्टि की विविधता और विशिष्टता ही इनके एकान्त सौन्दर्य का प्राण है। अभिव्यक्ति का अन्तर इन काव्यों की पृथक्-पृथक् रसानुभूति (करुण, शान्त एवं शृंगार) का कारण है, और यही प्रकारान्तर से इन कवियों—वाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त—के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देता है। इसी कारण शैली का महत्व स्वीकार करने वाले अनेक पाश्चात्य काव्य-मर्मज्ञों ने 'स्टाइल इज़ द मैन' की सूक्ति को स्वीकृत किया है। प्राच्य काव्य-शास्त्रज्ञ भी कहते हैं, 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'मानस' जैसी विषय-प्रधान काव्य-रचना को 'स्वान्तः सुखाय' कहा है। कदाचित् इसी कारण पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड, युंग तथा ऐड्लर, कवि के 'स्व' को इतना महत्व देते हैं। सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे और सुप्रसिद्ध आलोचक ऐबर क्रॉम्बे आदि भी काव्य को कवि का 'सेल्फ़ ऐक्सप्रेशन' (आत्माभिव्यक्ति) मानते हैं। अतः यह अत्युक्ति नहीं कि अभिव्यंजना में ही कलाकार यथार्थतः जीवित रहता है भाव या कथा-वस्तु में नहीं। वास्तव में काव्य-जगत् का अस्तित्व अभिव्यंजना के कारण ही है।

काव्य में कवि-व्यक्तित्व तथा अभिव्यंजना के इस अनिवार्य-सम्बन्ध ने कई भ्रामक एवं विरोधी मतों को जन्म दिया। कुछ विद्वानों ने आकृति या प्रकाशन-कौशल में, कुछ ने वस्तु अथवा भाव में, तथा कुछ ने दोनों की समग्रता में काव्य-सौन्दर्य की अवस्थिति मानी। इन मतों को स्थूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

क—प्रथम वर्ग के विद्वान काव्य-सौन्दर्य को रूपनिष्ठ मानते हैं। वे कहते हैं कि अभिव्यंजना ही कला का प्राण है, वही उसका उद्देश्य है और वस्तुतः उसी में काव्य की चरम परिणति है। इसलिए श्रेष्ठतम काव्य-कृतियों का सौन्दर्य न हृद्गत भावनाओं के आश्रित है और न मात्र मानवीय भावनाओं को समझने की क्षमता पर निर्भर है; उसकी एकान्त स्थिति तो रूप-सृष्टि या अभिव्यंजना में है। उन्नीसवीं शती की पाश्चात्य विचारधारा से प्रसूत 'कला कला के लिये' (Art for Art's sake) तथा 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) का सिद्धान्त भी काव्य में रूप (Form) की महत्ता का आग्रहपूर्ण समर्थन करता है। यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्रियों में इटली के बेनेडेटो क्रोचे, फ्रांस के गाइ द मोपासाँ, अंग्रेज़ आलोचक क्लाववेल, फ़्लॉबर्ट, लम्बॉर्न, सर जॉन डेंटम, ए० सी० ब्रैडल तथा प्रसिद्ध दार्शनिक ई० एफ़० कैरिट, आर० जी० कॉलिंगवुड, एल० ए० रीड, ऍवर क्रॉम्बे आदि ने कवि की आत्मानुभूति को प्रधानता दी और काव्य में अभिव्यंजना की एकान्तता घोषित कर काव्यगत मूलतत्वों में भी क्रान्ति उपस्थित कर दी।

सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे ने सौन्दर्य-भावना को रूप अथवा आकार-प्रधान (Form) माना है।[1] वे इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "काव्य की सामान्य सामग्री सब आत्माओं में ओतप्रोत है किन्तु मात्र-अभिव्यंजना 'कवि' नाम सार्थक करती है.........(अतएव) जिस कवि अथवा चित्रकार में रूप-सृष्टि की क्षमता नहीं है वह कलाकार ही नहीं है।"[2]

इन रूपवादियों की दूसरी धारणा यह है कि काव्याभिव्यक्ति में कवि का आत्म ही मुखर रहता है इसलिए उसका अन्तर्दर्शन (Vision within) अपना विशिष्ट महत्व रखता है। कारण यह है कि कवि की अनुभूति उसकी अपनी होती है। उस विशिष्ट अनुभूति को उसी विधि एवं गंभीरता से दूसरा हृदय अनुभूत नहीं कर सकता। इसलिये उसके आत्म की यह विशिष्टता शैली-वैविध्य भी उत्पन्न कर देती है। मोपासाँ ने फ़्लॉबर्ट के शैली-वैशिष्ट्य की मीमांसा के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि "(कवि का) भाव को अभिव्यक्त करने का केवल एक ढंग हो सकता है जिसको मात्र एक शब्द, एक विशेषण तथा विशिष्ट क्रिया ही जागृत अथवा प्रदीप्त कर सकती है।"[3] इसलिए उन्होंने कविता का अनुवाद भी असंभव

1. "The Aesthetic fact is form and nothing but form"
Aesthetic.—P. 9-10, B. Croce.

2. "Poetical material permeats the soul of all : the expression alone, that is to say, the form makes the poet......the poet or painter who lacks form lacks everything, because he lacks himself."
Aesthetic.—P. 25 B. Croce.

3. "There exists but one way of expressing one feeling, one word to call it by, one adjective to qualify, one verb to animate it."
See—"Guy de Maupassant. On Flaubert's manner".
—Appreciations. P. 29. Walter Pater.

माना। सर जॉन डैंटम ने तो स्पष्ट ही कहा कि "कविता की आत्मा इतनी सूक्ष्म होती है कि एक भाषा से दूसरी भाषा में उड़ेलते ही वह (काव्य की आत्मा) वाष्प के समान उड़ जाती है।"[१]

इस सम्बन्ध में तीसरी धारणा यह है कि कवि की अनुभूति स्वतन्त्र, पूर्ण एवं निरपेक्ष होती है। उसकी सहजानुभूति (Intuition) या छोटे से छोटा प्रभाव (Impression) भी काव्य का प्रतिपाद्य विषय हो सकता है। अस्तु, "काव्य का मूल्यांकन करते समय हमें न तो जीवन से किसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता है और न जीवनगत विचारों अथवा भावों का ज्ञान ही अपेक्षित है।"[२] लम्बॉर्न के शब्दों में कविता की सार्थकता तो रूप-सृष्टि द्वारा 'भव्य वातावरण'[३] उपस्थित करने में है। क्योंकि कविता "हमारे मस्तिष्क में ऐसा आध्यात्मिक अर्थ उपस्थित करती है जो शब्दों द्वारा व्यंजित नहीं होता (क्योंकि) कवि जागरूक होकर उन अर्थों को शब्द में परिव्याप्त नहीं करता।"[४] इसलिये ब्रैडले ने कहा कि "यदि हम आग्रहपूर्वक यह मालूम करना चाहें कि कविता का क्या अर्थ है तो हमें यही उत्तर मिलेगा कि इसका अर्थ यह स्वयं है।"[५] वस्तु-तत्व को यहाँ तक नगण्य माना गया कि फ़्लॉबर्ट ने तो 'ऑन नथिंग' (कुछ नहीं) पर पुस्तक तक लिखने की कल्पना कर डाली। शिलर के विचारानुसार भी 'सौन्दर्यपूर्ण कलाकृति में वस्तु-तत्व होना ही नहीं चाहिए। रूप को ही सर्वोपरि मानना चाहिए क्योंकि 'रूप' से मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रभावित होता है जबकि 'वस्तु' अथवा भाव-तत्व मानव की केवल आंशिक वृत्तियों को सन्तुष्ट करता है।' अतएव 'कलाकार की महत्ता का रहस्य यही है कि वह रूप-सृष्टि द्वारा वस्तु-तत्व का बहिष्कार कर दे।'[६] तात्पर्य यह है कि 'क्या' और 'क्यों' के झमेले में न पड़ कर सिर्फ़ 'कैसे' के गुणों को परखने वाला पाठक या आलोचक सच्चा पाठक अथवा सच्चा आलोचक है। यही नहीं कवि और पाठक दोनों का अभिव्यंजना के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करना, वास्तव में, स्वयं कला की उपेक्षा करना कहा जायगा।

---

1. "Poetry is so subtile a spirit that, in pouring out of one language into another, it will all evaporate."

   —Aeneid, Preface.

2. "To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions."

   —Art. P. 25. Clive Bell

3. See—The Rudiments of Criticism.—Lamborn. Pp. 117.
4. "We may call it (Poetry) an atmosphere, a glamour—it stills in us a sense of some mysterious meaning not expressed by words themselves, nor even consciously intended by the poet."

   —The Rudiments of criticism

5. "This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem, we can only be answered, it means itself."

   —Oxford Lectures on Poetry, P. 5, A. C. Bradley.

6. Deu stoff durch die form wertilgh......

   —Briefe ub ed asth Erzieh in werke ed. Goedecke. Letter 22,—Schiller.

भारतीय साहित्यशास्त्र के कलाविदों में क्रोचे, फ़्लॉबर्ट, लैम्बॉर्न, ब्रैडले आदि पाश्चात्य साहित्यकारों के समान तो रूप के प्रति निष्ठा नहीं मिलती, हाँ, उक्ति के उत्कर्ष को मानने वालों में व्यापारवादी भट्टनायक, राजशेखर, अवन्ति सुन्दरी तथा पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। भट्टनायक ने 'हृदय दर्पण' में स्पष्ट कहा कि "शास्त्र शब्द की प्रधानता पर आश्रित होकर प्रवृत्त होता है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं और वर्णन का प्रकार या कथन-भंगिमा प्रधान लक्ष्य बन जाते हैं।"[1] राजशेखर ने भी "उक्ति विशेषः काव्यम्" द्वारा 'कर्पूर मंजरी' में उक्ति की विलक्षणता को ही मान्यता दी है। पंडितराज जगन्नाथ ने तो तर्कों द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि "विशिष्ट शब्द ही काव्य है।" उनका कहना है कि "शब्द और अर्थ दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत काव्य ज़ोर से पढ़ा जा रहा है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना पर अर्थ समझ में न आया, इत्यादि सार्वजनीन व्यवहार से विशिष्ट शब्द ही काव्य का बोधक है।"[2]

ख—दूसरा वर्ग उन वस्तुवादी विद्वानों का है जो काव्य-सौंदर्य का कारण उसके अर्थ, वस्तु अथवा भाव में निहित मानते हैं। उनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति का मूल उत्स कवि का भाव या विचार है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू के अनुसार 'प्लॉट' (वस्तु) ही सब कुछ है। दाँते का कथन है कि "इसमें सन्देह नहीं कि भाषागत रूप ऐसा शक्तिशाली साधन है कि उसके बिना समर्थ साहित्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता किन्तु अभिव्यंग्य (matter) को प्राथमिकता देनी ही होगी। अतः अकिंचन भाव अथवा नगण्य वस्तु-तत्व के लिए भव्य शैली की आकांक्षा करना व्यर्थ है।" गेटे, टॉल्सटाय, मैथ्यू ऑर्नल्ड, ऑर्नल्ड बैनेट इत्यादि ने पुष्ट तर्कों द्वारा अरस्तू तथा दाँते का समर्थन किया है।

उक्त विद्वानों ने श्रेष्ठतम कविता के प्राण विषयाश्रित माने और एक स्वर से कहा कि आत्मगत (subjective) होते ही कविता का पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए गेटे कविता में 'अभिप्राय' (motive) की अनिवार्यता के कायल हैं। टॉलसटाय के अनुसार कला मानव-जीवन का ऐसा अंग है जो प्रत्यक्षानुभूति को भावों में परिणत कर देता है।[3] कदाचित् इसीलिए वे कला को महान 'तत्व' मानते हैं। मैथ्यू ऑर्नल्ड ने भी कला का मूल्यांकन करते समय अभिव्यंजना को सशक्त भाव-वस्तु की सहायिका के रूप में स्वीकार किया है।[4] जिस

---

१. शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेयतोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यर्धीर्भवेत्।
—हृदय दर्पण, भट्टनायक

२. शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते,
काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः
प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।
—रसगंगाधर, पृ० ६-७, प्र० सन् १८७६

3. The Grass Roots of Art, P. 18.—H. Reade.

4. Preface to Poems—Mathew Arnold.

प्रकार यूनानी दार्शनिक अरस्तू के 'प्लॉट' की महत्ता का समर्थन गेटे ने 'मोटिव' की आवश्यकता के उल्लेख से किया उसी प्रकार ऑर्नल्ड बैनेट ने भी उपन्यास के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि "प्रत्येक उपन्यास की कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए जो दस शब्दों में कही जा सके।"[१]

भारतीय कवियों में रीतिकालीन कवि भिखारीदास ने 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसिउ होय' द्वारा भाषा का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है। आधुनिक आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य में 'वस्तु' अथवा तथ्य का एकान्त महत्व माना है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में वे इस विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "काव्य का प्रस्तुत वस्तु या तथ्य, विचार और अनुभव से सिद्ध लोक-स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए क्योंकि अभिव्यंजना उसी की होती है।.........अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका सम्बन्ध कुछ दूर का सही—हृदय की किसी भाव या वृत्ति से होगा।"[२]

ग—तृतीय वर्ग के विद्वानों का दृष्टिकोण समन्वयपरक होने के कारण संतुलित है। वे 'शब्द' और 'अर्थ' का पारस्परिक सम्बन्ध शरीर और आत्मा के समान मानते हैं तथा दोनों के समवाय को 'काव्य' संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार 'अर्थ' भाषा का प्राण और आत्मा है जिसके बिना सब 'शब्द अशक्त एवं प्राणहीन हैं'।[३]

उक्त विचारधारा के प्रमुख पोषकों में रोमन विद्वान सिसरो, जर्मन दार्शनिक हेगल, कांट, नीत्शे, इटली के फ्रांसेस्को द सैन्क्टिस तथा अंग्रेज आलोचक एवं कवियों में पोप, रस्किन, कोलरिज, कीट्स, शैले, ड्राइडन, वॉल्टर रैले और पेटर आदि उल्लेखनीय हैं। भारतीयों में भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट आदि अधिकांश संस्कृताचार्य भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

जर्मन सौन्दर्य-शास्त्रियों के अनुसार किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन उसके बाह्य (form) तथा आभ्यंतर (matter) के सम्पूर्ण सामंजस्य पर आश्रित है। अतएव उनका कहना है कि "सौन्दर्यानुभूति के मूल में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि साध्य तथा साधन का सुन्दर संयोग प्रस्तुत किया जाय।"[४] कांट कला और सौन्दर्य का प्रतिपादन करते समय इस प्रकार कहते हैं, "कला विचार (concept) से पृथक् केवल सौन्दर्य का नाम नहीं है। सौन्दर्य तो अनुगामी है जिसका विचार अथवा धारणा के साथ सम्बन्ध पूर्व कल्पित कर लिया जाता है।"[५] इसका मुख्य कारण यह है कि शब्द और अर्थ समाश्रित होते हैं। शब्द अपनी समस्त

---

1. The Making of Literature, P. 244—R. A. Scott and James.
२. चिन्तामणि, भाग II, पृ० ६८—पं० रामचन्द्र शुक्ल
3. 'Ben Jonson'—The Making of Literature, P. 128 —R. A. Scott and James.
4. Schleiermacher—Vorles ub Asth, P. 209-19. cf P. 527-28.
5. Kritik & Urtheilskraft (ed krichmann) P. 16. See—Aesthetic, P. 275—B. Croce.

वृत्तियों के संश्लिष्ट प्रभाव से आत्मा को आह्लादित कर देता है और अर्थ चित्रमयी भाषा की सहायता से प्रांजलता प्राप्त करता है। नीत्शे भी अभिव्यंजना का सौष्ठव कवि-अनुभूति की महत्ता के कारण मानते हैं।[१] कदाचित् इसी कारण हेगल इसे वस्तु-तत्व तक सीमित कहते हैं।[२] इटली के विद्वान फ्रांसेस द सैन्क्टिस के शब्द भी इस जर्मन विचारधारा का सबल समर्थन करते हैं। रूप एवं भाव को समान महत्व देते हुए वे कहते हैं कि रूप (form) कलाकार के मानस द्वारा अनुभूत वस्तु-तत्व से उत्पन्न होता है।[३] अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि जैसे रूपहीन सुन्दर विचारों का अस्तित्व असम्भव है उसी प्रकार विचारहीन सुन्दर रूप की कल्पना भी निस्सार है। तात्पर्य यह है कि भाव से रूप को पृथक् करना असंभव है; क्योंकि भाव का अस्तित्व रूप के आश्रित होता है।[४] प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता लॉन्जाइनस ने दोनों की अनिवार्य एकता पर बल देते हुए कहा कि सुन्दर शब्द-योजना कवि-मानस का विशिष्ट व्यापार है।[५] अतएव कोलरिज के शब्दों में कहना अत्युक्ति न होगी कि, "सुष्ठु अर्थ कवि-कृति का शरीर है, फ़ैंसी उसका वस्त्र है, गति जीवन है तथा कल्पना उसकी प्राण-शक्ति, जो सर्वत्र तथा सबमें व्याप्त है। (और) इन सबके समवेत प्रभाव से कला का जन्म होता है।"[६]

भारतीय साहित्यशास्त्र में यद्यपि दो कोटि के आचार्य हुए (१) देहवादी तथा (२) आत्मवादी (देहवादी साहित्याचार्य काव्य में अलंकार आदि अभिव्यंजना के बाह्य उपादानों को अधिक महत्व देते हैं तथा आत्मवादी ध्वनि, रस आदि के समक्ष बाह्य उपकरणों को गौण मानते हैं) किन्तु काव्य में शब्द-अर्थ की समान गुरुता को दोनों प्रकार के आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अग्निपुराण में पदावली और अभीष्ट अर्थ में अनिवार्य सम्बन्ध बताया गया है।[७] भामह कहते हैं, "सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य है।"[८] दण्डी के अनुसार, "इष्ट-अर्थ के द्वारा आत्म-प्रकाशन के लिये विशेष रूप से चुन लिया गया जो पद-समूह है वह काव्य का शरीर है।"[९] स्पष्ट है कि शब्द की उपयोगिता इष्ट अर्थ का कदापि तिरस्कार नहीं करती। रुद्रट ने भी शब्दों के अन्तर से भामह वाला काव्य-लक्षण ही प्रस्तुत किया।[१०] और आनन्दवर्धन ने भी प्रकारान्तर से इसे ही स्वीकार किया

1. Worke. Grossoktav. Ausgabe XII, P. 182.
2. Aesthetic Vorles. ub. Asth. 1, P. 13-16—P. 302—B. Croce.
3. Aesthetic. P. 366—B. Croce.
4. Appreciations, P. 30—Walter Pater.
5. De Sublimate. 30. 1.
6. "Good sense is the body of poetic genius, fancy its drapery, motion its life and imagination, the soul, that is every where and in each and forms all into one graceful and intelligent whole".
—On Wordsworth and Poetry—Loci Critici.

७. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली—व्यासः
८. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्यालंकार
९. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली—काव्यादर्श
१०. ननु शब्दार्थौ काव्यम्

है।[1] वामन ने काव्य में अलंकारों को बहुत महत्व दिया है किन्तु अर्थ की उपेक्षा उसने भी नहीं की।[2] इसी प्रकार मम्मट, भोज आदि भी दोष-रहित एवं गुण-सहित शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानते हैं।[3] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने भी काव्य में उक्ति का प्रभुत्व तो माना है परन्तु वाच्य अर्थात् वस्तु या भाव की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की है।[4]

उल्लिखित मतों की मीमांसा करने से पूर्व कतिपय आवश्यक पॉइन्ट्स को समझ लेना नितान्त आवश्यक है। काव्यगत रूप-तत्व का अर्थ क्या है? काव्यगत वस्तु-तत्व से क्या तात्पर्य है? तथा इन दोनों का क्या सम्बन्ध है?

काव्यगत रूप-तत्व—सामान्यतः 'रूप' का अर्थ होता है बाह्याकार अथवा शारीरिक बनावट जो पदार्थ की आकृति उपस्थित करता है चाहे उस आकार-निर्मित का माध्यम रंग, रेखापट, तूलिका, छेनी आदि कुछ भी हो। काव्यगत रूप से भाषा का वह आकार सामने आता है जिसको कवि अपनी कारयित्री प्रतिभा द्वारा उत्पन्न कर पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसे ही हम सामान्यतः 'शब्द' भी कह सकते हैं।

काव्यगत वस्तु-तत्व—'वस्तु' का सामान्य अर्थ पदार्थ है, जिसकी सत्ता हो। काव्यगत अर्थ में 'वस्तु' का अर्थ होगा वे संवेदनाएँ, भाव अथवा विचार जो कलाकार के मन में उदित होते हैं और जिन्हें वह शब्द के माध्यम से पाठक, श्रोता अथवा दर्शक तक प्रेषित करना चाहता है; अर्थात् शब्द का 'अर्थ' ही काव्य की वस्तु कहा जाता है।

शब्द और अर्थ का स्वरूप समझ लेने के बाद यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?

शब्द मीमांसक भर्तृहरि ने अपने व्याकरण ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में 'शब्द' का आधार 'अर्थ' माना है। शब्द के अपकर्ष से अर्थ-ज्ञान में अपकर्ष तथा शब्द के उत्कर्ष से अर्थ-ज्ञान में भी उत्कर्ष स्वीकार किया है। वाक्यपदीय की तात्पर्य टीका में नैयायिक वाचस्पति ने भी शब्द को अर्थ का आधारभूत माना। सूत्रकार जैमिनि, मीमांसक शब्बरस्वामी, वार्तिककार कात्यायन आदि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' द्वारा अपने शब्दों में इस मत की पुष्टि की है। पतंजलि ने भी 'अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्' (महाभाष्य २-१-१) उक्ति द्वारा शब्द में अर्थ-बोधकता को स्वाभाविक गुण कहा है। प्रारम्भ में नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध ईश्वरेच्छा माना। इस भ्रांति पर दृष्टिपात कर न्याय दर्शन में गौतम ने कहा कि शब्द और अर्थ में विशिष्ट व्यवस्था देखी जाती है अतः सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता।[5] यहाँ सम्बन्ध के स्वरूप की व्याख्या करना तो विषयान्तर होगा किन्तु यह

१. शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्—ध्वन्यालोक
२. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते।
३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
४. वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्—वक्रोक्तिजीवितम्।
५. शब्दार्थव्यवस्थानाद् प्रतिषेधः।
सामयिकत्वाच्छब्दार्थस प्रत्ययस्य॥ —न्याय सूत्र, २-१-५४-५५

निश्चित है कि चाहे वह सम्बन्ध भर्तृहरि के अनुसार प्रकाश्य-प्रकाशक हो, अथवा हेलाराज के अनुसार योग्यता तथा कार्य-कारण हो, पातंजल भाष्य के अनुसार पिता-पुत्र का हो अथवा नैयायिक गौतम, पाश्चात्य दार्शनिक हर्मन, पॉल, सईस, ऑग्डेन, रिचर्ड्स तथा बरटैंड रसेल के अनुसार सामयिक या सांकेतिक हो, नित्य सम्बन्ध की अनिवार्यता के सब कायल हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है।

अतएव यदि शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को मान लिया जाय, तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या वे चिर सम्पृक्त या अभिन्न हैं ? क्या उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ? प्रस्तुत प्रसंग में स्वमत प्रतिपादन से पूर्व भारतीय साहित्य के कतिपय मनीषियों के विचार उद्धृत करना विषयान्तर न होगा। कालिदास ने रघुवंश के आदि श्लोक में शब्द और अर्थ को शिव और पार्वती से उपमा दी है और 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कहकर वाणी (शब्द) और अर्थ को परस्पर सम्पृक्त—अभिन्न रूप से सम्बद्ध—बताया है।[1] वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कुन्तक ने 'द्वयारेपि प्रति तिलमिव तैलं'[2] द्वारा शब्द-अर्थ को तिल-तैलवत् माना है। लिंग पुराण में भी अर्थ को 'शंभु' और वाणी को 'शिवा' संज्ञा देकर कालिदास की मान्यता का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास भी इन साहित्यकारों एवं आचार्यों की तरह 'गिरा' और 'अर्थ' को 'जल' तथा 'वीचि' की उपमा देकर अभिन्नता में भिन्नता एवं भिन्नता में अभिन्नत्व दिखाते हैं।[3] वास्तव में इन मनीषियों की उक्तियाँ इस समस्या पर सम्यक् प्रकाश डालती हैं। क्योंकि जिस प्रकार 'वीचि' जल का अंग होकर भी विशिष्ट गुणों के कारण पृथक् नाम से सार्थक है उसी प्रकार शब्द और अर्थ एक दूसरे के पूरक होकर भी एक ही नाम से व्यवहृत नहीं किए जा सकते। फिर भी जैसे तिल में तेल सदा और सर्वत्र व्याप्त रहता है उसी प्रकार शब्द के मूल में अर्थ-तन्तु सदा निहित रहता है जिसे किसी प्रकार भी छिन्न नहीं किया जा सकता। वस्तुतः भाव-तत्व तथा रूप-तत्व सम्बन्धी समस्या का समाधान तो यहीं हो जाता है; क्योंकि यदि इस दृष्टि से हम रूपवादी तथा वस्तुवादी विद्वानों की धारणा को परखते हैं तो उनकी विचारधारा की अतिव्याप्तता तथा एकांगिता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। फिर भी निम्नलिखित तर्कों द्वारा उनका खंडन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :—

इसमें सन्देह नहीं कि काव्य अभिव्यंजना है, और यह कवि की आत्मानुभूति की अभिव्यंजना है। किन्तु प्रश्न यह है कि कवि की उस आत्मानुभूति का आधार क्या है ?—निश्चय ही जगत्। जगत् और जीवन से प्राप्त प्रत्येक उपकरण उसकी प्रेरणा का विषय हो सकता है। वस्तुतः प्रस्तुत बाह्य-विधान ही उसे सृजन की प्रेरणा देते हैं और यही उसकी कला को प्राणवंत भी बनाता है। आदिकवि वाल्मीकि की वाणी से प्रथम अनुष्टुप छन्द का प्रस्फुटन क्रौंच-युगल के वियोग को देखकर ही तो हुआ था।

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१-१॥—रघुवंश

२. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ७—कुन्तक

३. गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न—रामचरितमानस

यदि यह कहा जाय कि काव्य में वस्तु अथवा भाव नहीं होते तो कविता न किसी महत्वपूर्ण अनुभव का लेखा हो सकती है और न उसमें व्यंजना शक्ति की प्रखरता ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त 'भाव' के अभाव में कलाकार का मन्तव्य पाठक या श्रोता को ज्ञात ही कैसे हो सकता है; सुन्दर काव्य का मूल्यांकन किस प्रकार सम्भव होगा और काव्य में कवि द्वारा व्यक्त सुन्दर अथवा असुन्दर अभिरुचि की समीक्षा भी फिर किस आधार पर की जा सकती है? सबसे बड़ा प्रश्न फिर यह है कि काव्य अथवा कला का सार्वजनीन महत्व क्या है? क्योंकि कविता का भाव अपनी समस्त संवेदनाओं, गुणों और धर्मों सहित अपढ़ मूर्ख से लेकर उच्चतम आलोचक अथवा सहृदयजन की सम्पत्ति होता है; जबकि भाषागत सौन्दर्य सौष्ठव का उन्नयन केवल उस विद्वत्वर्ग तक सीमित रहता है जो भाषा के ज्ञाता ही नहीं अपितु अभिव्यंजना के मूल उपादानों से भी पर्याप्त परिचित होते हैं। उदाहरण के तौर पर गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस ही ले लीजिये। भारत के सुदूर ग्रामों से लेकर उच्चतम साहित्य-गोष्ठियों तक उसका पठन-पाठन होता है। अधिकांश जनता 'मानस' के भाव—रामकथा—को पढ़ और समझकर ही सन्तुष्ट हो जाती है किन्तु उसकी कलागत विशेषताओं से वह सर्वथा अनभिज्ञ रहती है। इन कलागत विशेषताओं का आनन्द केवल सहृदयजन अनुभव करते हैं। इसीलिए नाट्य-शास्त्र के प्रवर्त्तक भरत ने भी भाव-विहीन रस-निष्पत्ति असंभव बताई है।[1]

दूसरे, कवि-कर्म केवल आत्माभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं होता। जब तक कवि स्वानुभूति को परानुभूति, विशेष को निर्विशेष नहीं बना लेता उसका कार्य सम्पन्न नहीं होता। बिना भाव के साधारणीकरण किसका होगा और पाठक के हृदय में रस-निष्पत्ति किस बात से होगी। क्योंकि वास्तव में काव्य-वस्तु पाठक को स्पर्श करती है; यही नहीं, विलक्षण रूप से उसके मनःस्तल को आलोड़ित भी करती है। रस-दशा के पर्यवसान में केवल आनन्द की स्मृति शेष रह जाती है और साथ ही बच रहती है भावों की अनुभूति। अतः उक्ति द्वारा प्रेषित तत्व 'भाव' या विषय नहीं तो और क्या है? टॉल्सटाय कहते हैं 'आवेग' है, क्रोचे कहते हैं सहजानुभूति (intuition) है, फ्रेंच विद्वान एम० बी० मॉड के शब्दों में वह अपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति (incomplete mystic experience) है। तात्पर्य यह है कि शब्द-भेद से 'आधार' की बात सबने कही है। और फिर आभ्यन्तर को बाह्य, भाव को भाषा, क्षणिक को शाश्वत तथा 'स्व' को 'पर' की अनुभूति बनाये बिना कविता की सार्थकता भी तो सिद्ध नहीं होती।

किन्तु उपर्युक्त कथन का यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि काव्यगत रूप अथवा शब्द का कोई महत्व ही नहीं है। हम पहले ही कह आए हैं कि कवि का सम्बन्ध केवल 'क्या' तथा 'क्यों' से ही नहीं अपितु 'कैसे' से भी होता है। वस्तुतः भाव-प्रकाशन की शैली ही उसकी अनुभूति को यथावत् हम तक पहुँचाने में सहायक होती है। कदाचित् इसी कारण कुन्तक ने भी कहा है कि 'कवि में वाणी मात्र कथा के आश्रित जीवित नहीं रह सकती।'[2] यह सत्य है कि कला का जीवन से नित्य सम्बन्ध है, और यह भी सत्य है कि

१. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः —नाट्यशास्त्र
२. गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः —वक्रोक्तिजीवितम्

कवि का कौशल उस स्वानुभूति को यथावत् चित्रित करने की क्षमता में निहित है जिससे पाठक को विम्ब ग्रहण हो सके। इसलिए कवि की कारयित्री प्रतिभा केवल अभिव्यक्ति तक ही सन्तुष्ट नहीं रहती क्योंकि उसका लक्ष्य तो भावक को उसी आनन्द की प्राप्ति कराना होता है जिसकी प्रतीति वह स्वयं कर चुका है। उसके आत्माभिव्यंजन की सफलता एवं सार्थकता इसमें है कि उसमें अपूर्व प्रेषणीयता हो। इसके अतिरिक्त यदि केवल विषय अथवा भाव ही प्रमुख होगा तो काव्यानन्द को अलौकिक या ब्रह्मानन्द सहोदर कैसे कहा जा सकता है। काव्य द्वारा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्व स्वीकृत सिद्धांत है। साधारण भावाभिव्यक्ति को 'काव्य' की संज्ञा तब तक नहीं प्राप्त होगी जब तक उसमें उक्ति-वैचित्र्य द्वारा किसी लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की सृष्टि न हो। उदाहरणार्थ, हमने कहा—'देखो सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो रहा है और पक्षी अपने-अपने घोंसलों को लौट रहे हैं।' भाव प्रकाशन होने पर भी उक्त वाक्यों में सौन्दर्य का कितना अंश है? भामह के शब्दों में निश्चय ही यह 'वार्ता' मात्र है।[1]

भाव या विषय-वस्तु (प्लॉट) को महत्वपूर्ण मानने वाले अरस्तू तथा सुकरात आदि ने भी काव्य का लक्ष्य 'टु डिलाइट' (आनन्द देना) अवश्य माना है। इस आनन्द प्रदान करने की शक्ति में रूप या शैली स्वतः समाविष्ट हो जाती है। इसीलिए बाह्य रूप से असुन्दर अभिव्यक्ति में आभ्यन्तर सौन्दर्य की कल्पना किसी ने भी नहीं की है। सिसरो ने तो वक्ता के गुणों को स्पष्ट करते हुए कहा कि "यदि कोई वक्ता अपने विषय को भली भाँति समझता है, किन्तु वह अपनी वाणी को सुकर और शोभन रूप प्रदान नहीं कर सकता तो वह भाव को स्वयं समझते हुए भी स्पष्टता से दूसरों को समझा नहीं सकता।"[2] दूसरे शब्दों में सिसरो सुकरात की तरह वस्तु का महत्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु अभिव्यंजना को नगण्य नहीं समझते। कदाचित् इसी कारण दाँते ने कविता को 'इलैबोरेट ऐंण्ड पेनफ़ुल टॉयल'—'विशद एवं श्रम-साध्य'—कहा है और बॅन जॉनसन ने कविता की 'प्रतिविम्बात्मक शक्ति' (Speak that I may see thee) पर बल दिया है। और क्योंकि कविता की इस प्रति-बिम्बात्मक शक्ति का रहस्य उसके रूप के साथ भी सम्बन्ध रखता है अतः यह उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। आदिकवि वाल्मीकि के बारे में भट्टतौत ने कहा भी है:—

तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

अर्थात्—आदिकवि वाल्मीकि की कविता तब तक लोक में उदित नहीं हुई जब तक उन्होंने नित्य-प्राप्त-दर्शन को वर्णन का रूप नहीं दिया।

इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भाव या विचार किसी युग या

---

१. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं, वार्तामेनां प्रचक्षते॥ (२-८७)

2. If a speaker understands a subject ever so well but is ignorant how to form and polish his speech, he cannot express himself eloquently even about what he does understand.
—"On the Orator"—The Making of Literature—R.A. Scott and James.

व्यक्ति-विशेष का नहीं होता अपितु सार्वजनीन एवं सार्वकालिक होता है। नया युग और नये स्रष्टा उसे जिस कुशलता से नियोजित करते हैं साहित्य की मौलिकता उसी में मानी जाती है। अतएव, अर्थ-चमत्कारपूर्ण किन्तु भाषा-सौष्ठव-विहीन अथवा विलक्षण भाषा-विन्यास-युत और अर्थ-सौन्दर्य-विहीन काव्य की कल्पना सम्भव नहीं है। इसलिए भारतीय साहित्य-शास्त्र की 'रस निष्पत्ति' और पाश्चात्य आलोचकों की 'प्रेषणीयता' को मान्यता देते हुए शब्द-अर्थ दोनों के अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार करना होगा; साथ ही काव्य में शब्द-अर्थ दोनों को समान महत्व देना होगा। भर्तृहरि ने भी कहा है कि शब्द और अर्थ की अभिन्नता होने पर भी विषय-भेद से दोनों की प्रधानता देखी जाती है तथा शास्त्र में वक्ता की इच्छानुसार उनकी प्रधानता का निर्णय होता है।[१]

सारांशतः कलाकार प्रेषणीय भाव, विचार या अनुभूति का चयन करता है और उसका प्रतिरूप प्रस्तुत करने के लिए भाव या अनुभूति के अनुकूल कलात्मक उपादानों से सँजोकर संवेद्य रूप में उन्हें अभिव्यक्त करता है। इस कलात्मक रूप-सृष्टि के कारण ही उसकी कृति पाठक, प्रेक्षक अथवा श्रोता को वैसी ही आनन्दानुभूति प्रदान करने में समर्थ होती है। अतः गंभीर विवेचन से विज्ञ पाठक सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि वह अभिव्यंजना, जो किसी भाव, आवेग या विचार को प्रेषणीय बनाने के साथ-साथ सौन्दर्य प्रदान नहीं करती, काव्यमयी अभिव्यंजना नहीं कही जा सकती। इसलिए अभिव्यंजना का मेरुदण्ड प्रेषणीयता के साथ सौन्दर्य-विधान भी होगा।[२] काव्य में 'सत्य' और 'शिव' के साथ 'सौन्दर्य' की स्थापना का यही कारण है और इन तीनों का सामंजस्य ही शाश्वत काव्य की सृष्टि करता है। भट्टतौत ने ठीक ही कहा है कि दर्शन (भाव) और वर्णन (रूपात्मक शैली) दोनों ही समवेत होकर कवि नाम सार्थक करते हैं।[३]

अभिव्यंजना के मूल तत्व—पिछले प्रकरण में अभिव्यंजना के जिन उपादानों—रूप (form) तथा वस्तु (content) की विवेचना करके उनका आन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थिर किया गया, वे वस्तुतः, उसके आभ्यन्तर अंग हैं। अब हमें भावाभिव्यंजन के पोषक उन समान वाह्य-तत्वों का निरूपण करना है जिनकी सहायता से सत्साहित्य के कलापक्ष का निर्माण होता है।

प्रयोग-भेद पर आश्रित अभिव्यक्ति का स्थूल वर्गीकरण करते समय सामान्य प्रकाशन पद्धति एवं कवि-अभिव्यंजना-व्यापार का तात्विक अन्तर भी स्पष्ट किया जा चुका है। हम दिखा आये हैं कि सामान्य अभिव्यक्ति अभीष्ट अर्थ को श्रोता अथवा पाठक तक प्रेषित करने तक ही सीमित रहती है। साधारणतः मनुष्य स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करते समय भाषागत

---

१. वाक्य प्रदीप, २-१३१

2. Good poetry must satisfy the demands of form or manner and great poetry must in addition satisfy the demands of matter or truth and the combination of the two makes for poetical truth.

—Caird's Essays on Literature, P. 145.

३. दर्शनाद्वर्णनाच्चायरूढा लोकेकविश्रुतिः, पृ० ३७९—काव्यानुशासन

सौन्दर्य पर अधिक ध्यान नहीं देता क्योंकि उसका प्रयोजन केवल इतना होता है कि सुनने वाले को उसका अभिप्राय भली-भाँति अवगत हो जाय। परन्तु कवि कलात्मक अभिव्यंजना द्वारा भाव के साथ भाषा पर भी उतना ही ध्यान रखता है। कारण यह है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन स्वानुभूत को परानुभूत अर्थात् अपने अनुभव को दूसरे के हृदय की सम्पत्ति बनाना होता है। अतएव भाषा की प्रेषणीयता के साथ उक्ति में रमणीयता तथा प्रभावोत्पादकता लाने के प्रयत्न में भी वह उतना ही जागरूक रहता है। इस हेतु वह भाषा के प्रमुख तत्व—शब्द—का आलोड़न करता है, उसके गुण, धर्म, शक्ति तथा अन्य विशेषताओं को परखता है, वाणी में गेयता तथा चमत्कार लाने के लिए शब्दालंकारों, प्रतीकों, वृत्तियों आदि की योजना करता है और भाव-चित्र उपस्थित करने के लिए अप्रस्तुत का उपयोग करता है। परिणामतः वह उपयुक्त शब्द-चयन से प्रसाद-माधुर्य आदि गुण, विशिष्ट वाक्य-विन्यास तथा शब्द-शक्तियों से वक्रता, अलंकारों से मूर्तिमत्ता एवं सजीवता तथा रीतियों की सहायता से रसानुकूल मर्मस्पर्शिता का विधान करने में सफल होता है। दूसरे शब्दों में वह, 'बैस्ट वर्ड्स इन द बैस्ट ऑर्डर' (श्रेष्ठतम क्रम में श्रेष्ठतम शब्द-योजना) का आकांक्षी रहता है। कदाचित् उक्ति की यही विशिष्टता, भाषा की यही रमणीयता—पाठक के हृदय में रसोन्मेष करने में समर्थ होती है।

अभिव्यंजना की विविधता—हम नित्य देखते हैं कि एक देश और एक जाति के ही नहीं वरन् एक परिवार के व्यक्ति भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह पारस्परिक भिन्नता केवल बाह्य ही नहीं अपितु आभ्यन्तर भी होती है। अतएव आकार-प्रकार, रूप-रंग इत्यादि बाह्य विभिन्नताओं के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति की रुचि-अरुचि, अनुरक्ति-विरक्ति, प्रेम-घृणा आदि हृद्गत-वृत्तियों में भी सहज अन्तर लक्षित होता है। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' का यही तात्पर्य है कि बाह्य जगत् के सम्पर्क से उद्भूत मानस-पटल पर अंकित भावनाएँ या अनुभूतियाँ प्रत्येक हृदय में विभिन्न आकार ग्रहण करती हैं। उनकी तीव्रता, संकुलता तथा व्यापकता में भी भाषा का भेद रहता है। इस वैचित्र्य-नियम के अनुसार अभिव्यंजना-प्रणाली में वैविध्य भी स्वाभाविक है। तो भी सुविधा के लिए बाह्य उपादानों की इस विविधता को कतिपय स्थूल तत्वों के अन्तर्गत एकता के सूत्र में आबद्ध किया जा सकता है। शब्द-सम्बन्धी-अभिव्यंजना-तत्वों में शब्द, ध्वनि, वाक्य, रीति, वृत्ति, शब्दालंकार आदि उल्लेखनीय हैं तथा अर्थ-सम्बन्धी-उपकरणों में शब्द-शक्तियाँ, अर्थालंकार आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं।

इस प्रकार स्थूलतः अभिव्यंजना के मुख्य उपादान निम्नलिखित हैं जिनका क्रम से संक्षिप्त विवेचन हम आगे करेंगे :—

क—भाषा { शब्द-कोश, वाक्य-विन्यास }

ख—अलंकरण { १—शब्दालंकार, २—अर्थालंकार }

ग—शब्द-शक्ति

घ—गुण, रीति, वृत्ति आदि

शब्द-कोश—रचना का सबसे बड़ा आधार और साधन 'शब्द' है। किसी काव्य की सुन्दरता अथवा कुरूपता शब्द पर निर्भर है क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ चिर-सम्पृक्त या अभिन्न कहे गये हैं। मम्मट ने कहा है, 'साक्षात् संकेतितयोधर्मभिधत्ते स वाचकः' अर्थात्, जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक होता है वह वाचक शब्द है। यह संकेत-ग्रहण, व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार आदि अनेक कारणों से बताया गया है। अतः यदि शब्द कवि के भावों को व्यक्त नहीं करते तो उनका अर्थ-संकेत दूषित है और अर्थ-संकेत के उपयुक्त शब्द न हों तो शब्द दूषित है। लेखक के व्यवहार्य शब्द-कोश से हमारा अभिप्राय उन शब्दों से है जिनका उपयोग कलाकार अनुभूति के अनुरूप अर्थात् अभिप्रेत अर्थ के व्यंजनार्थ स्वच्छन्दता से कर सके; और यह तभी सम्भव है जब कवि की शब्द-राशि अपरिमित हो। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इस विषय में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भंडार बहुत प्रचुर हो, और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भाण्डार में कौन-कौन से रत्न कहाँ रखे हैं जिसमें प्रयोजन पड़ते ही उन रत्नों को निकाल सकूँ।"[१] पाश्चात्य विद्वान् भी समृद्ध शब्द-राशि की अनिवार्यता के कायल हैं। आलोचक वॉल्टर रैले 'स्टाइल' शीर्षक लेख में प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "शब्द दो मानस-जगत् के मध्य क्रियाशील प्रतीक हैं। अतएव प्रयोक्ता शब्द-चयन करते समय भोक्ता के मानस पर पड़ने वाले शब्द के प्रभावोत्पादक गुण की उपेक्षा नहीं कर सकता।"[२] देखा जाय तो शब्द की इस महत्ता का एक कारण है। शब्द अनन्त हैं। वे तदर्थक भी होते हैं और पर्याय भी; अर्थात् अनेक शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं अथवा एक शब्द अनेक अर्थों की भी प्रतीति करा सकता है। रुद्रट कहते हैं कि "काव्य में अनेक प्रकार के अर्थवान् शब्द होते हैं।"[३] परन्तु यह ज़रूर है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ से वाच्यवाचक सम्बन्ध रहता है। इसका कारण यह है कि एक शब्द के अनेक अर्थ अथवा अनेक शब्दों का एक अर्थ रहते हुए भी, जो शब्द (प्रसंगवश) विवक्षित अर्थ का ठीक बोध कराये कवि के लिए वही शब्द सार्थक है और अर्थ वही है जो स्वयं सुन्दर हो और सहृदय का हृदयाह्लादक हो।[४]

अतएव कवि के लिये अनिवार्य है कि वह शब्द के अन्तर में निहित विभिन्न तथा सूक्ष्मतम अर्थों का अध्ययन करे, उनके प्रवृत्ति-निमित्त-भेद को समझे तथा अभिलषित अर्थ-प्रतीति कराने वाले शब्द का ही उपयोग करे। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण के गिरिधर, गोपीनाथ,

१. साहित्यालोचन, पृ० ३०५—डॉ० श्यामसुन्दरदास

२. A word is the operative symbol of relation between two minds and is chosen by the one not without regard to the quality of the effect actually produced upon the other.

—Style, P. 66—Walter Raleigh (1916 ed.)

३. शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः—रुद्रट

४. शब्दे विवक्षितार्थैकवाचकेऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः ॥ —वक्रोक्तिजीवितम्

राधावल्लभ, मुरलीधर, मुरारि, घनश्याम, गोविन्द इत्यादि अनेक नाम प्राप्त हैं। किन्तु कवि के लिये प्रत्येक पर्याय में वैभिन्न्य है क्योंकि इन सब शब्दों में गुण-भेद है। 'गिरिधर' पर्वत को अंगुली पर धारण करने वाला शक्तिशाली यशोदा-पुत्र है। 'गोपीनाथ' वृन्दावन में गोपिकाओं के साथ रास रचाने वाला है। 'राधावल्लभ' से राधा के प्रियतम का भाव मुखरित हो उठता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ लेखक के शब्द-सामर्थ्य के विवेकपूर्ण अध्ययन पर निर्भर 'सम्यक् शब्द' के प्रयोग की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। महाभाष्यकार ने भी कहा है कि 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति'—अर्थात्, एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक दोनों में अभिमत फल का दाता होता है। वस्तुतः यही शब्द-ज्ञान कलाकार को सामान्य मनुष्य की कोटि से निकाल कर विशिष्ट कोटि में स्थान देता है। पाश्चात्य आलोचक वॉल्टर रेले के शब्दों में "जहाँ मंद बुद्धि तद्रूपता के सिवाय और कुछ नहीं देखती वहाँ प्रशिक्षित निपुणता (शब्दों में) ऐसी सैकड़ों विभिन्नताएँ चीन्ह लेती है जो सूक्ष्म अभिव्यंजना के प्राण हैं।"[1]

खड़ीबोली हिन्दी के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि संचित शब्द-राशि का केवल तत्सम अथवा तद्भव-बहुला होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। साथ ही, केवल समस्त पदावली या केवल असमस्त शब्द भी खड़ीबोली की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ते। शब्द चाहे तत्सम हो अथवा तद्भव, समासयुक्त हो अथवा समासहीन, उसका प्रसंगानुकूल और बोधगम्य होना ही सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि उक्ति में प्रसादता न तद्भव शब्दों के संयोग से आती है और न तत्सम शब्दों के प्राचुर्य से भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। तत्सम और तद्भव-बहुला भाषा के निम्नलिखित दो उदाहरण इसके प्रमाण हैं :—

(क) प्रसादिनी पुष्प सुगंध-वर्द्धिनी।
विकाशिनी वेलि लता विनोदिनी॥
अलौकिका थी मलयानिली क्रिया।
विमोहिनी पादप पंक्ति-मोदिनी॥

—हरिऔध

(ख) चाँदी की चाँदनी, धूप में
जात रूप लहराया,
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया॥

—मैथिलीशरण गुप्त

वस्तुतः लेखक की अभिव्यक्ति की सफलता, अभीष्ट अर्थ की व्यंजकता, उक्ति की

1. Where a dull eye sees nothing but sameness, the trained faculty of observation will discern a hundred differences worthy of scrupulous expression.

—Style, P. 46—Walter Raleigh (1916 ed.)

प्राणवत्ता, समर्थ, उचित एवं सुष्ठु शब्द-प्रयोग पर आश्रित है। शब्द चाहे तत्सम हों अथवा तद्भव, सशक्त हों अथवा अशक्त, निश्चित हों या अनिश्चित, प्रतीकात्मक हों या बिम्बात्मक, सबका भाषा में समान महत्व है। सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में, "प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतंत्र अंगभंगी और स्वाभाविक साँसे हैं।" पाश्चात्य आलोचक हरबर्ट रीड भी कहते हैं कि "अच्छा लेखक शब्दों का प्रयोग, शब्द की निरुक्ति, परम्परा तथा पांडित्यपूर्ण उपयोग में नहीं देखता। वह तो अर्थ के सीमित बन्धों में विशिष्ट शब्द-वर्ण में निहित प्रेषण-शक्ति को परखता है।"[1]

सुन्दर शब्द-मैत्री शब्द के सुष्ठु वर्ण-विन्यास तथा उसकी बिम्बात्मक-शक्ति के आश्रित होती है। वर्ण-विन्यास से हमारा तात्पर्य श्रुति-सुखद शब्दों से है क्योंकि सुवर्ण विन्यासवती भाषा नाद-सौन्दर्य विधायिनी होती है। नाद-सौन्दर्य के साधन हैं, छन्द, तुक, लय, गति इत्यादि। इनसे कविता में गेयता तथा संगीतात्मकता का समावेश होता है और शाश्वत कविता के प्राण पुलकित हो उठते हैं; उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद में वर्ण-योजना के आधार पर निर्मित ध्वनि-चित्र द्रष्टव्य हैं :—

झूम झूम मृदु गरज घनघोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर गिरि सर में,
भर मरु तरु मर्मर सागर में॥

—निराला

अभिव्यंजना की सौन्दर्य-वृद्धि में शब्द का दूसरा विधायक गुण उसकी चित्रमयता है। नादात्मक एवं बिम्बात्मक सौन्दर्य के समवाय से उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि होती है। साहित्य ज्ञाताओं ने शब्द की बिम्बात्मक शक्ति के अनिवार्य धर्म योग्यता, उपयुक्तता एवं प्रेषणीयता निश्चित किये हैं। सुन्दर श्रुति-सुखद वर्ण-योजना के साथ प्रसंगानुकूल शब्द-चयन द्वारा उपस्थित चित्र देखिए—

मृदु मंद मंद मंथर मंथर,
लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर।
तिर रही खोल पालों के पर,
लो पालें चढ़ीं, उठा लंगर॥

—पंत

उपरिलिखित उद्धरण में चित्र-भाषा के सब गुण वर्तमान हैं। सुमित्रानन्दन पंत जी के शब्दों में "इसके शब्द सस्वर हैं, सेब की तरह इनकी मधुर लालिमा भीतर न समा सकने

1. A good writer does not select his word by virtue of any pedantic leaning to this or that theory of their origin and proper use, but, within the limits of accepted meaning, is solely governed by the due measure of expressiveness implied in the syllables of a particular word.

—English Prose Style, P. 5—H. Reade.

के कारण झलक रही है।" इस प्रकार की शब्द-योजना कितनी श्रम-साध्य है यह वॉल्टर रैले के शब्दों में स्पष्ट है, "जिन्होंने जागरूक एवं सतर्क होकर लिखने की कला का अभ्यास किया है उन्हें ज्ञात है कि स्वर-ताल-हीन अथवा अनफ़िट पदावली से बचना कितना कष्ट-साध्य है। नाना अभिव्यंजनाओं में (कलाकार द्वारा) अर्थ या आशय की श्रमपूर्वक जाँच की जाती है; शब्द के स्वरूप तथा विकारों का अध्ययन किया जाता है और तब कहीं (भावों को) शब्द-रूप प्राप्त होता है।"[१]

वाक्य-विन्यास—शब्दों से वाक्य बनता है अतः शब्दों के समान ही काव्य में वाक्य की भी महत्ता है, क्योंकि किसी भी पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति वाक्य द्वारा ही सम्भव है। साधारणतः जब हम वाक्य के स्थान पर किसी शब्द का प्रयोग करते हैं जैसे, कौन ? तुम ! लाओ, इत्यादि, वहाँ प्रसिद्धि के आधार पर क्रिया या कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में तथा स्फोटवादियों ने भी कहा है कि "व्यवहार की सरलता के लिए यद्यपि शब्द, प्रकृति, प्रत्यय आदि कल्पित कर लिए गये हैं तथापि वाक्य में अर्थ बोधकता होने के कारण भाषा का चरमावयव वाक्य ही है।"[२] इसलिये आधुनिक भाषा वैज्ञानिक भी वाक्य को बहुत महत्व देते हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"उस उच्चरित अथवा अनुमित पद-समूह का नाम वाक्य है जो परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त होकर किसी एक अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो।" पदार्थों के परस्पर अन्वय में अड़चन न होना योग्यता है। वाक्यार्थ पूरा करने के लिए अन्यान्य पदों की अपेक्षा रहना आकांक्षा कहलाता है तथा क्रम से एक पद के बाद दूसरे पद के सुनते समय सम्बन्ध ज्ञान का बना रहना आसत्ति है। इसी प्रकार पाश्चात्यों ने भी वाक्य में आकार, लय, तुक तथा विन्यास की अन्विति का यथोचित बना रहना अनिवार्य बताया है।[३]

वाक्य में पद-स्थापन का बड़ा महत्व है क्योंकि पदों का विशेष क्रम ही तो वाक्य है।[४] उपयुक्त पद यदि उपयुक्त स्थान पर न रखे जाएँ तो वाक्य शिथिल ही नहीं हो जाता अपितु उसकी प्रभावोत्पादकता एवं अर्थ-प्रतीति में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। यों तो पद्य में गद्य के समान उद्देश्य और विधेय का विशेष क्रम परिपालन नहीं किया जाता। कारण यह है कि

---

1. All who have consciously practised the art of writing know what endless and painful vigilence is needed for the avoidance of the unfit or untuneful phrase; how the meaning must be tossed from expression to expression, mutilated and deceived ere it can find rest in words.

—Style, P. 16—Walter Raleigh (1916 ed.)

२. वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मनस्थिति॥ महाभाष्य १. १. ४४

3. It (Sentence) is a unit of expression and its various qualities, length, rhythm and structure are determined by a right sense of their unity.

—English Prose Style—H. Reade.

४. वाक्यपदीय, २–५२—पुण्यराज

कुशल वर्णन ही कवि का लक्ष्य होता है। अतएव उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह विषयानुकूल पदों का क्रम इस प्रकार रखे कि मुख्य भाव मुखरित हो उठे। इसके लिए वह आवश्यकतानुसार क्रम परिवर्तित कर लेता है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि ऐसा क्रम-परिवर्तन काम्य नहीं होता जिससे अर्थ का अनर्थ अथवा कविता का रसभंग हो जाय, यथा :—

मेरे जीवन की एक प्यास **होकर** सिकता में एक बूँद
छोड़, चन्द्र **अलि** ! गगन में उदय होत **अब** मान

उपर्युक्त शब्दों में क्रम-भंग होने के कारण अर्थ-बोध में अत्यन्त कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त वाक्य में भ्रामक पदों के दुष्प्रयोग से भी बचना चाहिए क्योंकि वे काव्य-दोष में परिगणित कर लिये जाते हैं; यथा—

पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी

'मृगतृष्णा' से प्यास नहीं बुझाई जा सकती। अतः पाठक को अर्थ-प्रतीति के लिये मस्तिष्क की काफ़ी कसरत करनी पड़ती है। इसलिये शब्दों की उचित अन्विति नितान्त आवश्यक है। राजशेखर ने कहा भी है कि "जिस पाक से विद्वानों को गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द और अर्थ की रचना परिपाटी आनन्ददायक हो, वह वाक्य पाक है और वही मुझे अच्छा लगता है।"[१]

कुशल वाक्य-योजना द्वारा काव्याभिव्यंजन में अनेक प्रकार से सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जा सकती है। प्रथमतः कलाकार पाठक की जिज्ञासा को बनाए रखने के लिये मुख्य वाक्य को अन्त में इस प्रकार प्रयुक्त करे कि अवान्तर वाक्यों का अर्थ अन्तिम मुख्य वाक्य को जाने बिना पूर्ण न हो। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में इस सौन्दर्य विधायक तत्व को 'पीरियड' (Period) कहते हैं, जैसे :—

वक्ष पर जिसके जल उडुगन, बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक और नीलम यानों पर, दौड़ते जिस पर निशि वासन,
पिघल गिरि से विशाल बादल, न कर सकते जिसको चंचल।
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन, जगा पाते न एक कंपन,
उसी नभ सा क्या वह अधिकार, और परिवर्तन का आधार।

—महादेवी

विशिष्ट वाक्य-विन्यास पर आश्रित सौन्दर्य-विन्यास की दूसरी विधा पाश्चात्य साहित्य में 'ऐन्टीथीसिस' (Antithesis) है। लेखक जब दो विरोधी भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है तब प्रस्तुत शैली का आश्रय लेता है। ऐन्टीथीसिस के दो साधन हैं :—

(क) दो अथवा दो से अधिक स्वतन्त्र किन्तु संतुलित वाक्यों की योजना

(ख) दो वाक्यों में वर्ण अथवा शब्दावृत्ति द्वारा फ़ोर्स उत्पन्न करना

---

१. गुणालंकाररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः समां प्रति ।।—काव्य मीमांसा

उदाहरणार्थ :—

(क) अपने दिन रात हुए उनके,
क्षण ही भर में छवि देख यहाँ।
सुलगी अनुराग की आग वहाँ,
जल से भरपूर तड़ाग जहाँ॥
—रामनरेश त्रिपाठी

(ख) शंकाएँ हैं जहाँ, वहाँ धीरों की मति है,
आशंकाएँ हैं जहाँ, वहाँ वीरों की गति है!

वाक्य-योजना का तीसरा विधायक तत्व कहावतों और मुहावरों का प्रयोग है। कलाकार जब किसी सूत्र वाक्य द्वारा अपने आशय का स्पष्टीकरण अथवा स्वमत स्थापन करता है, अभिव्यंजना में सौन्दर्य एवं प्रसाद गुण का स्वतः समावेश हो जाता है। अंग्रेजी में इसे एपहोरीज़्म (Ephorism) भी कहते हैं, यथा :—

देख लो काँटे बिना काँटा निकलता है नहीं,
क्रूर जन से सौम्य का कुछ काम चलता है नहीं।

पड़ जाते कुसंग में सज्जन,
तो भी उनमें गुण रहता है।
अहि के संग रहता है चन्दन,
जन-संताप तदपि हरता है॥
—रामचरित उपाध्याय

अलंकार—काव्य के आभ्यन्तर एवं बाह्य पक्ष को जो तत्व वास्तव में रमणीयता और चमत्कार प्रदान करता है, वह है अलंकार। अलंकार शब्द प्राचीन ग्रन्थों में दो विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुआ है :—

(१) तैः शरीरंच काव्यानामलंकारश्चदर्शिताः।[1]
(२) कोऽसावलंकारइत्याहः
सौन्दर्यमलंकारः अलंकृतिः अलंकारः।[2]

अतः सामान्य अर्थ के अनुसार गुण, रीति, वृत्ति आदि सभी 'अलंकार' के अन्तर्गत परिगणित किये गये, किन्तु विशिष्ट अर्थ में उससे अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों का वोध होता है। आगे चलकर साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' इसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ सा हो गया।

---

१. काव्यादर्श, १-१०—दंडी
२. काव्यलंकारसूत्र १-१-२—वामन
३. १. काव्यं स्फुरदलंकारं गुणावद्दोषवर्जितः —अग्नि पुराण
२. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श
३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौंदर्यमलंकारः —काव्यालंकार

अलंकार की सबसे बड़ी कसौटी है काव्य में प्रभावोत्पादकता, रमणीयता, चमत्कार एवं बोधगम्यता उत्पन्न करने की शक्ति। "कामिनी अत्यन्त सुन्दरी है" इस वाक्य से कहीं अधिक बिम्बविधायक उक्ति है—"कामिनी का मुख कलाधर के समान कमनीय है।" वस्तुतः अलंकार भावों को तीव्रता तथा भाषा को रमणीयता प्रदान करते हैं। इस सौंदर्य-विधान के हेतु इनका जन्म हुआ और इसी की अभिवृद्धि में उनकी सार्थकता है। कदाचित् इसीलिये प्राचीन संस्कृताचार्यों ने इन्हें काव्य का अनिवार्य अंग मान लिया तथा अलंकारों को सौंदर्य का पर्याय स्वीकार किया। कालान्तर में 'रस' और 'ध्वनि' के संस्थापकों ने इन पर पुनर्विचार किया और परम्परा से प्राप्त विचारधारा में परिवर्तन हुआ। फलतः अलंकार काव्य के 'अस्थिर धर्म'[1] माने गये। यह ठीक भी है क्योंकि अलंकारवाद की प्रधानता से काव्य का स्वरूप आवश्यकता से अधिक बोझिल हो जाता है। उत्कृष्ट कोटि का कलाकार काव्य-रचना करते समय केवल अलंकार-विधान के लिए जागरूक होकर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि का सन्निवेश नहीं करता, अन्यथा वे 'साधन' मात्र न रहकर 'साध्य' हो जायें। वे तो उच्चकोटि की भावाभिव्यक्ति में स्वतः चले आते हैं, कवि को उनके लाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। क्योंकि अलंकार-विहीन काव्य से भी रसनिष्पत्ति सम्भव है इसलिये साहित्य दर्पणकार ने इन्हें 'अस्थिर धर्म' कहा है। दूसरी ओर प्रखर भावाभिव्यंजन में अलंकार सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं। इसी कारण क्रोचे ने अलंकार-अलंकार्य का भेद स्वीकार ही नहीं किया।[2] इस वाद-विवाद में न पड़कर हम केवल इतना ही कहेंगे कि अलंकार की स्वस्थ पृष्ठभूमि भाव है केवल सुन्दर उपमान नहीं। जिस प्रकार अति अलंकृत कुरूपा नारी आभूषण-भार से अधिक कुरूप लगती है उसी प्रकार नगण्य भाव में सुन्दर उपमानों से युक्त भाषा शब्दाडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कवि पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में अलंकार का रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीति-नीति हैं, वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों की चौखट में फ़िट करने के लिए बुनी जाती है वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[3]

---

1. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माशोभातिशायिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तेऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ —साहित्यदर्पण
2. One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In this case it must always remain separate. Internally? In this case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it and is not ornament, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.

   —Aesthetic, (Ch. IX), P. 69—B. Croce.

३. पल्लव, भूमिका, पृ० १९—सुमित्रानंदन पंत

भाषा में बोधगम्यता, रमणीयता, चित्रमयता एवं प्रभावोत्पादकता लाने वाले अलंकारों की परिभाषा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार की है, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।"

जिस प्रकार अभिव्यंजना के प्रकारों की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार अलंकार भी संख्यातीत हैं। कवि-प्रतिभा ईश्वरीय देन है अतः कवि-व्यक्तित्व के अनुसार व्यंजना की विधाएँ भी बहुविध हो जाती हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता कहते हैं, "अलंकार अनन्त हैं।"[1] दण्डी ने लिखा है कि, "अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है अतः उनकी गणना कौन कर सकता है।"[2] इसी को प्रकारान्तर से रुद्रट ने भी व्यक्त किया है।[3] फिर भी शब्द पर आश्रित भाषा के दो धर्म कहे गये हैं—ध्वन्यात्मकता तथा बिम्बात्मकता; अर्थात् शब्द में भाव के अनुकूल या तो गेयता होती है और या सहृदय पाठक के सम्मुख चित्र उपस्थित करने की क्षमता। इस आधार पर अलंकार भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं:—

(क) ध्वनि पर आश्रित शब्दालंकार

(ख) बिम्ब पर आश्रित अर्थालंकार

शब्दालंकार—ध्वनि को लेकर शब्दालंकार की सृष्टि होती है। इनके प्रयोग से भाषा में संगीतात्मकता, ध्वन्यात्मकता एवं चमत्कार का संचार होता है। अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार शब्दगत कहे जाते हैं। भाषा में गेयता का समावेश 'वर्ण' अथवा 'शब्द' की आवृत्ति द्वारा सम्भव होता है, यथा:—

अनुप्रास **तरणि के संग तरल तरंग में**
तरणि डूबी थी हमारी ताल में

—पंत

यमक **सुन कपे जग में, बस वीर के सुयश** का रण कारण मुख्य हैं

—रामचरित उपाध्याय

इनके अतिरिक्त उक्ति में विशिष्ट कथन-भंगिमा द्वारा भी चमत्कार लाया जा सकता है, जैसे—

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया, सपर है।

—गुरुभक्तसिंह

शब्दालंकार की योजना से शैली में चमत्कार-वृद्धि होने पर भी इनका स्थान कविता में गौण ही रहा; क्योंकि कवि अपनी विशिष्ट शैली द्वारा रचना अथवा उक्ति में जिस रमणीयता की सृष्टि करता है तथा वर्णित भावों का उत्कर्ष दिखाना चाहता है उसकी सिद्धि अर्थालंकारों की सहायता से ही होती है।

---

१. अलंकाराणामनंतत्वात्—ध्वन्यालोक
२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति—काव्यादर्श
३. ततो यावंतोहृदयावर्जका अर्थप्रकाशः तावंतः अलंकारः—काव्यालंकार

अर्थालंकार—हम पहले कह आये हैं कि वाग्वैविध्य के अनुसार अलंकार भी अनन्त हैं। अलंकारों की इस अनन्तता को वर्गीकृत करते समय संस्कृताचार्यों ने भिन्न-भिन्न आधार माने हैं। भामह ने वक्रोक्ति, दण्डी ने अतिशयोक्ति तथा वामन ने उपमा को सबके मूल में स्थित माना। रुद्रट ने अलंकारों का व्यापक वर्गीकरण किया तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष चार भेद दिये। रुय्यक ने सात वर्ग बनाए—सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, शृंखलाबद्ध, तर्क न्यायमूलक, वाक्य न्यायमूलक, लोकन्यायमूलक और गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक। इस प्रकार वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद रहा। आधुनिक युग में अलंकारों का वर्गीकरण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है :—

(१) सादृश्य और साधर्म्य पर आश्रित—उपमा, रूपक, अनन्वय, व्यतिरेक इत्यादि
(२) अतिशय पर आधृत—अतिशयोक्ति, सार, उदात्त, आदि
(३) विरोधमूलक—विरोधाभास, विभावना, असंगति, आक्षेप आदि
(४) शृंखलाबद्ध—कारणमाला, एकावली, यथासंख्य, सार आदि
(५) तर्क तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक—काव्यलिंग, पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि

अलंकारों की सहायता से काव्य के भाव, वस्तु, रूप, गुण, क्रिया आदि में सौन्दर्य-वृद्धि के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

भाव-सौंदर्य

विह्वलता

तरल मोती से नयन भरे,
मानस से ले उठे स्नेह घन।
कसक विधु-पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे॥

(रूपक)

करुणा

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला,
म्लाना हो हो, कमल पग को चूमना चाहती है॥

(रूपक)

वस्तु-सौन्दर्य

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन-बीच गुलाबी रंग॥

(उपमा)

गुणानुभव की प्रकर्षता

> **सुख भोग खोजने आते सब, आये तुम करने सत्य खोज,**
> **जग की मिट्टी के पुतले जन, तुम आत्मा के मन के मनोज ॥**

(व्यतिरेक)

क्रियानुभव की तीव्रता

> **दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला,**
> **चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला ।**

(उपमा)

प्रतीक-योजना—वर्तमान काल की कविता में प्रतीक-योजना का व्यापक प्रयोग दृष्टिगत होता है अतएव प्रतीकात्मक प्रयोगों का संकेत भी अनिवार्य है । हम देख आये हैं कि प्रत्येक भाषा में शब्द-स्वरूप-बोध के साथ भावोद्‌बोधन की क्षमता भी नैसर्गिक है । जिन शब्दों में इस प्रकार के भावोद्‌बोधन की तनिक भी क्षमता होती है वे भाषा की अलंकार-योजना में प्रतीक का काम देते हैं । आधुनिक विद्वानों ने प्रतीकों के—भावोत्पादक (emotional) तथा विचारोत्पादक (intellectual) दो भेद किये हैं । किन्तु वास्तव में ये दोनों शब्दगत गुण अन्योन्याश्रित हैं । विचारोद्‌बोधन के क्षणों में सहृदय के मानस में भावोत्पत्ति भी निसर्गतः हो जाती है । उदाहरणार्थ 'कमल' शब्द सुनते ही जिस प्रकार सुन्दर स्निग्ध और कोमल भावना जागरित होती है उसी प्रकार 'साँप' का विचार मात्र क्रूरता, कुटिलता, भयंकरता, आदि भावों की उत्पत्ति में सहायक होता है ।

सत्य तो यह है कि प्रतीक गोचर हों अथवा अगोचर उनकी क्षमता सहृदय पाठक के मन में विचार उद्‌बुद्ध करने में निहित है । प्रतीक और उपमान में केवल यह अन्तर है कि प्रतीक के लिये किसी प्रकार के सादृश्य, साधर्म्य आदि आधार की आवश्यकता नहीं होती, जबकि उपमा जैसे अलंकारों में यह आधार-शिला अनिवार्य है; उदाहरणार्थ चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस आदि गोचर प्रतीक क्रमशः स्निग्धता, आह्लाद, शुभ्रहास, उच्चता, अनन्तता, गंभीरता एवं विवेक आदि भावों का संकेत देते हैं । जो उपमान प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं वे मार्मिक काव्य-विधान करने की क्षमता रखते हैं, जैसे 'शूल और कलियाँ' अथवा 'उषा' और 'संध्या' दुःख-सुख के प्रतीक हैं । महादेवी वर्मा की काव्य-साधना में उक्त अनुभूतियाँ प्रतीकों के माध्यम से सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं—

> **शूलों का दंशन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो ।**
> **सूखे पल्लव फिरते हों, कहते जब करुण कहानी ॥**

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के निम्नलिखित पद में प्रात, चन्द्र, ज्योत्स्ना और रेणु क्रम से स्फूर्ति, शांति और शीतलता के प्रतीक हैं :—

> **वहाँ नयनों में केवल प्रात, चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात,**
> **रेणु लाए ही रहते पात, मंद ही बहती सदा बयार ।**
> **हमें जाना इस जग के पार ॥**

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति, समीक्षा आदि का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। अतः काव्य का भाव-पक्ष ही नहीं कला-पक्ष भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूता न रह सका। प्रस्तुत प्रकरण में कुछ अलंकारों का उल्लेख युगीन प्रयोग की दृष्टि से अनिवार्य है क्योंकि आधुनिक काव्य में उनका सन्निवेश प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से अनेक रूपों में पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त पाश्चात्य अलंकार—सब प्रकार की अलंकृत भाषा-शैली का उत्स मानव मस्तिष्क है। इसलिए समस्त विश्व-साहित्य में मूल अलंकार समान रूप से वही पाये जाते हैं; उदाहरणार्थ, पाश्चात्य साहित्य के अनेक अलंकार हमारे यहाँ संस्कृत साहित्यशास्त्र की शब्द-शक्ति में समाविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त सिमिली, मैटाफ़र, तथा लाइटोट्स को क्रम से 'उपमा', 'रूपक' तथा 'अपह्नुति' का पर्याय माना जा सकता है। फेब्ल तथा ऐलेगरी 'अन्योक्ति' तथा 'रूपक' के दूसरे नाम हैं। हाइपरबोल में 'अत्युक्ति' और 'अतिशयोक्ति' तथा क्लाइमेक्स में 'सार' के सब गुण विद्यमान हैं। 'पैराडॉक्स' या ऑक्सीमोरन तथा 'विरोधाभास' में कोई अन्तर नहीं है। गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक अलंकारों में यूफिमिज़्म में 'पर्याय' का तथा 'पन' में 'श्लेष' और 'यमक' दोनों का रूप मुखरित हो उठता है। 'ऑनोमेटोपिया' शब्दालंकार का समवेत रूप है। फिर भी उपमानों के विशिष्ट ऐवं विचित्र चयन के कारण पाश्चात्य साहित्य के कतिपय अलंकार अभिव्यंजना में असाधारण स्थान रखते हैं जिनका उल्लेख उपादेय होगा।

(१) 'हाइपलैज' (Hypallage or Transferred Epithet) अथवा विशेषण-विपर्यय—किसी विशिष्ट कथन को अर्थ-गर्भित तथा गंभीर बनाने के हेतु उपमेय का विशेषण उपमान से जोड़ देना विशेषण-विपर्यय कहलाता है—

चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम।

—निराला

(२) परसॉनिफ़िकेशन (Personification) अथवा मानवीकरण का अभिप्राय है भावनाओं अथवा प्रस्तुत अमूर्त विषय में मानव गुणों का आरोप करना। मूर्तिमत्ता की यह प्रणाली भाषा में वक्रता एवं चमत्कार लाती है, यथा—

मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि,
परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि।

—प्रसाद

कभी-कभी भावानुभूति इतनी प्रखर हो उठती है कि कवि उसमें केवल मानव गुणों का ही आरोप नहीं करता अपितु उसे व्यक्ति की तरह सम्बोधित भी कर उठता है। इसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्री 'एपोस्ट्रोफे' (Apastrohpe) कहते हैं, यथा—

ओ चिन्ता की पहली रेखा ! अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली ॥

सिनकडके (Synecdoche) किसी वस्तु को ऐसी संज्ञा देने का व्यापार है जो इष्ट

अर्थ से कुछ अधिक अथवा कुछ कम व्यक्त करे। यह दो प्रकार से सम्भव है—

(क) पूर्ण वस्तु के लिए उसके किसी अंश का कथन—जैसे आयु के वर्ष द्योतित करने के लिए यह कथन कि 'मेरे पच्चीस वसन्त बीत गये।'

(ख) वस्तु-अंश के लिए पूर्ण वस्तु का उल्लेख—जैसे अभिमन्यु की मृत्यु पर यह कहना कि 'पाण्डव सेना मारी' गई।

शब्द-शक्ति—शब्द-शक्ति अभिव्यंजना का एक अन्य प्रमुख सौन्दर्य विधायक उपादान है। कलाकार अपनी शक्ति को प्रभावोत्पादक, अर्थ-व्यंजक एवं आकर्षक बनाने के लिये बात को प्रत्यक्ष रूप से न कहकर प्रकारान्तर से भी कहता है। इस प्रकारान्तर कथन के लिए वह शब्दाश्रित शक्तियों का उपयोग करता है। भारतीय साहित्याचार्यों ने शब्द को तीन प्रकार का माना है—अभिधायक, लक्षक, एवं व्यंजक। इसी आधार पर उन्होंने शब्द की तीन शक्तियाँ स्थिर की हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके आश्रित अभिव्यंजन भी तीन प्रकार का कहा जा सकता है—अभिधायक, लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक।

शब्द-शक्तियाँ काव्य में अभिव्यंजना-सौष्ठव की किस प्रकार वृद्धि करती हैं यह निम्न-लिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा—

अभिधा शक्ति (चित्रमयता)

कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के,
चरण भू पर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ' कटि किंकिणी
ध्वनित हो उठने गृह में लगी।
ठुमकते, गिरते पड़ते हुए,
जननि के कर की उंगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था।

—हरिऔध

बिम्बात्मकता

विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा,
कसी हुई थी कटि में सु-काछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कन्ध था,
विलम्बिता थी वन-माल-कण्ठ में।
अहीश को नाथ विचित्र रीति से,
स्वहस्त में थे वर-रज्जु को लिये।
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुह,
प्रबोधिनी मुग्धकरी विमोहिनी।

—हरिऔध

लक्षणाशक्ति

बेतरह दुखे किसी दिल में भले ही पड़ जाये छाला
जीभ सी कुंजी पाकर वे, लगायें क्यों मुँह में ताला ॥
(रूढ़ि लक्षणा)—अयोध्यासिंह उपाध्याय

जब हुई हकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में ॥
(उपदान लक्षणा)—दिनकर

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है ॥
(लक्षण लक्षणा)—माखनलाल चतुर्वेदी

इन प्रयोगों के अतिरिक्त वर्तमान समय की कविता में ऐसी लाक्षणिक पद-योजना का विधान भी मिलता है जिससे उक्ति में वैचित्र्य और चमत्कार के साथ पाठक के मानस पर मूर्त प्रत्यक्षीकरण भी सम्भव हो जाता है, यथा :—

लाक्षणिक पद-योजना (अमूर्त का मूर्त विधान)

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता,
हाँ मृत्यु नृत्य करती है मुसकाती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहँसते जागो मेरे मधुवन में,
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में ॥
—प्रसाद

मूर्त का अमूर्त विधान

गूढ़ साँस सी अति गतिहीन, अपने ही कम्पन में लीन,
सजल कल्पना सी साकार, पुनः-पुनः प्रिय पुनः नवीन।
—पंत

लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी,
यौवन की विनती सी भोली, गुम सुम खड़ी शरम सी।
—दिनकर

व्यंजना शक्ति (शाब्दी व्यंजना)

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे शिवा हरे सब शूल।
(अभिधामूला शाब्दी व्यंजना)
मैंने कुछ सुखमय इच्छाएँ चुन लीं सुन्दर शोभाशाली,
औ' उनके सोने चाँदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली।
(लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना)—पंत

शाब्दी व्यंजना से सूचित व्यंग्य शब्द-जनित होता है। शब्द ही उसकी धुरी है और वही उसका प्राण है जिसके चारों ओर व्यंग्य घूमता रहता है। यह व्यंजना विशिष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से निःशेष हो जाती है। किन्तु आर्थी व्यंजना वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, काकु आदि की विशेषता के कारण जिस अर्थ की प्रतीति कराती है वह अर्थ-जनित होने से अर्थ को प्रमुखता देता है; अर्थात् वह किसी शब्द-विशेष के आश्रित नहीं रहता। इसलिए आर्थी व्यंजना को अभिव्यंजना के आवश्यक तत्वों में नहीं लिया जा सकता।

गुण—गुण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराणकार ने कहा है कि गुण-रहित काव्य अलंकार से युक्त होने पर भी आनन्दप्रद नहीं होता जैसे कामिनी के लालित्य आदि गुण-रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार-रूप होते हैं।[1] प्रश्न यह है कि गुण काव्य के शरीर या आत्मा अथवा शब्द और अर्थ के धर्म हैं या काव्य में रस को उत्कृष्ट बनाने वाले अचल धर्म हैं? यद्यपि इस सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है किन्तु सबने काव्य के लिए गुण के अस्तित्व को प्रत्यक्षतः अथवा प्रकारान्तर से अनिवार्य अवश्य माना है। वामन ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म कहा है।[2] ध्वनिकार[3], मम्मट[4] एवं विश्वनाथ[5] आदि ने भी काव्य को उत्कृष्ट बनाने में गुणों को सहायक माना है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस के अतिरिक्त शब्द-अर्थ दोनों में गुण का अस्तित्व स्थिर किया है।[6] भोजराज के अनुसार तो गुणहीन होने पर अलंकृत काव्य भी सुनने योग्य नहीं होता।[7]

इन आचार्यों के मतों की मीमांसा करना विषयान्तर है, तो भी यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मम्मट, विश्वनाथ आदि जिन विद्वानों ने गुण को रस से सम्बद्ध माना है वे केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते हैं और प्रकारान्तर से इस बात को स्वीकार भी कर लेते हैं कि शब्द-अर्थ में माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण या अप्रधान माना जाता है।[8] यदि शब्द में गुण की अपेक्षा न होती तो 'समुचित वर्णों'[9] की

---

१. अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥—अग्नि पुराण—३४६-१

२. काव्यशोभायाः कर्तारोगुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥—काव्यालंकार सूत्र

३. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनस्ते गुणाः स्मृताः॥—ध्वन्यालोक

४. ये रसस्यांङ्गिनो धर्मा शौर्यादयश्वात्मनः।
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः॥—काव्यप्रकाशः

५. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः॥—साहित्य दर्पण

६. शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य।
सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति मादृशाः॥—रसगंगाधर

७. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥—सरस्वती कंठाभरण

८. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिशब्दार्थयोः मताः।—काव्यप्रकाशः

९. अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैः व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयः।—काव्यप्रकाशः

आवश्यकता का उल्लेख मम्मट आदि कदापि न करते। इसलिए गुण शरीर और आत्मा अर्थात् शब्द-अर्थ दोनों के धर्म माने जा सकते हैं। क्योंकि मधुरतम भाव माधुर्य गुण-व्यंजक शब्दों के अभाव में काव्यत्व खो देगा। इसी प्रकार ओज गुण से परिपूर्ण शब्द-योजना शृंगार-मयी भावानुभूति के सर्वथा अनुपयुक्त होती है। कदाचित् इसी कारण वामन ने शब्द गुण तथा अर्थ गुण—दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना की है।

गुणों की संख्या के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। भरत मुनि ने दस गुण बताये हैं।[1] वामनाचार्य के अनुसार शब्द-अर्थ दोनों के पृथक्-पृथक् दस गुण हैं।[2] महाराज भोज ने उनकी संख्या और भी अधिक दी है।[3] किन्तु भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन ही गुण माने हैं। शेष गुणों में से कुछ का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव कर दिया गया है और कुछ की दोषों के अभाव रूप में विवेचना की गई है।[4] मम्मट के मत को प्रायः सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने स्वीकार किया है। अर्वाचीन युग में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद, इन्हीं तीन गुणों का उल्लेख मिलता है। इनके प्रयोग द्वारा काव्य में उद्बुद्ध अभिव्यंजना-सौन्दर्य के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

माधुर्य गुण— **मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,**
स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ का सार।
मनोभावों का मधुर विलास,
विश्व सुषमा ही का संसार।

ओज गुण— **अहे वासुकि सहस्र-फन!**
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर,
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे हैं घनाकार जगती के अम्बर।
मृत्यु, तुम्हारा गरलदन्त, कंचुक-कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल!

प्रसाद गुण— **कहेंगे क्या मुझसे सब लोग,**
कभी आता है इसका ध्यान।
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती है यह मुसकान।

रीति-वृत्ति—साहित्यदर्पणकार ने कहा है कि 'रस को उत्कृष्ट बनाने वाले गुण

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १५, पृ० १९२-१०३, निर्णय सागर संस्करण
२. काव्यालंकार सूत्र, अधिकरण ३—अध्याय प्रथम एवं द्वितीय
३. सरस्वती कंठाभरण, प्रथम परिच्छेद, निर्णय सागर संस्करण
४. काव्यप्रकाश:—अष्टम उल्लास

रीति और अलंकार हैं।'[1] यों तो रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। दण्डी भी रीति के समर्थक हैं। किन्तु रीति के सच्चे उन्नायक वामन ही हैं। वामन ने रीति को 'विशिष्ट' पद रचना कहा है।[2] पद में सन्निविष्ट वैशिष्ट्य की व्याख्या करते समय उन्होंने 'गुण' को सर्वोपरि माना है (विशेषोगुणात्मा)। तत्पश्चात् आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' संज्ञा दी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'पदों के मेल या संगठन' को रीति कहा।[3] पदों के मेल को अंग-संस्थान की उपमा दी गई, अर्थात् जैसे अंगों का सुगठन होने पर ही शरीर सुन्दर लगता है उसी प्रकार काव्य-शरीर में शब्द और अर्थ का सुगठन अपेक्षित होता है। इस प्रकार का सुन्दर पद-नियोजन काव्य में रस-भाव आदि का भी उपकारक होता है। संक्षेप में, रीति उसे कहते हैं जो शब्दार्थ के शरीर यानी काव्य के आत्मभूत रस आदि का उपकार करने वाली विशिष्ट पद-रचना हो। इसके लिए शब्द, अर्थ, और रस तीनों का उपकारक होना अनिवार्य है। इसलिए रीति-विचार में शब्द को बहुत महत्व दिया गया है।

रीतियों के प्रकार—रीति के प्रकारों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। दण्डी ने कहा है कि प्रत्येक कवि में रीति व्यक्तित्वानुरूप होती है। अतः रीति के भेद नहीं किये जा सकते।[4] भेदों में उसने केवल 'वैदर्भी' और 'गौड़ी' का उल्लेख किया है। वामन ने काव्यालंकार सूत्र में, तथा राजशेखर ने काव्य मीमांसा में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तीन रीतियों का वर्णन किया। रुद्रट ने 'लाटीय' नामक रीति भी इनके साथ सम्मिलित की। भोज ने संख्या चार से बढ़ाकर छह कर दी।

परन्तु सामान्यतया रीति का वर्गीकरण देश-विदेश के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर परम्परा से प्राप्त—वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी—प्रदेशाश्रित है। इसलिए उसी रूप में इनका विवेचन किया जाता है—

वैदर्भी—माधुर्य व्यंजक वर्णों की ललित रचना को वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। ऐसी रचनाओं में माधुर्य गुण सन्निविष्ट रहता है।[5]

गौड़ी—ओज प्रकाशक वर्णों से आडम्बरपूर्ण बन्ध को गौड़ी रीति या परुषा वृत्ति कहते हैं।[6] इसमें ओज गुण का प्राधान्य रहता है।

पांचाली—दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्ण वाली रचना को

---

१. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः।

—साहित्य दर्पण

२. विशिष्टपदरचना रीतिः —काव्यालंकार सूत्र १।७।७

३. पदसंघटन रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्॥

—साहित्य दर्पण

४. रस मार्गद्वयंभिन्नतत्स्वरूपंनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः॥

५. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचनाललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा, वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

—साहित्य दर्पण, पृ० ५२६

६. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैं बन्ध आडम्बरः पुनः समासबहुलागौड़ी।

पांचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हैं।[1]

वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों के उक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि रीति और वृत्ति का पृथक्-पृथक् विवेचन पुनरावृत्ति मात्र है। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से वस्तु में झंकार की जो विशेषता होती है उसी से उन वृत्तियों के नाम क्रम से उपनागरिका, कोमला एवं परुषा पड़े। मम्मट ने तो रीति को ही वृत्ति नाम दे दिया है। आचार्य उद्भट ने वृत्तियों को केवल वर्ण तक सीमित माना है। रुद्रट ने केवल समास को वृत्तियों का आधार बनाया। ध्वन्यालोककार ने शब्द और अर्थ की रसानुकूल योजना को 'वृत्ति' कहा। इसी आधार पर उसने वृत्ति के दो भेद भी कल्पित किये—शब्दाश्रित वृत्ति तथा अर्थाश्रित वृत्ति।[2]

उपनागरिका, कोमला एवं परुषा आदि शब्द से सम्बद्ध वृत्तियों का उल्लेख हम रीति के प्रकरण में कर आये हैं। भारती, सात्वती, आरभटी तथा कैशिकी नामक अर्थाश्रित वृत्तियों का नाट्य शास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अतः इनका उल्लेख हमारे लिए विषयान्तर होगा।

संक्षेप में, रूढ़ अर्थों में रीति-वृत्ति चाहे कुछ भी अर्थ व्यक्त करें किन्तु उनका सच्चा अर्थ वॉल्टर पेटर के शब्दों में 'राइट सेन्स ऑफ़ वकेब्यूलरी' होगा; अर्थात् यह कि रचनाकार अपने भाव को व्यक्त करने के लिए रम्य, चुस्त एवं उपयुक्त वर्ण-योजना की सहायता से कौनसा शब्द कहाँ रखे। इन दोनों आवश्यक बातों का अन्तर्भाव शब्द-चयन और काव्य-गुणों में हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से आधुनिक काव्य-शास्त्र में 'रीति' शब्द पुराने एवं संकुचित अर्थ को त्याग कर व्यापक अर्थ 'शैली' (Style) के पर्याय में प्रयुक्त होता है। इन सब कारणों से हम रीति-वृत्ति को अभिव्यंजना के उपादानों में पृथक् रूप में परिगणित नहीं करेंगे।

इस प्रकार ऊपर हमने अभिव्यंजना के सौन्दर्य-विधायक उन उपादान तत्वों का संक्षिप्त निरूपण किया जो भाव को रमणीयता प्रदान करते हैं और उसमें प्रभावोत्पादक गुणों का सन्निवेश करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप शाश्वत साहित्य का निर्माण सम्भव हो पाता है।

१—माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।

—काव्यालंकार सूत्र, १-१-२३.

२—रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यातः एताः वृत्तयोद्विविधा स्मृताः॥ —ध्वन्यालोक

चौथा अध्याय

खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना

(सं० १३००—१६००)

अमीर खुसरो (सन् १२५३-१३२५)

सामान्यतः अमीर खुसरो खड़ीबोली के आदि कवि माने जाते हैं। यद्यपि इनसे पूर्ववर्ती पद्य-साहित्य में भी खड़ीबोली के पदांश बिखरे हुए मिल जाते हैं किन्तु वास्तव में खुसरो ने ही सर्वप्रथम काव्य-माध्यम के रूप में इसे स्वीकार करके पहेलियाँ, कहमुकरियाँ आदि लिखीं। फलतः वे खड़ीबोली के प्रवर्तक के रूप में ख्यात हो गये हैं।

खुसरो-काव्य की प्रामाणिकता

अमीर खुसरो के नाम से प्राप्त खड़ीबोली-रचनाओं का कोई प्रामाणिक संग्रह आज उपलब्ध नहीं है। प्राप्त सामग्री 'बियाज़' (नोटबुक) अर्थात् व्यक्तिगत संग्रह के रूप में ही मिलती है। मुहम्मद वाहिद मिर्ज़ा ने अपने 'लाइफ़ एण्ड वर्क्स ऑफ़ अमीर खुसरो' शीर्षक शोध-प्रबन्ध में तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि खुसरो ने अपने जीवन काल में हिन्दी कविता का स्वयं कोई संकलन नहीं किया था; प्राप्त संग्रह परवर्ती सम्पादकों द्वारा संगृहीत हैं।[1] इसके अतिरिक्त समय को देखते हुए 'एक थाल मोती से भरा' या 'एक नार ने अचरज कीना' जैसी सुव्यवस्थित भाषा पाठक को भी आश्चर्य में डाल देती है। ऐसी स्थिति में उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। इसलिए खुसरो-काव्य के कलागत विवेचन से पूर्व उसकी प्रामाणिकता पर विचार-विमर्श करना अनिवार्य है।

अमीर खुसरो फ़ारसी भाषा के उच्चकोटि के शायर थे। कहा जाता है कि उन्होंने फ़ारसी में नब्बे से अधिक ग्रंथ लिखे थे जिनमें से अनेक आज उपलब्ध नहीं हैं। खुसरो ने अपने जीवन काल में अपनी कुछ रचनाएँ पाँच दीवानों में संगृहीत की थीं। तीसरे दीवान की भूमिका में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि दिल्ली के आसपास की 'हिन्दुई' नाम से व्यवहृत

1. Life and Works of Amir Khusrau, P. 185. by Mohd. Wahid Mirza

बोली का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था।[1] मुहम्मद आफ़ी, शमशुल-उलमा मौलाना शिवली, निज़ामुद्दीन, डॉ० स्प्रेंगर आदि ने किसी सादल्दवलाह मसऊद का ज़िक्र करते हुए कहा है कि मसऊद ने दो फ़ारसी के और एक हिन्दी का दीवान लिखा था।[2] इसका समर्थन तज़कीरे मजमउल-फ़साहा से हो जाता है।[3] कहा जाता है कि मसऊद महमूद गज़नी का समसामयिक था और उसकी मृत्यु ५२५ हिजरी में हुई थी। खोशगू के अनुसार मसऊद कृत हिन्दी-दीवान ख़ुसरो के समय तक सुरक्षित भी था।[4] इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'हिन्दुई' नाम से प्रचलित खड़ीबोली में पद्य-रचना की जाने लगी थी। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ख़ुसरो ने खड़ीबोली में काव्य प्रणयन किया था? इसके उत्तर में ख़ुसरो के तीसरे दीवान की भूमिका से स्वयं उनका कथन उद्धृत करना पर्याप्त होगा। वे लिखते हैं, 'जुज़्वे चन्द नज़्मे हिन्दी नीज़ नज़्रे दोस्ताँ करदा शुदा अस्त इंजाहम बज़िक्री पसन्द करदम' (मैंने हिन्दी पद्य के कुछ अध्याय भी अपने मित्रों के बीच बिखेर दिये हैं परन्तु अभी मैंने इसका केवल उल्लेख करना ही उचित समझा)।[5] स्पष्ट है कि ख़ुसरो ने अपने मित्रों के मनोरंजन के लिए कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि लिखी अवश्य थीं किन्तु इनके संकलन का कोई प्रयत्न नहीं किया। अतः इनमें प्रक्षेपों का सन्निवेश हो जाना स्वाभाविक ही था। इन प्रक्षेपों के होते हुए भी उपर्युक्त प्रमाणों को देखकर ही कदाचित् मुहम्मद वाहिद मिर्ज़ा, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति विद्वानों ने प्राप्त रचनाओं को सर्वथा अप्रामाणिक कहकर तिरस्कृत नहीं किया।[6] अतएव हमें ख़ुसरो के नाम

१. देहली व पेश मंद अंदर हमाहद,
ई हम हिन्दीस्त कज़ अय्यामे क़ुहम,
आमः वकार अस्त बहर गूना सुख़न,
चू मन तूतांए हिन्दम रास्त पुर्सी,
ज़मन हिन्दुई पुर्स ता नग्ज़ गोयम,
तर्क हिन्दुस्तानी अम मन हिन्दुई गोयम जवाब,
शक्करे मिस्री नदारम क़ज अरब गोयम सुख़न।
See—Life and Works of Amir Khusrau, P. 185
—by Mohd. Wahid Mirza.

२-४. द्र०—(क) दक्खिनी हिन्दी, पृ० ३० —बाबूराम सक्सेना
(ख) हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, अष्टम बैठक, इन्दौर, सं० १९७४
—(क्या उर्दू हिन्दी से कोई भिन्न भाषा है, पृ० १२५, पीर मुहम्मद यूनिस)
(ग) दीबाचा गुर्रा मजमुल फ़साहा १,५१५, (अथवा)
फ़रिश्ता जिल्द १ —३१ साल, ४१३ हिजरी
(घ) Journal of the Asiatic Society of Bengal 1853.
Early Hindustani Poets, P. 444 —By A. Sprenger.

5. See—Life and Works of Amir Khusrau, P. 228
—By Mohd. Wahid Mirza.

6. (a) The very fact that these have been from olden times ascribed to Khusrau shows that Khusrau did write something of this sort. It is possible that succeeding copyists made slight modifications according to the idiom of the time in the form of the words employed by him, yet the intrinsic excellence of some of these poems, the originality of their

से उपलब्ध खड़ीबोली-रचनाओं का अनुशीलन करना उचित प्रतीत हुआ।

विषय-वस्तु—ख़ुसरो की खड़ीबोली-रचनाओं का कलेवर बूझ-अनबूझ पहेलियों, कहमुकरियों, दो सखुनों, निसबतों अनमेलियों एवं ढकोसलों से निर्मित है। इनके अतिरिक्त कतिपय सावन, वसन्त आदि ऋतु सम्बन्धी पद, दो-एक फ़ारसी की ग़ज़लें (जिनकी हर दूसरी पंक्ति फ़ारसी में है) तथा कुछ मुख़म्मस भी (जिनकी हर पाँचवीं पंक्ति खड़ीबोली में है) ख़ुसरो द्वारा रचित बताए जाते हैं। जैसा कि ख़ुसरो ने स्वयं कहा भी है उनका स्फुट काव्य केवल मित्रों के विनोद के लिए लिखा गया था। अतः भाव या विषय की दृष्टि से उसमें जीवन की गहन समस्या, देश-दशा, धर्म, समाज आदि से सम्बद्ध भावों की अनेकरूपता खोजना व्यर्थ होगा।

अभिव्यंजना पक्ष—ऊपर कहा जा चुका है कि ख़ुसरो फ़ारसी के ज्ञाता थे और उन्होंने आजीवन फ़ारसी की ही सेवा की। खड़ीबोली-पद्य तो उन्होंने विनोद के लिए ही रचा था अतएव अभिव्यंजना-सौन्दर्य की दृष्टि से इन कविताओं का परिशीलन व्यर्थ होगा। हाँ, इनके काव्य से खड़ीबोली की विकसित दशा का आंशिक रूप में परिचय अवश्य मिल जाता है। अस्तु !

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि) तत्कालीन आर्य भाषाओं की विकसित दशा को देखते हुए ख़ुसरो का शब्दकोश बहुत समृद्ध दृष्टिगत होता है। उसमें संस्कृत के तत्सम-अर्द्धतत्सम शब्दों के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी शब्द भी मिल जाते हैं। साथ ही ब्रज-भाषा के प्रभाव से शब्दों को कोमल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। उदाहरणार्थ नारी, अमृत, मन्दिर, अमर, विरह, सुन्दर, छवि, अधीन, गुरु, पीताम्बर, मुरलीधर, वस्तु, जल, सहस्र, राजा, रानी, सारंग, पूजा, तप, निज, चन्द्र, वदन, अम्बर, बालक, कंत, मध्य, नीर, कन्या, स्याम, अरध, अरथ, उज्जल, मूरख, औषधी, मनुष, अमावस, अधरमी, सीतल, अगिन, नैन, चरन, आभरन, जनम, रच्छा, तिरिन, इस्तरी, कारज, मुसकान, जोवन, पोन, गोन, पुरुख, नार, पिया, सिगार, साँझ, अचरा, सेत, मीत, विपता, चान (चाँद), सुरज, पिआर, छतिअन, ज़मीं, मालिक, सूरत, वदकार, नक़ार, महाल (मुहाल), मरहम (महरूम), खसम, खुश्क, खातिर, जवानी, पर्दा, मजलिस, हरदम, ज़ख्मी आदि अनेक प्रकार के प्रान्तीय

style and the wit and humour pervading them, work them out clearly to be the work of a great master like Khusrau. Their meagre volume would more over preclude the probability of any wholesale grafting. Khusrau had probably no intention or ambition to leave behind him a literary monument in Hindi, a classic like Padmavat of Jayasi, and so, had no occasion to follow any literary traditions.

—Life and Works of Amir Khusrau. P. 230, by Mohd. Wahid Mirza.

(b) Some of the short lyrics and distiches and pahelis or riddles and love songs, together with some macaronic verse in a mixture of the Hindus speech and Persian, which are attributed to him, may originally have been composed by him, and possibly, they go back to the 14th century and in this way form some of the oldest specimens of Hindi, but the received texts must have been modified in the course of centuries.

—Indo Aryan and Hindi. P. 183, by S. K. Chatterji.

एवं विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण तत्कालीन खड़ीबोली के प्रकृत रूप का आभास देता है। इन रचनाओं में कहीं-कहीं शब्द-विकृति भी पाई जाती है, यथा—

वा बिन मोको चैन न आवे, वा मेरी तिस आन बुझावे।[1]

(तिस=तृष्णा)

हिलहिल के वह हुआ नसंखा, ऐ सखी साजन, ना सखी पंखा।[2]

(नसंखा=निःशंक)

कहीं-कहीं ख़ुसरो के काव्य में वचन-परिवर्तन, कारक-चिह्न, सर्वनाम आदि प्रयोग ब्रजभाषा के अनुकूल हुए हैं, यथा—

वचन-परिवर्तन

जा घर लाल बलैया जाय, ताके घर में दुंद मचाय।
लाखन मन पानी पी जाय, धरा ढका सब घर का खाय॥[3]
काजल की कजलौटी ऊधौ, पेड़न का सिंगार।
हरी डाल पर मैना बैठी, है कोई बूझन हार॥[4]
श्याम बरन औ सौहनी फूलन छाई पीठ।
सब सूरन के गले पड़त है, ऐसी बन गई ढीठ॥[5]
उठा दोनों टाँगन बिच डाला, नाप तोल में देखा भाला।
मोल-तोल में है वह महँगा, ऐ सखी साजन, ना सखी लहँगा॥[6]

सर्वनाम

आप हले और मोय हिलावे, नाम लेत मोय आवे संखा।[7]
आग लगे फूले-फले, सींचत जावे सूख
मैं तोहि पूछों, ऐ सखी, फूल के भीतर रूख।[8]
एक नार पिया को भानी, तन वाको सगरा जो पानी।[9]

क्रिया-रूपों में खुसरो ने अवधी के अकारान्त रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई है यथा, पीवत, सींचत, करावत, चढ़ावत, मुसकत, चूमत आदि। कतिपय स्थलों पर ब्रजभाषा के चाली, कीनी, दीनी, भुलानी, आदि रूप भी मिल जाते हैं। हाँ, वाक्य-विन्यास प्रायः सरल एवं संक्षिप्त है, जैसे :—

टूटी, टूट के धूप में पड़ी, जों-जों सूखी, हुई बड़ी।[10]
सर पर जाली, पेट से खाली, पसली देख, एक-एक निराली।[11]

अलंकार—खुसरो का लक्ष्य इन पहेलियों, मुकरियों आदि द्वारा अपने मित्रगणों का मनोरंजन करना था। शब्दालंकार भाषा और भाव को कुतूहलपूर्ण एवं चमत्कृत करने के सबसे उत्तम साधन होते हैं कदाचित् इसीलिए कवि ने अनुप्रास, यमक आदि का सबसे अधिक उपयोग किया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

१, २, ३, ४. खुसरो की हिंदी कविता—पृ० ३७, ३७, २३, २६, ब्रजरत्नदास
५—११. खुसरो की हिंदी कविता—पृ० ३१, ४०, ३८, २४, ९२, २०, ३५, ब्रजरत्नदास

अनुप्रास

गोल-मटोल और मोटा छोटा, हर दम वह तो जमीं पर लोटा ।
खुसरो कहे नहीं है झूठा, जाने बूझे अकिल का खोटा ॥[१]
खड़ा भी लोटा, पड़ा भी लोटा, है बैठा पर कहें हैं लोटा ।[२]

यमक

जल कर उपजे जल में रहे, आँखों देखा खुसरो कहे ।[३]
पौन चलत वह देह बढ़ावे, जल पीवत वह जीवन गँवावे ।
है वह प्यारी सुन्दर नार, नार नहीं पर है वह नार ॥[४]
है वह नारी सुन्दर नार, नार नहीं पर है वह नार ।
दूर से सबको छवि दिखलावे, हाथ किसी के कभू न आवे ॥[५]

कहा जा चुका है कि इन कविताओं में भावों का सूक्ष्म अध्ययन या विचार-विश्लेषण आदि का अभाव है । इसलिए सादृश्य, साधर्म्य अथवा प्रभावसाम्य-मूलक अलंकारों की योजना नहीं मिलती । केवल कुतूहल प्रधान चमत्कारक काव्य के पोषक अलंकार श्लेष, अपह्नुति, विरोधाभास, विभावना, विषम आदि का उपयोग ही किया गया है जो कवि के उद्देश्य एवं विषय को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त भी प्रतीत होता है । उदाहरणार्थ एक श्लिष्ट पद योजना देखिए :—

बाला था जब सबको भाया, बढ़ा हुआ कुछ काम न आया ।
खुसरो कह दिया उसका नाँव, अर्थ करो नहिं छोड़ो गाँव ॥[६]

प्रस्तुत प्रहेलिका की आत्मा 'श्लेष' है, जो 'बाला' 'बढ़ा' और 'दिया' आदि श्लिष्ट पदों में निहित है । इस प्रकार के पद पाठक एवं श्रोता का मनोरंजन लक्षणाशक्ति के आश्रित विरोध द्वारा करते हैं । पाठक के मन में परिवार का एक सुन्दर चित्र भी उपस्थित होता है कि बालक घर का दीपक होता है । और देखिए :—

एक नार पिया को भानी, तन वाको सगरो जो पानी ।
आब रखे पर पानी नाँह, पिया को राखे हिर्दय माह ।
जब पी को वह मुख दिखलावे, आपहि सगरी पी हो जावे ॥[७]

उद्धृत पद में फ़ारसी शब्द 'आब' क्रम से 'पानी' और 'क्रान्ति' श्लिष्ट अर्थ बोधक है । कवि 'पानी नाँह' के निषेध द्वारा पहेली का अता-पता देकर बूझने में पाठक की सहायता करता है 'दर्पण का पी मय' हो जाने में 'मीलित' अलंकार का झीना आवरण भी है । ऐसे स्थलों पर ही आचार्य दण्डी का 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रिम' का स्मरण हो आता है । वैषम्यमूलक अलंकारों में विभावना, विरोधाभास, असंगति आदि के भी कुछ सुन्दर प्रयोग मिल जाते हैं, यथा :—

विभावना

श्याम बरन पीताम्बर काँधे, मुरलीधर नहिं होय ।
बिन मुरली वह नाद करत है, बिरला बूझे कोय ॥[८]

१—३. खुसरो की हिन्दी कविता—पृ० २१, २१, ३३, ब्रजरत्नदास
४—८. खुसरो की हिंदी कविता, पृ० १६, २५, २०, २३, २७, ब्रजरत्नदास

एक पेड़ रेती में होवे, बिन पानी दिए हरा रहे ।
पानी दिए से वह जल जाय, आँख लगे अंधा हो जाय ।।[१]

विरोधाभास

आग लगे फूले फले, सींचत जावे सूख ।
मैं तोहि पूछौं ऐ सखी, फूल के भीतर रूख ।।[२]
जब काटो तब ही बढ़े, बिन काटे कुम्हिलाए ।
ऐसी अद्भुत नार का, अन्त न पाया जाए ।।[३]

असंगति

अगिन कुण्ड में घिर गया, औ जल में किया निकास ।
परदे-परदे आवता, अपने पिय के पास ।।[४]

कहमुकरियाँ 'छेकापह्नुति' के सुन्दर उदाहरण हैं । 'मुकरियों' में कवि का लक्ष्य मिथ्या समाधान द्वारा सत्य को गुप्त रखना है । पाठक का सम्भ्रम कदाचित् इस मिथ्या समाधान का परिणाम है, जैसे :—

ऊँची अटारी पलंग बिछायो, मैं सोई मेरे सिर पर आयो,
खुल गई अंखियाँ भई अनन्द, ऐ सखी साजन, ना सखी चंद ।।[५]
एक सजन वह गहरा प्यारा, जा सो घर मेरा उजियारा ।
भोर भई तब बिदा मैं किया, ऐ सखी साजन, ना सखी दिया ।।[६]
बाट चलत मोरा अचरा गहे, मेरी सुने न अपनी कहे ।
ना कुछ मोसों झगड़ा झाँटा, ऐ सखी साजन, ना सखी काँटा ।।[७]

उपर्युक्त पद देखिए, जो वस्तुएँ अपने रूप, गुण, धर्म आदि विभिन्नताओं के कारण अब तक नियत दूरी पर स्थित थीं, कवि ने व्यापार-साम्य द्वारा उनकी अस्वाभाविकता एवं अन्तर को लुप्त कर दिया है । यही उसकी उक्ति का चमत्कार है । इन कहमुकरियों में जहाँ अश्लीलत्व व्यंग्य हो उठा है, कवि ने उसको अपह्नुति द्वारा प्रच्छन्न ही रखा है ।

समासोक्ति का प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित दोहा है, जो खुसरो ने अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु के समय कहा था :—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ।।[८]

यह पद व्यथित हृदय का कितना मार्मिक चित्र उपस्थित करता है । अप्रस्तुत में नायिका सोई हुई है । उसके अस्त-व्यस्त घने कुन्तल मुख-कमल को आवृत्त किये हुए हैं । चन्द्रवदन के केशराशि की ओट में होते ही कवि का हृदयाकाश अन्धकारमय हो जाता है । और प्रस्तुत में, गुरुविहीन संसार का अन्धकारमय होना, गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा उसकी महत्ता ध्वनित करता है ।

१—७. खुसरो की हिंदी कविता, पृ० २३, २४, ३२, ३०. ३८, ३६, ३९, ब्रजरत्नदास
८. खुसरो की हिन्दी कविता—पृ० ५१, ब्रजरत्नदास

कुतूहल का विधान करने की प्रखर एवं तीव्र इच्छा से कवि का मन अनायास ही उत्कर्ष विधायक सादृश्य की ओर प्रबल वेग के साथ दौड़ता है। ऐसे स्थलों पर भाषा में प्रसाधन-पूर्ण सौंन्दर्य के साथ गुम्फन एवं कसाव भी आ गया है। रूपक, उपमा आदि के प्रयोग से चमत्कृत 'रुपये' पर एक पहेली देखिए :—

रूपक-विभावना

चन्द्र वदन जख्मी तन, पाँव बिना वह चलता है।
अमीर खुसरो यों कहे, वह हौले हौले चलता है ॥[१]

उपमा

उज्जल अति वह मोती बरनी, पाई कन्त दिए मोहि धरनी।
जहाँ धरी थी वहाँ न पाई, हाट बाजार सभी ढूँढ आई ॥[२]

यहाँ रूप और आकार साम्य पर 'चन्द्रमा' की 'रुपये' से तथा 'मोती' की 'ओले' से तुलना की गई है।

खुसरो ने गीतों और फुटकर पदों में भारतीय साहित्य-परम्परा के अनुसार गुरु की पति-रूप में कल्पना की है। प्रस्तुत प्रसंग में रूपक-योजना द्वारा इस भाव की अभिव्यंजना देखिए :—

नजामदीन औलिया को कोई समझाए।
जों जों मनाऊ वह तो रूसा ही जाय ॥
चूड़ियाँ फोडूं पलंग पर डारूँ।
इस चोली को दूँगी मैं आग लगाए ॥
सूनी सेज डरावन लागे, विरहा अगिन मोहे डस डस जाय।
मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल ॥[३]

प्रस्तुत में नायक नायिका से मान किये हुए है। अतएव नायिका के लिए उसका अपना यौवन, शृंगार, सुन्दर श्वेत शैया आदि सब शृंगारपरक वस्तुएँ वेदना-जनक एवं असह्य हो उठी हैं। अप्रस्तुत में गुरुविहीन संसार असार दृष्टिगत होता है।

शब्द-शक्ति, गुण आदि—खुसरो के काव्य में प्रायः अभिधा का ही साम्राज्य दृष्टिगत होता है। प्रहेलिकाओं में कुतूहल की अभिवृद्धि के हेतु कहीं-कहीं लक्ष्यार्थ तक अवश्य दौड़ लगानी पड़ती है, यथा—

लक्षण लक्षणा

एक मन्दिर के सहस्र दर, हर दर में तिरिया का घर।
बीच-बीच वाके अमृत ताल, बूझ है इसकी बड़ी महाल ॥[४]

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे ॥[५]

१—३. खुसरो की खड़ीबोली कविता—पृ० ५१, ३१, २५, ५०, ब्रजरत्नदास
४—५. खुसरो की खड़ीबोली कविता—पृ० २०,२०, ब्रजरत्नदास

प्रथम पद में 'मन्दिर,' 'दर,' 'तिरिया,' 'अमृत,' 'ताल' का अर्थ क्रम से जब तक 'छत्ता,' 'छिद्र' 'मधुमक्खी' और 'मधु' स्पष्ट नहीं हो जाता पहेली नहीं बूझी जा सकती। 'महाल' अर्थात् 'मुहाल' अपने श्लिष्ट अर्थ (मक्खी और कठिन) द्वारा पाठक की बुद्धि को और भी सम्भ्रम में डाल देता है। द्वितीय पद में 'मोती' से 'तारों' का, 'थाल' से 'गगन' का बोध लक्षणा की सहायता से ही होता है।

साधारण शैली, असमस्त-पद-योजना तथा छोटे और सरल वाक्य-विन्यास ने इन रचनाओं को अत्यन्त प्रसादमय बना दिया है। ब्रजभाषा के प्रभाव से परुष वर्ण वाले शब्दों को कोमल और मसृण कर लेने के आग्रह ने उसमें माधुर्य भी सन्निविष्ट कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि खुसरो अपनी कविता में विनोद, चमत्कार एवं कुतूहल का विधान करने में पर्याप्त सफल हुए हैं। शब्द, अलंकार, आदि कवि के दास की तरह भाव और प्रसंग के अनुकूल बैठे हैं। यद्यपि साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टि से खुसरो के काव्य को खड़ीबोली-काव्य में कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु भाषा की संस्कारिता और ऐतिहासिकता के विचार से वे उल्लेखनीय हैं।

दक्खिनी काव्य

भाषाओं के उद्भव और विकास के इतिहास में यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना है कि खड़ीबोली की उत्पत्ति तो उत्तर भारत में हुई और उसका लालन-पालन दक्षिण भारत में मुसलमान शासकों एवं दरबारी साहित्य-प्रेमियों के हाथों हुआ। यही नहीं दक्षिण में आने पर भी उसका हिन्दवी, हिन्दुई अथवा हिन्दी नाम उसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। शेख अशरफ़ के नौसरहार[१] (१५०३ ई०), शाह बुरहानुद्दीन जानम बीजापुरी के इर्शाद नामह[२] (१५८२ ई०) तथा मुल्ला वजही के 'सबरस'[३] (१६३५ ई०) में ये नाम स्थान-स्थान पर उल्लिखित मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वजही ने कुतुबमुशतरी[४], इब्न निशाती ने फूलबन[५] एवं

---

१. नज़्म लिखी सब मौजूँ आन। यों मैं हिन्दवी कर आसान।
यक यक बोल य मौजूँ आन। तक़रीर हिन्दवी सब वखान।।

—मख़तूतात, पृ० १८

२. यह सब बोलूँ हिंदी बोल। पुन तूँ एन्हों सेती घोल।
ऐब न राखे हिंदी बोल। मानी तो चख दीखें खोल।
हिंदी बोलों किया बखान। जे कर परसाद था मुझे ग्यान।।

—मख़तूतात, पृ० १६

३. 'हिंदोस्तान में हिंदी जबान सों इस लताफ़त इस छन्दाँ सों नज़्म और नस्र मिलाकर गुलाकर यों मैंने बोल्या।'

—सबरस, पृ० ११

४. दखिन में जो दखिनी मीठी बात का
अदा नई किया कोई इस घात का।

—क़ुतुब मुशतरी, पृ० २६

५. इसे हर कस को तई समझा को लूँ बोल।
दखिन के बातौं सार्‍याँ को तू खोल।।

—प्रवेशक—दक्खिनी हिंदी, पृ० १५, बाबूराम सक्सेना

रुस्तमी ने ख़ाविर नामह[1] में इसी भाषा को 'दखिनी' नाम से भी अभिहित किया है। भाषा-वैज्ञानिकों का कहना है कि इसका 'दखिनी' नाम केवल दक्खिनी राज्यों के सम्बन्ध के कारण है।[2]

पद्य की दृष्टि से दक्खिनी का प्रथम कलाकार 'निज़ामी' बताया जाता है और इसकी मसनवी 'कदमराव व पदम' दक्खिनी हिन्दी की प्रथम रचना कही जाती है। निज़ामी बहमनी सुल्तान अहमदशाह तृतीय के शासनकाल में (१४६०-१४६२) वर्तमान था। इसके पश्चात् यह भाषा बीजापुर में आदिलशाही और गोलकुंडा के कुतुबशाही राज्य में खूब चमकी क्योंकि दोनों राज्यों के सुल्तान न केवल कवियों के आश्रयदाता थे वरन् स्वयं भी अच्छे कलाकार थे। कुतुबशाही राज्य के तज़किरों में वजही, ग़वासी, मुल्ला, इब्ननिशाती, नूरी, मिर्ज़ा आदि अनेक अच्छे कवियों के नाम मिलते हैं और आदिलशाही राज्य में शाह मीराँजा, बुर्हानुद्दीन जानम, रुस्तमी, नुसरती जैसे उच्चकोटि के कलाकार हुए थे। दक्खिनी काव्य की यह परम्परा औरंगजेब के शासनकाल तक अबाध गति से अग्रसर होती रही। सन् १६८५-१६८६ में आदिलशाही और कुतुबशाही राज्य समाप्त करके औरंगजेब ने जब मुगलराज्य की स्थापना की तब तत्कालीन प्रमुख कवि वली औरंगाबादी, जईफ़ी, वजदी आदि फ़ारसी से प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हुए और इस प्रकार दक्खिनी का स्वरूप ही बदल गया।

दो सौ वर्ष की इस साहित्यिक परम्परा में मुसलमान कवियों द्वारा रचित मसनवियों में कुछ तो फ़ारसी-ग्रन्थों के अनुवाद हैं और कुछ फ़ारसी-काव्य से प्रेरित मौलिक काव्य-ग्रन्थ हैं। अनूदित ग्रन्थों में ग़वासी की मसनवी 'सैफ़ुलमुलूक व बदीउज्जमाल' (१६२५ ई०) इब्ननिशाती की 'फूलबन' (१६५३ ई०) तथा फारसी के 'बिसातीन' का अनुवाद उल्लेखनीय है। मौलिक रचनाओं में वजही की 'कुतुबमुशतरी' का विशेष स्थान है। मुहम्मद कुली कुतुबशाह की स्फुट रचनाएँ 'कुल्लियात' में प्रकाशित हुई हैं। मसनवियों में अधिकतर प्रेम-कथाएँ ली गई हैं। प्रेमी अथवा प्रेमिका को लक्ष्य-प्राप्ति के लिए किस प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं और अन्त में उनका मिलन कैसे होता है, यही इन काव्यों का वर्ण्य विषय है।

उर्दू की तरह दक्खिनी हिन्दी का भी उद्भव-स्रोत बोलचाल की खड़ीबोली है। अतएव कतिपय भाषाविद् पण्डितों को यह भ्रम हो गया कि दक्खिनी खड़ीबोली का ही दूसरा नाम है। इस सम्बन्ध में उनके तर्क इस प्रकार हैं :—

१. ईसा की पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक दक्षिण में जो साहित्य निर्मित हुआ उसकी भाषा 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दी' कहलाती थी जो उत्तर भारत में खुसरो द्वारा भी उसी नाम से प्रयुक्त हुई थी। उसी 'हिन्दवी' को दक्षिण के साहित्यकारों ने 'दखिनी' कहा है। इस भाषा के लिए 'उर्दू' नाम दक्खिनी के किसी साहित्यकार के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

---

१. किया तर्जुमा दखिनि और दिल वर्जीर।
बौल्या मौज़जह यू कमाल खाँ दबीर॥

—प्रवेशक, दक्खिनी हिंदी, पृ० १५, बाबूराम सक्सेना

२. प्रवेशक—दक्खिनी हिंदी, पृ० १७, बाबूराम सक्सेना

प्रथम पद में 'मन्दिर,' 'दर,' 'तिरिया,' 'अमृत,' 'ताल' का अर्थ क्रम से जब तक 'छत्ता,' 'छिद्र' 'मधुमक्खी' और 'मधु' स्पष्ट नहीं हो जाता पहेली नहीं बूझी जा सकती। 'महाल' अर्थात् 'मुहाल' अपने श्लिष्ट अर्थ (मक्खी और कठिन) द्वारा पाठक की बुद्धि को और भी सम्भ्रम में डाल देता है। द्वितीय पद में 'मोती' से 'तारों' का, 'थाल' से 'गगन' का बोध लक्षणा की सहायता से ही होता है।

साधारण शैली, असमस्त-पद-योजना तथा छोटे और सरल वाक्य-विन्यास ने इन रचनाओं को अत्यन्त प्रसादमय बना दिया है। ब्रजभाषा के प्रभाव से परुष वर्ण वाले शब्दों को कोमल और मसृण कर लेने के आग्रह ने उसमें माधुर्य भी सन्निविष्ट कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि खुसरो अपनी कविता में विनोद, चमत्कार एवं कुतूहल का विधान करने में पर्याप्त सफल हुए हैं। शब्द, अलंकार, आदि कवि के दास की तरह भाव और प्रसंग के अनुकूल बैठे हैं। यद्यपि साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टि से खुसरो के काव्य को खड़ीबोली-काव्य में कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु भाषा की संस्कारिता और ऐतिहासिकता के विचार से वे उल्लेखनीय हैं।

दक्खिनी काव्य

भाषाओं के उद्भव और विकास के इतिहास में यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना है कि खड़ीबोली की उत्पत्ति तो उत्तर भारत में हुई और उसका लालन-पालन दक्षिण भारत में मुसलमान शासकों एवं दरबारी साहित्य-प्रेमियों के हाथों हुआ। यही नहीं दक्षिण में आने पर भी उसका हिन्दवी, हिन्दुई अथवा हिन्दी नाम उसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। शेख अशरफ़ के नौसरहार[1] (१५०३ ई०), शाह बुरहानुद्दीन जानम बीजापुरी के इर्शाद नामह[2] (१५८२ ई०) तथा मुल्ला वजही के 'सबरस'[3] (१६३५ ई०) में ये नाम स्थान-स्थान पर उल्लिखित मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वजही ने कुतुबमुशतरी[4], इब्न निशाती ने फूलबन[5] एवं

---

१. नज़्म लिखी सब मौजूँ आन। यों मैं हिन्दवी कर आसान।
यक यक बोल य मौजूँ आन। तक़रीर हिन्दवी सब वखान॥

—मख़तूतात, पृ० १८

२. यह सब बोलूँ हिंदी बोल। पुन तूँ एन्हों सेती घोल।
ऐब न राखे हिंदी बोल। मानी तो चख दीखें खोल।
हिंदी बोलों किया बखान। जे कर परसाद था मुझे ग्यान॥

—मख़तूतात, पृ० १६

३. 'हिंदोस्तान में हिंदी जबान सों इस लताफ़त इस छन्दाँ सों नज़्म और नस्र मिलाकर गुलाकर यों मैंने बोल्या।'
—सबरस, पृ० ११

४. दखिन में जो दखिनी मीठी बात का
अदा नईं किया कोई इस घात का।

—क़ुतुब मुशतरी, पृ० २६

५. इसे हर कस को तईं समझा को लूँ बोल।
दखिन के बाताँ सार्‍याँ को तू खोल॥

—प्रवेशक—दक्खिनी हिंदी, पृ० १५, बाबूराम सक्सेना

रुस्तमी ने खाविर नामह[1] में इसी भाषा को 'दखिनी' नाम से भी अभिहित किया है। भाषा-वैज्ञानिकों का कहना है कि इसका 'दखिनी' नाम केवल दक्खिनी राज्यों के सम्बन्ध के कारण है।[2]

पद्य की दृष्टि से दक्खिनी का प्रथम कलाकार 'निज़ामी' बताया जाता है और इसकी मसनवी 'कदमराव व पदम' दक्खिनी हिन्दी की प्रथम रचना कही जाती है। निज़ामी वहमनी सुल्तान अहमदशाह तृतीय के शासनकाल में (१४६०-१४६२) वर्त्तमान था। इसके पश्चात् यह भाषा बीजापुर में आदिलशाही और गोलकुंडा के कुतुवशाही राज्य में खूब चमकी क्योंकि दोनों राज्यों के सुल्तान् न केवल कवियों के आश्रयदाता थे वरन् स्वयं भी अच्छे कलाकार थे। कुतुवशाही राज्य के तज़किरों में वजही, ग़वासी, मुल्ला, इब्ननिशाती, नूरी, मिर्ज़ा आदि अनेक अच्छे कवियों के नाम मिलते हैं और आदिलशाही राज्य में शाह मीराँजा, बुर्हानुद्दीन जानम, रुस्तमी, नुसरती जैसे उच्चकोटि के कलाकार हुए थे। दक्खिनी काव्य की यह परम्परा औरंगजेब के शासनकाल तक अबाध गति से अग्रसर होती रही। सन् १६८५-१६८६ में आदिलशाही और कुतुवशाही राज्य समाप्त करके औरंगजेब ने जब मुगलराज्य की स्थापना की तब तत्कालीन प्रमुख कवि वली औरंगाबादी, जईफ़ी, वजदी आदि फ़ारसी से प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हुए और इस प्रकार दक्खिनी का स्वरूप ही बदल गया।

दो सौ वर्ष की इस साहित्यिक परम्परा में मुसलमान कवियों द्वारा रचित मसनवियों में कुछ तो फ़ारसी-ग्रन्थों के अनुवाद हैं और कुछ फ़ारसी-काव्य से प्रेरित मौलिक काव्य-ग्रन्थ हैं। अनूदित ग्रन्थों में ग़वासी की मसनवी 'सैफ़ुलमुलूक व बदीउज्जमाल' (१६२५ ई०) इब्ननिशाती की 'फूलबन' (१६५३ ई०) तथा फारसी के 'बिसातीन' का अनुवाद उल्लेखनीय है। मौलिक रचनाओं में वजही की 'कुतुबमुशतरी' का विशेष स्थान है। मुहम्मद कुली कुतुवशाह की स्फुट रचनाएँ 'कुल्लियात' में प्रकाशित हुई हैं। मसनवियों में अधिकतर प्रेम-कथाएँ ली गई हैं। प्रेमी अथवा प्रेमिका को लक्ष्य-प्राप्ति के लिए किस प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं और अन्त में उनका मिलन कैसे होता है, यही इन काव्यों का वर्ण्य विषय है।

उर्दू की तरह दक्खिनी हिन्दी का भी उद्भव-स्रोत बोलचाल की खड़ीबोली है। अतएव कतिपय भाषाविद् पण्डितों को यह भ्रम हो गया कि दक्खिनी खड़ीबोली का ही दूसरा नाम है। इस सम्बन्ध में उनके तर्क इस प्रकार हैं :—

१. ईसा की पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक दक्षिण में जो साहित्य निर्मित हुआ उसकी भाषा 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दी' कहलाती थी जो उत्तर भारत में खुसरो द्वारा भी उसी नाम से प्रयुक्त हुई थी। उसी 'हिन्दवी' को दक्षिण के साहित्यकारों ने 'दखिनी' कहा है। इस भाषा के लिए 'उर्दू' नाम दक्खिनी के किसी साहित्यकार के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

---

१. किया तर्जुमा दखिनि और दिल वर्जीर।
   बौल्या मौजजह यू कमाल खाँ दर्बार॥

—प्रवेशक, दक्खिनी हिंदी, पृ० १५, बाबूराम सक्सेना

२. प्रवेशक—दक्खिनी हिंदी, पृ० १७, बाबूराम सक्सेना

२. दक्खिनी हिन्दी में अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द कम तथा संस्कृत, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के शब्द अधिक हैं। डॉ० अब्दुलहक़ के अनुसार वजही के क़ुतुब मुशतरी जैसे ग्रन्थ में भी फ़ारसी-हिन्दी अल्फ़ाज का तनासुब अनुपात में एक और अढ़ाई का पड़ला है।[1] इसका समर्थन सैफ़ुलमुलूक और बदीउज्जमाल के सम्पादक ने भी किया है।[2]

३. इन मसनवियों में हिन्दुओं के होली, दीवाली आदि त्यौहारों, वसन्त, वर्षा आदि ऋतुओं, गंगा, यमुना आदि नदियों, हिमालय अर्वली आदि पर्वतों एवं राम, सीता, हनुमान जैसे पौराणिक चरित्रों का उल्लेख मिलता है।

४. दक्खिनी कवियों ने काव्य के प्रसाधनार्थ कमल, भ्रमर, चन्द्रमा, चकोर, सूर्य, तारे, बिजली आदि अप्रस्तुतों का आश्रय लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि शौरसेनी अपभ्रंश-प्रसूत पश्चिमी-हिन्दी की पुत्री खड़ीबोली ही दक्खिनी हिन्दी की जन्मदात्री है किन्तु मसनवियों की भाव-भंगिमा देखने से ज्ञात हो जाता है कि जलवायु के अन्तर, भाषा-भेद, स्थानीय लोगों के साथ मेल-जोल आदि कारणों से जो भाषा दिल्ली से गई थी दक्षिण में जाकर उसमें पर्याप्त अन्तर आ गया। भाषा के इस शैली-भेद का कारण स्पष्ट करते हुए रामबाबू सक्सेना लिखते हैं कि, "नई भाषा के प्रचार का दायित्व ऐसे लोगों पर था जो फ़ारसी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से अपरिचित थे। इसी कारण नई भाषा का गठन फ़ारसी के अनुसार हुआ।"[3] सम्भवतः इसीलिए इन काव्यों की लिपि भी फ़ारसी है, छन्द भी फ़ारसी है और कविता का बाह्य रूप भी फ़ारसी है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व दक्खिनी हिन्दी का व्याकरणगत स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

ध्वनि—दक्खिनी में खड़ीबोली के सब स्वरों के अतिरिक्त 'ए' और 'ओ' के बीच के उच्चारण भी सुनाई पड़ते हैं। व्यंजनों में खड़ीबोली की अन्य ध्वनियों से साथ फ़ारसी-अरबी की क़, ख़, ग़, ज़, फ़ बोलने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। महाप्राण ध्वनियाँ प्रायः अल्पप्राण हो जाती हैं, जैसे मुजे=मुझे, कुच=कुछ, समज=समझ आदि।

रूप—संज्ञा के रूप खड़ीबोली के समान ही होते हैं जैसे पियाला, अन्देशा, घोड़ा, कौवा, बनिया, आशना, दाना आदि। किन्तु पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग दोनों प्रकार की संज्ञाओं का वचन-परिवर्तन 'ओं' अथवा 'याँ' लगाकर किया जाता है, यथा :—

वचन-परिवर्तन

पुल्लिग			स्त्रीलिंग		
चोर	=	चोरों	न्यामत	=	न्यामताँ
बन्दा	=	बन्दों या बन्द्याँ	औरत	=	औरतों
दोस्त	=	दोस्ताँ	मूरत	=	मूरतियाँ या मूरत्याँ

१. कुतुब मुशतरी, भूमिका, पृ० १८
२. सैफ़ुलमुलूक व वदीउज्जमाल—दृ० भूमिका
३. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० ८७, रामबाबू सक्सेना

घर	=	घराँ	माँ	=	माँवाँ
आदमी	=	आदम्याँ	नदी	=	नद्याँ

सर्वनाम

उत्तम पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	मैं	हम, हमों
सम्वन्ध	मेरा-रे-री	हमारा-रे-री
	मुज, तुज	हमन
कर्म-सम्प्रदान	मुजे, मुझें, मुंजे मुझकू, मेरे कने	हमे, हमना, हमकू, हमनकू, हमोंकू, हमारे कने

मध्यम पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तू, तूँ, तें	तुम, तुमें, तमें
सम्वन्ध	तेरा-रे-री	तुमारा-रे-री,
	तुझ, तुज	तुम, तुमन
कर्म-सम्प्रदान	तुझे, तुजे, तुझकू, तेरे कने	तुम्हें, तुमना, तुमकू, तुमनकू, तुम्होंकू, तुमारे कने

अन्य पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	ओ, वो, वोह	उन, उनूँ, वे, ओ, वोह
सम्बन्ध	उसकू, उस	उनकूँ
कर्म-सम्प्रदान	उसे, उस, उसकू	उन, उन्हों, उन्हें, उनन

निजवाचक सर्वनाम

कर्तृवाचक—आप, अप, आपे, अपे, अपें, अपसे, अपन ।

सम्वन्धवाचक—आपका, अपना, अपने, आपना, आपनी, अपन, अपस ।

कारक चिह्न

कर्त्ता—ने, नी (अनियमित प्रयोग)

कर्म-सम्प्रदान—को, कु, कू, के तईं, का तईं, कने, खातिर।

सम्बन्धवाचक—का-के-की, केरे, केरी, क्याँ, कराँ ।

करण अपादान—से, सों, ते, थे, सेती, सते, सु, सू, सूँ।

अधिकरण—मैं, मने, मियाने, मँह, महि, मों, पर, पो, उपराल ।

स्मरण रहे कि दक्खिनी हिन्दी में कर्तृवाचक 'ने' का प्रयोग सर्वथा अनियमित है ।

खड़ीबोली में 'ने' केवल सकर्मक भूतकालिक क्रिया में संज्ञा के साथ आता है। ऐसी व्यवस्था दक्खिनी में नहीं मिलती; यथा, 'खुदा के दोस्तों ने बोले हैं', 'मैं मारी', 'ओने मारी', 'उसने चला' आदि।

क्रियापद—खड़ीबोली में धातुवाचक क्रिया 'ना' प्रत्यय लगाने से बनती है जैसे खाना, बैठना, मारना, पढ़ना आदि। दक्खिनी में अनेक प्रकार के रूप पाये जाते हैं जैसे मारना, मारन, मारनाँ, जान, जाना। वर्तमान कालिक रूपों में 'याँ' अथवा 'या' लगाया जाता है खड़ीबोली की तरह 'ता' प्रत्यय नहीं, जैसे मार्याँ, जाया, जुझ्या, पूछ्या, बोल्या, धर्या आदि। भूतकाल में सकर्मक क्रिया का वचन और लिंग खड़ीबोली की तरह कर्म के अनुसार न होकर कर्त्ता के अनुरूप रहता है यथा, 'हुजूर बुलाय, पान दिये और फर्माये'। हाँ, भविष्यत् काल के रूप 'गा-गे-गी' ही लगाकर बनते हैं। सहायक क्रिया के रूप 'है' और 'था' के अतिरिक्त 'अह', 'अथ' आदि भी मिलते हैं।

अव्यय—स्थानवाचक क्रिया-विशेषणों में 'जधाँ, तधाँ, कधन, कधी, काँ, याँ, वाँ, कई आदि एवं प्रश्नवाचक में 'की, वरी' आदि रूप बनते हैं। निषेधवाचक रूपों में 'न, ना, ने, नको' और 'बाज़' का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

व्याकरण के इस सामान्य अध्ययन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्खिनी और खड़ीबोली दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। इसके अतिरिक्त दोनों बोलियों को एक सिद्ध करने वाले तर्कों में भी विशेष बल नहीं है। इनका खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है—

'उर्दू-ए-कदीम', 'तारीखे-नस्र-उर्दू', 'पंजाब में उर्दू' आदि ग्रंथों के लेखकों ने भी बड़ी खोज के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि 'उर्दू' का सबसे पुराना नाम 'हिन्दी' ही है। आतिश ने 'उर्दू' के लिये हिन्दी शब्द का प्रयोग किया है।[1] उर्दू के आधुनिक लेखक इंशा ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में कई जगह 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'उर्दू' के पर्याय में किया है। सादी के समकालीन बाक़र आगाह (११५७ हि०) ने अपने उर्दू-दीवान का नाम 'दीवान-ए-हिन्दी' रखा था; इस सम्बन्ध में मुहम्मद अब्दुल क़ादिर सरवरी साहब लिखते हैं, "दीवान के सरवरक पर और खुद अशआर में भी कहीं-कहीं हिन्दी का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है ताहम यह मालूम रहे कि इससे मुराद उन शायरों की उर्दू होती थी क्योंकि वह उर्दू को हिन्दी से कोई जुदा नहीं समझते थे······'हिन्दी' या 'हिन्दवी' इसका क़दीम तरीन नाम था। उर्दू और दखिनी के लिये भी यह लफ़्ज़ बिला तक़ल्लुफ़ इस्तेमाल होता था गोया उर्दू, हिन्दी और दरबारी एक ही ज़बान के मुख़तलिफ़ नाम हों।"[2] इस बात का समर्थन श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने भी अपने व्याख्यान 'दे ओरिजिन ऑफ़ द हिन्दवी एण्ड इट्स रिलेशन टु उर्दू डायलेक्ट'[3]

१. "मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब,
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी जबाँ नहीं।"
—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० १९, पद्मसिंह शर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९४२ ई०

२. हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० १९-२०, पद्मसिंह शर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९४२ ई०

3. The Urdu, which is also called the Hindustani, is nothing but Hindvi with a variable proportion of foreign element.
—Proceedings of the Asiatic Society, Year 1864, P. 470.

में किया है। विदेशी अंग्रेज़ विद्वान ब्लॉकमैन[1] तथा बीम्स[2] ने भी इस धारणा को पुष्ट किया है कि मूलतः 'उर्दू' और 'हिन्दवी' एक ही भाषा के दो नाम हैं जो मुग़ल साम्राज्य तक एक ही नाम से जानी जाती थी। जिस प्रकार 'हिन्दवी' शब्द का मिलना 'उर्दू' के न होने की घोषणा नहीं करता उसी प्रकार 'हिन्दवी' नाम से प्राप्त सब रचनाओं की भाषा को खड़ीबोली हिन्दी की रचनाएँ नहीं माना जा सकता और यदि मात्र नाम को महत्व देकर भाषा की उत्पत्ति का हवाला दिया जाय, तो लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' से पूर्व (१८०२ सन्) 'खड़ीबोली' का तो अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हम देखते हैं कि प्रारम्भिक उर्दू में भी हिन्दी की शब्द-राशि का उपयोग अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मिलता है। सैयद अहमद देहलवी ने अपने मशहूर लुगात 'फ़रहगे-आसफ़िया' के आखिर में ज़खीरे-अलफ़ाज़ दिया है जिसमें उर्दू ज़बान के हर क़िस्म के अल्फ़ाज़ ज़बानों की सालिहत के लिहाज़ से गिनाये हैं। उपसंहार में वे लिखते हैं, "हिन्दी के अल्फ़ाज़ हमारी ज़बान में तमाम ज़बानों से ज़्यादा हैं जो बामुक़ाबिला कुल मजमुए के निस्फ़ के करीब हैं और अरबी के अल्फ़ाज़ से चन्द हैं।"[3] यही बात हाली साहब ने भी कही है, "उर्दू ज़बान की बुनियाद हिन्दी भाषा पर रखी गई है। उसके तमाम अफ़आल और तमाम हरुफ़ और ग़ालिब हिस्सा अस्मा का हिन्दी से माख़ूज़ है।"[4] अतएव यह निश्चित है कि 'उर्दू' और 'हिन्दी' का अन्तर मात्र शब्द-समूह पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। और फिर भाषा केवल शब्दों का समूह ही नहीं है, उसका एक ढाँचा होता है जो उसकी ध्वनियों और व्याकरण से बनता है। वास्तव में वही भाषा का देह-पंजर होता है।

काव्य-रचनाओं में हिन्दुओं के धार्मिक उत्सव तथा तीर्थ आदि विषयों के उल्लेख के आधार पर भी दक्खिनी को खड़ीबोली सिद्ध नहीं किया जा सकता। हिन्दुओं के पर्व-त्यौहार आदि के वर्णन का कारण वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक स्थिति था। इतिहासकार ग्रिब्ल्स ने 'हिस्ट्री ऑफ द डकन' में लिखा है कि "उन ३०० वर्ष के समय में हिन्दुओं और मुसलमानों में इतना मेल-जोल था कि हिन्दुस्तान में किसी और समय वैसा मेल नहीं पाया जाता। हिन्दू और मुसलमानों के बीच केवल साधारण व्यावहारिक सम्बन्ध ही न थे बल्कि हिन्दू प्रजा अपने मुसलमान बादशाहों से हार्दिक प्रेम भी करती थी। और यह स्नेह-सम्बन्ध तब तक बने रहे जब तक कि बीजापुर राज्य के पतन के उपरान्त मरहठों पर किये गये मुसलमानी अत्याचारों ने इस स्थिति का अन्त न कर दिया।"[5] इसलिये उस समय के काव्य में होली, दीवाली, गंगा,

---

1. Both Hindus and Mohammadans spoke the same Vernacular, viz. Hindi as it was then called—Hindvi......
   See—"The Hindu Rajas under the Moghuls"—Calcutta Review. 1871 A.D.
2. The Grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi and it must follow, therefore, that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect.

   द्र०—पृ० १५५, अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर

३–४. हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी—पृ० ६०, १५८, पद्मसिंह शर्मा
5. History of the Deccan, Volume I. P. 294—Gribbles.

यमुना आदि का उल्लेख मिलना विशेष आश्चर्यजनक नहीं है।

ग़वासी के 'सैफ़ुलमूलूक व बदीउज्जमाल', और इब्ननिशाती के 'फूलवन' जैसे अनूदित ग्रन्थों में तो फ़ारसी का ढाँचा होना स्वाभाविक है किन्तु वजही की 'कुतुवमुशतरी' जैसी स्वतन्त्र रचनाओं में भी उर्दू-फ़ारसी की प्रचलित शैली का ही अनुकरण हुआ है। हज़रत मुहम्मद की स्तुति के पश्चात् मुसलमानों के विश्वास के अनुसार खिज़र (सिकन्दर का सेनापति) का आबेहयात से मिलना, सर्वज्ञानी लुकमान का उल्लेख, मजलिस में परियों का नाच, कुंजों की जगह गुलिस्तान, बुतखाने, शबेरात आदि तथा वीरता में रुस्तम, पक्षियों में बुलबुल, पुष्पों में नरगिस, नदियों में दजला और फ़रात का जिक्र अनेक स्थलों पर हुआ है। उपमानों में नेत्रों के लिये बिजली और बादाम, आँसुओं के लिये अनार के दाने, नासिका और मुख के लिए भुजंग, बिच्छू जैसे वीभत्स अप्रस्तुत चुने गये हैं। केश और नेत्रों के लिये जाल और मछलियों जैसे उपमान भारतीय साहित्य-शास्त्र में अपरिचित ही नहीं अपितु अलंकार-योजना और रस-निर्वाह की दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं। छन्द-प्रयोग में भी गज़ल, रुबाई, मर्सिया आदि मिलते हैं गीत, दोहा और चौपाई नहीं। वास्तव में इन मसनवियों का प्राण उर्दू है। कदाचित् इसीलिये डॉ० ग्रियर्सन[1] एवं डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[2] ने दक्खिनी को 'उर्दू' के पर्याय में ही स्वीकार किया है और डॉ० ग्रियर्सन ने भी उसे 'उर्दू' का बिगड़ा हुआ रूप कहा है।

इन सब कारणों को देखते हुए दक्खिनी-काव्य को खड़ीबोली-काव्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता।

संत साहित्य

कबीरदास तथा अन्य संत—यों तो कबीर, दादू, रैदास, सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, यारीसाहब, भीखासाहिब, पलटूसाहिब, गरीबदास, तुलसीसाहिब (हाथरस वाले) आदि सभी निर्गुण-मार्गी संतों ने अपनी साखी, बानी, उलटबासी, आदि में खड़ीबोली के पद-पदांश प्रयुक्त किये हैं किन्तु उनमें से किसी ने भी जमकर खड़ीबोली-काव्य-रचना का प्रयास नहीं किया। खड़ीबोली का आभास लिये वे वाक्य तो उनकी प्रचारात्मक भाषा में सहज रूप में गुँथे चले आये हैं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। सुन्दरदास जैसे दो एक अपवाद छोड़ कर अधिकांश संत अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित थे। दूसरे, कविता न तो उनका ध्येय था न जीविका; क्योंकि सभी संत अपनी सांसारिक जीविका के हेतु कोई न कोई धंधा करते थे। कबीर जुलाहे थे, दादू धुनिया थे अथवा मत-मतांतर से चमड़े के मोट बनाते थे, सदना माँस बेचते थे और रैदास चमार थे। उनकी स्वतः प्रसूत कविता का लक्ष्य जनता में भक्ति एवं निर्गुण तत्व के सिद्धान्तों का प्रचार मात्र था जिसके लिए उन्होंने जन साधारण की बोलचाल की भाषा अपनायी। अतएव संत-साहित्य की भाषा का स्वरूप-निर्माण अवधी, ब्रज, पंजाबी,

1—"Urdu itself has two varieties; the standard literary form of Delhi and Lucknow and the Dakini spoken and used as a literary medium by Mussalmans of Southern India."

—Linguistic Survey of India, Vol. IX. Part I.

२. हिंदी भाषा का इतिहास—पृ० ६२, डॉ० धीरेंद्र वर्मा

राजस्थानी, भोजपुरी, खड़ीबोली आदि प्रान्तीय बोलियों एवं अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों के अद्भुत मिश्रण से हुआ। इसलिए सच्चे अर्थों में उनकी रचनाओं को भाषा-विशेष की संज्ञा देना सम्भव नहीं है। कदाचित् इसी कारण विद्वानों ने उसे 'संध्या','संधा', 'सधुक्कड़ी', 'खिचड़ी भाषा' आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया है और सम्भवतः इसी कारण कबीर की रचनाओं का भाषा-रूप आज भी स्थिर नहीं हो पाया है।

फिर भी इस बहुरंगी भाषा में कतिपय संतों के गिने-चुने पद खड़ीबोली की विशेषताओं से समन्वित हैं। उनमें स्थल-स्थल पर खड़ीबोली-कारकचिह्नों का प्रयोग, शब्दों की आकारान्त प्रवृत्ति, वचन-परिवर्तन आदि खड़ीबोली के अनुकूल हैं। अतएव जिन सन्तों की रचनाओं में ऐसे खड़ीबोली-प्रधान प्रकीर्णक पद-पदांश प्राप्त हैं, प्रस्तुत प्रवन्ध में केवल उन्हीं रचनाओं के अभिव्यंजना-सौष्ठव का अनुशीलन किया जायगा। इस दृष्टि से कबीर, मलूकदास, पलटूसाहिब तथा तुलसीसाहिब (हाथरस वाले) का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

कबीर (सं० १४५६-१५७५)—यह तो निश्चित है कि कबीर ने कोई पुस्तक स्वयं नहीं लिखी। इसके प्रमाण में डॉ० श्यामसुन्दरदास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डॉ० रामकुमार वर्मा तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि सभी विद्वान् कबीर की सुप्रसिद्ध 'मसि कागद छूओ नहीं' वाली उक्ति दोहराते हैं। इनके सिवाय प्रो० बी० बी० राय ने अपने उर्दू-ग्रन्थ 'सम्प्रदाय' (पृ० ६३), बंगाली विद्वान् अक्षयकुमार दत्त ने 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' तथा अंग्रेज़ विद्वान् वैसकॉट ने 'कबीर एण्ड द कबीर पंथ' (पृ० ४६) में भाषा के हेरफेर से 'कबीर के तालीमी बातों को क़लम बन्द न करने' की बात कही है।[१] कबीर के नाम से प्राप्त प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों प्रकार के ग्रन्थों की संख्या एक सौ तीस के लगभग पहुंच चुकी है।[२] इनके अतिरिक्त इनके नाम से सैंकड़ों ऐसे पद उत्तर भारत में मौखिक रूप में प्रचलित हैं जिनका उल्लेख इन लिखित ग्रन्थों में नहीं मिलता। यदि केवल लिपिवद्ध ग्रन्थों की बात भी की जाय तो कबीर के नाम से उपलब्ध विशाल साहित्य में यह निर्णय करना नितान्त असम्भव है कि उनमें से वास्तव में कबीर रचित कौनसे हैं। आधुनिक काल के साहित्य-मर्मज्ञों में कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता पर मतभेद है। इन विभिन्न अध्येताओं ने अपनी मान्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रन्थों को अपने संकलन का आधार माना है। डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' का संचयन सं० १५६१ तथा सं० १८८१ की दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। परिशिष्ट में कुछ पद 'गुरु ग्रन्थसाहिब' से भी उद्धृत हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा के 'संत कबीर' का संकलन गुरु श्री अर्जनदेवसिंह द्वारा लिपिवद्ध 'ग्रन्थसाहिब' (सं० १६६१) से हुआ है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कबीर वचनावली' का संग्रह 'कबीर बीजक', 'चौरासी अंग की साखी' तथा बेलवडियर प्रेस से प्रकाशित कबीर-साहित्य से किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने

१. कबीर वचनावली, पृ० २५—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
२. कबीर की विचारधारा, पृ० ५६०—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'कबीर' के परिशिष्ट में बंगाली विद्वान् श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा संकलित मौखिक बानियों से प्रथम सौ पद दिये हैं, किन्तु 'बीजक' एवं 'साखियों' को ही सर्वाधिक प्रामाणिक माना है और कबीर के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ उनका यथेच्छ व्यवहार भी किया है।[१] अन्य प्रकाशित पुस्तकों में बीजक के अनेक संस्करण प्राप्त हैं, किन्तु उनमें पाठ-भेद भी है और प्रक्षिप्तांशों का निश्चय करना भी दुस्तर है। बेलवडियर प्रेस से प्रकाशित पुस्तकों में कबीर कृत 'अनुराग सागर', 'बीजक', 'साखी-संग्रह', 'शब्दावली' (चार भाग), 'ज्ञान गुदड़ी, रेखते और भूलने' तथा 'अखरावटी' मिलते हैं। इन ग्रन्थों के संकलन का समस्त श्रेय राधास्वामी सम्प्रदाय के संतों तथा महात्माओं को दिया जाता है किन्तु बेलवडियर प्रेस-प्रकाशक ने इनके आधारभूत हस्तलिखित ग्रंथों का कहीं उल्लेख नहीं किया। तात्पर्य यह है कि मतभेद होने के कारण डॉ० श्यामसुन्दरदास केवल अपनी ग्रन्थावली को प्रामाणिक मानते हैं।[२] पर डॉ० रामकुमार वर्मा 'कबीर ग्रन्थावली' (संग्रहकर्त्ता—डॉ० श्यामसुन्दरदास) की आधारभूत सामग्री (सं० १५६१ की हस्तलिखित प्रति) पर भी शंका उठाते हुए कहते हैं कि "यदि इस प्रति को बारीकी से देखा जाय तो इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह बना ही रहता है"[३], और उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में कबीर-कृत ग्रन्थों की सूची इकसठ तक गिना दी है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय बेलवडियर प्रेस की पुस्तकों को 'बहुत कुछ प्रामाणिक'[४] मानते हैं। डॉ० त्रिगुणायत भी इनके बारे में कुछ अनिश्चित मत के प्रतीत होते हैं। एक स्थल पर तो वे यह कहते हैं कि "जहाँ तक बेलवडियर प्रेस के संग्रह ग्रन्थों का सम्बन्ध है उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध कही जा सकती है······प्रायः इन संग्रहों में ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक बानियों को शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।" और दूसरी जगह यह कह देते हैं कि "इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन ग्रन्थों में संगृहीत समस्त बानियाँ अप्रामाणिक हैं। इनमें से थोड़ी-बहुत बानियाँ अवश्य ही कबीर-कथित हैं।"[५] प्रश्न यह है कि वे थोड़ी-बहुत बानियाँ कौनसी हैं? प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रन्थों के अभाव में इनका निश्चय कैसे किया जा सकता है? वैसे भी प्राप्त ग्रन्थों में कबीर-काव्य के मूल से विकृत हो जाने की सम्भावना सर्वत्र दिखाई पड़ती है; उसका कारण डॉ० रामकुमार वर्मा के कथनानुसार चाहे प्रतिलिपिकारों की अज्ञानता, समय का अत्याचार, गुरुओं की अहमन्यता, छपाई के अभाव में हस्त-लेखन की कठिनाइयाँ हों अथवा कविता का भिन्न-भिन्न प्रान्तों में व्यापक और मौखिक प्रचार हो[६]। अतः जब तक कबीर की रचनाओं का कोई प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ न मिले और प्राप्त पोथियों का उससे मिलान न कर लिया जाय, शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ के सम्बन्ध में असंतोष बना ही रहेगा। अब खड़ीबोली-काव्य के आधारभूत

१. कबीर, पृ० १८—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. द्र० कबीर ग्रंथावली, भूमिका—डॉ० श्यामसुन्दरदास
३. संत कबीर, पृ० १०—डॉ० रामकुमार वर्मा
४. कबीर वचनावली, पृ० २५—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
५. कबीर की विचारधारा, पृ० ५७—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत
६. संत कबीर (संक्षिप्त) पृ० १६—डॉ० रामकुमार वर्मा

ग्रन्थ 'ज्ञान गुदड़ी, रेखते व भूलने' आदि की स्थिति देखिए। प्रो० एच० एच० विलसन ने 'रिलिजन ऑफ़ द हिन्दूज़' नामक ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (पृ० ७६-७७) में कबीर कृत केवल आठ ग्रन्थ गिनाये हैं जिनमें 'भूलना' का नाम भी दिया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कबीर चौरा से प्राप्त खास ग्रन्थों की सूचिका में 'रेखता' और 'भूलने' दोनों का उल्लेख किया है।[1] श्री रामदास गौड़ तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने क्रम से प्रस्तुत कबीर कृत अड़सठ एवं इकसठ ग्रन्थों की सूची में 'ज्ञान गुदड़ी' 'रेखता' दोनों नाम सम्मिलित किये हैं। रामदास गौड़ ने 'भूलना' भी परिगणित किया है।[2] अतः यह तो निश्चित है कि 'ज्ञान गुदड़ी', 'भूलना', 'रेखते' कबीर के नाम से प्राप्त हैं किन्तु इनमें से प्रामाणिक पदों का निश्चय करना कठिन है। ऐसी स्थिति में बेलवडियर प्रेस से प्रकाशित साहित्य-सामग्री को सर्वथा संदिग्ध कहकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता।

कबीर तथा अन्य संत-कवियों के खड़ीबोली-पद

विषय-वस्तु—प्रारम्भ में ही इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि कबीर तथा अन्य संतों में खड़ीबोली भाषा के एकान्त प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसलिये समस्त संत-साहित्य में जो विषयगत विशिष्टता मिलती है उसी का उल्लेख किया जाएगा। संत-साहित्य में दो सामान्य प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं :—

(१) ज्ञान सम्बन्धी आध्यात्मिक उपदेश तथा भक्ति भावना
(२) बाह्याचार (कर्मकाण्ड) के प्रति खण्डनात्मक प्रवृत्ति

आध्यात्मिक उपदेश से सम्बद्ध रचनाओं में निर्गुण पंथी संत कुछ दुविधा में दिखाई देते हैं। कहीं तो उनकी वाणियों में भारतीय अद्वैतवाद या मायावाद का वर्णन मिलता है और कहीं सूफ़ियों के प्रेमतत्व की झलक मिलती है। भक्तिभाव में अहंभाव का पूर्णरूपेण तिरोभाव, निपट दैन्य-प्रदर्शन, परब्रह्म के आगे सर्वतोभावेन स्वात्म समर्पण आदि विषय संत काव्य की निधि हैं। खण्डनात्मक प्रवृत्ति में कहीं पैग़म्बरी खुदावाद, मूर्त्तिपूजा, अवतार आदि का विरोध लक्षित होता है, तो कहीं क़ुरबानी, नमाज़, रोज़ा, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता ध्वनित होती है।

अभिव्यंजना पक्ष—संतों द्वारा प्रणीत काव्य की लोकप्रियता उसकी काव्य-समृद्धि पर नहीं अपितु उसमें निहित स्वच्छ एवं स्वतन्त्र धार्मिक दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। इसलिए उनमें अलंकार, शब्द-शक्ति, गुण आदि विविध काव्य-तत्त्वों की खोज निरर्थक होगी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कवि-रूप उन्हें घलुए में मिली हुई वस्तु" है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ही प्रस्तुत प्रकरण में कबीर और अन्य संत कवियों के उपलब्ध खड़ीबोली पदों के अभिव्यंजना-सौष्ठव का अनुशीलन किया गया है।

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—कबीर के खड़ीबोली-पदों में खड़ीबोली

---

१. कबीर वचनावली, पृ० २५—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
२. कबीर—फुटनोट, पृ० १४-१५—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

के शब्द सीमित मात्रा में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से कतिपय प्रमुख प्रयोग द्रष्टव्य हैं, मिलना, जुलना, क्या, तेरा, मेरा, अपना, फोड़ना, जायगा, गाया, मारा, आया, किया, भूलना, उलटा, जाना आदि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का भी समावेश मिलता है जो खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं यथा ज्ञान, गुरुदेव, पद, राम, जगत्, रूप, सुन्दरी, नारी, पुरुष, वृद्ध, आनन्द, दृष्टि, अमृत, नृत्य, नीर, पवन, जल, अनुराग, मुक्ति, ब्रह्म, गगन, रीति, रजनी, त्रास, छवि, समाधि, तथा पूर्न, प्रान, आकाश, सुभ, तिरकुटी, मद्ध, आतमा, दिवि, मर्म, सरवज्ञ, सील, यग, मानुष, प्रगट, भिच्छुक, पित्र, हृदे, मन्तर, सुद्ध, सिष्य आदि।

तत्कालीन बोलचाल की खड़ीबोली में प्रचलित संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी के तद्भव शब्द भी कबीर की खड़ीबोली-रचनाओं में उपलब्ध होते हैं, जैसे—रैन. पीव, सैन, परम, दरस, अस्तुति, भँवर, पिंड, समरत्थ, जोति, परनाम, उजियारा, अरध, नित, सिरोमनि, ईसुर, मीमांसा, सिंगार आदि तथा खलक, दीदार, जोरू, खुस, वजूद, तोफ़ान, सक्स, गुलजार, बेहोस, स्वाल, अलमस्त, इलादा. बन्दा, बन्दगी, दिल, यार, रोसन, असमान, सोर, बाग़, अजब, चमन, गुल आदि।

उद्धृत शब्द राशि से स्पष्ट है कि कबीर में एक ही शब्द के अनेक पर्याय अथवा श्लिष्ट शब्द-प्रयोग की क्षमता न थी। श्रुत शब्द-प्रयोगों से जहाँ एक ओर खड़ीबोली में स्वरूप स्थिरता का अभाव रहा है वहाँ दूसरी ओर प्रांजलता पर भी आघात पहुँचा है। अतएव इन पदों में विकृत शब्द भी संख्यातीत मात्रा में उपलब्ध होते हैं जो उनकी 'विदिया न पढ़हु' उक्ति का समर्थन करते हैं। परन्तु यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द-विकृति स्वयं कबीर के अज्ञान से हुई या लिपिकारों के प्रमाद से। कहीं-कहीं तो शब्द बिगाड़ने की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अर्थ-प्रतीति दुष्कर हो जाती है, जैसे जक्त (जगत), कुच्छ, (कुछ), मन्न (मन), कल्ली (कली), खिल (अखिल), छिनक (क्षणिक), धृग (धिक), सुप्न (स्वप्न), जलामइ (जलमय), लछ (लक्ष्य), बेरा (बेला) आदि।

कबीर के खड़ीबोली-पदों में व्याकरण की अव्यवस्था भी सर्वत्र पाई जाती है। सम्भवतः भाषा को 'बहता नीर'[1] मानने के कारण संत कवि में अनेक भाषाओं के प्रभाव और सम्मिश्रण से बचने का कोई प्रयत्न दिखाई नहीं देता; उदाहरणार्थ एक ही वाक्य में ब्रज के क्रियापद, अवधी की संज्ञाएँ अथवा सर्वनाम, खड़ीबोली के कारक-चिह्न तथा ब्रज-व्याकरण के अनुसार वचन-परिवर्तन तक मिल जाते हैं। एक ही पद में कहीं खड़ीबोली के अनुकूल से, को, का, ने आदि का साम्राज्य है तो दूसरे स्थल पर सै, कै, सन आदि अवधी के विभक्ति चिह्न मिल जाते हैं; कहीं 'करैहै, जावै, मागै, कहिवो' आदि ब्रजभाषा के क्रियापद हैं तो दूसरी 'ज्वान देखा, परगट हुआ, अपराध का मूल है, संजोग बना' आदि खड़ीबोली-द्योतक क्रिया-प्रयोग हैं। शायद ही ऐसा कोई पद मिले जिसमें एक ही भाषा का व्याकरण सम्मत रूप देखा

१. संस्कृत कूपजल, कबिरा भाषा बहता नीर,
जब चाहौ तब ही डुबौ, सीतल होय सरीर॥

—हिन्दी संत-काव्य-संग्रह, पृ० ४०, सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी

जा सके। हाँ, जहाँ कहीं खड़ीबोली का आभास अधिक मात्रा में मिलता है वहाँ वाक्य-योजना सरल है। अर्थ-गर्भित लघु वाक्यों में सर्वजन-सुलभ प्रचलित कहावतों एवं मुहावरों की सहायता से जगत् और जीवन, आत्मा और परमात्मा संबंधित गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने की चेष्टा की गई है, यथा :—

> वार पार की हद्द हद्दद देखो,
> बिच आवना जावना देखा है।
> नदी नाव का यह संजोग बना,
> तहाँ मिलना जुलना पेखा है ॥[1]
>
> जहाँ नेह लगा जहाँ जोर न था,
> तहाँ नेह लगाइ क्या तोड़ना जी।
> दास कबीर विचारि कहै,
> क्या कुल्हिये में गुड़ फोड़ना जी ॥[2]

किसी भाव या विषय की विवृति के लिए विविध दृष्टान्तों का प्रयोग करना कबीर की अपनी शैली है। कभी वे उदाहरणों या दृष्टान्तों की शृंखला जमाकर अन्त में मुख्य विषय की स्थापना करते हैं तो कहीं पहले प्रतिपाद्य को प्रस्तुत कर तदनन्तर दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन करते हैं। निम्न पद में आत्मा-परमात्मा के अद्वैत भाव की स्थापना के लिए अग्नि और काष्ठ, तिल और तेल, दूध और घी आदि उदाहरण देकर अन्त में मुख्य भाव-नियोजन द्रष्टव्य है :—

> काठ के बीच में अगिनि जैसे,
> जैसे तिल में तेल निवास है जी।
> दूध के बीच में घीव जैसे,
> ऐसे फूल के बीच में बास है जी।
> कबीर कहै घट को जो मथै,
> तब पावै सबद प्रकास है जी ॥[3]

किन्तु इस प्रकार की सुष्ठु काव्य-योजना कम स्थलों पर देखने में आती है।

अलंकार—कबीर ने अपने साहित्य को अलंकारों द्वारा सज्जित करने का कभी सजग प्रयत्न नहीं किया। 'वाणी के डिक्टेटर' की शब्द-योजना में तो शब्द-अर्थ उभयालंकार साधन-रूप में सहज ही खिंचे चले आये हैं, क्योंकि वहाँ ध्वनित वस्तु ही प्रधान हैं, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कबीर-रचना का काव्यत्व 'फोकट का माल है—बाइप्रोडक्ट है।'[4] कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

१—३. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता व भूलने—पृ० ४६, ४६, ४७, बेलवडियर प्रेस
४. कबीर, पृ० २२०—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अनुप्रास

अलख के पलक में खलक सब जायगा,
परख दीदार दिल यार तेरा ।
सुरत में निरत करि भाव गाया करो,
यही बन्दे बन्दगी फलै तेरा ॥[१]

जपा अजपा जपौ अलख आपै लखौ,
बाहरे भीतरे एक होई ॥[२]

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल,
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ।[३]

रूपक

सुरत की डोर, सुख सिंध का झूलना,
चोर की सोर तहँ नाद गावै ॥[४]

ज्ञान का धनुष ले मुक्ति मैदान में,
सील का बान ले मतंग मारा ।
सबद का घाव सौ साच उर में धसा,
काम दल लोभ हंकार मारा ॥[५]

उल्लेख

देख बे देख अलेख के खेल को,
बना सरबज्ञ नाना अपारा ।
आप ही भोग विलास रस कामिनी,
आप ही नन्द का कान्ह कुमारा ॥[६]

रूपकातिशयोक्ति

मेरी नजर में मोती आया है,
कोई कहे हलका कोई कहे भारी,
दोनों भूल भुलाया है ॥[७]

कबीर ने साधु-संगति से अथवा अपनी साधना के बल पर ज्ञान-चक्षुओं द्वारा उस गोपन सत्य का उद्‌घाटन कर लिया है जो दृष्टि से अगोचर, बुद्धि से अगम्य और बाणी से अतीत है । प्रकृति के कण-कण में उस परम तत्व का आभास मिलता है । लौकिक उपादानों में उसकी प्रतिच्छाया किस प्रकार व्याप्त है यह 'दृष्टान्त' द्वारा स्वयं कबीर के शब्दों में सुनिए—

१-२. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता व झूलने—पृ० १५, १५
३. कबीर वचनावली, पृ. ६८—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
४-६. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता व झूलने—पृ० १७, ४२, ४०
७. कबीर वचनावली, पृ० १६३—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

काठ के बीच में अगिनि जैसे,
जैसे तिल में तेल निवास है जी।
दूध के बीच में घीव जैसे,
ऐसे फूल के बीच में वास है जी ॥[1]

विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग बहुधा उलटवासियों में हुआ है। इस आभासित विरोध के कारण भाषा में स्वतः चमत्कार सन्निविष्ट हो गया, यथा—

विरोधाभास और न्यून

वन को पलटि के सुन्न को घर किया,
धर में अधर भरपूर देखा ॥[2]

रमै घट घट में आपु न्यारा रहै,
पूर्ण आनन्द है राम सोई ॥[3]

विभावना

वेद से रहित है भेद कैसे प्रगट, बिना मुख जीभ आवाज होई ॥[4]

विभावना और रूपक की संसृष्टि

नीर बिन कँवल तहँ देख अति फूलिया,
कहँ कबीर मन भँवर छावै ॥[5]

प्रतीक-योजना—कबीर ने प्रतीक-योजना का उपयोग दो स्थलों पर किया है। एक तो ब्रह्म से अपना सम्बन्ध अभिव्यक्त करने में और दूसरे उलटवासियों में। उन्होंने आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध दाम्पत्य तथा वात्सल्य दोनों प्रकार से माना है। इसलिये कहीं कबीर 'हरि जननी के बालक' बन जाते हैं और कहीं ब्रह्म को 'भरतार' अथवा 'पीय' पुकार उठते हैं। दाम्पत्य-प्रेम में विरह-मिलन की मधुर एवं कोमल परिस्थितियों का चित्रण प्रतीकों के सहारे किया गया है। उलटबासियों में भी सांकेतिक अथवा पारिभाषिक प्रतीकों के आश्रय में गूढ़ातिगूढ़ भाव प्रेषणीय और प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं, उदाहरणार्थ—

पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री।
पाँच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री ॥
सास सयानी ननद देवरानी, उन डर डरी प्रिय सार न जानी।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी, चढ़ न सकौं मारी लाज लजानी री ॥[6]
देख वोजूद में अजब बिसराम है,
होय मौजूद तो सही पावै।
फेरि मन पवन को फेरि उलटा चढ़े,
पांच पच्चीस को उलटि लावै।

१—५ कबीर साहिब की ज्ञान-गुदड़ी, रेखते व भूलने—पृ० ४७, २३, २०, ६, १७
६. कबीर, पृ० २५४—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अनुप्रास

अलख के पलक में खलक सब जायगा,
परख दीदार दिल यार तेरा।
सुरत में निरत करि भाव गाया करो,
यही बन्दे बन्दगी फलै तेरा ॥[१]

जपा अजपा जपौ अलख आपै लखौ,
बाहरे भीतरे एक होई ॥[२]

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल,
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।[३]

रूपक

सुरत की डोर, सुख सिंध का झूलना,
चोर की सोर तहँ नाद गावै ॥[४]

ज्ञान का धनुष ले मुक्ति मैदान में,
सील का बान ले मतंग मारा।
सबद का घाव सौ साच उर में धसा,
काम दल लोभ हंकार मारा ॥[५]

उल्लेख

देख बे देख अलेख के खेल को,
बना सरबज्ञ नाना अपारा।
आप ही भोग बिलास रस कामिनी,
आप ही नन्द का कान्ह कुमारा ॥[६]

रूपकातिशयोक्ति

मेरी नजर में मोती आया है,
कोई कहे हलका कोई कहे भारी,
दोनों भूल भुलाया है ॥[७]

कबीर ने साधु-संगति से अथवा अपनी साधना के बल पर ज्ञान-चक्षुओं द्वारा उस गोपन सत्य का उद्घाटन कर लिया है जो दृष्टि से अगोचर, बुद्धि से अगम्य और वाणी से अतीत है। प्रकृति के कण-कण में उस परम तत्व का आभास मिलता है। लौकिक उपादानों में उसकी प्रतिच्छाया किस प्रकार व्याप्त है यह 'दृष्टान्त' द्वारा स्वयं कबीर के शब्दों में सुनिए—

१-२. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता व झूलने—पृ० १५, १५
३. कबीर वचनावली, पृ०. ९८—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
४-६. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखता व झूलने—पृ० १७, ४२, ४०
७. कबीर वचनावली, पृ० १६३—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

काठ के बीच में अगिनि जैसे,
जैसे तिल में तेल निवास है जी।
दूध के बीच में घीव जैसे,
ऐसे फूल के बीच में वास है जी ॥[1]

विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग वहुधा उलटवासियों में हुआ है। इस आभासित विरोध के कारण भाषा में स्वतः चमत्कार सन्निविष्ट हो गया, यथा—

विरोधाभास और न्यून

वन को पलटि के सुन्न को घर किया,
घर में अधर भरपूर देखा ॥[2]
रमै घट घट में आपु न्यारा रहै,
पूर्ण आनन्द है राम सोई ॥[3]

विभावना

वेद से रहित है भेद कैसे प्रगट, बिना मुख जीभ आवाज होई ॥[4]

विभावना और रूपक की संसृष्टि

नीर बिन कँवल तहँ देख अति फूलिया,
कहँ कबीर मन भँवर छावै ॥[5]

प्रतीक-योजना—कबीर ने प्रतीक-योजना का उपयोग दो स्थलों पर किया है। एक तो ब्रह्म से अपना सम्वन्ध अभिव्यक्त करने में और दूसरे उलटवासियों में। उन्होंने आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध दाम्पत्य तथा वात्सल्य दोनों प्रकार से माना है। इसलिये कहीं कबीर 'हरि जननी के वालक' बन जाते हैं और कहीं ब्रह्म को 'भरतार' अथवा 'पीय' पुकार उठते हैं। दाम्पत्य-प्रेम में विरह-मिलन की मधुर एवं कोमल परिस्थितियों का चित्रण प्रतीकों के सहारे किया गया है। उलटवासियों में भी सांकेतिक अथवा पारिभाषिक प्रतीकों के आश्रय में गूढ़ातिगूढ़ भाव प्रेषणीय और प्रभावपूर्ण वन पड़े हैं, उदाहरणार्थ—

पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री।
पाँच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री ॥
सास सयानी ननद देवरानी, उन डर डरी प्रिय सार न जानी।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी, चढ़ न सकौं भारी लाज लजानी री ॥[6]
देख वोजूद में अजब बिसराम है,
होय मौजूद तो सही पावै।
फेरि मन पवन को फेरि उलटा चढ़े,
पांच पच्चीस को उलटि लावै।

१—५ कबीर साहिब की ज्ञान-गुदड़ी, रेखते व भूलने—पृ० ४७, २३, २०, ६, १७
६. कबीर, पृ० २५४—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सुरत की डोर सुख सिंध का झूलना,
घोर की सोर तहँ नाद गावै ॥[१]

अन्य प्रतीकों में भ्रमर या अग्नि (चित्त), मत्त या गजेन्द्र (मन), हरिण (अन्तःकरण), सिंह-व्याघ्र (वायु), शिकारी, गंधक अथवा काष्ठ (नाद), गंगा-यमुना (इड़ा-पिंगला), महापथ-श्मशान (सुषुम्ना), बालरण्डा, भुजंगी या शक्ति (कुण्डलिनी) इत्यादि का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। प्रतीकों का सहारा प्रायः दो कारणों से लिया गया है। प्रथमतः कबीर अपनी अत्यन्त रहस्यमयी अनुभूति की चर्चा के लिए अस्फुट पदावली और रहस्यपूर्ण भाषा को ही उपयुक्त समझते थे। दूसरे, उलटबासियों की शैली में परम्परा-निर्वाह का आग्रह भी देखा जा सकता है। कबीर की प्रस्तुत शैली का बौद्ध-सिद्धों की परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध है; यदि अन्तर है तो केवल वर्ण्य-विषय या भाव का। इसके अतिरिक्त धर्म की हास्यास्पद विडम्बनाओं में भ्रमित जनता आडम्बरपूर्ण भाषा के बिना कदाचित् सीधे एवं सहज मार्ग का अवलम्बन न करती। हाँ, पाठक अथवा श्रोता को आश्चर्य में डालने की यह प्रवृत्ति अभिव्यंजना के प्रसादत्व और सौन्दर्य-वृद्धि में अवश्य घातक सिद्ध हुई। अधिकांशतः उक्तियों में प्रतीकों का सुकर और उपयुक्त चुनाव नहीं किया गया है, जैसे एक ही 'आत्मा' के लिए हंस, राजा, सुन्दरी आदि कई प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। 'इच्छा' के लिए कहीं सरही, माखी, डीबी प्रयुक्त हुए हैं तो कहीं चील, गौरी, मालिक आदि शब्द मिलते हैं। अतः एक ओर तो अभीष्ट अर्थ दब सा गया है और दूसरी ओर भाव-दुर्बोधता के कारण प्रतीक-योजना में अटपटापन आ गया है।

शब्द-शक्ति—कबीर के काव्य में उपदेश की मात्रा अधिक होने से शब्द-शक्तियों का विशेष चमत्कार दृष्टिगत नहीं होता। फिर भी कतिपय स्थलों पर अभिधा का वैचित्र्य उनके भावों को शक्तिमत्ता प्रदान करने में समर्थ हुआ है। अलंकार वाच्यार्थ का ही चमत्कार होता है। उसमें सन्निविष्ट वाच्यार्थ के माधुर्य और चमत्कार को किसी प्रकार दबाया नहीं जा सकता; बाद में भले ही पाठक उसमें लक्षित अथवा व्यंजित भाव को अपना लें। फल-साम्य के आश्रित रूपक की सहायता से संसार और 'कागद की पुड़िया' का साम्य देखिए—

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।

जहाँ शब्द के मुख्यार्थ में इतना चमत्कार नहीं रहता अथवा अभिधावृत्ति जब अर्थ-सौन्दर्य की सहायता में समर्थ नहीं होती तब लक्षणा का आश्रय अपेक्षित होता है। कबीर की बानियों में जहाँ भावानुभूति प्रखर है, वहाँ अर्थ-विवक्षा के लिये लक्षणा तक ही दौड़ लगानी पड़ती है, यथा:—

एक डायन मेरे मन में बसे, नित उठ मेरे मन को डसै।
सो डायन के लड़का पांच रे....[२]

१. कबीर साहिब की ज्ञान गुदड़ी, रेखते व झूलने—पृ० १७, बेलवडियर प्रेस
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १९८—डॉ० श्यामसुंदरदास

उद्धृत पद का अभिव्यंग्य 'डायन' के कर्म-साम्य द्वारा लक्षित अर्थ 'माया' में निहित है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा है। 'डायन' मुख्यार्थ को छोड़ देती है इसलिए साध्यवसाना है, डायन और माया में कर्म एवं गुण-साम्य होने के कारण गौणी है। इस कार्य में उसके पुत्र —काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, आदि पंचविकार उसकी सहायता को सदा तत्पर रहते हैं। आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को दाम्पत्य-भाव द्वारा अभिव्यक्त करते समय भी कबीर ने 'माया' उसकी द्वादस सखियों (पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन) को प्रियतम-मिलन अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार में बाधक बताया है। निम्नलिखित अवतरण में 'लक्षण लक्षणा' द्वारा प्रस्तुत भाव का सुन्दर निदर्शन द्रष्टव्य है :—

पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री,
पाँच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री।
सास सयानी, ननद देवरानी, उन डर डरी पिय सार न जानी॥
द्वादस ऊपर सेज बिछानी, चढ़ न सकौं भारी लाज लजानी री,
रात दिवस मोहि कूका मारे, मैं न सुनी रचि नहिं संग जानी री।
कहै कबीर सुनु सखी सयानी, बिन सतगुरु पिया मिले न मिलानी री॥[1]

काव्य-गुण—कबीर की खड़ीबोली-रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनका प्रसाद गुण है। जिस सशक्त किन्तु सरल एवं स्पष्ट भाषा में उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों के बाह्याचारों का खण्डन किया है और ज्ञान-सम्बन्धी उपदेश दिये हैं उससे साफ़ ज़ाहिर है कि वे जन-साधारण को दृष्टि में रखकर ही रचना करते थे। साथ ही, आत्मा-परमात्मा के मिलन का दाम्पत्य अथवा वात्सल्य भाव से वर्णन करने के कारण कबीर की भाषा में प्रायः दुर्बोधता और जटिलता देखने में नहीं आती। हाँ, ऐसे स्थलों पर भाषा अवश्य दुरूह हो गई है जहाँ योग-साधना-मार्ग या ब्रह्म की रहस्यमयी अनुभूति के लिए कबीर अपनी अभिव्यक्ति को ही असमर्थ पाते हैं। ऐसे भावाभिव्यंजन के लिए विशिष्ट शब्द-योजना का विधान किया गया है। इन गूढ़ भावों में भाषा ऐसे उलझ-उलझ कर रह जाती है कि स्थल-स्थल पर पाठक या सहृदय सामाजिक का कवि-भाव से तादात्म्य नहीं हो पाता।

अन्य संत कवि—शेष निर्गुण-पंथी संतों में मलूकदास (सं० १६३१-१७३९), पलटूसाहिब (१९वीं शताब्दी में वर्त्तमान) तथा तुलसीसाहिब हाथरस वाले (सं० १८२०-१९००) खड़ीबोली काव्य-रचना की दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

इन संत-महात्माओं के प्रकाशित काव्य-ग्रन्थों में 'मलूकदासजी की बानी', 'पलटूसाहिब की बानी' (भाग २) तथा सन्त तुलसीसाहिब की शब्दावली के प्रकीर्ण पद खड़ीबोली की अधिकांश विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हैं। ये तीनों संग्रह बेलवडियर प्रेस से प्रकाशित हुए हैं। 'मलूकदास जी की बानी' शब्द और साखी का संकलन है जिसका आधार उसके सम्पादक ने ला० रामचरनदासजी मेहरोत्रा खत्री (कड़ा वाले) की कृपा से प्राप्त हस्तलिखित

---

१. कबीर, पृ० ३४०—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

ग्रन्थ कहा है।[1] 'पलटूसाहिब की बानी' (भाग २) रेखता, झूलना, अरिल्ल, कवित्त और सवैया आदि स्फुट पदों का संग्रह है। ये बानियाँ महंत सरजूदास पलटूपंथी की हस्तलिखित पुस्तक 'पलटूसाहिब की बानी' तथा डॉ० गंगाबख्शसिंह जमींदार की कृपा से प्राप्त 'भजन' आदि की हस्तलिखित प्रति की नकल बताई जाती है।[2] संत तुलसीसाहिब कृत शब्दावली, रेखता, गज़ल, ककहरा, कुण्डलियाँ, झूलना, बारहमासा, पस्तो आदि अनेक पदों का सुन्दर संकलन है। कहा जाता है कि इसका देवनागरी में लिपिवद्ध आधारभूत ग्रंथ सेठ सुदर्शनसिंह (आगरा) के पास सुरक्षित है।[3]

परवर्त्ती संत भी कबीर की विचार-सरणि में प्रवाहित होते रहे। उनकी मौलिक विचारधारा में उल्लेख्य भेद दृष्टिगत नहीं होता। मलूक, पलटू, तुलसी, आदि सभी सन्त साधक थे। मूलरूप में दार्शनिक न होने के कारण सब में मेधावी पंडित की प्रज्ञा और सूक्ष्म विश्लेषण करने वाली दार्शनिक प्रतिभा का अभाव रहा। सबने एक ही ब्रह्म को एक अथवा अनेक स्थलों पर राम, रहीम, ब्रह्म, खुदा, सद्गुरु, पीर, मुरशीद आदि अनेक नामों से सम्बोधित कर अपनी अनन्य ईश्वर-भक्ति का परिचय दिया है। साथ ही नाम-स्मरण, योग-साधना, यमनियम, ध्यान, समाधि आदि विविध साधना पद्धतियों का भी उल्लेख मिलता है। इन स्फुट-पदों में परम-तत्त्व के प्रति दाम्पत्य या वात्सल्य भाव-प्रदर्शन के अतिरिक्त संसार की दुरवस्था, नश्वरता, इन्द्रियासक्ति के कारण मन की दुर्दशा, आत्मनिवेदन तथा चेतावनी आदि भावों की अभिव्यंजना भी हुई है। 'साखियों' में प्रायः दैनिक जीवन-सम्बन्धित अनुभवों पर आश्रित उपदेश संगृहीत हैं जो पाठक के लिए ज्ञान-चक्षुओं का काम देते हैं। 'झूलना' छन्दों में विरह-मिलन, साधु-संगति-महिमा आदि का विशद् विवेचन किया गया है। तुलसीसाहिब का 'बारहमासा' विरह-प्रधान रचना है जिसमें रूपक शैली में आत्मा-परमात्मा के वियोग-शृंगार के साथ संत-मत की साधना का भी सुन्दर समावेश मिलता है। इनसे पूर्व सन्त सुन्दरदास, संत गुलाल और भीखासाहिब भी इस प्रकार के बारहमासे लिख चुके थे। अधिकांश पद 'लावनी' छन्द में होने के कारण खड़ीबोली की भाषागत प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित हैं। इनके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से तुलसीसाहिब के 'रेखता' तथा 'पस्तो' पद खड़ीबोली काव्य-साहित्य में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—यह निर्विवाद है कि अधिकांश संत शाला-शिक्षा की दृष्टि से निरक्षर थे। इन्होंने अपने शब्द, साखी, बानी, राग आदि पद ऐसी सामान्य एवं साधारण भाषा में कहे जो हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों को सहज ही हृदयंगम हो सके। कदाचित् इसी कारण इनकी रचनाएँ साहित्य-समाज में विशेष रूप में समादृत नहीं हुईं। भाषा में तत्सम पदावली का प्रायः अभाव है। तद्भव शब्दों के साथ अरबी, फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग ही अधिक दिखाई पड़ते

१. मलूकदास जी की बानी—पृ० ५, भूमिका, बेलवडियर प्रेस
२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II, छठवें कोष की प्रस्तावना, बेलवडियर प्रेस
३. तुलसीसाहिब की शब्दावली और जीवन चरित्र—प्रस्तावना, बेलवडियर प्रेस

हैं। अतः संत-काव्य हिन्दी में होते हुए भी मुसलमानों के लिए बोधगम्य बना रहा। सूफ़ी-सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव होने से मलूकदास और तुलसीसाहिब ने विदेशी शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है। तुलसीसाहिब के रेखता पद तो वास्तव में देवनागरी लिपि में 'उर्दू भाषा' का ही दूसरा रूप हैं। ये संत कवि एक शब्द को तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव, विकृत आदि विभिन्न रूपों में प्रयुक्त करते भी देखे जाते हैं। सम्भवतः स्वेच्छा अथवा जनभाषा में प्रचलित शब्द का स्वरूप ही इसका कारण था जैसे माया, मुक्त, जीवन, अद्भुत, दीपक, ज्ञान, अभिमान, बन्धु, प्रेम, जग, भव, मन, पूजा, सेवा, पाखण्ड, ब्रह्माण्ड, रूप, भगवान, मुक्ति, परिवार, नीर, अगम, अगोचर, दृष्टि, भ्रम, संग्रह, मित्र, पंडित, रीति, काल, द्वार, गगन, अधर, मकरन्द, आनन्द, सुगम, प्रबन्ध, दृष्ट, निःशंक तथा निर्गुन, उतपति, प्रविति, पुन्न, बिमल, सब्द, निरमल आदि तत्सम एवं अर्द्धतत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्द भी बहुत मात्रा में प्रयुक्त मिलते हैं, जैसे सुप्ना, सुप्न तथा सुपना, परमेसुर, धुंध, अचली, अनूठा, अगिन, हिया अथवा ही, भरम, जतन, परमान, पछिम, मरन, जुगल, जोति, सिखर, बाती, मुकती, पाँत, बिस्वास, छिमा आदि। विदेशी शब्दों के भी तत्सम एवं तद्भव दोनों प्रकार के रूप उपलब्ध होते हैं, जैसे खुसी, दीदार, दिवाना, अलमस्त, बन्दाजादा, नेकी, चेहरा, तमासा, खाक, गाफ़िल, बन्दगी, आसमान, अब्र, आसिक, तहकीक, रब्ब, लज्जत, तदबीर, आब, मुल्ला, गजब, जिन्दगानी, मलामत, बुर्ज, बेहोस, दिलदार, मुरसिद, निगह, अकल, अकसीर, होस, खलक, फ़कत, सिस्त, रोसनी, मुकामी, बेहद, ख्वाब, शम्स, कमर, जबरील, अलिफ़, चसम, हालत, रूह, अरज, जुलम, कदम, बेफ़हम, इबादत, पैगम्बर, दर-ब-दर, नाहक, लानत, खोदाय फिरिस्ता, मिहर, बुजुरग, ज़िह, चिल्ला, अजाब, पुल्ला आदि।

उपर्युक्त शब्द-राशि में से 'स्वप्न' और 'खुदा' शब्द ही ले लीजिए। उनके क्रम से स्वप्न, सुपना, सुप्ना तथा खोदा, खोदाय, खुदाय, खुदा आदि अनेक रूप उनकी बानियों में मिलते हैं। तात्पर्य यह कि शब्द तत्सम हो अथवा तद्भव, शुद्ध हो या विकृत पद-योजना में अनुकूल बैठ जाय, तुक मिल जाय और अभीष्ट अर्थ विवक्षित करे, यही संतों का उद्देश्य रहता था। सम्भवतः इसी कारण उनकी रचनाओं में शब्द-विकृति अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। परिणाम यह है कि अनेक स्थलों पर अर्थ ही नहीं शब्द भी बोधातीत हो गया है, उदाहरणार्थ :—

अने (आइने), जक्त (जगत्), अनुभै (अनुभव), दमनिया (दाम), निसाफ़ (इन्साफ़), डीगम्बर (दिगम्बर), खाखी (खाक), गम्यि (गम), परमली (परिमल), हल्ली (हिली), चिहार (चहर), खिल (अखिल), भिस्त (बहिस्त), मद्धि (मध्य), नग्र (नगर), आदि। दो-एक उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं :—

ब्याध और बधिक निसाफ़ कहु तिसका,
नाद कद माला लैके बन्दगी करी थी बैठ।[1]

—मलूकदास

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० ३०, बेलवडियर प्रेस

सहस गुँजार में परमली माल है, झिलमिली उलटि के पौन भरना।[1]

—पलटूसाहिब

कालान्तर में शब्द-विकृति की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई थी कि तुलसीसाहिब जैसे संतों के लिए छन्द या तुक के आग्रह से शब्द-स्वरूप में हेर-फेर कर देना साधारण-सी बात हो गयी, जैसे :—

उसी बिच फक्त खुद खुदा का तख्त है,
सिस्त से देख जहाँ भिस्त सारा।[2]

(शिस्त, बहिश्त)—तुलसीसाहिब

दोय व्हाँ व्हाँ के दीदे हैं, खोपड़ी के सुनीदे हैं।
मुकामी सैल समुझावै, करसमा देखि दरसावै ॥[3]

(यहाँ, वहाँ, करिश्मा)—तुलसीसाहिब

माया बाँध के संग ले कौन चला, देख मर मिटे सब खाक मिले।
दुरन करन जरजोधन को, धर काल ने जाल में बाँध डारे ॥[4]

(द्रौण, कर्ण, दुर्योधन)—तुलसीसाहिब

कबीर के पश्चात् मलूकदास, पलटूसाहिब और तुलसीसाहिब आदि सब परवर्ती संतों ने उन्हीं की तरह अनेक प्रान्तीय भाषाओं के संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, कारक-चिह्न, प्रत्यय आदि का जाने-अनजाने मनमाना प्रयोग किया है। अतः कहीं अवधी भाषा की प्रकृति के अनुसार 'जौन', 'तौन', सर्वनाम हैं तो कहीं ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल 'मोहिं', 'तोहिं', 'वाकी' 'तूँ' आदि का प्रयोग हुआ है। खड़ीबोली के कारक-चिह्नों के साथ ब्रज-अवधी आदि प्रान्तीय विभक्तियाँ—को, कों, से, सेती, महँ, पे आदि भी मिल जाती हैं। बोलचाल की भाषा में सबसे अधिक प्रचलन कदाचित् ब्रज का था; अतः 'लगावै, आवै, छावै, बातैं, समुझावै, कहिवो, हो' आदि ब्रज के क्रियापद ही सबसे अधिक मिलते हैं। पंजाबी भाषा के अव्यय 'विच, (बीच), (की) (क्या)' आदि मलूकदास की विशेषता है। किन्तु काव्य-भाषा के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर की खड़ीबोली में अन्य भाषाओं के सम्मिश्रण से जो चिन्त्य प्रयोगों का बाहुल्य मिलता है वह इन संत-कवियों की भाषा में उत्तरोत्तर न्यून होता गया। अतः तुलसीसाहिब जैसे परवर्ती संतों के 'रेख्ता' और 'पस्तो' पदों से परिमार्जित खड़ीबोली के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन संतों द्वारा प्रयुक्त खड़ीबोली का वाक्य-विन्यास सरल तथा प्रसाद गुण सम्पन्न है, देखिए :—

१. पलटूसाहिब की बानी, भाग III—पृ० २५, बेलवडिर प्रेस
२-४. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० १३, ६२, ४३. बेलवडियर प्रेस

घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना।
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पिया प्रेम प्याला॥[१]

—मलूकदास

झूठा नाता लोग लगावैं, मन मेरे परतीत न आवैं।
जब ही भेजे तबहि बुलावे। हुकुम भया कोई रहन न पावै॥[२]

—मलूकदास

इधर से उधर तू जायगा किधर को,
जिधर तू जाय मैं उधर आवौं।
कोस हज्जार तू जाय चलि पलक में,
ज्ञान की कुटी में उहैं छावौं॥[३]

—पलटूसाहिब

करम ईसुर मिमांसा में, बरन बाम्हन सुनाते हैं।
उसे परमात्मा थापे, सुनो गजबों की बातें ये॥
ब्रह्म वेदान्त कहता है, आतमा रूप समझावैं।
अन्दर की आँख बिन देखे, ज्ञान बुधि से बताता हूँ॥[४]

—तुलसीसाहिब

स्पष्ट है कि प्रान्तीय भाषाओं के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति शनैः शनैः कम होती जा रही थी। यही नहीं, इन प्रकीर्णक पदों की भाषा को सशक्त तथा बोधगम्य बनाने के लिए जन-साधारण में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा था जिससे खड़ीबोली में सहज ही प्रवाह तथा कसाव भी आने लगा था, जैसे :—

खाब सी दुनिया को, दिल को न करे सात पाँच।
बन्दे हैं जिसके क्यों न तिसके कहलाइये॥[५]

कहता मलूक अब तौबा कर साहेब से,
छाड़ि दे कुराह जिन जारे पर जारा है॥[६]

पलटू जगत से पीठि देवै, नहिं खेत होना, औसान है जी।[७]
पलटू इस बात को नहिं मानै, तिस के मुँह में परै धूर है जी॥[८]
लगन जिसी से लागि रही, काज उसी से सरा है जी॥[९]
पलटू उसका जो मुँह देखै, तिसका भी मुँह होय काला॥[१०]

—पलटूसाहिब

१-२. मलूकदासजी की बानी—पृ० ६, १३, बेलवडियर प्रेस
३ पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४, बेलवडियर प्रेस
४ तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ६१, बेलवडियर प्रेस
५-६. मलूकदास की बानी—पृ० २८, २६, बेलवडियर प्रेस
७—१०. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४१, ४५, ४७, ६०, बेलवडियर प्रेस

अरे देख निहार विचार करो, जग जार न पार कोई पावता है ॥[1]

—तुलसीसाहिब

अलंकार—कबीर के समान इन संतों को भी साहित्य के कला-पक्ष अर्थात् अलंकार, गुण आदि का सम्यक् ज्ञान न था। उनकी रचनाओं में सादृश्य अथवा साधर्म्यमूलक अलंकारों का अनायास उपयोग कला-प्रदर्शन की इच्छा से नहीं अपितु भाव की सहज अभिव्यक्ति के लिए ही था, जैसे :—

अनुप्रास

अनुभय उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
घट अँधियारा होइ रहा, जब आतम जागा ॥[2]

रहम की नजर कर कुरहम दिल से दूर कर।
किसी के कहे सुने चुगली मत मानिए ॥[3]

—मलूकदास

गगन में दामिनी, चौक में चाँदनी,
चाँद औ सूर गलि भये पानी।
ज्ञान की काछनी, तान में तातनी,
सत्त से सबद की कथा बानी ॥[4]

—पलटूसाहिब

हीये हवाल हाल गला काट के लहू,
जैसे तड़फती मीन नीर, पीर ज्यों सहूँ।
जैसे चकोर चंद चाह चित से चहूँ ॥[5]

—तुलसी साहिब

प्यारे बिना पलंग पै हाय जाय क्या करूँ।
अली ये अबर की पीर जबर सबर बिन मरूँ ॥
बीती बदन पै कहर लहर लगन लाल की।
आह फाँसी फँसी मोह जबर जक्त जाल की ॥[6]

—तुलसीसाहिब

यमक-अनुप्रास

वो भी मुल्ला बड़ा कसाई, जिन तुझको तदबीर सिखाई।
है बेपीर और पीर कहावै, करि मुरीद तदबीर सिखावै ॥[7]

—मलूकदास

१. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४१, बेलवडियर प्रेस
२-३. मलूकदासजी की बानी—पृ० २१, २६, बेलवडियर प्रेस
४. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० २८, बेलवडियर प्रेस
५. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४, बेलवडियर प्रेस
६. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ५, बेलवडियर प्रेस
७. मलूकदासजी की बानी—पृ० २२, बेलवडियर प्रेस

पलटू और तुलसीसाहिब में कहीं-कहीं वर्ण या शब्दावृत्ति के प्रति विशेष आग्रह भी लक्षित होता है। निम्न अवतरण में शब्द-चमत्कार के मोह में पड़कर उन्होंने कतिपय स्थलों पर निरर्थक वर्ण अथवा शब्द-प्रयोग द्वारा खिलवाड़ सा किया है, देखिए :—

गगन में मगन है, मगन में लगन है,
लगन के बीच में, प्रेम पागै ॥[1]

अलख की पलक पर खलक का खेल है,
झलक नित जोति सोइ झलक आवै ॥[2]

—पलटूसाहिब

मेरे खुद प्यार यार बाग लगाया,
जाहिर जहूर नूर जग में छाया।
देखा दिलदार प्यार अजब साहिबी,
रौसन खुल बदन यार प्यार अमर जी ॥[3]

—तुलसीसाहिब

इस प्रकार के चमत्कार-मोह ने शब्द-विकृति को भी स्थान दिया है। निम्न अवतरण में 'तख्त' के आधार पर 'फक्त' और सिस्त (शिस्त) के वज़न पर 'भिस्त' (बहिश्त) का प्रयोग देखिए :—

उसी बीच फक्त खुद खुदा का तख्त है,
सिस्त से देख जहाँ भिस्त सारा।
तुलसी सत मत मरसिद के हाथ है।
मुरीद दिल रूह दोजख नियारा ॥[4]

—तुलसीसाहिब

इन प्रयोगों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि १९वीं शताब्दी के निर्गुणिये संत भी तत्कालीन रीतिवादी चमत्कारप्रियता से सर्वथा असम्पृक्त न रह सके थे।

अभिव्यंजना की अन्य विधाओं के समान अर्थालंकार भी संतों की सशक्त एवं प्रभावपूर्ण उक्तियों में आज्ञानुवर्ती सेवक की भाँति पीछे-पीछे चले आये हैं। अधिकांशतः इन निर्गुणमार्गी संतों ने अपनी अनुभूति को सरल एवं स्पष्ट शब्दों में ही अभिव्यक्त किया है। फलतः ऐसे स्थल कम होंगे जहाँ अलंकारों द्वारा भाव तथा भाषा को सँवारा गया हो। फिर भी जहाँ भावानुभूति प्रखर है, वहाँ अभिव्यंजना भी वाणी-क्षेत्र में उपमा, रूपक, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, विरोधाभास, कारणमाला आदि अनेक सुन्दर उपकरणों से सज्जित होकर अवतरित हुई है, यथा :—

१-२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० १०, ६, बेलवडियर प्रेस
३-४. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० १६, १३, बेलवडियर प्रेस

अरे देख निहार विचार करो, जग जार न पार कोई पावता है ॥[1]

—तुलसीसाहिब

अलंकार—कबीर के समान इन संतों को भी साहित्य के कला-पक्ष अर्थात् अलंकार, गुण आदि का सम्यक् ज्ञान न था। उनकी रचनाओं में सादृश्य अथवा साधर्म्यमूलक अलंकारों का अनायास उपयोग कला-प्रदर्शन की इच्छा से नहीं अपितु भाव की सहज अभिव्यक्ति के लिए ही था, जैसे :—

अनुप्रास

अनुभय उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
घट अँधियारा होइ रहा, जब आतम जागा ॥[2]

रहम की नजर कर कुरहम दिल से दूर कर।
किसी के कहे सुने चुगली मत मानिए ॥[3]

—मलूकदास

गगन में दामिनी, चौक में चाँदनी,
चाँद औ सूर गलि भये पानी।
ज्ञान की काछनी, तान में तातनी,
सत्त से सबद की कथा बानी ॥[4]

—पलटूसाहिब

हीये हवाल हाल गला काट के लहू,
जैसे तड़फती मीन नीर, पीर ज्यों सहूँ।
जैसे चकोर चंद चाह चित से चहूँ ॥[5]

—तुलसी साहिब

प्यारे बिना पलंग पै हाय जाय क्या करूँ।
अली ये अबर की पीर जबर सबर बिन मरूँ ॥
बीती बदन पै कहर लहर लगन लाल की।
आह फाँसी फँसी मोह जबर जक्त जाल की ॥[6]

—तुलसीसाहिब

यमक-अनुप्रास

वो भी मुल्ला बड़ा कसाई, जिन तुझको तदबीर सिखाई।
है वेपीर और पीर कहावै, करि मुरीद तदबीर सिखावै ॥[7]

—मलूकदास

१. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४१, वेलवडियर प्रेस
२-३. मलूकदासजी की वानी—पृ० २१, २६, वेलवडियर प्रेस
४. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० २८, बेलवडियर प्रेस
५. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४, वेलवडियर प्रेस
६. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ५, वेलवडियर प्रेस
७. मलूकदासजी की बानी—पृ० २२, बेलवडियर प्रेस

पलटू और तुलसीसाहिब में कहीं-कहीं वर्ण या शब्दावृत्ति के प्रति विशेष आग्रह भी लक्षित होता है। निम्न अवतरण में शब्द-चमत्कार के मोह में पड़कर उन्होंने कतिपय स्थलों पर निरर्थक वर्ण अथवा शब्द-प्रयोग द्वारा खिलवाड़ सा किया है, देखिए :—

गगन में मगन है, मगन में लगन है,
लगन के बीच में, प्रेम पागै ॥[1]

अलख की पलक पर खलक का खेल है,
झलक नित जोति सोइ झलक आवै ॥[2]

—पलटूसाहिब

मेरे खुद प्यार यार बाग लगाया,
जाहिर जहूर नूर जग में छाया।
देखा दिलदार प्यार अजब साहिबी,
रौसन खुल बदन यार प्यार अमर जी ॥[3]

—तुलसीसाहिब

इस प्रकार के चमत्कार-मोह ने शब्द-विकृति को भी स्थान दिया है। निम्न अवतरण में 'तख्त' के आधार पर 'फक्त' और सिस्त (शिस्त) के वज़न पर 'भिस्त' (बहिश्त) का प्रयोग देखिए :—

उसी बीच फक्त खुद खुदा का तख्त है,
सिस्त से देख जहाँ भिस्त सारा।
तुलसी सत मत मरसिद के हाथ है।
मुरीद दिल रूह दोजख नियारा ॥[4]

—तुलसीसाहिब

इन प्रयोगों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि १९वीं शताब्दी के निर्गुणिये संत भी तत्कालीन रीतिवादी चमत्कारप्रियता से सर्वथा असम्पृक्त न रह सके थे।

अभिव्यंजना की अन्य विधाओं के समान अर्थालंकार भी संतों की सशक्त एवं प्रभावपूर्ण उक्तियों में आज्ञानुवर्त्ती सेवक की भाँति पीछे-पीछे चले आये हैं। अधिकांशतः इन निर्गुणमार्गी संतों ने अपनी अनुभूति को सरल एवं स्पष्ट शब्दों में ही अभिव्यक्त किया है। फलतः ऐसे स्थल कम होंगे जहाँ अलंकारों द्वारा भाव तथा भाषा को सँवारा गया हो। फिर भी जहाँ भावानुभूति प्रखर है, वहाँ अभिव्यंजना भी वाणी-क्षेत्र में उपमा, रूपक, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, विरोधाभास, कारणमाला आदि अनेक सुन्दर उपकरणों से सज्जित होकर अवतरित हुई है, यथा :—

१-२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० १०, ६, बेलवडियर प्रेस
३-४. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० १६, १३, बेलवडियर प्रेस

उपमा

क्रोध तो काला नाग है, काम तो परघट काल ।
आप आपको खैंचते, मोहिं कर डाला बेहाल ॥[१]

माया काली नागिनी, जिन डसिया सब संसार हो ।
इन्द्र डसा, ब्रह्मा डसा, डसिया नारद व्यास ॥[२]

—मलूकदास

दोउ नैन बने गिरि के झरना, भुषन बसन किया त्याग है जी ।
पलटू जीयत तन त्यागि दिया, उठी विरह की आगि है जी ॥[३]

—पलटूसाहिब

सखी मोहिं नींद न आवैं री, एरी बैरन बिरह जगावैं ।
विषधर लहर डसैं नागिन सी, ज्यों जस खावैं री ।
देवैं मौत दइ बिरहन को, होते मरि जावैं री ॥[४]

—तुलसीसाहिब

रूपक

मन मिरगा बिन मूँड का, चहुँ दिस चरने जाय ।
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा तात लगाय ॥[५]

—मलूकदास

सांग रूपक

सत्त की गाय को, सुरति से दुहि के,
दही जमाय के तत्त महना ।
दास पलटू कहै आपनी मौज में,
यार फक्कीर तुम खुसी रहना ॥[६]

—पलटूसाहिब

उदाहरण

उहाँ न कबहूँ जाइये, जहाँ न हरि का नाम ।
डीगम्बर के गाँव में, धोबी का क्या काम ॥[७]

जो मन गया तो जान दे, दृढ़ करि राखु सरीर ।
बिन जिह चढ़ी कमान का, क्या लागेगा तीर ॥[८]

—मलूकदास

१-२. मलूकदासजी की बानी—पृ० १२, ६, बेलवडियर प्रेस
३. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४६, बेलवडियर प्रेस
४. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० २, बेलवडियर प्रेस
५. मलूकदासजी की बानी—पृ० ३५, बेलवडियर प्रेस
६. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ७
७-८. मलूकदासजी की बानी—पृ० ३३-३८

लाली ज्यों छिपी है मिहदी के पात में,
दूध में घीव यह ज्ञान ठानै।
फूल में बास ज्यों, काठ में आग है,
संत में राम यहि भाँति जाने ॥[१]

—पलटूसाहिब

अधर उपरी अटारी माँहि, लगन पिय से लगी।
जैसे डोर पतंग संग रंग में पगी ॥[२]

—तुलसीसाहिब

दृष्टान्त

मेरे दरद की पीर कसक किससे मैं कहूँ।
जैसे तड़पती मीन नीर पीर ज्यों सहूँ।
जैसे चकोर चंद चाह, चित्त से चहूँ ॥[३]

—तुलसीसाहिब

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ तहाँ फिरे गाय।
कहै मलूक जहाँ संत जन, तहाँ रमैया जाय ॥[४]

—मलूकदास

विरोधाभास

अनुभय उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
घट अँधियारा होइ रहा, जब आतम जागा ॥[५]
वो भी मुल्ला बड़ा कसाई, जिन तुझको तदबीर सिखाई।
है बेपीर ओ पीर कहावै, करि मुरीद तदबीर सिखावै ॥[६]

—मलूकदास

पलटू जीयत तन त्यागि दिया, उठी बिरह की आगि है जी ॥[७]

—पलटूसाहिब

विभावना

बिन आब जहँ बहुगुल फूले, अब्र बिना जहँ बरसे।
बिना सरोद सब बाजै, चस्म बिना सब दरसै ॥

---

१. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ७
२.-३. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ५, ५
४-६. मलूकदासजी की बानी–पृ० ३३, २१, २१
७. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४६

उपमा

क्रोध तो काला नाग है, काम तो परघट काल ।
आप आपको खैंचते, मोहिं कर डाला बेहाल ॥[1]

माया काली नागिनी, जिन डसिया सब संसार हो ।
इन्द्र डसा, ब्रह्मा डसा, डसिया नारद व्यास ॥[2]

—मलूकदास

दोउ नैन बने गिरि के झरना, भुषन बसन किया त्याग है जी ।
पलटू जीयत तन त्यागि दिया, उठी बिरह की आगि है जी ॥[3]

—पलटूसाहिब

सखी मोहिं नींद न आवै री, एरी बैरन बिरह जगावै ।
विषधर लहर डसै नागिन सी, ज्यों जस खावै री ।
देवै मौत दइ बिरहन को, होते मरि जावै री ॥[4]

—तुलसीसाहिब

रूपक

मन मिरगा बिन मूँड का, चहुँ दिस चरने जाय ।
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा तात लगाय ॥[5]

—मलूकदास

सांग रूपक

सत्त की गाय को, सुरति से दुहि के,
दही जमाय के तत्त महना ।
दास पलटू कहै आपनी मौज में,
यार फक्कीर तुम खुसी रहना ॥[6]

—पलटूसाहिब

उदाहरण

उहाँ न कबहूँ जाइये, जहाँ न हरि का नाम ।
डीगम्बर के गाँव में, धोबी का क्या काम ॥[7]

जो मन गया तो जान दे, दृढ़ करि राखु सरीर ।
बिन जिह चढ़ी कमान का, क्या लागेगा तीर ॥[8]

—मलूकदास

१-२. मलूकदासजी की बानी—पृ० १२, ९, बेलवडियर प्रेस
३. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४६, बेलवडियर प्रेस
४. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० २, बेलवडियर प्रेस
५. मलूकदासजी की बानी—पृ० ३५, बेलवडियर प्रेस
६. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ७
७-८. मलूकदासजी की बानी—पृ० ३३-३८

लाली ज्यों छिपी है मिहदी के पात में,
दूध में घीव यह ज्ञान ठानै।
फूल में बास ज्यों, काठ में आग है,
संत में राम यहि भाँति जाने ॥[१]

—पलटूसाहिब

अधर उपरी अटारी माँहि, लगन पिय से लगी।
जैसे डोर पतंग संग रंग में पगी ॥[२]

—तुलसीसाहिब

दृष्टान्त

मेरे दरद की पीर कसक किससे मैं कहूँ।
जैसे तड़पती मीन नीर पीर ज्यों सहूँ।
जैसे चकोर चंद चाह, चित्त से चहूँ ॥[३]

—तुलसीसाहिब

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ तहाँ फिरे गाय।
कहै मलूक जहाँ संत जन, तहाँ रमैया जाय ॥[४]

—मलूकदास

विरोधाभास

अनुभय उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
घट अँधियारा होइ रहा, जब आतम जागा ॥[५]
वो भी मुल्ला बड़ा कसाई, जिन तुझको तदबीर सिखाई।
है बेपीर औ पीर कहावै, करि मुरीद तदबीर सिखावै ॥[६]

—मलूकदास

पलटू जीयत तन त्यागि दिया, उठी विरह की आगि है जी ॥[७]

—पलटूसाहिब

विभावना

बिन आब जहँ बहुगुल फूले, अब्र बिना जहँ बरसे।
बिना सरोद सब बाजै, चस्म बिना सब दरसै ॥

१. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ७
२.-३. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ५, ५
४-६. मलूकदासजी की बानी-पृ० ३३, २१, २१
७. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ४६

बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो वा का चेला ।
छिन में रूप अनेक धरत हैं, छिन में रहे अकेला ।।
बिन दीपक उजियारा देखे, एड़ी समुद्र थहावै ।
चींटी के पग कुंजर बाँधे, जाको गुरु लखावै ।।[1]

—मलूकदास

कारणमाला

बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागै ।
मोह भागै बिन, मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग जागै ।।
बिना अनुराग से भक्ति ना मिलैगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं ।
प्रेम बिनु नाम ना, नाम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान माँगे ।।[2]

—पलटूसाहिब

श्लेष

बाबा मनका है सिर तले,
माया के अभिमान फूले, गर्व ही में गले ।।[3]

(मनका = दाना, ब्रह्म)

शब्द-शक्ति—संत-कवियों को भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा इस्लाम के एकेश्वरवाद का सम्यक् एवं समुचित ज्ञान न था। किन्तु लोक-अनुभव के आधार पर ही उन्होंने यह समझ लिया था कि आत्मानुभूति के दिव्य प्रकाश में इस मिथ्या जगत् की सत्ता नगण्य है और आत्मा के परम तत्व अर्थात् दिव्य शक्ति से साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त सब प्रकार के विरोध-वैषम्य समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के लौकिक अनुभव तथा आध्यात्मिक स्वानुभूति का चित्रण करते समय भावाभिव्यंजन को स्पष्ट करने के प्रयत्न में ही लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का सन्निवेश हुआ है। ऐसे स्थलों पर ये शक्तियाँ सौन्दर्य विधायक तत्वों का काम भले ही न दे सकी हों परन्तु उनसे भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता अवश्य आ गई है, यथा :—

रूढ़िलक्षणा

औंधी खोपड़ी फिरे बिचारे, भूले भक्ति छुधा के मारे,
बिनती करत मलूका दासा, थकित भया तेरा देख तमासा ।[4]

—मलूकदास

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० २
२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ८
३. मलूकदासजी की बानी—पृ० २४
४. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा लक्षणा

मन मिरगा बिन मूंड का, चहुँ दिस चरने जाय,
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा ताँत लगाय।[1]

—मलूकदास

साध्यवसाना, उपादान, लक्षणा

सखियाँ सुन सेज पास, गाज परत आई,
पलंगा पर पाँव धरत, नागिन डस खाई।[2]

—तुलसीसाहिब

काव्य-गुण—जनता से अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहने के कारण संत-कवियों ने भाषा को प्रसादगुण-सम्पन्न बनाने का सजग प्रयत्न किया था। संसार की निस्सारता, बाह्याचारों की निरर्थकता, योग-साधना की विविध पद्धतियाँ, गुरु की अनुकम्पा, आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, राम-रहीम की एकता आदि विषय सरल तथा प्रवाहमयी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। भाषा कहीं भी समस्त पदावली, दुष्कर प्रतीक योजना अथवा दूरारूढ़ उपमानों से से बोझिल नहीं है। जब संत-कवि स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति की तीव्रता से विलक्षण आत्म-बोध की दशा में रहे, बहुधा प्रतीकात्मक संकेतों के सहारे उलटबासियों का प्रणयन हुआ। हाँ, ऐसे स्थलों पर इस विलक्षण आध्यात्मिक अनुभूति की अस्पष्ट प्रतिच्छाया ने उनकी भाषा को अवश्य दुरूह कर दिया है फलतः पाठक को जब तक इनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक या सांकेतिक प्रतीकों का सम्यक् ज्ञान न हो, उसके लिए अर्थ-बोध दुष्कर ही नहीं असम्भव हो जाता है। यह निम्न अवतरण में देखा जा सकता है :—

सहस गुंजार में परमली माल है,
झिलमिली उलटि के पौन भरना।
संखिनी, डंकिनी, सोर सब करेंगी,
सोर सुनि उहाँ से नाहिं टरना।
बंक पहार में साँकरी गैल है,
गली के खण्ड के बीच झरना।
हद्द अनहद्द के बीच में जंगला,
सिंह को देखि के नाहिं डरना॥[3]

संक्षेप में, कबीर तथा अन्य परवर्ती संत-कवियों के प्रकीर्णक पदों में भी खड़ीबोली अपने शुद्ध एवं संयत रूप में दृष्टिगत नहीं होती। भाषा बोलचाल का स्वरूप लिए केवल मुहावरे-लोकोक्तियों के विरल प्रयोगों से ही अलंकृत होती रही। अयत्न-साध्य अप्रस्तुत योजना

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५
२. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४
३. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० २५

बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो वा का चेला।
छिन में रूप अनेक धरत हैं, छिन में रहे अकेला।।
बिन दीपक उजियारा देखे, एड़ी समुद्र थहावै।
चींटी के पग कुंजर बाँधे, जाको गुरु लखावै।।[1]

—मलूकदास

कारणमाला

बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागै।
मोह भागै बिन, मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग जागै।।
बिना अनुराग से भक्ति ना मिलैगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं।
प्रेम बिनु नाम ना, नाम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान माँगे।।[2]

—पलटूसाहिब

श्लेष

बाबा मनका है सिर तले,
माया के अभिमान फूले, गर्व ही में गले।।[3]

(मनका=दाना, ब्रह्म)

शब्द-शक्ति—संत-कवियों को भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा इस्लाम के एकेश्वरवाद का सम्यक् एवं समुचित ज्ञान न था। किन्तु लोक-अनुभव के आधार पर ही उन्होंने यह समझ लिया था कि आत्मानुभूति के दिव्य प्रकाश में इस मिथ्या जगत् की सत्ता नगण्य है और आत्मा के परम तत्व अर्थात् दिव्य शक्ति से साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त सब प्रकार के विरोध-वैषम्य समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के लौकिक अनुभव तथा आध्यात्मिक स्वानुभूति का चित्रण करते समय भावाभिव्यंजन को स्पष्ट करने के प्रयत्न में ही लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का सन्निवेश हुआ है। ऐसे स्थलों पर ये शक्तियाँ सौन्दर्य विधायक तत्वों का काम भले ही न दे सकी हों परन्तु उनसे भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता अवश्य आ गई है, यथा :—

रूढ़िलक्षणा

औंधी खोपड़ी फिरे बिचारे, भूले भक्ति छुधा के मारे,
बिनती करत मलूका दासा, थकित भया तेरा देख तमासा।[4]

—मलूकदास

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० २
२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ८
३. मलूकदासजी की बानी—पृ० २४
४. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा लक्षणा

मन मिरगा बिन मूँड का, चहुँ दिस चरने जाय,
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा ताँत लगाय।[1]

—मलूकदास

साध्यवसाना, उपादान, लक्षणा

सखियाँ सुन सेज पास, गाज परत आई,
पलंगा पर पाँव धरत, नागिन डस खाई।[2]

—तुलसीसाहिब

काव्य-गुण—जनता से अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहने के कारण संत-कवियों ने भाषा को प्रसादगुण-सम्पन्न बनाने का सजग प्रयत्न किया था। संसार की निस्सारता, बाह्याचारों की निरर्थकता, योग-साधना की विविध पद्धतियाँ, गुरु की अनुकम्पा, आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, राम-रहीम की एकता आदि विषय सरल तथा प्रवाहमयी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। भाषा कहीं भी समस्त पदावली, दुष्कर प्रतीक योजना अथवा दूरारूढ़ उपमानों से से बोझिल नहीं है। जब संत-कवि स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति की तीव्रता से विलक्षण आत्म-बोध की दशा में रहे, बहुधा प्रतीकात्मक संकेतों के सहारे उलटबासियों का प्रणयन हुआ। हाँ, ऐसे स्थलों पर इस विलक्षण आध्यात्मिक अनुभूति की अस्पष्ट प्रतिच्छाया ने उनकी भाषा को अवश्य दुरूह कर दिया है फलतः पाठक को जब तक इनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक या सांकेतिक प्रतीकों का सम्यक् ज्ञान न हो, उसके लिए अर्थ-बोध दुष्कर ही नहीं असम्भव हो जाता है। यह निम्न अवतरण में देखा जा सकता है :—

सहस गुंजार में परमली माल है,
झिलमिली उलटि के पौन भरना।
संखिनी, डंकिनी, सोर सब करैंगी,
सोर सुनि उहाँ से नाहिं टरना।
बंक पहार में साँकरी गैल है,
गली के खण्ड के बीच झरना।
हद्द अनहद्द के बीच में जंगला,
सिंह को देखि के नाहिं डरना॥[3]

संक्षेप में, कबीर तथा अन्य परवर्ती संत-कवियों के प्रकीर्णक पदों में भी खड़ीबोली अपने शुद्ध एवं संयत रूप में दृष्टिगत नहीं होती। भाषा बोलचाल का स्वरूप लिए केवल मुहावरे-लोकोक्तियों के विरल प्रयोगों से ही अलंकृत होती रही। अयत्न-साध्य अप्रस्तुत योजना

---

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५
२. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४
३. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० २५

बिन तरवर फल फूल लगावैं, सो तो वा का चेला।
छिन में रूप अनेक धरत हैं, छिन में रहे अकेला।।
बिन दीपक उजियारा देखे, एड़ी समुद्र थहावै।
चींटी के पग कुंजर बाँधे, जाको गुरु लखावै।।[1]

—मलूकदास

कारणमाला

बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागै।
मोह भागै बिन, मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग जागै।।
बिना अनुराग से भक्ति ना मिलैगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं।
प्रेम बिनु नाम ना, नाम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान माँगे।।[2]

—पलटूसाहिब

श्लेष

बाबा मनका है सिर तले,
माया के अभिमान फूले, गर्व ही में गले।।[3]

(मनका=दाना, ब्रह्म)

शब्द-शक्ति—संत-कवियों को भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद तथा इस्लाम के एकेश्वरवाद का सम्यक् एवं समुचित ज्ञान न था। किन्तु लोक-अनुभव के आधार पर ही उन्होंने यह समझ लिया था कि आत्मानुभूति के दिव्य प्रकाश में इस मिथ्या जगत् की सत्ता नगण्य है और आत्मा के परम तत्व अर्थात् दिव्य शक्ति से साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त सब प्रकार के विरोध-वैषम्य समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के लौकिक अनुभव तथा आध्यात्मिक स्वानुभूति का चित्रण करते समय भावाभिव्यंजन को स्पष्ट करने के प्रयत्न में ही लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का सन्निवेश हुआ है। ऐसे स्थलों पर ये शक्तियाँ सौन्दर्य विधायक तत्वों का काम भले ही न दे सकी हों परन्तु उनसे भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता अवश्य आ गई है, यथा :—

रूढ़िलक्षणा

आँधी खोपड़ी फिरे बिचारे, भूले भक्ति छुधा के मारे,
बिनती करत मलूका दासा, थकित भया तेरा देख तमासा।[4]

—मलूकदास

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० २
२. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० ८
३. मलूकदासजी की बानी—पृ० २४
४. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा लक्षणा

मन मिरगा बिन मूँड का, चहुँ दिस चरने जाय,
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा ताँत लगाय।[1]

—मलूकदास

साध्यवसाना, उपादान, लक्षणा

सखियाँ सुन सेज पास, गाज परत आई,
पलंगा पर पाँव धरत, नागिन डस खाई।[2]

—तुलसीसाहिब

काव्य-गुण—जनता से अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहने के कारण संत-कवियों ने भाषा को प्रसादगुण-सम्पन्न बनाने का सजग प्रयत्न किया था। संसार की निस्सारता, बाह्याचारों की निरर्थकता, योग-साधना की विविध पद्धतियाँ, गुरु की अनुकम्पा, आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, राम-रहीम की एकता आदि विषय सरल तथा प्रवाहमयी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। भाषा कहीं भी समस्त पदावली, दुष्कर प्रतीक योजना अथवा दूरारूढ़ उपमानों से से बोझिल नहीं है। जब संत-कवि स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति की तीव्रता से विलक्षण आत्म-बोध की दशा में रहे, बहुधा प्रतीकात्मक संकेतों के सहारे उलटवासियों का प्रणयन हुआ। हाँ, ऐसे स्थलों पर इस विलक्षण आध्यात्मिक अनुभूति की अस्पष्ट प्रतिच्छाया ने उनकी भाषा को अवश्य दुरूह कर दिया है फलतः पाठक को जब तक इनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक या सांकेतिक प्रतीकों का सम्यक् ज्ञान न हो, उसके लिए अर्थ-बोध दुष्कर ही नहीं असम्भव हो जाता है। यह निम्न अवतरण में देखा जा सकता है :—

सहस गुंजार में परमली माल है,
झिलमिली उलटि के पौन भरना।
संखिनी, डंकिनी, सोर सब करेंगी,
सोर सुनि उहाँ से नाहिं टरना।
बंक पहार में साँकरी गैल है,
गली के खण्ड के बीच झरना।
हद्द अनहद्द के बीच में जंगला,
सिंह को देखि के नाहिं डरना॥[3]

संक्षेप में, कबीर तथा अन्य परवर्ती संत-कवियों के प्रकीर्णक पदों में भी खड़ीबोली अपने शुद्ध एवं संयत रूप में दृष्टिगत नहीं होती। भाषा बोलचाल का स्वरूप लिए केवल मुहावरे-लोकोक्तियों के विरल प्रयोगों से ही अलंकृत होती रही। अयत्न-साध्य अप्रस्तुत योजना

१. मलूकदासजी की बानी—पृ० १०, ३५
२. तुलसीसाहिब की शब्दावली—पृ० ४
३. पलटूसाहिब की बानी, भाग II—पृ० २५

का आधार सादृश्य अथवा साधर्म्य रहा। अतः संत-काव्य की खड़ीबोली-रचना अभिव्यंजना की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखती। हाँ, भाषा के प्रचार एवं प्रसार में इनके पदों ने अवश्य योग दिया।

अब्दुर्रहीम खानखाना (सं० १६१३-१६८३)

अकबर के अभिभावक सरदार बैरमखाँ के पुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना विरचित 'मदनाष्टक' के आठ छन्द तथा 'रहीम-काव्य' के दो पद खड़ीबोली भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। 'मदनाष्टक' मालिनी वृत्त में गुम्फित 'रेख़्ता' भाषा (अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ीबोली) में आठ छन्द हैं। मयाशंकर याज्ञिक ने 'मदनाष्टक' की तीन उपलब्ध प्रतियों का उल्लेख किया है—

(१) हिन्दी साहित्य-सम्मेलन पत्रिका, सं० १९७८, भाद्रपद में प्रकाशित

(२) असनी से प्राप्त

(३) काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित

तीनों प्रतियों की कविता में पाठ-भेद है। इसलिए इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी विद्वत्वर्ग के मत नहीं मिलते। नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'रहीम कवितावली' में नागरी प्रचारिणी पत्रिका वाले पाठ को प्रामाणिक कहा गया है। 'रहीम रत्नावली' के सम्पादक ने अनेक तर्कों द्वारा सम्मेलन पत्रिका में उद्धृत प्रतिलिपि को ही रहीम रचित बताया है।[1] किन्तु वास्तव में उनके कथन में भी ठोस प्रमाणों का अभाव है। इसलिए निश्चित रूप में यह कहना कठिन है कि प्राप्त प्रतियों में से किसका पाठ शुद्ध है। ऐसी स्थिति में सब पाठों को समान रूप से महत्व देना ही युक्ति-संगत होगा। अस्तु!

विषय-वस्तु—थोड़ा-बहुत पाठ-भेद होने पर भी 'मदनाष्टक' की तीनों प्रतियों में विषयगत विभिन्नता नहीं है। प्रत्येक पद एक-दूसरे से स्वतंत्र है किन्तु विषय सबका कृष्ण-गोपिका प्रेम है। कृष्ण की मुरली के व्यापक प्रभाव से गोपियों की विह्वलता, कृष्ण के रूप-सौन्दर्य द्वारा उद्दीप्त गोपी-प्रेम-भावना, कृष्ण-मिलन की उत्कट आकांक्षा आदि मदनाष्टक का वर्ण्य-विषय है। यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत स्मृति संचारी के रूप में हुआ है। कृष्ण के वंशीनाद, रूपमाधुरी, वाणी तथा मधुर चाल-ढाल ने गोपियों को इतना विकल कर दिया कि वे कृष्ण-साक्षात्कार के लिए अधीर हो जाती हैं। प्रेम की यह अनन्यता एवं तज्जनित विह्वलता गोपियों की मानसिक व्याधि का कारण बनती है; अतः वे विक्षिप्त-सी 'मदन' को कोसती रह जाती हैं। कवि का अभीष्ट विरह-व्यथा की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करना है जो "मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी" शीर्षक टेक-पंक्ति द्वारा बार-बार ध्वनित होता है।

मदनाष्टक पढ़ने के उपरान्त ऐसा अनुभव होता है कि कवि ने मनोगत भावों का आकलन करके उन्हें सुन्दर रीति से क्रमबद्ध रूप में सँवारने का आवश्यक श्रम नहीं किया। समस्त रचना भाव-क्रम विहीन है कदाचित् इसीलिए 'रहीम रत्नावली' के सम्पादक ने 'अष्टक' को 'मन की तरंग में' रचित कहा है।

१. रहीम रत्नावली, पृ० २७–२८, श्री मयाशंकर याज्ञिक

अभिव्यंजना-पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—मदनाष्टक की भाषा में सबसे अधिक तत्सम शब्दों का ही प्रयोग हुआ है, तद्भव एवं विदेशी शब्दों की संख्या अनुपात में न्यून है, यथा—

तत्सम शब्द—मयंक, कांति, वधू, हुताशन, चित्त, कमल, मुकुल, शरद, मध्य, निशि, निकुंज, वंशी, रति, पति, निद्रा, कलित, ललित, चपल, चकित, कटि, तट, अलि, दृग, मणि, जटित, माधुरी, श्याम, कुटिल, सकल, शशि, कला, श्रुति, तरल, तरनि, दीर्घ, मधुर, मधुप, भुजंग, मृदु, अमृत, मन्मथ, मोह, विगत आदि।

तद्भव शब्द—चाँद, सघन, चखन, पीत, नवेला, छकित, छबीली, छेलरा, रसीली, मूँदरी, जुग, बाँकुरी, बानी, राति, मरुति, रितु आदि।

अरबी-फ़ारसी शब्द—जवाहिर, अलबेला, यार, खूब, दिलदार, जुल्फे, जी, कुल्फैं, रोशनी, जरद, चमन, तमाशा, मस्त, नोकदार, बेदुरुस्ती, अकिल, गुल, गुजारी, शुकर, खाख आदि।

वाक्य-रचना की दृष्टि से यदि हम 'मदनाष्टक' के पदों का विश्लेषण करें तो एक विचित्र प्रकार की अव्यवस्था दिखाई देगी। कारक चिह्न और समस्त पदावली संस्कृत-व्याकरण के अनुकूल है, वचन तथा लिंग मनमाने हैं जिन्हें देखकर भाषा को किसी प्रकार 'खड़ीबोली' नहीं कहा जा सकता। हाँ, श्लोक के अन्तिम दो चरण बहुत कुछ खड़ीबोली-व्याकरण के आधार पर हैं, जैसे 'मैं था गया बाग में', 'गुल चमन देखता था,' 'गावता रेखता था' आदि। कतिपय उदाहरण देखिए—

संस्कृत के सविभक्तिक प्रयोग—

शरद निशि निशीथे, चाँद की रोशनाई,
सघन बन निकुंजे, कान्ह वंशी बजाई ॥[1]

हर नयन हुताशन ज्वालया भस्मिभूत।
रति नयन जलौघे, खाख बाकी बहाया ॥[2]

मनसि मम नितान्तम आय के बासु कीया।
तन धन सब मेरा मान तैं छीन लीया ॥[3]

बहुवचनान्त प्रयोगों में वैषम्य

रति पति सुत निद्रा साइयाँ छोड़ भागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥[4]
श्रुति युग चपला से कुण्डलें झूमते थे,
नयन कर तमाशे मस्त ह्वै घूमते थे ॥[5]

---

१. रहीम रत्नावली, पृ० ७३—श्री मयाशंकर याज्ञिक
२-५. रहीम रत्नावली, पृ० ३०, ३०. ७३, ७३—मयाशंकर याज्ञिक

उपर्युक्त पदों को देखिए, इस लघु कलेवर-काव्य में भी विदारै, लेखौ, देखौ, राखौ, मोहै, ह्वै आदि अनेक क्रियाएँ व्रजभाषा की मिल जाती हैं। इन प्रयोगों से काव्य की भाषा और भी अव्यवस्थित हो गई है।

अलंकार—रहीम उच्चकोटि के कवि थे। उनके 'नीति के दोहों' में बिहारी के दोहों की सी सजीवता है। 'बरवै' तथा 'नायिका-भेद' की भाषा काव्य-सौन्दर्य से परिपूर्ण है। काव्य-प्रसाधन पर ऐसा पूर्ण अधिकार रखने वाले रहीम जैसे कवि की 'मदनाष्टक' जैसी लघु रचना में यदि अनेक अलंकार समाविष्ट हो गये हों तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं। निम्न छन्दों में शब्दालंकारों के उपयोग द्वारा भाषा की सजीवता एवं प्रवाह द्रष्टव्य है—

अनुप्रास

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥[१]

दृग छकित छबीली छैलरा की छरी थी।
मणि जटित रसीली, माधुरी मूँदरी थी॥[२]

तरल तरनि सी है तीर सी नोकदारैं।
अमल कमल सी है, दीर्घ हैं दिल बिदारैं॥[३]

यमक

बहति मरुति मन्दम्, मैं उठी रात जागी।
शशिकर कर लागे सेज को छोड़ भागी॥[४]

कृष्ण के नख-शिख तथा वेश-भूषा आदि के सौन्दर्य-वर्णन के लिए उपमा, रूपक, सन्देह, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, परिकर आदि अर्थमूलक अलंकारों का उपयोग हुआ है, जैसे :—

उपमा

तरल तरनि सी है तीर सी नोकदारैं।
अमल कमल सी है, दीर्घ है दिल बिदारैं॥[५]

रूपक

हिमरितु रति धामा, सेज लोटौं अकेली।
उठत विरह-ज्वाला, क्यों सहौं री अकेली॥[६]

व्यतिरेक

अलक कुटिल कारी, देख दिलदार जुल्फैं।
अलि कलित निहारें, आपने दिल की कुल्फैं॥[७]

सकल शशि कला को, रोशनी हीन लेखौं।
तव बदन मयंकी, ब्रह्म की चोप बाढ़ी॥[८]

१–८. रहीम रत्नावली, पृ० ७३, ७२, ७४, २६, ७४, ३१, ७३, ३२ —मयाशंकर याज्ञिक

मुख छवि लखि भूपै, चाँद ते कांति गाढ़ी।
मदन मथित रंभा, देखते मोहि भागी ॥[1]

सन्देह

भुजंग जुग किधौं हैं, काम कमनैत सोहैं।
नटवर ! तव भौंहैं बाँकुरी मान मोहैं ॥[2]

परिकर

जरद बसन वाला, गुल चमन देखता था,
झुक-झुक मतवाला, गावता रेखता था ॥[3]

लघुकाय 'मदनाष्टक' में शब्द की लाक्षणिक चपलता भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाती है :—

भुजंग जुग किधौं हैं काम कमनैत सोहैं।
नटवर ! तव भौंहैं, बाँकुरी मान मोहैं ॥[4]

प्रस्तुत पद में 'भुजंग' तथा 'काम कमनेत' का 'काला' और 'वंकिम' लक्ष्यार्थ ही कवि का अभीष्ट होने से प्रयोजनवती है। आरोप्यमाण 'भुजंग' और 'कमनैत' का आरोप्य विषय 'कृष्ण की भौहों' का सर्वथा निगरण होने से 'साध्यवसाना' है। 'भुजंग' और 'कामदेव के धनुष' से क्रमशः 'कालेपन' और 'टेढ़ेपन' का सादृश्य-सम्बन्ध होने से 'गौणी लक्षणा' है। एक और उदाहरण द्रष्टव्य है :—

वहति मरुति मन्दम्, मैं उठी रात जागी।
शशिकर कर लागे, सेज को छोड़ भागी ॥
अहह विगत स्वामी, मैं क्या करूँ अकेली।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥[5]

रतिधाम में शैया शीतल है। चाँदनी रात है तथा मन्द-मन्द बयार चल रही है, किन्तु नायिका अकेली है। चन्द्र किरण के शीतल स्पर्श से सोते-सोते शैय्या को छोड़कर भाग खड़ी होती है। मंद पवन, चन्द्र-किरण का शीतल स्पर्श आदि के संकेत से प्रियतम की सुखद-स्मृति तथा तज्जनित विरहानुभूति की पीड़ा से विह्वल होकर भाग उठना आदि भाव एवं क्रिया व्यंजित हैं। यह व्यंजना अर्थ-जनित होने से आर्थी है।

इसी से मिलता-जुलता भाव अन्यत्र भी व्यंजित किया गया है :—

हिम ऋतु रति धामा सेज लोटौं अकेली।
उठत विरह-ज्वाला क्यों सहौं री सहेली ॥
चकित नयन बाला, तत्र निद्रा न लागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥[6]

१-६. रहीम रत्नावली, पृ० ७४, ७३, ७३, ३१, ३१, ७३—मयाशंकर याज्ञिक

काव्य-गुण—मदनाष्टक की भाषा में ब्रजभाषा के संस्पर्श से प्रसादगुण के साथ माधुर्य का भी सहज ही समावेश हो गया है। कवि में कर्ण-कटु शब्दों को खराद कर कोमल या मसृण कर लेने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जैसे :—

दृग छकित छबीली छैलरा की छरी थी।
मणि जटित रसीली माधुरी मूँदरी सी ॥[1]

संक्षेप में, मदनाष्टक के इन आठ पदों को देखकर कवि की नैसर्गिक प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'मन की तरंग में लिखने' पर भी कवि ने अभिव्यंजना की विविध विधाओं से उसे अनुप्राणित कर इस बात का प्रमाण दे दिया कि यदि उसने खड़ीबोली कविता की ओर किंचित्मात्र भी ध्यान दिया होता तो उसकी रचना उस भाषा की अमूल्य निधि होती।

आलम (रचनाकाल सं० १६४०-१६८०)

शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में सर्वप्रथम आलम कवि का उल्लेख किया है। इसमें कवि के किसी ग्रन्थ का संकेत न देकर उसे केवल मुअज़्ज़मशाह का आश्रित बताया गया है।[2] सन् १६०३ की खोज-रिपोर्ट में आलम के एक काव्य-संग्रह 'आलम केलि' का पता चला। कहा जाता है कि महाराज बनारस के राजकीय पुस्तकालय 'सरस्वती भंडार' में उस समय यह ग्रन्थ सुरक्षित था। उसमें ग्रन्थ का लिपिकाल संवत् १७५३ दिया हुआ है। इस आधार पर आलम को मुअज़्ज़मशाह का समसामयिक माना जाने लगा। सन् १६०४ में खोज के सिलसिले में उसी पुस्तकालय में 'माधवानल कामकन्दला' नामक प्रेमकथा की प्रति भी हस्तगत हुई जिसका रचनाकाल ६६१ हिजरी (सन् १५८३) दिया हुआ था। खोज के निरीक्षक बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'आलमकेलि' तथा 'माधवानल कामकन्दला' के रचना-काल में लगभग डेढ़ सौ वर्षों का अन्तर देखकर हिन्दी साहित्य में दो आलम होने की घोषणा कर दी। 'माधवानल कामकन्दला' में अकबर और उनके भू-व्यवस्थापक टोडरमल का उल्लेख भी मिलता है जो 'आलमकेलि' में नहीं था।[3] अतः सन् १६२३-२५ की खोज रिपोर्ट[4] तथा 'मिश्रबन्धुविनोद' के परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण में भी दो आलम होने की सम्भावना का समर्थन किया गया। कदाचित् इसीलिए १६३५-३७ ई० की खोज-रिपोर्ट[5] और पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'[6] में दो आलम का उल्लेख मिलता है, एक सुप्रसिद्ध शेख रंगरेजिन का प्रेमी आलम तथा दूसरा औरंगज़ेब के द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़मशाह का आश्रित। सं० १६६८ में

---

१. रहीम रत्नावली—पृ० ३१, ७३, श्री मयाशंकर याज्ञिक
२. शिवसिंह सरोज पृ० ३८०, शिवसिंह सेंगर
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, २००४ सं०—द्र० 'आलम और उनका समय'
४. मिश्रबन्धुविनोद (द्वितीय संस्करण) पृ० ५३२
५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, अंक माघ १६६७, नवीन संस्करण, पृष्ठ ३२७
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२६—पं० रामचन्द्र शुक्ल

प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी कवि और काव्य' में भी दो आलम स्वीकृत किये गये।[१] इस प्रकार चिरकाल तक हिन्दी साहित्य में दो आलम माने जाते रहे। किन्तु सं० २००९ में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने काशी विश्वविद्यालय की ओरिएंटल कॉन्फ्रेंस में हिन्दी-विभाग की ओर से 'आलम और उनका समय' शीर्षक लेख पढ़ा। इसमें उन्होंने आलम, उनके समय तथा कृतियों के सम्बन्ध में अनेक युक्तिसंगत तर्क उपस्थित करते हुए दो आलम होने की सम्भावना को निर्मूल सिद्ध कर दिया, और 'माधवानल कामकन्दला' एवं 'आलमकेलि' दोनों काव्य-रचनाओं के प्रणेता की अभिन्नता पर बल दिया।[२] विद्वानों ने यह स्थापना स्वीकार कर ली। हाल ही में, डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने अपने 'शेख आलम' शीर्षक लेख में फिर से, दो आलम होने की सम्भावना पर बल दिया है। एक हैं, 'माधवानल कामकन्दला' और 'स्याम सनेही' के रचयिता भक्तिकालीन आलम, और दूसरे हैं, 'आलमकेलि' तथा 'सुदामाचरित' के प्रणेता रीतिकालीन आलम। डॉ० गौड़ के तर्कों का आधार इतिहास से अधिक प्राप्त कृतियों की भाषा और शैली का अन्तर है।[३] तात्पर्य यह है कि कोई पुष्ट प्रमाण न होने के कारण आलम के अस्तित्व के सम्बन्ध में अद्यावधि कोई निश्चित मत स्थापित नहीं हो सका है। इस विवाद में पड़ना हमारे लिए विषयान्तर होगा। कारण यह है कि हमारे विषय का सम्बन्ध तो 'सुदामा चरित' के रचयिता आलम से है। अस्तु !

अध्ययन-सामग्री—यदि एक ही आलम माना जाय तो शोध में अब तक आलम कवि के नौ ग्रन्थों का उल्लेख मिला है जिनमें से खड़ीबोली की दृष्टि से 'सुदामा चरित' महत्वपूर्ण काव्य कहा जाता है। 'सुदामा चरित' की एक हस्तलिखित प्रति काँकरौली के पुस्तकालय में सुरक्षित बताई जाती है। सन् १९४३-४५ की खोज में इसकी अन्य हस्तलिखित प्रतियों का भी पता चला। इनमें से एक प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में सुरक्षित है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उसी प्रति का उपयोग किया गया है। इस प्रति में रचना-काल सूचित करने के लिए किसी प्रकार के सन-संवत् का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु काँकरौली में सुरक्षित उसी लिपि की दूसरी प्रति में 'इति करुणाभरण नाटक सम्पूर्ण लच्छीराम कृत लिखितं अध्ययन चिरंजीवी लालाजी वाचनार्थं'[४] लिखा है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि ये 'लालाजी' श्री व्रजभूषणलालजी हैं जिन्हें श्री गिरधरलालजी महाराज सं० १७०७ के कुछ वर्ष अनन्तर मिले होंगे। सं० १७२० में वे काँकरौली गए थे इसलिए इसके आसपास ही पोथी की प्रतिलिपि हुई होगी।[५]

विषय-वस्तु—'सुदामा चरित' लावनी की तर्ज पर 'रेखता' की रचना है, यह दरिद्र ब्राह्मण सुदामा की सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा पर आधृत एक लघुकाय खंड-काव्य है। सुदामा-चरित की इतनी कथा हिन्दी के अनेक कवियों ने वर्णित की है। बीच में प्रासंगिक वर्णनों ने

१-२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००४, वर्ष ५२, (नवीन संस्करण)
द्र०—'आलम और उनका समय', पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

३. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) पृष्ठ ३९०-३९६—वर्ष १३, अंक १-२

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, द्र०—'आलम और उनका समय' संवत् २००४, नवीन संस्करण

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, अंक ४, माघ १९९७, नवीन संस्करण

भले ही अन्तर हो मूल घटनाचक्र में अन्तर नहीं मिलता। नरोत्तमदास कृत ब्रजभाषा-काव्य 'सुदामा चरित' अपनी सरसता के लिए प्रसिद्ध है। उसके संवाद-विधान के कारण उसमें नाटकीय तत्वों का सन्निवेश हो गया है। आलम का 'सुदामा चरित' इस दृष्टि से नरोत्तमदास के 'सुदामा चरित' से मिलता-जुलता है। मिश्र जी का विचार है कि आलम के समक्ष नरोत्तमदास कृत काव्य अवश्य रहा होगा।[१]

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना आदि) लगभग सभी विद्वान् प्रस्तुत खंड-काव्य को खड़ीबोली का ग्रन्थ बताते हैं। डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल ने अपनी खोज-रिपोर्ट (१९३५-३७) में लिखा है कि इस त्रिवर्षी में इसी दूसरे आलम के बनाए हुए 'सुदामा चरित' के विवरण लिए गए हैं। यह खड़ीबोली में लिखा गया है और इसमें अरबी तथा फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी काफ़ी हुआ है। हस्तलिखित प्रति के अन्त में 'श्री सुदामा चरित रेखता बन्द सम्पूर्ण' लिखा है। इसका उल्लेख करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'आलम और उनका समय' शीर्षक लेख में इसे खड़ीबोली-ग्रन्थ कहा है। किन्तु 'सुदामा चरित' को आद्योपान्त पढ़ने पर वह शुद्ध खड़ीबोली-काव्य लक्षित नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं। अतएव काव्य के अभिव्यंजना-सौष्ठव का मूल्यांकन करने से पूर्व उसकी भाषा की समीक्षा आवश्यक हो जाती है। 'सुदामा चरित' की शब्द-राशि फ़ारसी-अरबी आदि विदेशी शब्दों से परिपूर्ण है। साधारणतः प्रयोग में आने वाले विदेशी शब्दों के अतिरिक्त इस काव्य में ऐसे शब्दों का भी प्राचुर्य है जो प्रायः हिन्दी काव्य-ग्रन्थों में देखने को भी न मिलेंगे; जैसे—नादर, कादर, सिरताज, दिल, सद्सलाम, वन्दगी, राजी, तरद्दुद, क़ज़ा, नकस, अमल, क़ज़र, गुज़र, सोबत (सोहवत), किलाफत, अजूब, माकूल, अजीज, तमा, ख्वाहस, जर, फिकर, हिजाब, आब, अंदेशा, जालिम, जराफ़त, गुलामी, कदम, दरगाह, फते, गिरदगोस, मुबारक, खलल, रंज, फ़जर, गुबार, पाक, खुशवख्त, फरामोश, दानाई, चस्म, सायत, गुदस्त, खासबोई, हूरे-हरम, खुसख्याल, सिफ़त, रुकसत, कदीम, दिलजानी, ख्वाब, मुकलस, मुश्क, गिलम, कारगुजार, गिरद, निसान, सदका, मुरस्साकारी, महबूबे, गुसल, हासिल, मसकीन, (मिसकीन) आदि। इस विदेशी शब्द-राशि से इतर जिन शब्दों का उपयोग हुआ है वे खड़ीबोली के नहीं अपितु प्रान्तीय हैं, उदाहरणार्थ नहिं, बिन, मूरति, ऊनी, दरवल, दुरति, जराव, मफाली, बिहरत, काँधे, काँबरि, हिं, बोटा, सरति, नित, लहे, फिकरौं, साँकरि, पेंडा, भेदुं, दहिए, जक, अयानी, छाड़ि, ठौरनु, धाई, आन (लाकर), नाके, उमाहै, पकरे, बरखा, तहाँ, मूठी, दाबि, मोहि, दीयरा, छोरे, फरे, बेगि, बीर, जुगति, नेरा, धनी (स्त्री), वस्तर, कहा, लरजिउ, बड़ों, इक, ठौर, जिहाँ, तहाँ, दोउ, यौ, मनत आदि। इनके अतिरिक्त सविभक्तिक सर्वनाम, कारक-चिह्न, क्रिया-पद, कृदन्त आदि सब ब्रजभाषा या अवधी आदि के हैं, जैसे—

सर्वनाम तथा कारक-चिह्न—उन, वु, सोउ, उह, आपने, तुम्हें, तुम्ह, जु, हौं, उहि, तूं, तौ, मौ, तिहि, कौं, कू, ते, तैं, सौ, सौं, केतई, मई (में) आदि।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, संवत् २००४

व्रज-अवधी के क्रियापद—दुखयाने, मानै, जानै, लावै, जाउ, होई, सहै, तारइहैं, लहु, कीजै, लीनै, लागी, रह्या, ल्यावहु, धाई, उमाहै, होइसु, करत, दीजत, जात आदि।

कृदन्त—करइ, देखि, आनि, जाई, छोड़ि, जाहु, उतरि, चलि, उठि, करि, राखि, काटि, होनपाई, आनिकरि, कदमौ, लगि, करन, के आदि।

इस सम्बन्ध में व्रजभाषा-प्रधान कतिपय वाक्य भी द्रष्टव्य हैं:—

(क) मैं खातिर भइ नाहिं आनी।

(ख) जिसके कदमौ जाहु नाहि तुम, तहाँ न होइ तुम्हें बदनामी।

(ग) रे थकित सुदामा चले परेकुं, पाँव न परै धरै जो लगलग।

(घ) रे महल तयार करन मैं आया, ह्वाँ भेजा जादोपति नरहर।

प्रश्न यह उठ सकता है कि फिर डॉ० वडथ्वाल तथा पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति विद्वानों को प्रस्तुत काव्य की भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्ति क्यों और कैसे हुई? इसके दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि 'सुदामा चरित' को अन्त में 'रेखता बन्द' कहा गया है और विक्रम की उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक उर्दू-हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली तथा उर्दू दोनों भाषाएँ एक ही नाम ('रेखता') से जानी जाती थीं। खड़ीबोली लोकभाषा के रूप में सर्वत्र फैल चुकी थी। अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों की बाहुलता की शीतल छाया में यह शिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में पनप रही थी। दूसरे, 'सुदामा चरित' में खड़ीबोली के स्वल्प पद भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, उदाहरणार्थ:—

नादर सबके सिर पर कादर, सुन्दर तन घनश्याम मुरारी,
सूरति खूब अजाइब मूरति, आलम के सिरताज बिहारी॥

—पद संख्या १

बहुत गरीब सुदामा ब्राह्मण निपट खिलाफत में जब अटका,
सद्पैबन्द लगे चादर में, सिर जंबून सा बाँधा पटका॥

—पद संख्या ३

बहुत अजूब किसन से साहिब, निपट अर्जाज यार है तेरे।

—पद संख्या ८

जो तू कहती रहती है तो जाना मुझे जरूर भया है,
पे दरगाह बड़े साहब की बिना भेंट कछु कौन गया है।
क्या तो खाली जइये न घरते, जहाँ तहाँ जगदीश दया है,
रे खाली हाथ नाथ सों मिलना, इसी सुगन का सोच भया है॥

—पद संख्या २०

जाय के खड़े दूर वे दुर्बल जैसे मृग भूला है बन का।

—पद संख्या २९

१ द्र०—सुदामा चरित, (हस्तलिखित प्रति)—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

बोलै औरत, को वीर तू, किस मतलब आया मेरे घर।
रे महल तयार करन मैं आया, ह्वाँ भेजा जादोपति नरहरी ॥

—पद संख्या ३७

रे जहाँ जहाँ जैसा मतलब था, तहाँ तहाँ सब साज बनाए।

—पद संख्या ३७

आदर बिना कृस्न कादर ने, नादर सब आलम कूँ लाया।
कहाँ लाग जो इस मुकलस का, ऐसा बखत खूब है जाया।

—पद संख्या ४६

चले राह में जाहिं सुदामा, सुकर करे अपने दिल अन्दर।
मेरे बड़े भाग के पूरन जो मेरे मोहन मुरली धर।

—पद संख्या ४७

एक बात और—आलम केलि के तीन रेखता कवित्त[1] इस तथ्य के प्रमाण हैं कि रेखता में रचना करने का शौक आलम को अवश्य था। 'सुदामा चरित' की भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य है, छन्द लावनी है। काव्य का प्रथम पद खड़ीबोली प्रधान है और लिपिकार ने उसे 'रेखता बन्द' भी कहा है। इन सब विशेषताओं से संकेत मिलता है कि कवि प्रस्तुत काव्य का सृजन लोकभाषा में ही करना चाहता था किन्तु प्रधानतः ब्रजभाषा-कवि होने के कारण वह प्रान्तीय प्रभाव से बच नहीं पाया है। कदाचित् यही इन विद्वानों की भ्रान्त धारणा का कारण बना। काव्य में ब्रजभाषा के प्राधान्य को लक्षित करके ही संभवतः डॉ० बड़थ्वाल ने खोज-रिपोर्ट में बाद में कह दिया है कि " 'सुदामा चरित' में आगे चलकर ब्रजभाषा का पुट आ गया है।"[2] उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर ही हमने 'सुदामा चरित' को खड़ीबोली-काव्य स्वीकार नहीं किया है।

घनानन्द (सं० १७४६-१८१७)

आनन्द, आनन्दघन और घनानन्द, ये तीनों नाम बहुत दिनों तक एक ही कवि के समझे जाते रहे। संगीत के विशाल ग्रंथ 'राग कल्पद्रुम' में आनन्द और आनन्दघन का अभेद माना गया है। डॉ० ग्रियर्सन ने 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' (पृ० ६२, संख्या ३४७) में आनन्द और घनानन्द के एक होने का अनुमान लगाया। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के वार्षिक विवरणों में आनन्द और आनन्दघन का पार्थक्य स्वीकार किया गया। परन्तु अब पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'घनानन्द ग्रन्थावली' की भूमिका में अनेक तर्कों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि घनानन्द और आनन्दघन दोनों नाम वृन्दावनवासी घनानन्द के ही हैं। इसलिये जैन कवि आनन्दघन की रचनाओं को छोड़कर इस नाम से प्राप्त समस्त रचनाएँ एक ही व्यक्ति की हैं।[3]

१. आलम केलि, पृ० ११४—ला० भगवानदीन, प्र० उमाशंकर मेहता, सं० १९७९
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, अंक ४, माघ १९९७, नवीन संस्करण
३. घनानन्द ग्रन्थावली, पृ० ६८—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अद्यावधि घनानन्द के चालीस ग्रन्थों का पता चला है जिनमें से खड़ीबोली प्रयोग की दृष्टि से 'वियोगवेलि' ने कतिपय विद्वानों को आकर्षित किया है। किन्तु उसकी भाषा के अनुशीलन से विदित होता है कि वह खड़ीबोली-काव्य नहीं है जिसका विवेचन आगे की पंक्तियों में किया जायेगा। 'वियोगवेलि' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसकी एक प्रति 'विरह लीला' के नाम से सर्वप्रथम डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल को ब्रिटिश म्यूज़ियम में मिली थी। ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित यह प्रति अठारहवीं शताब्दी के किसी लिपिक द्वारा अंकित बताई जाती है। यह एक गुटके में बँधी है जिसमें अन्य कवियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ भी संकलित हैं।[1] इसको डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला सीरीज़ के पन्द्रहवें पुष्प (१९०७) में प्रकाशित भी कराया था। इसके अतिरिक्त छतरपुर तथा वृन्दावनवाले बृहद् संग्रहों में भी इसकी प्रतियाँ आबद्ध बताई जाती हैं। उपलब्ध प्रकाशित ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत पाठ-भेद है किन्तु वाक्य-विन्यास और विषय-वस्तु में उल्लेखनीय अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। वियोगवेलि उस प्रेम-परम्परा का प्रतीक है जो सूफ़ी संतों के प्रभाव से साहित्य में घर कर चुकी थी। इसमें फ़ारसी-काव्य की वेदना और सूफ़ियों की प्रेम-पीर को मूर्तिमान करने के लिये कृष्णलीला का उपयोग किया गया है।

भाषा—'वियोगवेलि' की भाषा के सम्बन्ध में पंडितों में मतभेद है। बाबू ब्रजरत्नदास ने अपने 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' शीर्षक ग्रन्थ में लिखा है कि, 'विरह लीला फारसी के बहरों में है जिसमें शुद्ध हिन्दी (?) का भी काफी अंश है।'[2] निश्चय ही 'शुद्ध हिन्दी' से उनका तात्पर्य खड़ीबोली से है। डॉ० शितिकंठ मिश्र ने अपने शोध-प्रबन्ध 'खड़ीबोली आन्दोलन' में तथा बदरीनाथ भट्ट ने 'खड़ीबोली की कविता' शीर्षक लेख में विरहलीला (वियोगवेलि) को खड़ीबोली का ही ग्रन्थ कह डाला है।[3] किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे ब्रजभाषा-काव्य कहते हैं।[4] और पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'वियोगवेलि' को खड़ीबोली-काव्य कहने वालों के मत का खंडन करते हुए कहा है कि "कुछ लोगों का यह समझना भ्रम है कि रचना (वियोगवेलि) खड़ीबोली की है। भाषा इसकी ब्रज ही है पर छन्द है फ़ारसी।"

किसी काव्य-रचना की भाषा के स्वरूप-निर्णय से पूर्व उसके शब्द, कारक-चिह्न, सर्वनाम, क्रियापद, अव्यय आदि अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण अनिवार्य होता है। यदि हम इस दृष्टि से 'वियोगवेलि' की भाषा पर दृष्टि-निक्षेप करते हैं तो वह प्रत्येक दृष्टिकोण से ब्रज-व्याकरण की कसौटी पर खरी उतरती है। उसका शब्द-समूह, सर्वनाम, विभक्तिचिह्न वचन-परिवर्तन आदि कोई भी खड़ीबोली के न होकर ब्रज के ही हैं, यथा :—

सलोनो, स्याम, प्रान, अमोही, साँवरे, प्रेम, पाती, पिय, अनोषी, अगिन, सारी,

---

१. द्रष्टव्य—' विरही कवि घनानन्द"—हिन्दुस्तानी (जनवरी-जून) सन् १९३१, पृ० १४५-१४६

२. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १४८, ब्रजरत्नदास

३. (क) खड़ीबोली आन्दोलन—पृ० ५२, डॉ० शितिकंठ मिश्र

(ख) सरस्वती, भाग १४, सं ३, पृ० १७८

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४३—पं० रामचन्द्र शुक्ल

मिलन, मूरत, कटाछ, चितौनी, वियोगी, विवस, लालन, विरह, चन्दा, आच्छी, निसि, द्यौस, पौन, दई, सीस, बिसवास, किरपा, स्थावरे, गरै, ही या हियो, बावरो, अंदेसौ, संदेसौ, अचंभो, भरोसो, परोसो, आदि ।

सर्वनाम तथा कारक-चिह्न—तिनको, तुमसो, तिहारे, तुमसे, कहिको, कासो, अपनीन, सों, तुम्हें, काकी, तिन्है, हमै, हमारे, तुम्है आदि ।

क्रियाएँ—रहौ, रह्यो, ज्यावौ, प्यावौ, सम्हारौ, अभूने, बसैहो, परैषो, बितैये, चितैये, जरौ हों, कीजै, लीजै, जिवावौ, पर्‌यौ, कहिवै, भरै, जरै, लाग्यौ, हालै, सालै, कौधै, चौंधे आदि ।

हाँ, कतिपय स्थलों पर खड़ीबोली के विरल प्रयोग अवश्य मिल जाते हैं, उदाहरणार्थ :—

(क) सुहाई है तुम्हें यह बात कैसे ।[1]
(ख) अनोखी पीर प्यारे कौन पावै ।[2]
(ग) अजू ब्रजनाथ गोपीनाथ कैसे ।
करै विरहा हमारे हाल ऐसे ।
दिखाई दीजिए हा हा अमोही ।।[3]
(घ) तिहारे नाम के गुन बाँध डारी ।[4]
(ङ) सनेही हो तुम्हें सब गाँव जानै ।[5]

खड़ीबोली के उक्त प्रकीर्णांक पद सम्भवतः फ़ारसी छन्द के आग्रह से समाविष्ट हो गये हैं । कदाचित् यही व्रजरत्नदास तथा डॉ० शितिकंठ मिश्र आदि विद्वानों की भ्रान्ति का कारण बने । कहना न होगा कि मूलतः व्रजभाषा-काव्य होने के कारण 'वियोग बेलि' को खड़ीबोली-काव्य में स्थान नहीं दिया जा सकता ।

नागरीदास (सं० १७५६-१८२१)

हिन्दी साहित्य में नागरीदास नाम के अनेक भक्त कवियों का उल्लेख मिलता है ।[6] किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा तात्पर्य प्रसिद्ध कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंह जी उपनाम 'नागरीदास' से है । महाराज सावंतसिंह पिंगल और डिंगल के तो पंडित थे ही संस्कृत तथा फ़ारसी के भी अच्छे जानकार थे । इनका कविता काल सं० १७८० से १८१९ तक माना जाता है । लगभग तीस वर्ष की इस अवधि में नागरीदास जी ने अपनी रचनाओं द्वारा भक्ति-काव्य में पर्याप्त योग दिया । इन्होंने छोटे-बड़े कुल मिलाकर पचहत्तर ग्रन्थ लिखे, जिनमें से

१—५. घनानन्द ग्रन्थावली, पृ० १६६, १६८, १६६, १६६, १६६

६. द्रष्टव्य— (क) नागर समुच्चय, जीवन चरित्र, पृ० २-५
(ख) ब्रजमाधुरी सार, पृ० १८३
(ग) तुलसीदास मीरा माधव अरु उभैनागरीदास ।
आसकरन नरसी वृन्दावन रुचि माधुरी सुष रास ।।
—नागरीदास, नागर समुच्चय, पृ० २९४

दो—वैन विलास तथा गुप्त रसप्रकाश—अप्राप्य हैं। शेष तिहत्तर ग्रन्थों का संग्रह 'नागर समुच्चय' के नाम से ज्ञान सागर यंत्रालय से प्रकाशित हुआ है। समुच्चय के 'सिंगार सागर' तथा 'पद सागर' में संगृहीत 'इश्क चमन'[1], 'सदा की माँझ', दो-एक होरी पद, अडाना, ईमन, हमीर, भैरूं आदि कतिपय राग-रागिनियाँ 'रेषता' बद्ध होने के कारण खड़ीबोली की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

विषय-वस्तु—नागरीदासजी वल्लभ कुल की पाँचवीं पीढ़ी के गोस्वामी श्री रणछोड़जी के शिष्य थे। कृष्णगढ़-नरेश यद्यपि वल्लभ मतावलम्बी थे और उन्होंने अपने काव्य में पुष्टिमार्गी समस्त सैद्धान्तिक विशिष्टताओं का प्रतिपादन किया है तथापि इनके पद स्थल-स्थल पर हरिवंशी (राधावल्लभी) महात्माओं एवं हरिदासजी (सखी-भाव) आदि वैष्णवों की वानियों से मिलते-जुलते हैं। 'इश्क चमन' में उन्होंने स्वामी हरिदासजी की स्तुति में दो दोहे भी कहे हैं।[2]

इससे प्रतीत होता है कि नागरीदासजी हरिदासी सम्प्रदाय से यथेष्ट प्रभावित थे। कदाचित् इसी कारण 'इश्क चमन' के फुटकर दोहों तथा अन्य रेखता पदों में राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी वर्णन के अतिरिक्त माधुर्य भाव का मेरुदण्ड—प्रेम-महिमा का भी गान किया गया है। नागरीदास के अनुसार पूर्ण प्रेम की महिमा वर्णनातीत है क्योंकि 'प्रेम तैं अधिक न कोउ वस्तु हरि पै अनूर है' अतएव 'प्रभु तैं अधिक प्रेम कौ जानौ।'[3] दूसरे शब्दों में नागरीदास ने प्रेम-रूप ही कृष्ण और कृष्ण-रूप ही प्रेम कह कर भक्ति सम्प्रदाय के उपास्य श्रीकृष्ण का प्रेम से तादात्म्य सिद्ध कर दिया है। खड़ीबोली-दोहों में भी इसी प्रेम का माहात्म्य वर्णित है। इन पदों में प्रेम (इश्क) का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है यद्यपि देखने में लौकिक अधिक प्रतीत होता है तथापि वह भगवद् प्रेम (इश्क हक़ीकी) की ही व्याख्या है। प्रारम्भ में ही कवि ने इश्क को 'कादर-नादर रूप' देकर उसे 'नित्य, सुन्दर और आह्लादक' कह दिया है जिससे पाठक-श्रोता का भ्रम दूर हो जाय। प्रस्तुत पदों में प्रेम की कठिनाइयों—त्याग, तपस्या, तन्मयता आदि—का भव्य एवं सौम्य रूप उपस्थित किया गया है। प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता त्याग की भावना का प्राबल्य है। प्रेमी अथवा भक्त के आत्म-समर्पण की ऐसी उदात्त भावना भारतीय भक्ति-परम्परा में नारद ने भक्तिसूत्र में 'तत्सुख सुखित्वम्' (अर्थात् उसके सुख में ही सुख की अनुभूति है) कह कर दी है। कवि ने आशिक (प्रेमी) का स्वरूप तो भारतीय विचारधारा के अनुसार त्यागमय, उदात्त एवं गम्भीर चित्रित किया है, किन्तु माशूक (प्रिय) का रूप भारतीय परम्परा से कुछ हटकर फ़ारसी के आशिकी ढंग पर खड़ा किया

---

१. 'इश्क चमन' सिंगार सागर और पद सागर दोनों में दिया हुआ है।

२. (अ) नकल साँच सौ सरस करि, करि लीने दिलदस्त।
हरीदास के हाल में, दर दीवाल भी मस्त॥
(आ) इश्क साँग साँचा किया, दिल को दिया धकाय।
हरिदास सबको गया, चेटक रूप दिखाय॥
—नागर समुच्चय, पृ० २६०

३. नागर समुच्चय, पृ० ३१

है। फ़ारसी-काव्य में माशूक साधारणतः आशिक के प्रति उसी रूप में आकर्षित नहीं पाया जाता। इसलिए वह अवसर आशिक की उपेक्षा करता देखा जाता है। वह अन्य को चाहत की दृष्टि से देखता है और चाहने वाले के प्रति उदासीन रहता है जबकि भारतीय विचार-धारा में प्रेम-तत्व की मर्यादा इस में है कि प्रेमी और प्रिय दोनों समान रूप से एक दूसरे के लिए व्याकुल रहें।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन विशिष्टताओं को लक्षित करके कहा है कि, "कालगति के अनुसार फ़ारसी-काव्य का आशिकी और सूफ़ियाना रंग-ढंग भी कहीं-कहीं इन्होंने (नागरीदास) दिखाया है।"[1]

अभिव्यंजना सौष्ठव

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—नागरीदासजी कृष्णगढ़-नरेश थे, मुगल शासकों से उनका सम्पर्क बना हुआ था और वे फ़ारसी के जानकार भी थे। कदाचित् इसलिये उनके खड़ीबोली काव्य में संख्यातीत विदेशी शब्दों का उपयोग किया गया है जैसे इश्क, कादर, नादर, इस्तेमाल, सहदानें, चुनिंदा, दुनियादार, फ़कीर, मस्त, प्यादे, मज़हब, असर, बरबाद, चस्म, पलक, जर, बाजी, महबूब, अदालत, जुलम, आसिक, पीर, हमेस, बंजर, स्याबास, जखमी, तस्मा, दिमाग, जरब, निगाह, मुकरर, जरराह, तबीब, कैफ़, कस्म, क़रीम, जाहिर, मुतलक, दस्त, जुवाँ, आबादान, फिराक, पाक, तेग, दस्तगीर, महताब, बेताब आदि। खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल प्रीति, झलक, सूरज, धूप, रूप, जदपि, अनपार, हस्ती, धाम, मद, नैन, सजन, धीर, पीर, नवल, अकथ, कहानी, चतुर आदि जैसे शुद्ध तत्सम अथवा तद्भव शब्दों का प्रयोग तो गिने-चुने स्थलों पर ही मिलता है।

नागरीदासजी मूलतः व्रजभाषा-कवि होने के कारण व्रज-अवधी आदि प्रान्तीय भाषा-प्रयोगों से अलग न रह सके। फलतः उनके दोहों, पदों और राग-रागिनियों में स्थल-स्थल पर इन भाषाओं के संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, कृदन्त, आदि मिल जाते हैं जैसे बूड़ना, ऊबट, पावै, ज्यों, कहूँ, नहिं, सौ, करि, अरु, अस, बिन, मति, इहाँ, उहाँ, सम्हलि, धरि, माँहि, ल्याय, दूरि, जाहु, नैननि, बड़ौ, करौ, ठहरि, लागै, तैं, लीने, साचा, कोय, आय, तबहि, हीय, लीया, उहि, तिस पै, होइ, देवै, बजै, चलावत आदि। कवि व्रजभाषा के नैसर्गिक माधुर्य पर इतना मोहित था कि उसने अरबी-फ़ारसी शब्दों तक को मधुर बनाने की चेष्टा की जैसे बिगर (वगैर), चस्म (चश्म), सुरख (सुर्ख) जिहान (जहाँ), पातसा (बादशाह), सरम (शर्म), सिप्त (सिफ्त), मज्ब (मज़हब), नसियत (नसीहत), बेनिसाफ़ (बेइंसाफ), जुलम (जुल्म)। स्पष्ट है कि मार्दव लाने के फेर में शब्द-विकृति पर भी ध्यान नहीं दिया गया जिस कारण सिप्त, बेनिसाफ़, नसियत, आदि कई शब्द अपना मूल रूप खो बैठे हैं। फिर भी कहीं-कहीं खड़ीबोली का अपेक्षाकृत सुधरा हुआ रूप देखने को मिल जाता है, उदाहरणार्थ—

सुन्दर सलौने बदन कँवल पर, ए अँखियाँ व्है भँवर गिरी क्यों।
फेरि रही मैं नसियत कर कर, गजब की मारी फिर न फिरीं क्यों॥[2]

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४६—पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. नागर समुच्चय, पृ० ४७८

परि गई नाँव कुदाव चित, किससे करूँ पुकार ।
प्रीतम भँवर के पेच तें, कौन उतारै पार ॥[1]

दो-एक स्थलों पर भाषा की अर्थ-द्योतिनी शक्ति में अभिवृद्धि करने वाले 'मुहावरे' भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे :—

इस्क साँग साँचा किया, दिल को दिया छकाय ।
हरीदास सबको गया, चेटक रूप दिखाय ।[2]
कही जाय कहा इस्क की, कहे न माने कोय ।
जाने सो जाने अरे, जिस सिर बीती होय ॥[3]

अलंकार—खड़ीबोली के पदों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि शब्द-अर्थ उभयालंकार मिलते तो हैं किन्तु उनमें कवि की सौन्दर्य-विधायिनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का अभाव है । उनमें विशेष अभिव्यंजना-कौशल लक्षित नहीं होता, जैसे :—

अनुप्रास

सोहना मुष सिर सुरष, लपेटा धरै मोर की पाषें ।
गरब भरी मद रूप अयानी, अजब जरब की आषें ॥[4]

उपमा

जुल्फ की जंजीर सख्त दिल को दस्तगीर किया ।
उसको षुदावंद हरेक फंद सो छुटाय लीया ॥[5]

रूपक

अरे प्यारे क्या करौ, जाहिर होहैं लाग ।
क्यों करि दिल बारूद में, छिपे इस्क की आग ॥[6]
चस्मौ सो जष्मी करै, रस गस्मौ विच षेत ।
लट तस्मौ सो बाँधि के, दिल बस्मौ करि लेत ॥[7]

उदाहरण

इस्क उसी की झलक है, ज्यों सूरज की धूप ।
जहाँ इस्क तहाँ आप है, कादर नादर रूप ॥[8]

प्रस्तुत उद्धरण भारतीय काव्य की दृष्टि से अनगढ़ और भदेस उपमानों के दृष्टान्त हैं । यहाँ दिल 'बारूद' है, जुल्फ़ें 'जंजीरों' का काम देती हैं अथवा 'चमड़े के तस्मे' ही बना दी गई हैं । अलंकारों के प्रति कवि की ऐसी उदासीनता यथार्थतः देशव्यापी 'रेषता' की तत्कालीन प्रवृत्ति का परिचय देती है, जब उर्दू के प्रभाव से भाव की प्रेषणीयता पर अधिक और सौन्दर्य पर कम ध्यान दिया जाता था । इसीलिए नागरीदास ने भी उपमा और रूपक आदि अलंकार-योजना में सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा वरती है । वस्तुतः गिने-चुने स्थलों पर ही भारतीय उपमान-नियोजन मिलता है, यथा :—

१—८. नागर समुच्चय, पृ० ४८०, २८६, ३००, ३००, ४७७, २८६, २८६, २८६

उपमा-रूपक

सुन्दर सलौने वदन कँवल पर, ए अँषियां व्है भँवर गिरी क्यों।
फेरि रही मैं नसियत कर कर, गजब की मारी फिर न फिरी क्यों।[1]

रूपक

परी इस्क दरयाव दिल, नाव न पावत ओर।
बे परवाई रावरी, पुरवाई झकझोर॥[2]

उत्प्रेक्षा

भौंहें बुलन्द मुष वीरा, सिर जाफरानी चीरा।
जोबन में मस्त आंषै, गोया कँवल की पाषैं॥[3]

विशेषोक्ति

इस मतलक मैं निपट सयानी, और न कहूँ लुभानी।
मस्त हाल सब सुधि बिसरानी, प्यासी मरैं परी बिच पानी॥[4]

शब्द-शक्ति—जिस प्रकार भाषा को अलंकारों से सज्जित करने में कवि का कोई प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियाँ भी खड़ीबोली के इन स्फुट पदों में अनायास आ गई हैं। वे भाव की प्रेषणीयता में भले ही सहायक रही हों, उनसे अभिव्यंजना-सौन्दर्य में किंचित् मात्र भी अभिवृद्धि नहीं हुई है, देखिए—

प्रयोजनवती, उपादानमूला लक्षणा

पंडित पूजा पाक दिल, ए दिमाग मति ल्याय।
लगै जरब अषियान की, सबै गरब उड़ि जाय॥[5]
उजले मैले षलक में, फैले मज्ब अनेक,
इस्क बाज सिर ताज को, इस्क पियारा एक॥[6]

प्रयोजनवती, सारोपा, शुद्धा, उपादानमूला लक्षणा

उठे आगि उर इस्क की, जलै ऐंस आराम।
चलै न कैफ़ी चस्म बिच, घुटै धुएँ के धाम॥[7]

काव्य-गुण—नागरीदास के खड़ीबोली-पदों की सबसे बड़ी विशेषता है उनका प्रसाद गुण। फ़ारसी शब्दावली से बोझिल होने पर भी वाक्य छोटे हैं और भाव सुलझे हुए। अतः अभिव्यक्ति में न कहीं जटिलता मिलती है न दुर्बोधता। शब्दों को मसृण बनाने की प्रवृत्ति ने इन पदों में माधुर्यगुण का सन्निवेश तो कर दिया किन्तु इससे खड़ीबोली का झुकाव सहज ही व्रजभाषा की ओर हो गया है, जो खड़ीबोली की प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है।

शाह आलम (सं० १७८५-१८६३)

मुगल वंश के अन्तिम शासकों में से कुछ काव्य-कला के अत्यन्त प्रेमी थे। वे कवियों के आश्रयदाता ही नहीं अपितु स्वयं भी कुशल काव्यकार थे। उन्हीं में से एक अजीजुद्दीन आलमगीर सानी के पुत्र मिर्जा अब्दुल्ला अलीगौहर थे जो अब्दुलज़फ़र जलालुद्दीन मुहम्मद

१—७. नागर समुच्चय, पृ० ४७८, ४७६, ४८०, ४८१, २८६, ४७७, २८६

शाह आलम सानी द्वितीय के नाम से सं० १८१६ में दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुए। शाह आलम यद्यपि स्वयं सूफ़ी थे तथापि हिन्दू माँ लालकुंवर के पुत्र होने के कारण होली, दीवाली आदि उत्सव भी बड़े धूमधाम से मनाते थे। ये संगीत कला के भी विशेष प्रेमी थे। बादशाह आलम ईरानी, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पंजाबी, संस्कृत, ब्रज, खड़ीबोली आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। मिर्ज़ा, रफ़ी, सौदा आदि उर्दू-शायर इनके समकालीन थे जिनसे समय-समय पर बादशाह अपनी शायरी का इसलाह करवाते थे। 'रानी केतकी की कहानी' के प्रसिद्ध रचयिता सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ इनके आश्रय में बहुत दिन रहे। शाह आलम को बचपन से ही कविता में रुचि थी। इन्होंने फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी तीनों भाषाओं में साहित्य-रचना की। उर्दू-शायरी में उनका तख़ल्लुस 'आफ़ताब' और हिन्दी काव्य में 'शाह आलम' मिलता है। आज़ाद 'देहलवी' ने बादशाह द्वारा प्रणीत चार उर्दू-गद्य-दीवान बताये हैं जो अब प्राप्त नहीं हैं।[1] प्राप्त ग्रन्थों में दीवाने-फ़ारसी और दीवाने-उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी काव्य-संग्रह 'नादिरातेशाही' खड़ीबोली-काव्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने योग्य है। आश्चर्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में शाह आलम की हिन्दी रचनाओं का उल्लेख नहीं मिलता।[2]

'नादिरातेशाही' सर्वप्रथम इमतियाज़अलीखाँ अरसी, नाज़िम क़ुतुबख़ाना रामपुर ने सन् १९४४ ई० में हिन्दुस्तानी प्रेस रामपुर से प्रकाशित किया था। इसकी हस्तलिखित प्रति रामपुर पुस्तकालय में सुरक्षित है। कहा जाता है कि 'दाग़' देहलवी ने इसे रामपुर पुस्तकालय के लिए मोल लिया था। प्रस्तुत प्रति देवनागरी और फ़ारसी नस्तालीक़ दोनों लिपियों में है। देवनागरी लिपि के कारण पुस्तक बायीं ओर से प्रारम्भ की गई है। ग्रन्थ के अन्त में दिये हुए हिन्दी दोहे से ज्ञात होता है कि इसका नाम 'नादिरातेशाही' रखा गया था।[3] फ़ारसी रुबाई से भी यही नाम निकलता है और यह भी कि स्वयं बादशाह के आदेश से यह सन १७९७ ई० में लिखी गई।[4] प्रकाशित पुस्तक के सम्पादक ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि रामपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति बादशाह द्वारा लिखवाई हुई मूल प्रति है।[5]

विषय-वस्तु—जैसा कि स्वयं कवि ने भी कहा है 'नादिरातेशाही' यथार्थ में 'सबै रसन को धाम' है, क्योंकि इसमें फ़ारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, पंजाबी, खड़ीबोली आदि अनेक

१. द्रष्टव्य—नादिरातेशाही, पृ० ४३-४५

२. नादिरातेशाही के सम्पादक 'अरसी' साहब ने भी लिखा है कि, "तारीख़ और तज़किरे की किताबों में बादशाह की हिन्दी शायरी का तज़किरा तो किया जा सकता है, लेकिन किसी जगह इस किताब का नाम नज़र से नहीं गुज़रा।" —दीबाचा, पृ० ४६

३. मोद उपावै चित्त को, सबै रसन को धाम।
नादिरातेशाही धर्‌यौ, या पोथी को नाम॥ —नादिरातेशाही, पृ० ३०९

४. ई नुसख़ः कि हस्त जामिये जुमलः उलूम, गर्दीद बहुक्मि शाहिआलम् मरक़ूम।
इस्ना अशर अज़ अहादे हम बूदमिआत की गश्त व नादिरातिशाही मासूम॥
—नादिरातेशाही

५. नादिरातेशाही, पृ० ४६-४८

भाषाओं में ग़ज़ल, दोहा, कवित्त आदि कहे गये हैं। प्रायः सब पद राग और ताल में बाँधे गये हैं। ग़ज़लें उर्दू और फ़ारसी में हैं। 'मुबारक बादे जशन', 'मिहदीए-गौस-उल-अऽज़म' तथा 'सीठने' आदि पर्व-त्यौहारों, विवाहोत्सव आदि से सम्बन्धित सूक्तियाँ मात्र हैं जिनमें अवसरानुकूल फ़ारसी, उर्दू, खड़ीबोली, पंजाबी आदि विविध भाषाओं का प्रयोग किया गया है। इनसे ज्ञात होता है कि बादशाह के शासनकाल में दोनों जातियों के कौन-कौन से सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज प्रचलित थे। कहीं-कहीं बादशाह के निकट सम्बन्धियों के उल्लेख से पदों के रचनाकाल पर भी प्रकाश पड़ता है। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से इसके लगभग चार सौ कवित्त और दोहे विशेषतया उल्लेखनीय हैं जिनमें 'होरी-उत्सव' तथा 'नायिका-भेद' का विशद वर्णन है। होरी-उत्सव सम्बन्धित दोहों और कवित्तों के आलम्बन कृष्ण एवं गोपियाँ हैं तथा भाषा ब्रज है। काव्य के 'नायिका-भेद' शीर्षक स्फुट पदों में लगभग साठ दोहे और कवित्त खड़ीबोली-प्रधान भाषा में हैं जो किसी विशेष स्थल पर नियोजित नहीं हैं। इनमें ब्रजभाषा का भी पर्याप्त पुट दिखाई देता है। इससे लक्षित होता है कि कवि ने नायिका-भेद-कथन के लिए भी तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सर्व-स्वीकृत ब्रजभाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था किन्तु 'रेखता भाषा' से पर्याप्त परिचित होने के कारण वह उसे अपनी कविता से पृथक् नहीं कर पाया।

अभिव्यंजना-सौष्ठव

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—प्रस्तुत खड़ीबोली-पदों की कलागत मीमांसा से पूर्व यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि इन पदों में अभिव्यंजना-चातुर्य की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं है। इसके दो कारण सम्भव हो सकते हैं। प्रथमतः शाह आलम मूलरूप में फ़ारसी के शायर थे; दूसरे, वे भारतीय काव्य-शास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ थे। फिर भी भाव की नवीनता और भाषा के स्वच्छ रूप को देखते हुए खड़ीबोली-साहित्य में इसका महत्व उपेक्षणीय नहीं।

'नादिरातेशाही' के प्रकीर्णक खड़ीबोली-पदों की सबसे बड़ी विशिष्टता उसकी देशी शब्द-राशि है। शाह आलम यद्यपि फ़ारसी के शायर थे तथापि इस युग के अन्य खड़ीबोली-कवियों की अपेक्षा उन्होंने दोहों और कवित्तों में अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग अत्यल्प किया है। इनकी ग़ज़लों से उर्दू-ए-मुअल्ला तथा दोहों से लोक-प्रचलित तत्कालीन जनभाषा खड़ीबोली का रूप उपस्थित किया जा सकता है। उनका यह वैशिष्ट्य उन्हें अन्य खड़ीबोली-कवियों से पृथक् कर देता है यथा, पिया, तिया, रैन, अंग, नैन, सरसुती, प्रान, बैरी, चाव, ध्यान, मीठी, पीतम, सखी, बास, तन, आस, पास, रूसी, चरचा, विचार, नार, कोयल, समझ, दुख, दरस, जंगल, अचानक, मन्दिर, सूना, सजनी, द्वार, काज, सिंगार, तुरत, कोयल, रेखा, दिवस, हार, कई, चंदमुखी, व्याकुल, छब, उजियारी, छीर, निर्मल, कलंक, परदेस, अम्बर, आनन आदि जैसे अनेक तत्सम और तद्भव शब्द कवि के कोश में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त दीठ, औरन, साँची, बिरयाँ, काल, सुधर, कछु, कीते (कितने), उसास, बेग, कोऊ, मिलन, तपत, लालन, नैनन, जेती (जितनी), दीखी, बिरम, हुलास, नाँह, गहना, जुरत (जुड़ते), तु (तो), कीनी, पागे, लागे, करत, पूछत, लखो, भई आदि प्रान्तीय

शब्द भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द-चयन के अतिरिक्त उर्दू की ध्वनि तथा लिपि के अनुकूल ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'उ' की मात्राएँ उड़ा देने की प्रवृत्ति भी स्थल-स्थल पर लक्षित होती है। हाँ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका दोष लिपिकार को दिया जाय अथवा स्वयं कवि को, जैसे दुनया (दुनिया), सख (सखी), दल (दिल) अत (अति), रुत (ऋतु), चिरयाँ (चिड़ियाँ), कभू (कभी), सात (साथ), हात (हाथ), मधमाते (मदमाते)। इन पदों के सर्वनाम, विभक्ति, कारक-चिह्न तथा कृदन्त आदि अवश्य व्यवस्थित मिलते हैं। वाक्य-विन्यास के इस सुथरे रूप के साथ जहाँ मुहावरों का प्रयोग हुआ है वहाँ भाषा में कसावट भी आ गई है, यथा—

साँची कहो प्यारे, कहाँ से आए रैन के जागे,
सारी रैन और सूँ रस पागे, भोर आ मेरे उर लागे ॥[१]
जात कही चतुराई नहीं कछु, पीतम ने जब आँख लड़ाई।
लीने कीते मन पीतम ने सखी, हौं अपनो मन दे घर आई ॥[२]
सात रहे तू रात कूँ, आप करे तू घात।
मो सू पूँछे ए सखी, पिया मिलन की बात।[३]
सखी रूप दिखा, मन पी को लुभा, अब मेरे तईं फुसलावन आई।
तूहि जान लियो, पहचान लियो, अब तेरी सुनूँ नहीं राम दुहाई।
जैसी चाल करी तुम प्रीतम से, सो सारी तियान में मैं लख पाई।
मोहि आवत है अब याही परेखा, तेरे कहे क्यों जनम गवाँई ॥[४]

अलंकार, शब्द-शक्ति आदि

'नादिरातेशाही' के स्फुट खड़ीबोली-पदों में जितनी व्याकरण-सम्मत प्रांजलता दिखाई देती है, काव्य-सौन्दर्य उतना ही नगण्य है। भारतीय साहित्य में यद्यपि यह अलंकारों का युग था किन्तु कवि इससे विशेष प्रभावित नहीं हुआ। अतएव न इनमें उल्लेखनीय उपमान-चयन मिलता है और न शब्द की त्रिविध शक्तियों का सार्थक उपयोग ही किया गया है। भावाभिव्यक्ति के प्रवाह में उनका विधान स्वयं ही कहीं-कहीं हो गया है, जैसे :—

अनुप्रास

उनकी सारी चून्नी लाल रँगाई रंग।
बिन लालन लाली कहाँ, लाली लालन संग ॥[५]
बरसे बरसे घनघोर घटा,
तरसे पी देखन को अब नैन हमारे।
चपला चमके, जीयरा लरजे,
सखी, कैसे पड़े सुख चैन हमारे ॥[६]

१—६. नादिरातेशाही, पृ० १७३, १८३, २१५, २६३, २७६, २८१

यमक

सुकच सुकच मन मों रहूँ, नैना नीर भराय ।
पी बिन देखूँ जब घटा, घटा घटा मन जाय ॥[1]

(बादल, कम)

उपमा

जी चाहे सो कीजिये, फसिये प्रेम के जाल ।
उर सूँ लाल लगाइये, चम्पे की सी माल ॥[2]
चाँदनी सी उजियारी तिया बैठी देखे चाँदनी को पिया प्यारी तुम्हारी ।[3]

विभावना (अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य की उत्पत्ति)

आज अचानक आय गये पिया, प्यारे हमारे मन्दिर सूने ।
देखत ही उनको सजनी, तन मन मेरो भयो सुख दूने ॥[4]

विषम

जब से गए अज़ीज़ मिल, चैन गया सब सात ।
रैन गई सब ध्यान में, कछुँन भाई बात ॥[5]

व्याजोक्ति

हिलमिल रह तू प्यारे संग और कभू न हो उनसूँ न्यारी ।
लाल चले है लाला देखन, नाफ़रमान न हूजौ प्यारी ॥[6]

(लाला=पुष्पविशेष, दिलरुबा)

उपर्युक्त उद्धरणों में से कतिपय पद लक्षणा-लक्षणा (पद सं० १) गौणी लक्षणा (पद सं० ४) उपादान-लक्षणा (पद सं० ६) आदि शब्द-शक्तियों के निदर्शन भी हैं।

इनके अतिरिक्त 'नादिरातेशाही' के खड़ीबोली-पदों का सबसे बड़ा गुण उनकी सरलता एवं प्रसादता है। इसका मूल कारण व्याकरणनिष्ठ भाषा का प्रयोग है जिसका हम पहले भी उल्लेख कर आए हैं। सम्भवतः इसीलिए इन पदों में प्रसादगुण का सर्वत्र साम्राज्य पाया जाता है।

नज़ीर अकबराबादी (सं० १७९७-१८७७)

नज़ीर अकबराबादी का जन्म मुगल बादशाह मुहम्मदशाह द्वितीय के राज्यकाल में उस समय हुआ था जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया था। इसलिए ये प्रसिद्ध उर्दू-कवि 'मीर' और 'सौदा' के समकालीन कहे जा सकते हैं, यद्यपि दीर्घजीवी होने के कारण इन्होंने इंशा, जुरअत, तथा नासिख का भी समय देखा। किंवदन्ती है कि नज़ीर ने दो लाख से अधिक शेर बनाए थे किन्तु आज बहुत कम मात्रा में उनके शेर प्राप्त हैं। नज़ीर को अपनी रचनाएँ सुरक्षित रखने का कोई मोह न था। उनकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ दो काव्य-संग्रह

१—६. नादिरातेशाही, पृ० २६१, २२५, २५८, १९१, १७६, १८०

के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से 'कुल्लियाते नज़ीर' का एक भाग भारतीय विचार-धारा से अनुप्राणित खड़ीबोली में लिखा गया है। ये कविताएँ फ़ारसी बहरों में रचित हैं जिनमें खेल, तमाशे, कथा-कहानियाँ, देशप्रेम, बचपन, जवानी, ऋतु-वर्णन, पर्व, त्योहार आदि फुटकर विषयों का वर्णन है। इनमें से 'कृष्ण-जन्म', 'बाललीला', 'रुक्मिणी-हरण-लीला', 'रास-लीला', 'दुर्गाजी के दर्शन', 'भैरों की स्तुति', 'महादेवजी का व्याह' आदि हिन्दू धर्म-सम्बन्धी, 'राखी', 'दिवाली', 'होली', 'वसन्त' आदि त्योहार-सम्बन्धी तथा 'बरसात', 'बहार', 'जाड़े की बहार' और 'मौत', 'बनजारा-नामा', 'कलजुग', 'पैसा', 'आटे-दाल का भाव', 'रोटियाँ', 'चपाती', 'आदमीनामा', 'बचपन', 'जवानी', 'बुढ़ापा' आदि फुटकर कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इन विषयों को पद्यबद्ध करते समय कवि ने भाव-विशेष से सम्बद्ध सूक्ष्मतम वस्तु अथवा घटना का उल्लेख किया है; उदाहरणार्थ, 'बरसात' पर काव्य-रचना करते समय कवि केवल आकाश, बादल, पपीहे के ज़ोर, मोर के शोर, पवन चलने, पेड़ों के लदालद टूटने तक ही सीमित न रहकर उसके आगे छतों का टपकना, मकानों का गिरना, धुआँ और उमस का होना, हाथी-सवार, नौकर, राजा आदि का फिसलना भी कल्पित कर लेता है। इसी प्रकार 'महादेवजी के व्याह में' गौरा के लिए वर की खोज, शिव का योगी-वेश देखकर पार्वती की माता का निराश होना, शिव का सुन्दर रूप धारण करना आदि का उल्लेख तो हुआ ही है, साथ ही भोजन, पकवान, शादी की रस्में, आरती, छन, ज्यौनार, सप्तपदी आदि का भी विशद वर्णन मिलता है। इन वर्ण्य-विषयों का वातावरण सर्वथा भारतीय है। कदाचित् इसलिए नज़ीर उर्दू-काव्य में हिन्दुस्तानी कवि[1] माने जाने लगे हैं। इस प्रसंग में एक बात और स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि यद्यपि नज़ीर ने साधारणतम विषयों को काव्यबद्ध किया है किन्तु उनकी रचनाओं से जगत् और जीवन के प्रति किसी गहन अन्तर्भेदिनी दार्शनिक दृष्टि का परिचय नहीं मिलता। ख्यात किंवदन्तियों से ज्ञात होता है कि वे मिठाई वालों, राहगीरों, पनघट की स्त्रियों, चकले की वेश्याओं आदि के अनुरोध पर राह में जाते हुए भी शेर कह दिया करते थे। रीछ का बच्चा, ककड़ी और तरबूज जैसे विषयों पर भी उनके अनेक शेर मिलते हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने उस आमफ़हम शब्द-योजना का उपयोग किया जिसको कविगण 'हेय और बाज़ारी' समझ कर छोड़ देते थे।[2]

अभिव्यंजना-पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—नज़ीर के पदों का अनुशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि बोलचाल के शब्दों के स्वरूप को समझने अथवा उनके अर्थ की ठीक जानकारी से जैसे कवि का कोई प्रयोजन ही न था। इसलिए उसने दिष्टी (दृष्टि), बिशनु (विष्णु), सीकीशन (श्रीकृष्ण), निर्भो (निर्भय), भौ (भय), अस्तुत (स्तुति),

१. द्रष्टव्य (क) उर्दू साहित्य का इतिहास, भाग I—रामबाबू सक्सेना
(ख) उर्दू साहित्य का इतिहास—सै० एहतिशाम हुसैन
(ग) महाकवि नज़ीर—ले० रघुराज किशोर
२. द्रष्टव्य—उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० २६८-रामबाबू सक्सेना

होए (हो रही थी), परसन्द (पसन्द), दीजो, लीजो, याँ, वाँ, टुक, जूँ, जिन्ने, इक, तलक (तक) आदि अनेक सुने-सुनाए शब्द रख दिए हैं।

भाषा में कहीं खड़ीबोली अपने शुद्ध रूप में दर्शन देती है तो कहीं बोलचाल के रूप में उसका प्रयोग हुआ है। निम्न पंक्तियों में खड़ीबोली का रूप देखिए—

दो हुक्म पुरोहित को अपने, रख ध्यान सगाई का उसके।
हो राजपती, घर ऊँचा हो, हर शहर नगर में जा ढूँढे॥
वो वर भी ऐसा सुन्दर हो जो मेरी गौरा को सोहे।
है जैसी गौरा चन्द्रमुखी वैसा ही वर उसका होवे॥[1]

—'महादेवजी का ब्याह'

हँसती हुई जो फिरती हैं साथ उनके गोपियाँ
है उनमें राधा ऐसी कि तारों में चन्द्रमा।[2]

—'रासलीला'

कोई देख के सूरत गौरा की रो देवे ठंडी साँस भरे।
कोई बोले कर्म लिखइय्या ने जो कर्म लिखी हो सो होवे॥
वाँ जिन जिनने ये बात सुनी अफ़सोस उसे फिलफौर हुआ।
जो चाहा था कुछ और ही था और परगट याँ कुछ और हुआ॥[3]

—'महादेवजी का ब्याह'

वाँ कृष्ण मदन मोहन ने जब सब ग्वालन से यह बात कही।
और आपी ने झट गेंद उठा उस कालीदह में फेंक दई॥
फिर आपी झट से कूद पड़े और जमुनाजी में डुबकी ली।
सब ग्वाल सखा हैरान रहे फिर भेद न समझे इक रत्ती॥[4]

—'काली मर्दन'

और कहीं अरबी-फ़ारसी के पद एक साथ गुँथे चले आते हैं, यथा—

इस राजा हिमाचल के घर में इक बाली सुन्दर बेटी थी।
मुख उसका चन्द्र गगन का था, नाम उसका गौरा पारवती॥
लब लअले यमन और गुंचा दहन तन बर्गे समन क़द सर्व सही।
पोशाक झलकती ताश ज़री **अनगिनती पहने मनि मोती॥**[5]

स्पष्ट है कि रचनाओं में न भावानुभूति की प्रखरता एवं गंभीरता है और न कल्पना की मार्दवता या सूक्ष्मता। भाषा-शैली में भी किसी प्रकार का सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं

१. नज़ीर की बानी, पृ० २२०— सं० रघुपति सहाय फ़िराक
२. महाकवि नज़ीर, पृ० ६५—सं० रघुराज किशोर
३. नज़ीर की बानी, पृ० २२४—सं० रघुपति सहाय फ़िराक
४. महाकवि नज़ीर, पृ० ६०—सं० रघुराज किशोर
५. नज़ीर की बानी, पृ० २१६—सं० रघुपति सहाय फ़िराक

होता। नज़ीर वास्तव में जन-साहित्य के प्रणेता थे। उन्होंने साधारण विषयों पर सर्व साधारण के लिए लिखा था। इनसे पूर्व कवि प्रायः साधारण विषयों पर लिखने और जनता के जीवन का चित्रण करने में संकोच करते थे। नज़ीर ने अपनी रचनाओं द्वारा उच्च वर्ग के विचारों में एक ऐसा चोर दरवाजा बना दिया जिसमें से होकर जनता का जुलूस साहित्य-भवन में घुस गया। कविता की इस महान परम्परा के साथ नज़ीर अकबराबादी का नाम सदैव जीवित रहेगा।[1] कदाचित् इसी कारण उत्तर भारत के अनेक नगरों के गली-कूँचों में खोंचे वाले, बिसाती, फ़क़ीर और किसान 'सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बन-जारा' जैसे शेरों को गाते हुए सुनाई पड़ जाते हैं। वाणी के ऐसे बादशाह की रचनाओं में अलंकारों की कृत्रिम सजावट, शब्द-शक्ति के सूक्ष्मतर भेदों की छान-बीन और रीति-वृत्ति आदि जैसे उपकरणों का चयन करना उसकी कवि-प्रकृति के साथ अन्याय करना होगा। यह ठीक है कि काव्य अनलंकृत या व्यंजनाहीन नहीं होता किन्तु कृत्रिमता का घटाटोप भी तो काव्य की अनिवार्य शर्त नहीं है। अतः नज़ीर की शायरी से कुछ शेर खड़ीबोली की प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए अवश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पद्माकर भट्ट (सं० १८१०–१८९०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकप्रियता की दृष्टि से रीतिकाल के प्रमुख कवियों में पद्माकर भट्ट को बिहारी के बाद दूसरा स्थान दिया है। पद्माकर भट्ट ने केवल रीति-ग्रन्थों का प्रणयन ही नहीं किया अपितु ऐसी रीति-मुक्त कविता भी की थी जिसमें विविध रसों का संचार मिलता है। यों तो पद्माकर विरचित अनेक पदों में खड़ीबोली का पुट मिलता है किन्तु प्रस्तुत भाषा का सर्वाधिक प्रभाव 'कलियुग पचीसी' में ही लक्षित होता है जिसे देखकर कतिपय विद्वानों को उसके खड़ीबोली-काव्य होने का भ्रम हुआ है। 'कलियुग-पचीसी' शीर्षक रचना सर्वप्रथम वियोगी हरि द्वारा सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।[2] वियोगी हरि ने लिखा है कि प्रकाशित रचना की हस्तलिखित प्रति उन्हें पं० गोविन्दरावजी तेलंग, पुरानी बस्ती शूरखुड्डी (जयपुर) की कृपा से प्राप्त हुई थी।[3] इसकी एक प्रति उन्होंने छतरपुर में भी देखी थी, जिसमें दो एक स्थलों पर पाठ-भेद है तथा पच्चीसवाँ पद भी सम्मिलित नहीं है। वियोगीजी ने प्रकाशित प्रति को अधिक शुद्ध कहा है। इसमें कवि ने कहीं रचना-काल का संकेत नहीं दिया है। किन्तु उसमें अभिव्यक्त वैराग्य एवं परमार्थ आदि भावों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रबोध-पचासा' और 'गंगा लहरी' के समान इसे भी कवि ने अपने जीवन के पिछले वर्षों में ही लिखा है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'कलियुग पचीसी' के पच्चीस पदों में कलिकाल के मानव की मनोदशा का विवेचन है। इसमें साधारण मनुष्य का पुत्र, कलत्र और धन से मोह, शक्ति-मद, रूपाभिमान, तथा नारी के प्रति आसक्ति आदि का वर्णन किया गया है।

भाषा—'कलियुग पचीसी' के अन्तिम पद को छोड़कर शेष सब पद दुर्मिल छन्द में हैं

१. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० १३०—सै० एहतिशाम हुसेन.
२-३. द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अंक ११-१२, सं० १९८०, पृ० ४७१-४८०

जिनके सम चरण खड़ीबोली में हैं। वस्तुतः यों कहना चाहिए कि वाक्य-योजना की दृष्टि से पदों के केवल 'विधेय' अर्थात् क्रियापद खड़ीबोली में हैं 'उद्देश्य' नहीं, उदाहरणार्थ :—

जग जो जस करै लहै फल तैसा, यह मत तो बिसराया है।
नर अपने करम न नेक निहारत, औरन दोष लगाया है॥
बहुविष के बीज बोइ चाहत जड़, अमरत के फल खाया है।
अब वचन विचारि कहत पद्माकर यह ईश्वर की माया है॥६॥
बरसात नदी के तुल्यकाय नित, बही जाति कुदसाया है।
अति कठिन काल विकराल गाल में, गाल बजावत ठाया है॥
नहिं जपत राम को नाम जु रक्षक, जिहि तारी मुनि जाया है।
अब वचन विचारि कहत पद्माकर, यह ईश्वर की माया है॥११॥[1]

काव्य की शब्दावली भी तत्सम-प्रधान है जैसे रुधिर, रूप, शुभ, सुन्दर, श्याम, सरोरुह, लोचन, वचन, रसना, काया, पंडित, विमुख, अधर, इन्द्र, रिपु, प्रह्लाद, जननी, दुख, पुष्ट, सुत, जीवन, प्राण, तरुण, वृद्ध, वन, धन, व्यापक, विभु, तुल्य, जाति, कठिन, विकराल, नारी, मोह, लोक, नीर आदि। हाँ, तत्कालीन 'रेखता' की प्रकृति के प्रतिकूल उर्दू-शब्दों का प्रयोग अत्यन्त विरल है। साहंसाह, बेसहूर, मसीद, मुल्ला, ख्याल आदि दो-चार शब्द प्रसंगवश आ गये हैं। तत्सम शब्दों के प्रयोग तथा क्रियापदों की प्रचुरता के कारण साधारणतः पाठक को एकाएक 'कलियुग पचीसी' के खड़ीबोली-काव्य होने का भ्रम हो उठता है, किन्तु भाषा के सम्यक् अनुशीलन से शीघ्र ही भ्रम-निवारण भी हो जाता है। पदों के विषम चरणों का अभिव्यंजना-माध्यम ब्रजभाषा में होने से तदनुसार बहुवचनान्त प्रयोग, सविभक्ति-सर्वनाम, कारक-चिह्न, कृदन्त आदि सब शुद्ध ब्रज के हैं, उदाहरणार्थ तिनसों, नखते सिखलौं, गणिकन, नहिं, जस, औरन, अमरन, ताहि, दिशन, दशन, कोउ, ह्वै, काहू, तापर, हरदी, तोहि, दाया, संदेसन, लखि, आँधरो, मरीचिन, समुझ, ऐसो, विचारि, देखहु, चखहु, करत, इम, भये, तार्यहु, पठाय, कहि, रह्यो, जवलग, जीतहिंगे, लैहै, ल्यावहिंगे, गयहु आदि।

इन सब विशिष्टताओं को लक्षित करके न तो 'कलियुग पचीसी' दावे से खड़ीबोली-काव्य ही कहा जा सकता है और न इसे ब्रजभाषा-प्रधान कहकर संतोष कर सकते हैं। अतएव ऐसे युग में जब देश में खड़ीबोली अपनी समस्त विशेषताओं सहित लोक-भाषा के रूप में सर्वत्र छा चुकी थी और शाह आलम, सवाई प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' प्रभृति कलाकार उसका परिमार्जित रूप प्रस्तुत कर रहे थे, 'कलियुग पचीसी' जैसे संकर भाषा-काव्य की सौंदर्य विधाओं का अनुशीलन निरर्थक होगा।

सवाई प्रतापसिंह देव 'ब्रजनिधि' (सं० १८२१–१८६०)

सूर्यवंश की प्रख्यात शाखा कछवाहा गोत्र के सवाई जयसिंह की तीसरी पीढ़ी में विद्यमान सवाई प्रतापसिंह देव का शासन-काल जयपुर के इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता

१. द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अंक ११–१२, सं० १६८०, पृ० ४७६–४८०

है। आपस की फूट, दस्यु मराठों की लूटपाट, पिण्डारियों की डाकेज़नी और अन्य अनेक उपद्रवों के कारण प्रतापसिंह देव को राज्य के रक्षार्थ आजीवन युद्ध-रत रहना पड़ा था। आश्चर्य है कि युद्ध और संघर्ष से घिरे रहने पर भी महाराज को भक्ति-भावपूर्ण उत्तम काव्य-रचना का अवकाश मिल सका।

प्रतापसिंह देव कला-प्रेमी होने के अतिरिक्त स्वयं भी प्रतिभा-सम्पन्न भक्त-कवि थे और 'ब्रजनिधि' नाम से कविता करते थे। उन्होंने छोटे-बड़े कुल मिलाकर तेईस काव्य-ग्रन्थ रचे। समस्त ग्रन्थों का संकलन 'ब्रजनिधि ग्रंथावली' के नाम से 'बाला बख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला सीरीज़' के पाँचवें पुष्प के रूप में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सं० १९९० में प्रकाशित हुआ था। संकलनकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने ग्रन्थावली को दो भागों में विभक्त किया है—पद-विभाग तथा ग्रन्थ-विभाग। पद-विभाग में 'ब्रजनिधि मुक्तावली', 'ब्रजनिधि पद संग्रह', 'हरिपद संग्रह' तथा लगभग दो सौ 'रेखता पद' हैं और शेष सब रचनाएँ 'ग्रन्थ-विभाग' के अन्तर्गत प्रस्तुत हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में से 'विरह सलिता', 'रास का रेखता', 'दुःखहरन वेलि', 'हरिपद संग्रह' के लगभग चौदह रेखता पद तथा 'रेखता संग्रह' के अधिकांश पद खड़ीबोली की दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उक्त पद प्रायः 'ब्रजनिधि', 'प्रताप', 'पता' आदि उपनामों की छाप लिए हैं।

ग्रन्थावली की समस्त काव्य-रचनाओं का विषय शृंगार, नीति और वैराग्य है। किन्तु ब्रजनिधि मूलतः कृष्ण-भक्त कवि थे और उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी इसलिए दो-एक रचनाओं को छोड़कर शेष सब ग्रन्थों में राधा-गोविन्द के प्रति अनन्य एवं अविचल अनुराग, उनकी रूप-माधुरी और लीला-विहार, गोपियों की विरह-व्यथा, कवि की स्वानुभूति, फ़रियाद तथा ब्रज-प्रदेश में निवास की लालसा आदि भावनाओं का ही विशद विर्णन मिलता है। उनके खड़ीबोली-काव्य की विषय-वस्तु तथा वर्णन शैली भी यही है, अन्तर केवल भाषा का है।

खड़ीबोली-काव्य की विषय-वस्तु—विरह-सलिता—सूरदास, नन्ददास आदि अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के भ्रमर-गीत की तरह 'विरह सलिता' का आधार भी श्रीमद्‌भागवत् के दशम स्कंध का सैंतालीसवाँ अध्याय है। अन्तर इतना है कि 'ब्रजनिधि' ने उसकी समस्त कथा काव्य-बद्ध न करके केवल अंतिम अंश वर्णित किया है। उद्धव के मुख से योग-साधना का उपदेश सुनकर गोपियों के मन में जो प्रतिक्रिया हुई 'विरह सलिता' में उसी मनःस्थिति का विशद विवेचन किया गया है। गोपियों की विरह कातरता तथा प्रेमपूर्ण आत्म-निवेदन में स्वयं कवि का दाम्पत्य भाव मुखरित हो उठा है जिससे कवि की प्रेम-भक्ति की उत्कृष्टता, भक्तिभाव की तन्मयता तथा इष्ट-मिलन की उत्कट आकांक्षा ध्वनित होती है।

रास का रेखता—प्रस्तुत रचना का आधार भी श्रीमद्‌भागवत् में वर्णित तेंतीसवें अध्याय की कथा है। शारदी पूर्णिमा की रास लीला का वर्णन वस्तुतः उनतीसवें अध्याय से ही प्रारम्भ हो जाता है, जो पाँच अध्याय तक निरन्तर चलता है। 'ब्रजनिधि' ने केवल पिछली रास-कथा काव्यबद्ध की है। रास में गोपियों का कृष्ण का मनोहारी रूप देख ठगी-सी रह जाना, मण्डल के बीच भानुसुता और कृष्ण का तल्लीन हो नृत्य-क्रीड़ा करना, गन्धर्व,

किन्नरादि का वाद्यवादन, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, मुनि तथा देवताओं का विमान से पुष्प-वर्षण करना आदि सब घटनाएँ भागवत्-कथा के अनुसार वर्णित हैं। किन्तु रासलीला के इस भव्य वातावरण पर मोहित हो शिव का पार्वती को छोड़ सखी-वेष धारण करके डमरू बजाते हुए रास में भाग लेना कवि की मौलिक उद्भावना है। अन्तिम पद में इन सब स्वर्गिक विशिष्टताओं से युक्त वृन्दावन के दिव्य रूप की झाँकी दिखाकर कवि ने उसे लोकोत्तर आनन्ददायक भी कहा है।

दुःखहरन वेलि तथा अन्य रेखता पद—'दुःखहरन वेलि', 'हरिपद संग्रह' तथा 'रेखता संग्रह' के अन्य खड़ीबोली-पदों में कृष्ण-लीला सम्बन्धी फुटकर उक्तियाँ काव्य-बद्ध हैं। इन पदों में कृष्ण-नाम-परब्रह्म की व्यापक महिमा, राधा-गोविन्द का मनोहारी रूप, नखशिख, लीला-विहार, फागरंग तथा ऋतु-वर्णन आदि के अतिरिक्त कवि की स्वानुभूति का चित्रण भी हुआ है। स्वानुभूति वर्णन में कहीं दैन्यावस्था द्वारा दास-भाव, गोपिका-रूप द्वारा दाम्पत्य-भाव तथा कहीं सखाभाव मुखरित मिलता है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—ब्रजनिधि के पूर्ववर्ती तथा समकालीन खड़ीबोली-कवियों की तुलना में रचना, कलेवर और भाषा-निखार को देखते हुए ब्रजनिधि को निस्संकोच खड़ीबोली के प्रमुख कवियों में परिगणित किया जा सकता है। इनकी काव्य-कृतियों की सौंदर्य-समीक्षा से पूर्व एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। इस काल के समस्त खड़ीबोली-काव्य पर विहंगम दृष्टिपात से यह सिद्ध हो जाता है कि जब हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा अपने समस्त हाव-भावों सहित थिरकती हुई कवि एवं विद्वत् वर्ग को मोहित कर रही थी, तब उसकी सहोदरा खड़ीबोली भी लावनी, तुर्रे, ख़्याल, झूलने, रेख़ते तथा अन्य गेय पदों में अपनी नैसर्गिक छटा दिखाकर सामान्य जनता का मनोरंजन करने में किसी प्रकार पीछे न थी। और जिस प्रकार उस काल का इतिहास राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम जाति के सुन्दर सामंजस्य का साक्षी है उसी प्रकार तत्कालीन खड़ीबोली भी आत्मा में भारतीयता सवं वेशभूषा में विदेशीपन लिए दोनों जातियों में स्वीकृत सामान्य भाषा का परिचय देती है। भाषा के इस विचित्र स्वरूप और विशिष्ट भाव-भंगिमा का मूल कारण तत्कालीन कवियों के मुग़ल दरबार तथा इस्लाम संस्कृति से नित्य-प्रति का सम्पर्क था। सम्भवतः इसीलिए नागरीदास, पद्माकर, ब्रजनिधि, सीतल आदि सभी तत्कालीन कवियों की भाषा में फ़ारसी का प्राधान्य बराबर पाया जाता है। वस्तुतः उस समय खड़ीबोली के पास उसकी निजी शब्द-सम्पत्ति अत्यल्प थी; यदि होती भी तो उसे सुरक्षित रखने का भाषा के पास कोई साधन न था। कारण यह है कि ब्रजभाषा-कवियों के समान खड़ीबोली-कलाकारों ने अब तक अपने दक्ष हाथों से भाषा को सँवारने अथवा उसके रूप को परिनिष्ठित करने का सजग प्रयत्न नहीं किया था। फलतः शताब्दियों बाद भी ब्रजनिधि की खड़ीबोली-रचनाओं में बोलचाल की भाषा की छाया ही अधिक दिखाई पड़ती है। इन कृतियों की खड़ीबोली कहीं संस्कृत के तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्दों से अनुप्राणित हैं और कहीं फ़ारसी की शब्दावली से बोझिल; उदाहरणार्थ प्राण, मुकुट, नृपति, मुक्ति,

संजीवनी, मकरंद, रागिनी, चन्द्रिका, कपोल, कंचन, कोकनद, त्रिभंगि, दामिनी, ललित, जतन, कृषन, वेवस, धीरज, धरम, स्याम, विरह, मनमथ, सलोना, वेसरि, विस्व, दसरथ, परस, ग्यान, रैनि, विथा आदि संस्कृत के तत्सम या अर्द्ध तत्सम शब्दों के साथ अरवी-फ़ारसी के तत्सम अथवा तद्भव शब्दों की भी कमी नहीं है; यथा फरजंद, दीदार, वन्दगी, कस्म, कहर, जिगर, कुल्फ़, आलम, सूरति, चश्म, हुस्न, गुल, नाज, खुसी, महरमदिली, फैज, सिफत, पेस, दामन, हरचंद, गुफ्तगू, निहाँ, निभा, शव, उजर, अजाइब, आलातर, सिरोही, सैफ़, रूवरू, हलवी, सीसा, मुवस्सर, अवरू, कजदुम, बुस्ताँ, फहमीद, तमसील, औसाफ़, आव-खुर, रज़ा, कफ़ेपाय, खिजिल, नाज़नीं, मह्व, ऐयार, यक्का, गिल्ले गुजारी, तवस्सुम, तफ़ज्जुल, शराकत, नज़ाकत, हलाकत, माँह, कदमवोसा, अहवाल, दरगुजर, शाहिद, आतिश, गिरबान आदि। इसी प्रकार कहीं भाषा में पंजावी के विच, दा, कीता, गवरू आदि संज्ञाएँ अव्यय अथवा क्रियापद विखरे हैं और कहीं प्रचलित प्रांतीय शब्दों के सर्वनाम, विभक्ति और क्रियाएँ अनुस्यूत हैं, जैसे जु, भई, ई (ही), कूँ, कै, लई (ली), सौं, रहे, खोलि, कीनी, माँहीं, जाहीं, कछू, नाहिं, जानि, ल्याया, के (क्या), ह्याँ, हमरी, ज्यु, तिहुँ, कह्यो, मोहि, साँची, दोऊ, हियरा, प्रानन, औगुन, आवै, प्यावौ, लरजै, हरै, देखि आदि।

शब्दोच्चारण में उर्दू की 'इकार', 'उकार' उड़ा देने की प्रवृत्ति भी कहीं-कहीं लक्षित होती है, यथा खातर (खातिर), दल (दिल), मालम (मालूम), लाजम (लाजिम) आदि। इसी प्रकार यह, वह और आदि के स्थान पर 'य', 'व', 'ए', 'औ', आदि रूप भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जैसे :—

चलती है नैन सेती ए सलिता ज्युँ आँसु धारा।[1]
नहीं कहा य तुमने दगा करके हमें मारा॥[2]
सब लाज ओ हया तो जब से हि चल भगी है॥[3]

बोलचाल का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण वाक्य-विन्यास में भी भाषा का प्रकृत रूप अधिक प्रस्फुटित हुआ है। अतएव कहीं तो खड़ीबोली बड़े समुज्ज्वल रूप में हमारे समक्ष आती है, जैसे :—

हम हो रही हैं सूनी, दिलबर हुआ है खूनी॥
तड़फन उठी है दूनी, विरहा के भाड़ भूनी॥[4]

उस ब्रज के रस बराबर दीगर नजर न आया।
जहाँ गोपियों ने मिलकर प्रीतम पिया रिझाया॥
ब्रजवास आरजू कर ऊधौ ने यह अरज की।
कीजै लता इस बन की जहाँ प्रेम रंग सवाया॥[5]

बहार हैगि अब्र हैगा, हैगी तीज सावन।
गरजता है बरसता है चमकती है दामन॥
रमकती है भमकती हैं मिलके ब्रज की भामन।
झूलती है फूलती गाती मजे की तानन॥[6]

१–६. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ४२, ४२, ४१, ४४, ३०१, ३५०

—और कहीं तत्कालीन खड़ीबोली के रक्त में व्याप्त फ़ारसी के पद-पदांश ज्यों के त्यों प्रयुक्त मिल जाते हैं, जैसे—

अबरू कजदुम कमाँ से जख्म सीने में भया है ।[१]
फरजंद हुआ नन्द जू के ताले वो बुलन्द ॥[२]
अपने बदस्त बीच दस्त उसका धरना था ।[३]
लख नक्श पाय चार का दिल में किया विचार ।
यक्का नहीं गया है प्यारी ले गया ऐयार ॥[४]
कहूँ तारीफ़ क्या तन की, जु सिर ता पा अजब इकसाँ ॥[५]

दो एक स्थलों पर ऐसे बोलचाल के शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं जिनका खड़ीबोली में चिरकाल तक प्रयोग होता रहा, देखिए :—

कैयों गरीबों ऊपर तू रीझि के टला है ।[६]
आलम जो कहता हैगा तुमको गरीब परवर ।[७]
चली है नैन सेती ए सलिता ज्यु आँसु धारा ।[८]

'सेती' उन्नीसवीं शताब्दी तक उर्दू-शायरी में निस्संकोच इस्तेमाल होता था और 'कैयों' तथा 'हैगा' तो आज भी दिल्ली-मेरठ की ठेठ बोलचाल की भाषा में सुनने को मिल जाते हैं। वास्तव में भाषा के साथ ब्रजनिधि ने पूरी मनमानी की है जो प्रान्तीय भाषाओं तथा बोलचाल के शब्दों को ही नहीं अपितु गढंत शब्दों को भी खींच लाई है। गेयता, छन्द अथवा तुक के आग्रह से शब्दों को स्थल-स्थल पर इस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा गया है कि वे अधिकांशत: अपना स्वरूप ही खो बैठे हैं, यथा गारड़ (गरुड़), धटोना (ढोटा), दीदे (दीदार), ओपमा (उपमा),ढीठताई (ढिठाई), छंछाछल (?), पिर्चकि (पिचकारी), कट (कटि), फरोल्ला (?), मला (मल्लाह), सला (सलाह), फबला, (?) टबला (?) मांची (?) लवाची (?) पांची (?) आदि। इस प्रकार के निरर्थक शब्दों की तड़ातड़ से जी ऊब उठता है, जैसे :—

वह नूर का जहूर अदा दूर लड़झड़ा था ।
देखते ही मैंने जिसको ऐन अड़बड़ा था ॥
दिल का दलेल दिलवर, दिल चोरने अड़ा था ।
ब्रजनिधि है वोही दधि पर छलबल सौ छकछड़ा था ॥[९]

तेरे कदम को छीना मेरे दिल में यह इरादा ।
दीदार की भी दाद तू मुझको नहीं दिरादा ॥
तुझ आन दर्द मेरा दफे कोई ले फिरादा ।
जिस पर भी शोख 'ब्रजनिधि' तू चश्म नाफिरादा ॥[१०]

भाषा में विभक्ति-लोप, सम्बन्धसूचक सर्वनाम-लोप, सकर्मक क्रिया भूतकालिक रूप का कर्तृवाचक कारक-चिह्न-लोप आदि व्याकरण-दोष भी मिल जाते हैं, यथा :—

१–१०. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ३०६, ३५३, ३४०, २८२, ३१०, १८७, १८८, ४२, ३७२, ३७०

तुझ नाम की सुमरनी, रखता हूँ दुंख की हरनी ।[1]
तैंही चमन लगाया, तूही बहार लाया ।
गुल फूलने पै आया अब क्यों तैं दिल चुराया ॥[2]
हमरे भी दिल की आफ़त सब ही गई गमी ।
यह बात सुन के चरनों ब्रजबाल भी नमी ॥[3]

हाँ, जो स्थल इन दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर बन पड़े हैं ।

यों तो प्रत्येक भाषा के अपने मुहावरे होते हैं जिनके सुप्रयोग से भाषा में प्रवाह, निखार और कसावट के साथ लाक्षणिक चपलता में भी अभिवृद्धि होती हैं; किन्तु मुहावरे-दानी में आज भी उर्दू ज़बान अपना सानी नहीं रखती । उस समय तक खड़ीबोली और उर्दू पृथक्-पृथक् नहीं हुई थीं । अतः ब्रजनिधि के 'विरह सलिता' 'दुःखहरन बेलि' तथा अधिकांश 'रेखता-पदों' में मुहावरे शृंखलाबद्ध होकर आए हैं । रूढ़िगत प्रयोगों के आधिक्य से भाषा में जो शिथिलता आ जाती है वह इन पदों में नहीं पायी जाती । वहाँ तो बोलचाल की भाषा में ये मुहावरे संचित वाग्वैभव की छटा फैलाते दिखाई पड़ते हैं, देखिए :—

ब्रजनिधि मिले तो खूब नहीं रहगा दिल में खटका ।
उस सजन की गली में मुझको आराम होगा ॥[4]

न लगी इक पलक पलक से पलक ।
बैठे ही आफ़ताब आया झलक ॥[5]

जब से नज़र मिली है रहै दिल कुं बेकली है ।
तब से हया पिली है, तुझ बिरह में जली है ॥[6]

आफ़त पड़ी है ताजी, प्रानन की लागी बाजी ।
जीती बचै जो साजी, ऐसी करो पियाजी ॥[7]

दिल पै जु मेरे आके, क्या क्या गुज़रती है ।
शाहिद खुदा है मेरा, कल नाहि परती है ॥[8]

बरसात के बहार की शब किस तरह कटेगी ।
बीज चमक गाज सुन के छतिया फटेगी ॥[9]

उसी का बोलना हँस के मेरे भागों का खुलना है ।
करी जब यार चश्मों शोख़ मेरा तब डाँवा डुलना है ।[10]

अलंकार (शब्दालंकार)—ब्रजनिधि के रेखता पदों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी गेयता । कहा जाता है कि ब्रजनिधि अपने सब रेखते राधा-गोविन्द के चरणों में गाया करते थे । उन्होंने एक स्थल पर कहा भी है कि 'रेखता उनके दिलवर (इष्ट गोविन्द) को भी पसन्द है, और उन्हें (पता—प्रताप को) पता है कि गोविन्द-मिलन का साधन रेखता

१–५. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० १८८, १८८, १८६, ३१५, ३२०
६–१०. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ४२, ४४, ३२२, ३४६, ३५२

स्तुति ही है।"[1] इसलिए उन्होंने अपने अधिकांश रेखतों को भैरवी, मारू, ईमन, मालश्री, धनाश्री, असावरी, भूपाली आदि रागों के नाम देकर उन्हें ख्यालों तथा ताल में बाँध दिया है। पदों में गेयता लाने के लिए वर्णावृत्ति अथवा शब्दावृत्ति का विधान अत्यन्त आवश्यक होता है। ब्रजनिधि ने भी यमक, अनुप्रास आदि की चमत्कारक छटा द्वारा पदों में संगीतात्मकता का सन्निवेश करने का सफल प्रयत्न किया है, उदाहरणार्थ :—

वृत्यानुप्रास

चन्द्रमा सी, चपला सी, चम्पक चिराग सी है।
चाँदनी सी खिल रही, खुशबोह में सनी है॥[2]

छेकानुप्रास

बहार हैगी अब्र हैगा, हैगी तीज सावन,
गरजता है बरसता है, चमकती है दामन।
रमकती है झमकती है मिलके ब्रज की भामन॥[3]

कुंज-कुंज भ्रमर गुंज अगमगे हैं।
देव औ अदेव मुनि मनुज डगमगे हैं॥[4]

अन्त्यनुप्रास

सिर पर मुकट की क्या अजब सज से चटक है।
कपोल पर जु जुल्फ़ों की क्या खूब लटक है॥
भौंहों की मटक सेती नैन मन की अटक है।
जिसको देखि ठठक रह्या काम का कटक है॥[5]

यमक

उजियाला हुस्न का है अदा खूब अज्ब गुल है।
इस नाज के बगीचे में हम बुलबुलों का गुल है॥[6]

(गुल=फूल, शोर)

अन्त्यनुप्रास के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि श्रृंगारी कवि होने पर भी कवि प्रतिकूल वर्णत्व (टवर्ग) से वचने की परवाह कम करता था। वास्तव में कवि का शब्द-चमत्कार पर कुछ आवश्यकता से अधिक मोह दिखाई पड़ता है जिससे कहीं-कहीं भद्दापन आ गया है, जैसे :—

चटक चटक से मटक मजे की लटक मुकट की दिल में अटकी।
मटक मटक से कटक सटक मन छुटकि लाज से छवि जा गटकी॥
झटक झटक के खटक खटक गई बटक रूप ब्रज बाल न टटकी।
पटक पटक घर फटक फेल सब रटक रमन को नागर नटकी॥

---

१. यह रेखता है यारो रेखता। यह देखता है दिलवर, यह देख्ता।
यह सच कहै पता है हैगा यह पता। ब्रजनिधि मिलन मता है सुनो यह मता।
—पद सं० ६१, रेखता-संग्रह

२-६. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ३५५, ३५०, ६०, ३३७, ४२

हटक हटक के कौम कटक को सपटि दल मल्यौ निपट निकट की।
सुघट सुघट की नैन झपट की चिपटी 'ब्रजनिधि' रंग लपट की ॥[1]

अशक्त एवं निरर्थक शब्दों की भरमार के कारण भाषा अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी हुई दिखाई देती है। शब्दाडम्बर के प्रति इस प्रकार का मोह उत्तरकालीन व्रजभाषा काव्य की प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है। वहाँ कविता के प्राण यमक-अनुप्रास के चमत्कारक अवगुण्ठन में भले ही घुट कर रह जाएँ किन्तु उसे अलंकार-मुक्त करने में कवि की जैसे मान-हानि होती थी। इस चमत्कारप्रियता का एक कारण हो सकता है; ब्रजनिधि, पद्माकर भट्ट जैसे चमत्कार-प्रिय कवियों के आश्रय-दाता भी थे। कुछ आश्चर्य नहीं जो आश्रित कवि-समाज का इनकी रचनाओं पर भी प्रभाव पड़ा हो।

अर्थालंकार—ब्रजनिधि का अप्रस्तुत-नियोजन भी फ़ारसी-विचारधारा से पर्याप्त प्रभावित है। इनके खड़ीबोली-काव्य में यद्यपि राधा-कृष्ण सम्बन्धी हिन्दू आचार, विचार, संस्कृति आदि भारतीय भावों का प्राधान्य है, किन्तु बीच-बीच में फ़ारसी साहित्य के भाव भी मिल जाते हैं। अतएव इसमें एक ओर देशी रीति-रिवाज, ऋतुवर्णन आदि भारतीय काव्य-पद्धति के अनुसार वर्णित हैं, तो दूसरी ओर गुलो-बुलबुल, शमा-परवाना, मजनू-लैला आदि का उल्लेख भी मिल जाता है। फलतः उपमान-चयन भी कहीं तो भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुकूल है और कहीं फ़ारसी विचारधारा के अनुसार। भारतीय काव्य में अप्रस्तुत का विधान अभिव्यंग्य के रूप, गुण, क्रिया तथा भावों में प्रकर्षता अथवा मूर्तता लाने के लिए किया जाता है। उपमान चाहे कितना ही उदासीन हो किन्तु भाव-विरोधी कभी नहीं होता; उदाहरणार्थ रति-भाव की अभिव्यंजना में जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले रुधिर, माँस आदि का वर्णन भारतीय काव्य में निषिद्ध है, जबकि फारसी-विचारों से अनुप्राणित उर्दू-काव्य इस प्रकार की सीमाएँ नहीं बाँधता। इस सम्बन्ध में मौलाना अब्दुल हुसैन आज़ाद का वक्तव्य उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, "उर्दू की इंशापरदाज़ी में जो दुश्वारी और हिन्दी की इंशापरदाज़ी में जो आसानी है उसमें एक नुक्ता ग़ौर के लायक है। वह यह कि भाषा (हिन्दी) जिस शय का बयान करती है उसकी कैफ़ियत उन ख़तोखाल से समझाती है जो ख़ास उसी शय के छूने, देखने, सूंघने, चखने से हासिल होती है। दूसरे सुनने वाले को देखने का सा मज़ा आता है। बरखिलाफ उर्दू के शायर जिस शय का ज़िक्र करते हैं साफ़ उसी की भलाई-बुराई नहीं दिखाते बल्कि उसके मुशाहब एक और शय का बयान करते हैं।"[2] कदाचित् इसी कारण ब्रजनिधि का कृष्ण अबरू कजदुम कमाँ से सीने में जख़्म करता है; उसके नयनों से घायल होकर रक्त के पनाले बह निकलते हैं, वह शैतान का लश्कर लिए मस्तानी, शोख चाल से कमर मटकाता हुआ, दम दम पर पान चबाता आशिक को आकृष्ट करता है। इनकी 'राधा' भी सूर की राधा की तरह भोली-भाली सुकुमार राधा नहीं—नाज़नीं है, रायजादी है जिसके अधर अंगूरे शीरीं और कपोल हलबी शीशा हैं। निम्न अवतरण हमारे कथन का समर्थन करेंगे :—

१. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ३७१
२. आबेहयात—पृ० ६२

उपमा

तिलक केसर का माथे पर, फबी है नाक में बेसर।
अधर अंगूर हैं शीरीं, दसन छबि सब सेती आला।[१]
खिलारी खतम करने को अजब सजधज से आता है।
सिरोही सैफ़ सी आँखें चुहल सेती चलाता है॥[२]

रूपक

यह इश्क नाग जिसके आकर लगावै डंक।
मन्तर न हो मुवस्सर, यह जहर क्या बला है॥[३]
किया घायल जु गिरिधारी, जिगर से खून है जारी।
जुलफ़ जंजीर गल डारी, टरै नहि किस तरै टारी॥[४]

उत्प्रेक्षा

कपोलन की करै तारीफ़ जिसका दिल अदीसा है।
ब लेकिन कुछ कहा चहिए लसै जनु हलबी सीसा है॥[५]
मनमथ का फील मस्त मनो पेल रहा है।
गल बीच अदा लेकर हमेल रहा है॥[६]
गले हारावली सोहै, भुजै भुजबन्द अनमौहै।
बदन बंसी सरस सोहै, गोया सिंगार परनाला॥[७]
कमर ऊपर बजे किंकिन, सुरख सूथन पै बूटी घन।
मनो दीपावली रोशन, झमक निकली है उजियाला॥[८]

व्यतिरेक-विभावना

उस खूबसूरती का जुबाँ क्या करै जवाब।
कफ़े पाय देख करके खिजिल हो गया गुलाब॥[९]

उदाहरण

दिल को जु पकड़ लीना जैसे हिरन को चीता।
ब्रजनिधि जु मिहर करके बिन दाम मोल लीता॥[१०]

दृष्टान्त

कभी हँसता है मुझ सेती कभी अति शोख हो जाता।
जमूरा ज्यों लुहारों का घड़ी ठंडा घड़ी ताता॥[११]

किन्तु अभिव्यंजना-शैली के साथ ऐसा अतिचार सर्वत्र नहीं हुआ है। कहीं-कहीं फ़ारसी शब्दों में भी भारतीय सादृश्य-योजना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है, जैसे :—

उपमा

दस्तार सिर हवा सी सजवट खुली है खासी।
ब्रज गोपियाँ रमा सी लखि के भई है दासी॥[१२]

१—१२. ब्रजनिधि ग्रन्थावली पृ०—३०५ ३०७, ३०८, ३५७, ३१०, ३६६, ३०५, ३०५, ३१६, ३१८, ३५७, ५८

छबीले दस्त बाजू की जु यह तमसील पाई है ।
कि कंचन कोकनद जु मृनाल कंचन की लगाई है ॥[१]

तैसी है ब्रज की बाला, बिजलीन की सी माला ।
इक सेति एक आला, गाने लगी धमाला ॥[२]

मालोपमा

चन्द्रमा सी, चपला सी, चम्पक, चिराग सी है ।
चाँदनी सी खिल रही खुशबोह में सनी है ॥[३]

रूपक (साँग)

मगज गढ़ ये है बेहतर अकल तुम अब निकल जाओ ।
हुआ है इश्क सिर हाकिम अबै वो देगा तरकाओ ॥
उसी की फौज दीवानी अभी सिर जोर चढ़ि आओ ।
करेगी होश सब बेहोश निकलना जब कहाँ पाओ ॥[४]

स्मरण

लगा झर मेह का झमका इश्क उस बखत ही चमका ।
घटा घन श्याम सी देखी सबज मोहन दिलों रमका ॥
अजब ये दामिनी कौंधी गोया वो पीत पट दमका ।
सुना है मंद घन घोरा गोया उस मुरली के सम का ॥
झनज्झन बोलती झिल्ली चरन उस घूँघरू धमका ।
पपीहा बोलता पी-पी इधर मुझ पर समर तमका ॥[५]

उत्प्रेक्षा

गुही बनी अजब सज से न छवि का पार कुछ पाया ।
जकरि के मुश्क संकू से गोया रस राज लटकाया ॥[६]
बाल बिथुरे सुथरे पैरों पै जा पड़े हैं ।
मानो मगर सो लपटे-झपटे भुजंग पड़े हैं ॥[७]
हँसे दंदान दमकन का अचानक नूर यों बरसे ।
परे बर अक्स सीने पर कि मोती माल सी दरसैं ॥[८]

सन्देह

छबीली बीच पेशानी बनी है आड़ मृगमद की ।
या मन्मथराज ने सीढ़ी रची है रूप के नद की ॥[९]

मीलित

चरन नख चन्द्रिका ऐसी कि महताबी में रलि जावे ।
जड़े इलमास मानस में, जगामग जेब को पावै ॥[१०]

नायक-नायिका में वाक् चातुर्य और परिहास भारतीय प्रेम-प्रवृत्ति का विशिष्ट अंग है । फ़ारसी साहित्य में इसका विधान नहीं पाया जाता क्योंकि वहाँ 'प्रेमी' और 'प्रिय' राग

१—१०. व्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० ३१०, ३५५, ३५५, ३५२, ३६३, ३१०, ५६, ३१०, २१०, ३१०

की समान भाव-भूमि पर नहीं मिलते। किन्तु ब्रजनिधि की गोपियाँ तथा कृष्ण भारतीय विचारधारा के अनुसार समान रूप से एक दूसरे पर अनुरक्त हैं। निम्नलिखित पद में 'व्याज स्तुति' अलंकार की सहायता से गोपियों के खीझ और उपालम्भ की अभिव्यक्ति दर्शनीय है :—

कहलाते हो अमोल कहौ कौन मोल के।
अब हम तुम्हें पिछाने जु हो बड़ी तोल के ॥[१]
तुम जस नगारे बाजे हैं, हम सबहि सुन के लाजे।
तुम हमको छोड़ि भाजे, कुब्जा के संग गाजे ॥[२]

एकाध स्थल पर 'सोच' जैसी भावना में 'मानव गुणों के आरोप' से भाषा में मूर्तिमत्ता भी आ गई है, यथा :—

चित्र लिखी सी रहि गई ठाढ़ी, गही सोच ने मति अति गाढ़ी।
विथा विरह उर अन्तर बाढ़ी, कहूँ कहा नहिं बने कहन में ॥[३]

संश्लिष्ट योजना द्वारा वर्णित वस्तु को मूर्तिमान करने की शैली आधुनिक युग की देन कही जाती है। सफल कवि की सबसे बड़ी क्षमता यही है कि पाठक के मानस में शब्दों के सुप्रयोग से ऐसा चित्र उपस्थित करे जिससे बिम्ब ग्रहण हो सके। निरालाजी के शब्दों में, "जो भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है वह उतना ही बड़ा कलाकार है।"[४] इसके लिए आधुनिक कलाकार प्रायः अरूप एवं सूक्ष्म भावनाओं का उपयोग करता है। प्राचीनकाल में भी इस प्रकार का चित्रांकन तो किया जाता था किन्तु उस समय कवि निश्चित वस्तुओं—कृष्ण, राम, गंगा, यमुना—आदि का विशिष्ट भाव-भंगिमाओं सहित वर्णन करके शेष वस्तुओं का परिगणन मात्र करा दिया करते थे। इस दृष्टि से ब्रजनिधि का कृष्ण के गतिशील नर्तित रूप को साकार करने का प्रयास स्तुत्य है, यथा :—

नाचते में दिल हरा है लेता गति उमंग।
भौंह मटक, नैन चटक ग्रीव हल सुढंग ॥
मंद हसनि, राज रसनि, तान लेत रंग।
भुज की डुलनि, कर की मुरनि, कटि की लचनि रंग ॥[५]
धम धम घुमाते घूंघरू बेलागि पाय ठोकर।
गति लेके उझक देखन, मैं अजब अदा होकर ॥[६]

प्रसंगानुकूल शब्दों के नाद-साम्य को परख कर उनमें अर्थोद्बोधकता एवं ध्वन्यर्थ-व्यंजकता उत्पन्न करना कवि की कुशलता पर निर्भर है। यों तो अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी ध्वनि का आभास लिए रहते हैं किन्तु भाव और भाषा के इस स्वरैक्य में पाठक का ध्यान शब्दालंकारों पर न जाकर शब्द के अनुरणन पर टिक जाता है। निम्न उद्धरण में 'डफली' से उत्पन्न ध्वनि के अनुकूल शब्द-योजना दर्शनीय है :—

१-३. ब्रजनिधि ग्रन्थावली—पृ० १८६, ४४, ३२८
४. काव्य दर्पण, पृ० २५८—रामदहिन मिश्र
५-६. ब्रजनिधि ग्रन्थावली—५८, ३०८

धुमक धुधुकट गुमक सेती सुलफ डफ को बजाता है ।
रंगीले ख्याल होरी के गजब गुररे से गाता है ॥[1]

शब्द-शक्ति—शब्द-शक्ति के चमत्कार की दृष्टि से आलोच्य खड़ीबोली-काव्य सामान्य कोटि का है । इसमें मुहावरों तथा सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-योजना-विधान के माध्यम से ही शब्द-शक्तियों का सन्निवेश हुआ है किन्तु इनमें मुहावरों की प्रमुखता के कारण शब्द-शक्ति गौण हो गई है । पर मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी तो शब्दशक्ति का ही रूप माने जाते हैं, अतः शब्दशक्ति पर विचार करते समय इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । प्रस्तुत खड़ीबोली-काव्य में अभिधा शक्ति तो सामान्य रूप से मिलती ही है इसलिए उसका निर्देश अनावश्यक विस्तार होगा । लक्षणा तथा व्यंजना के कतिपय उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :—

सादृश्यमूलक, गौणी, सारोपा लक्षणा

यह इश्क नाग जिसके आकर लगावे डंक ।
मंतर न हो मुवस्सर यह जहर क्या बला है ॥[2]
अबरू कमान खेंचि के जु मारा चश्म तीर ।
जान तो उझलि के चली रहति नहीं धीर ॥[3]

प्रयोजनवती, उपादानमूला, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

जब से नज़र मिली है, रहै दिल कु बेकली है ।
तब से हया पिली है तुझ विरह में जली है ॥[4]
बरसात के बहार की शब किस तरह कटेगी ।
बीज चमक गाज सुन के छतिया फटेगी ॥[5]

लक्षण लक्षणा

जीवन जड़ी लै आवौ, अमृत अधर को प्यावौ ।
रंग संग अंग मिलावौ, जियँदान यों दिवावौ ॥[6]

काव्य-गुण—ब्रजनिधि का खड़ीबोली-काव्य शृंगारपरक है । जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं शृंगारिक उक्तियों में भी मुहावरों की बहुलता है । बोलचाल की भाषा तथा परम्परा से प्रचलित मुहावरों के प्रयोगाधिक्य से भाव में बोधगम्यता आ जाना स्वाभाविक ही है । इस दृष्टि से प्रसादगुण की मात्रा पर्याप्त है । जहाँ भाषा फ़ारसी-अरबी शब्दावली से अधिक बोझिल है वहाँ अर्थ-विवक्षा में बाधा तो उपस्थित होती है, किन्तु अधिक नहीं, यथा :—

उठा था ख्वाब से प्यारा अजब था नूर का झमका ।
दुपट्टा लटक से डाला खवै पर खुशअदा चमका ॥
पलंग पर से कदम धर के खड़ा आलस को मोड़ा है ।
जभी सेती सबज सुन्दर मेरे दिल को मरोड़ा है ॥[7]

१-७. ब्रजनिधि ग्रंथावली—पृ० २०८, ३०६, ३४५, ४२, ३४६, ४५, ३५७,

इस गर्मि के हि अन्दर तुम कहाँ चले हो प्यारे ।
हमसे नजर चुराके तुम जाते हो किनारे ॥
वह ऐसी कौन प्यारी जिसके जु घर सिधारे ।
टुक मिहर करके 'ब्रजनिधि' कभी इस गली तो आ रे ॥[1]

फ़ारसी-अरबी प्रधान भाषा

सलौनी साँवली सूरत रही दिल में मेरे बसके ।
ठगौरी सी हुई मुझको कहा जब से तू आ हँसके ॥
तबस्सुम इस कदर प्यारा न हूजे एकदम न्यारा ।
यही है आरज़ू मेरी कदम से मन न छिन खिसके ॥
तफ़ज्जुल जो किया मुझ पै सिफ्त उसकी नहीं होती ।
करो दिलजान अब ऐसी जुदाई उर में ना कसके ॥[2]

शृंगार रस का अनिवार्य सहायक अंग 'माधुर्यगुण' इनके काव्य में अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में पाया जाता है । इसका कारण अभिव्यक्ति का माध्यम ही प्रतीत होता है । खड़ीबोली की प्रकृति ब्रजभाषा की तुलना में परुष है । अतएव स्थल-स्थल पर 'टवर्ग' आदि परुष वर्ण-योजना होने से ओजगुण का पुट आ गया है जिसे भाषा-मार्दव की दृष्टि से साहित्य-शास्त्री दोषों के अन्तर्गत परिगणित करते हैं । दोनों प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा—

झनज्झन बोलती झिल्ली चरन उस घूँघरूँ धमका ।
पपीहा बोलता पी पी इधर मुझ पर समर तमका ॥
लगे है बोलने मुरवा नगारा का मजा लमका ।
चली है पौन पुरवाई मदन का अस्फ-सा खमका ॥[3]

सिर पर मुकट की क्या अजब सज से चटक है ।
कपोल पर जु जुल्फों की क्या खूब लटक है ॥
भौंह की मटक सेती नैन मन की झटक है ।
जिसको देखि ठठक रह्या काम का कटक है ॥
निरत करत अजब सज से चरन गति पटक है ।
झटक लेना पीत पट का दिल की वहाँ भटक है ॥[4]
खूब खुमार चश्म आलूदह मुझ पर मिहर-निगह कर हँसियाँ ।
मुकट लटक कुंडल की झलकनि जुल्फें कुटिल भुवंगम डसिया ॥
उसकी नजर जु इश्क बजर सी रूप गजर सी सिर पर पड़िया ।
उस जैसा वोही नादिर है कादिर ऐसा और न घड़िया ॥[5]

संक्षेप में, ब्रजनिधि के खड़ीबोली-काव्यानुशील से तीन तथ्य हमारे सामने बड़े स्पष्ट रूप में आते हैं । पहला तो यह कि ब्रजनिधि ने जिस युग में रेखता या खड़ीबोली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वह ब्रजभाषा-काव्य के चरम उत्कर्ष का काल था । ब्रजभाषा

१—५. ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृ० ३१६, ३२२, ३५८, ३३७, ३३७, ३३८

उस समय काव्य-भाषा के रूप में सर्वत्र फैल चुकी थी। भाषा में परिमार्जन और प्रांजलता के साथ स्निग्धता और मसृणता का पूर्णतः सन्निवेश हो चुका था। ऐसे समय में भी व्रजनिधि ने काव्यभाषा को छोड़ खड़ीबोली में सरस और सशक्त रचना की, यह उनके लिए महत्व की बात है। दूसरे, उन्होंने विषय-वस्तु का आधार माधुर्य भक्ति ही रखा यद्यपि खड़ीबोली का भाषागत रूप फ़ारसी-उर्दू प्रधान रहा। रीतिकालीन भक्त-कवियों की भक्ति प्रायः माधुर्य भावपरक थी। व्रजनिधि ने उसी की छाया में अपना खड़ीबोली काव्य पल्लवित किया। दूसरे शब्दों में कवि की रचनाओं की भाव-वस्तु सर्वथा भारतीय है और अभिव्यक्ति का माध्यम फ़ारसी-अरबी मिश्रित 'रेखता' या खड़ीबोली। इस काव्य की तीसरी विशिष्टता उसमें सरस एवं सुबोध मुहावरे तथा लोकोक्तियों का प्रयोग है। हाँ, व्रजनिधि जी अपने पदों में शब्द-शक्ति या काव्य-गुणों का उतनी मात्रा में संचार न कर सके जितना उनके समसामयिक या पूर्ववर्ती व्रजभाषा-कवि कर चुके थे। किन्तु उपर्युक्त अन्य विशेषताओं को देखते हुए व्रजनिधि को खड़ीबोली-काव्य-रचयिताओं में प्रमुख स्थान अवश्य प्राप्त है। अतः ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सीतलदास (१६ वीं शती में वर्तमान)

वृन्दावन के टट्टी संस्थान के स्वामी हरिदास की शिष्य-परम्परा में सीतलदास खड़ीबोली काव्य में महत्वपूर्ण स्थान पाने योग्य हैं। इन्होंने अपनी समस्त काव्य-रचनाओं का माध्यम तत्कालीन साहित्य-परम्परा के अनुकूल व्रजभाषा न रखकर खड़ीबोली ही स्वीकार किया। सम्भवतः इसी कारण मिश्र बन्धुओं ने इन्हें खड़ीबोली-कवियों में प्रथम पद देकर[1] रामचन्द्र काल सं० (१८३१-१८५५) के मुख्य कवियों में परिगणित किया है।[2] सीतलदास के जन्म-संवत्, जन्म-स्थान, जाति आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इनके जीवनकाल एवं गुरु के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। मिश्र बन्धु विनोद, भाग II में इनका समय सं० १८३० निर्धारित किया गया है।[3] किन्तु पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने इन्हें विक्रम की १८वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में वर्तमान माना है।[4] गुरु का नाम भी स्वयं सीतल द्वारा तो कहीं उल्लिखित नहीं मिलता, हाँ, इनके काव्य-संग्रह 'गुलज़ार चमन' के सम्पादक महन्त भगवानदास ने इन्हें स्वामी मोहिनीदास का शिष्य बताया है।[5] टट्टी संस्थान की आचार्य-परम्परा में किन्हीं एक ललित मोहिनीदास (सं० १८२३-१८५८) का नाम मिलता है जो कदाचित् यही मोहिनीदास हैं। किन्तु कतिपय विद्वान् सीतलदास को मोहिनीदास के शिष्य चतुरदास के कृपापात्र ठाकुरदास (सं० १८५६-१८६८) का शिष्य मानते हैं।[6] वस्तुतः ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में सीतलदास के जीवन के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना असंभव है। यह अवश्य है कि 'गुलज़ार चमन' के सम्पादक महन्त भगवानदास

१—३. मिश्र बन्धु विनोद, भाग II—पृ० ६३३, १४६, १४६

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६—पं० कृष्णशंकर शुक्ल

५. गुलज़ार चमन, द्र० भूमिका

६. निम्बार्क माधुरी, पृ० ३७८

के अनुसार सीतल को स्वामी मोहिनीदास अथवा ललित मोहिनीदास का शिष्य मान लेने पर मिश्रबन्धुओं द्वारा निर्धारित समय के साथ सामंजस्य हो जाता है।

सीतल का खड़ीबोली-काव्य (विषय-वस्तु)—सीतल कृत तीन विलास—'गुलज़ार चमन,' 'आनन्द चमन' तथा 'बिहार चमन'—'गुलज़ार चमन' शीर्षक से श्यामकाशी प्रेस, मथुरा से सं० १६६६ में प्रथम वार प्रकाशित हुए थे। प्रकाशित ग्रन्थ में इस चमन-त्रय के अतिरिक्त महन्त किशोरीदास विरचित 'सवैया पच्चीसी', 'रसरंगजू के पद', 'आचार्यों की परम्परा', तथा 'नखशिख ध्यान' आदि भी सम्मिलित हैं। सीतल कृत तीनों चमनों में कुल मिलाकर दो सौ सत्तावन सवैये हैं जिनकी भाषा फ़ारसी-मिश्रित, तत्सम-प्रधान, खड़ीबोली है। 'गुलज़ार चमन' का पद सं० ५१ पंजाबी भाषा में है तथा 'आनन्द चमन' के चार पद (६४—६७ प० सं०) 'शाह सिचानक' और 'अतकशाह' की छाप लिए किसी अन्य कवि के जान पड़ते हैं।

उपर्युक्त काव्य-रचनाओं की विषय-वस्तु प्रेमाभक्ति पर आधृत है। इन स्फुट सवैयों में टट्टी संस्थान के इष्टदेव श्री बिहारीलाल का रूप-सौन्दर्य, नखशिख तथा महिमा-माहात्म्य आदि विशेष रूप से वर्णित हैं। साथ ही, कवि ने अपने मन का अविचल अनुराग भी इन सवैयों में सुन्दर शैली से उपन्यस्त किया है। 'गुलज़ार चमन' के प्रारम्भ में कवि ने अपने काव्य को 'इश्क मजाजी' और 'इश्क हकीकी' बता कर सूफ़ीमत से अधिक प्रभावोत्पादक कहा हैं क्योंकि कवि के अनुसार 'गुलजार चमन' सुर, नर, किन्नर, विष्णु, शिव अर्थात् ईश्वर के सब स्वरूपों को आनन्द प्रदान करता है। तदुपरान्त इसमें इष्टदेव बिहारलाल के पद-पंकज से लेकर पींडुरी, जघन, कमर, नाभि, उदर, तन, ग्रीवा, कंठ, भुजा, अंगुली, हाथ, मुख, नयन, अधर, नासिका, अलक आदि तक की व्याख्या की गई है। उनकी वेशभूषा आभूषण और पगड़ियों का सविस्तर उल्लेख करते हुए सीतल ने बिहारीलाल की पैंजनियों, तगड़ी, भुजबन्द, अँगूठी, छड़ी, कड़े तथा सुरख, बैंगनी, गुलाबी, प्याजी, हरे, ककरेजी आदि विविध रंगों के फेंटों का विशद वर्णन किया है। 'आनन्द चमन' के प्रारम्भिक दो सवैयों में मोहन, मधुसूदन, हरि, व्रजराज, दुलारा, वनमाली आदि अनेक नामों से व्यवहृत कृष्ण तथा कुँवरानी व्रजरानी राधिका से भव-बाधा-हरण का अनुरोध किया गया है। शब्द-वैचित्र्य के सहारे कवि ने अपने इष्टदेव को रूप, गुण, शील, आदि का आगार मानकर उनका अत्यन्त मनोहारी एवं भव्य रूप प्रस्तुत किया है। अनुभूति की गहनता एवं भाषा के बिम्बात्मक गुणों के सक्षम निर्वाह के कारण पाठक भ्रमवश बिहारीलाल में मानव गुणों का आरोप न कर बैठें इसलिए भक्त-कवि ने स्थल-स्थल पर उनमें ईश्वरीय धर्मों और भावनाओं की स्थापना कर दी है। 'बिहार चमन' में भी सीतल ने अपने उपास्य के रूप, गुण, शील आदि के वर्णनार्थ कवि-प्रसिद्ध सब उपमानों को निस्सार एवं निरर्थक सिद्ध कर उसे रूपातीत एवं वर्णनातीत व्यंजित किया है। किन्तु इन्होंने अपने इष्ट 'बिहारीलाल' के वर्णन को इतना अधिक मांसल रूप प्रदान कर दिया है कि सांसारिक व्यक्ति के रूप-सौन्दर्य का भी उससे भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।[1] यों तो

---

१. मिश्र बन्धु विनोद, भाग II—पृ० ६३२

सीतल की भक्ति-भावना मूलतः भारतीय है फिर भी नागरीदास, व्रजनिधि प्रभृति कवियों की तरह इनके काव्य में कहीं-कहीं विदेशी विचारधारा का पुट आ गया है। वहाँ भी उपास्य-उपासक का फ़ारसी-काव्य में स्वीकृत माशूक और आशिक का सा सम्बन्ध है। सीतल का कृष्ण भी सौन्दर्य में यूसुफ़ का गुररा डुबाता है और शक्ति में रुस्तम को मात करता है। उसमें भारतीय उपास्य अवतार का सा शील, संयम एवं सदाचार नहीं मिलता। वह न तो अपने सौन्दर्य से अनभिज्ञ है और न अपनी सर्वगुणसम्पन्नता से अपरिचित ही। इसलिए वहाँ भी अनुराग की भावभूमि पर दोनों की समान स्थिति न होने से आशिक़ की श्रेणी निम्न स्तर की हो गई है। सीतल के शब्दों में "आशिक़ की दोई जाते हैं, नीचे-ऊँचे हो मिलते हैं, जानी से हरदम वातें हैं।"[१] इस प्रकार की विदेशी भाव-परस्ती के साथ अभिव्यंजना-शैली में भी कहीं-कहीं फ़ारसी साज-सज्जा दृष्टिगत होती है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—गुलज़ार चमन, आनन्द चमन तथा विहार चमन—तीनों चमनों की भाषा तत्सम-प्रधान है। संस्कृत के ही नहीं अपितु अरबी-फ़ारसी के शब्द भी ज्यों के त्यों अर्थात् शुद्ध रूप में ग्रहण किए गए हैं। इसलिए अनुपात में तद्भव शब्दों का प्रयोग न्यून है, यथा—

संस्कृत तत्सम—सुर, नर, किन्नर, प्रसन्न, रमा, चरण, सुमन, प्रभा, दिनकर, पंकज, कुन्दन, माणिक्य, राशि, कोमल, अरुण, मुक्ताहल, वारिज, पन्नगारि, उर, केलि, तिमिर, विधि, विद्रुम, द्वन्द्व, मयंक, मकरन्द, कपोल, अहि, सुधाकर, कुण्डली, चंचल, अरविन्द, कटाक्ष, कलानिधि, प्रभाकर, संकल्प, ललित, निर्गुण, विहँसन आदि।

अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्द—ग़म, अमन, इश्क, हकीकी, दिल, मीमदहन, महतावी, हमेशह, दरीचा, दिलवर, सवज, प्याजी, सिकन्दरी, दरपेच, अव्वासी, मखतूल, जेव, मजमुआ, रुखसार, ग़रेबां, फरहाद, जानी, आरिज, बागबां, नरगिस, जमशेद, तुफ़ंग, अफ़लातून, प्याज़ी, ककरेजी, जुम्बिश, गोया, नुमा, जंजीर आदि।

सीतल अपने समकालीन व्रजभाषा तथा अन्य खड़ीबोली-कवियों के समान हिन्दी साहित्य की आनुप्रासिक प्रवृत्ति से भी मुक्त नहीं हैं। फलतः कवि ने शब्दों के निरर्थक प्रयोग अथवा तोड़-मरोड़ करने में पर्याप्त स्वच्छन्दता दिखाई है, उदाहरणार्थ चड़े (चढ़े), निश्चे (निश्चय), मरिया (मरा), ठहरिया (ठहरा), जिमी (जमी), संशृती (संसृति), उदातो (उदित), जक्त (जगत्), शसी (शशि), साभासा (?), जाभासा (?), गाभासा (?), छिपे (?), गूछा (?), ह्यासी (?), रिन्दी (?), चसा (?), सूद्दा (?) तूछा (?) ढविही (?) आदि। ऐसी विचित्र एवं विरोधी शब्द-योजना में भी सामान्यतया संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद आदि के आकारान्त रूप तथा संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राधान्य होने के कारण सीतल की खड़ीबोली अपने वाक्य विन्यास में उनके पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कवियों की अपेक्षा अधिक निखार और समृद्धि लिए है, देखिए :—

१. गुलज़ार चमन, पृ० ३४

मंजन करने को जमुना पर जानी उठ धाया भोर कहीं ।
मुख शरद कंज सा खिला हुआ छूटी जुल्फे दो ओर कहीं ॥
दे पेंच निचोड़ी लहर भरी टपकें मुक्ताहल कोर कहीं ।
ज्यों चन्द्र नाग में चूस गई मधु चुवा पूँछ की ओर कहीं ॥[1]

शीतल कुछ तुझे नजर आया तज यार दुख अब द्वन्द्व कहीं ।
वारिज की ललित पालकी में जानी यह बैठा चन्द कहीं ॥
रेशम की घुण्डी तारागण, मत कर दीजो दिल बन्द कहीं ।
मालूम हुआ यह देखा है दिलवर का बाजूबन्द कहीं ॥[2]

स्पष्ट है कि बोलचाल अथवा दैनिक व्यवहार में आने वाली भाषा का उपयोग कम हुआ है । ब्रजनिधि के समान फ़ारसी पदों अथवा पदांशों का प्रयोग भी स्थल-स्थल पर नहीं मिलता; यद्यपि तत्कालीन 'रेखता' भाषा में प्रयुक्त आमफ़हम शब्द—सेती, तुझ (तेरा), मुझ (मेरा,), गरदने मयूर, नक्शखाक, पा, जानी आदि यत्र-तत्र दृष्टिगत हो जाते हैं । भाषा के ऐसे परिष्कृत एवं प्रांजल रूप को देखकर ही मिश्रबन्धुओं ने सीतल को खड़ीबोली कवियों में 'प्रथम नम्बर' देकर यहाँ तक कह डाला है कि "खड़ी बोली में अद्यावधि जितने कवियों ने रचनाएँ की हैं, वे इनकी रचना के सामने आदरणीय नहीं हैं । जो लोग खड़ीबोली पर यह दोषारोपण करते हैं कि इसमें उत्तम कविता हो ही नहीं सकती, उनको सीतल की रचना देखकर अपना दुराग्रह अवश्यमेव छोड़ देना चाहिए ।"[3]

भाषा की प्रेषणीयता के लिए मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी श्लाघ्य होता है । सीतल की रचना में इनका प्रयोग न्यून मात्रा में हुआ है । दो-एक स्थलों को छोड़कर अन्य स्थलों पर न तो उनके प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न हुआ है और न प्रेषणीयता ही बढ़ी है । कुछ सुन्दर प्रयोग दर्शनीय हैं—

मखमल मखतूल मुसज्जर या खासे सब खाते गोते हैं ।
छवि सूछी गुंफी हुई दिलवर मिलती है इसकी थाह कहीं ।
दिल चाहें दिलवर सो करिये हम धरी शीश पर बाजी है ।
क्यों आशिक हो दम भरता है बैठा रहु अपनी जान लिए ।
अपना तो काम तमाम हुआ, जानी इस जुम्बिश लब ही में ।
नागिन फिर पानी क्या माँगे, देखें इनकी लहरान कहीं ।
मालूम हुआ हमको दिलवर इनकी आँखों में गड़ते हैं ।
जानी का हाथ नजर आया दिल हाथों हाथ बिकाय गया ।

लोकोक्ति

रस्सी से डरे अरे जालिम जो स्याह साँप का डसा हुआ ।

१. गुलजार चमन—पृ० १
२. गुलजार चमन—पृ० ५
३. मिश्रबन्धु विनोद, भाग II—पृ० ६३३

अलंकार—सीतल के काव्यानुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि वे अलंकारप्रिय कवि थे। इन्होंने सादृश्य योजना के बल पर भाषा में चमत्कार तथा वैचित्र्य लाने का सजग प्रयत्न किया है। इनकी रचनाओं में परम्परा-प्रवर्तित लगभग सभी कवि-प्रसिद्ध उपमान उपलब्ध हैं। नख-शिख वर्णन में रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक, प्रतीप आदि अलंकारों की बाढ़ सी आती हुई दिखाई पड़ती है। अलंकार-भार से लदी हुई ऐसी भाषा पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन ऊब उठता है। भाव-वस्तु की नगण्यता और भाषा की अलंकार-बहुलता से काव्य में स्थल-स्थल पर एक प्रकार का असन्तुलन उत्पन्न हो गया है। फलतः उसमें कृत्रिमता का आभास प्रायः अधिक मिलता है। फिर भी कतिपय स्थलों पर अप्रस्तुत-विधान बहुत सुन्दर बन पड़ा है, उदाहरणार्थ—

अनुप्रास

झलकें झिलमिले झुके झूमें झपकारे सुघर नवीने हैं।
चपलौहैं चटक चोंच चितवन खंजन के कसकत सीने हैं॥
लखि शरद कमल-दल मलिन हुए मृग बनोबास सा लीने हैं।
दृग लाल बिहारी के शीतल युग मीन महा बड़ मीने हैं॥[1]

है नैन करद से अनियारे जिन दरद हजारों गरद करे।
दिल फरद शरद बेताब हुआ महताब ताब सों जरद करे॥
खंजन के गंजन रस रंजन अंजन दे कंजन शरद करे।
कहि इनका कौन इलाज करे जो तैं घायल बेदरद करे॥[2]

लहराते हुए सहज देखे मकरन्द सने सुकुमार सुये।
छहराते छोह भरे छलकें छरहरे चीकने छवा छुये॥[3]

उपमा

नासा चम्पे की कली भली शशि ईश-धनुष ललचावत है।[4]
हीरे से दशन हँसन माणिक विद्रुम-अधरों से अड़ते हैं।[5]
लोटे गोदी में बिजली सा, चख चंचल सुरमा पड़ै चुआ।[6]

रूपक

तन शरद काल के सरवर में युग कमल नाल की शोभा है।[7]
मुख शशी पींजरे में लीये दृग तीक्षण खंजन पाले से।[8]

तलफै तुझ शरद सुधा घन बिन ये प्राण पपीहा पावस के।
रहता है तू इन दिनों कहाँ! वे हाय, कलानिधि मावस के।[9]

उत्प्रेक्षा (लुप्तोत्प्रेक्षा)

छवि शरद कंज पर पुण्य पुंज मकरन्द मधुव्रत पिए हुए।
मखतूल नील मणि केकी के गरदन पर दावा दिये हुए॥

१—९. गुलजार चमन—पृ० १६, २५, २५, १३, ४०, २३, ४, १६, २५

लहराती चोवा चारु चुनी जालिम कपोत को छिये हुए।
मुख शरद सुधाकर में बैठी अहि बाल कुण्डली किए हुए।[१]
नीमा प्रीतम के सुरख खुला गल भीतर रंचक चसा हुआ।
गोया अरुण बदली फोड़ यार शशि जामे दीखे धसा हुआ॥[२]

वह आलस भरा लखा जब से उपमा शीतल उर आय बसी।
अवनी पर उतरा नभ सेती तारागण बीने शरद शसी॥[३]

सन्देह

गिरदाब चन्द्र का गोल किया या मैन भूप की केली है।
या कमल कर्णिका गिर्द पुंज यह भी उपमा सब पेली है॥[४]

वारिज पर मधुकर छोना की छवि ह्याँसो उपमा निन्दी है॥
या भौंह बनाते कलम बिन्दु विधि करतें गिरी सुहिन्दी है॥
या कमल कली पर नीलम की जगमगन रूप-रस रिन्दी है।
या लाल बिहारी के मुख पर क्या सहज स्याह सी बिन्दी है॥[५]

चन्दा को बिजली लिपट रही, क्या बिजली चन्दा घेरी सी।
या शिव के शीश तरंग-गंग छवि है अनियार हनेरी सी॥[६]

भ्रान्ति

दृग लाल बिहारी के देखे, जाते हैं मृग संग बोर लगे।
जुल्फ़ों को अहिपति समझ यार ये भ्रम के मारे मोर भगे।
तन कमल गुलाब कली समझा देखे से भौंरे भोर लगे।
मुख शरद सुधाकर जानी का फिरते हैं संग चकोर लगे॥[७]

रूपकातिशयोक्ति

सुन लाल बिहारी ललित ललन यह देखा बड़ा तमाशा है।
शशि पर तोता दो खंजन है तिस ऊपर धनुष प्रकाशा है।
तारागण सूरज उदै हुए जिस में जहान की आशा है॥[८]

व्यतिरेक

क्या छवि सिकन्दरी पन्ने की जो लख पावै रंग भरा कहीं।
तोते की गरदन गर्द करी शशि पूत बराबर करा कहीं॥
यूसुफ़ हज़ार जो हो आवे दल बाँध हुस्न का पड़ा कहीं।
क्या ताकत उनको ताब रहै जो देखें फेंटा हरा कहीं॥[९]

प्रतीप

जानी के झुमकन कानों में लखते मोती बेताब हुआ।
जुल्फ़ों में फँसा जब से सम्बुल दर बदर खराब हुआ॥
मुख शरद चन्द्र जब से देखा नित छीन पीन महताब हुआ।
इस लाल बिहारी के आरिज़ सुन हाय आइना आब हुआ॥[१०]

१—१०. गुलजार चमन—पृ० १०, १७, २६, ६, १३, ४१, २८, ३१, ७, २०

तुझ तन सुगन्ध से घायल हो केतकी केवड़े पट्ट हुए ।
खाशे के तेशे सीने पर जड़ते गुलाब रंग घट्ट हुए ।
कचनार चम्पई मृगमद के घनसार अगरवाँ ठट्ठ हुए ।
बेहोश मद छके गुंजे हैं जानी भौरों के गट्ट हुए ।[1]

उदाहरण

चीरा सफेद बिन कहते ही बाँधा को कहना माने हैं ।
तिस पर मोती गण गुच्छे से कुछ जरीतार उरझाने हैं ॥
ज्यों सूरज किरण विकल आई तारागण भोर दिखाने हैं ।
क्या पूरण शशि पर शरद जलद, जिन देखा सोई जाने हैं ॥[2]

विभावना

क्या मुझे उकसने देती है गरदन पर जुल्फ़ ज़ंजीर हुई ।
बिन मारे घायल करती है जानी की चितवन तीर हुई ॥[3]

विशेषोक्ति

खूबी सी दौलत मिली तुझे पर तेरा दिल न उदार रहा ।
तू ईसा हुआ जमाने का यह दरद मन्द बीमार रहा ॥[4]

उल्लेख

अज विष्णु ईश वो रूप तुही नभ तारा चारु सुधाकर है ।
अम्बा तारा लौं शक्ति सुधा स्वाहा ओम् प्रबल प्रभाकर है ॥[5]

दो-एक स्थलों पर शब्दों के चित्र-धर्म के सहारे बिम्ब भी उपस्थित किया गया है, यथा :—

छवि हँसन दशन की छूल लगी शरमा कर मुक्ता माल खसी ।
तड़के ही उतर पलंग सेती चुनने को लागा भौंह कसी ।
वह आलस भरा लखा जब से उपमा शीतल उर आय बसी ।
अवनी पर उतरा नभ सेती तारागण बीने शरद शसी ॥[6]

दिल चला चूम नख-चन्द्र चरण पहुँचा दामन के घेरों तक ।
इक छोरे पटके सौं लटका छाती जा लागा देरों तक ।
कंठी कुंदन नग जड़ी देखि उलझा मोती के फेरों तक ।
मिजगाँ के मीले बेध गए जाता अबरू शमशेरों तक ॥[7]

उद्धृत अलंकारों पर दृष्टि-निक्षेप से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश पदों में अलंकार-संसृष्टि है । यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सीतल की भाषा सर्वत्र ही इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना से बोझिल है । कवि का शब्द-वैचित्र्य के प्रति मोह उन स्थलों पर सीमा का अतिक्रमण करता लक्षित होता है जहाँ फ़ारसी-प्रभाव से कवि ने उपमान-चयन भी ईरानी कर डाला है । उदाहरणार्थ, फ़ारसी की देखा-देखी नेत्रों की नरगिस से, लटकन की बरमे से,

१—७. गुलजार चमन—पृ० ४१, ८, २४, २४, २४, ४०, ३५

ख़मदार अबरू की मुलतानी कमान से, जंघाओं की चीनी आइने से, पींडुरी की शमे-काफ़ूरी से तथा गरदन की मीनेदार सुराही से उपमा देखिए—

अनन्वय

बरमा सा दिल में फिरा करै तेरा सा तेरा लटकन है ।[1]

उपमा

नरगिसी कटोरी आँखों पर अरगवा अंग छवि छाया है ।[2]

प्रतीप

घन जघन अनोखे जानी के वरणन मुझसे नहिं होते हैं
या साफ़ आइने चीनी से रम्भा लखि झम झम रोते हैं ।[3]

उत्प्रेक्षा

जानी भौंहों की तानों से हमको मत खींचो आरों पर ।
दर्शन अलबेले बाँके का चलना खंजर की धारों पर ।।[4]

उदाहरण

अबरू कशीश खमदार हुई जैसी कमान मुलतान चढ़ी ।[5]

भारतीय साहित्य शास्त्र में माँस, रुधिर आदि जुगुप्सा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को शृंगार एवं भक्तिरस में निषिद्ध ठहराया गया है। ऐसे वर्णन रसानुभूति में बाधक होने के कारण रसापकर्षक भी माने जाते हैं। किन्तु 'गुलज़ार चमन', 'आनन्द चमन' आदि में फ़ारसी साहित्य की शैली पर इनका स्वच्छन्द प्रयोग उपलब्ध होता है। निम्न पद द्रष्टव्य हैं :—

तीखी चितवन के ज़ख्म लगे मेरे दिल बीच अमाने के ।
यूनाँ तक मालिज मिले नहीं मुझ लख्ते जिगर चुचाने के ।
बरूणी की सुई लाल डोरे दे टाँके सजल लजाने के ।
कुछ मरहम की दरकार नहीं सुन अफ़लातून जमाने के ।।[6]

मुख शरद चन्द्र पर क्यों दिलवर अलबेली अलक गुलाब भली
रंग चुवन ललित छवि क्या बरनों ज्यों नागिन के नकसीर चली ।[7]

हग ठोकर जरब न मार यार दिल निपट करकरा सीसा है ।।[8]

उर अवा अनल में आँच दिया तुझ विरह संग से पीसा है ।
भरि खून जिगर को अय ज़ालिम गुलजार रंग दुति दीसा है ।।[9]

शब्द-शक्ति—अलंकार-विधान के प्रसंग में हम कह आये हैं कि सीतल ने सादृश्य-मूलक अलंकारों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। शब्द-शक्तियों की दृष्टि से सादृश्य योजना में प्रायः अभिधा-वैचित्र्य की ही महिमा रहती है। लक्षणा-शक्ति शब्द की अर्पित शक्ति है। गुण, धर्म आदि के साम्य में वह उसी स्थल पर उपादेय मानी जाती है जहाँ अभिधा अपेक्षाकृत क्षीण अथवा दुर्बल दिखाई पड़े। यों तो लक्षणा-व्यंजना अपने भेद-

---

१—९. गुलज़ार चमन—पृ० १३, ४२, ४३, ४३, ४२, १६, २७, १६, १६

प्रभेदों सहित अनेक स्थलों पर अपनी छटा दिखाती मिल जाएँगी किन्तु वे इतनी सशक्त नहीं कि अभिव्यंजना सौष्ठव में उत्कर्ष का विधान कर सकी हों। उदाहरणार्थ कतिपय प्रयोग द्रष्टव्य हैं :—

प्रयोजनवती, सारोपा, गौणी लक्षणा

आता है अभी इसी रस्ते अलबेला दिलवर पान लिए।
मिज़गानी तीर खिंचे जिसके अरु अबरू बड़ी कमान लिए ॥[1]

प्रयोजनवती, सारोपा, शुद्धा, उपादान लक्षणा

तीखी चितवन के ज़ख्म लगे मेरे दिल बीच अमाने के।
यूनां तक मालिज मिले नहीं मुझ लखते जिगर चुचाने के ॥[2]

तलफै तुझ शरद सुधा घन बिन ये प्राण पपीहा पावस के।
रहता है तू इन दिनों कहाँ, वे हाय कलानिधि मावस के ॥[3]

प्रयोजनवती, लक्षण लक्षणा

दृग चाह डोर की लहर लगी नेही खगपति कर डाले से।
मुख शशी पींजरे में लीये दृग तीक्षण खंजन पाले से ॥[4]
मुस्कान निकल कर खाय गई चित्त सुधा लपेटा कत्ता सा।
भरि नजर न देख सुधाकर को छुट परे छपाकर छत्ता सा ॥[5]

जहाँ कवि की अनुभूति तीव्र है अभिव्यंजना भी प्रखर हो गई है। निम्नलिखित सवैये में लाल बिहारी के अलौकिक एवं सम्मोहक रूप से भक्तकवि अभिभूत है। देखिए पद के अन्तिम चरण में उसके हृदय की विवशता किस प्रकार व्यंजित होती है—

थी शरद चन्द्र की जोन्ह खिली दुति मुख-मयंक की सहने की।
सोवै था भरा खुमारी में, चमके थी छवि सब गहने की ॥
मैं चरण चापने को बैठा क्या कहों आपने लहने की।
फिर फिर या दिल में कसक उठे 'चल परे सरकजा' कहने की ॥[6]

काव्य-गुण—सीतल का काव्य सामान्यतः प्रसादगुण-सम्पन्न है। यह आश्चर्य की वात है कि अलंकारों के चमत्कार के वावजूद भी अधिकांशतः अर्थ-प्रतीति में वाधा नहीं आई है। उर्दू के तशबीह और इस्तआरात में भी उपमान चाहे कितने ही अनगढ़ और सामान्य रहे हों, अर्थ-सौकर्य बराबर बना रहा है, यथा—

उस करम रूप को भूल गया जब से दिल को आराम हुआ।
दरशन तेरा दिलजान सही दिल को जमशेदी जाम हुआ ॥
देखे सब लोग अलोक पंथ यह जिकर सुबह अरु शाम हुआ।
मुख शरद चन्द्र दिलजानी का लखि मेरा पूरण काम हुआ ॥[7]

हाँ, जहाँ अनुप्रास के मोह में शब्द को तोड़ा-मरोड़ा गया है वहाँ शब्द-योजना अत्यन्त साधारण होने पर भी पाठक को सहज ही अर्थ-वोध नहीं होता, जैसे—

१—७. गुलजार चमन—पृ० १५, १६, २५, १४, २२, २५, ३८

इक रोज बिहारी लाला से यह सहज किसी ने पूछा है ।
जीगे के ऊपर तारागण दुति उदे मलिन छवि सूछा है ॥
यह कहो कहाँ से पाया तुम उपमा को दिन मन तूछा है ।
शीतल ने मुझे बँधाय दिया यह मश्क गौहरी गूछा है ॥[1]

माधुर्यगुण—'टवर्ग' आदि परुष वृत्ति वाले वर्णों तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग माधुर्यगुण विधायक पदों में वर्जित है क्योंकि उससे प्रायः पद की ध्वन्यात्मकता एवं गेयता में कर्ण-कटुत्व दोष आ जाता है । किन्तु सीतल की शब्द-योजना की यह विशिष्टता है कि 'टवर्ग' आदि वर्ण शेष शब्दों के साथ ऐसा सामंजस्य कर लेते हैं कि पाठक विरोधी वर्ण-प्रयोग की ओर ध्यान ही नहीं देता, जैसे—

कारे सटकारे लहरदार सोंधे मीने सगबगे हुए ।
फिर बिथुरित कुसुम मल्लिका के ज्यों तम से तारे लगे हुए ॥
मुखचन्द्र दशन मुक्ताहल से मुसक्यान जाल से ढके हुए ।
जानी हमको दिखलावेगा फिर भी वे नग जगमगे हुए ॥[2]

हाँ, जहाँ इस अनियंत्रित प्रयोग का आतिशय्य हो गया है वहाँ कर्णकटुत्व दोष सन्निविष्ट हो गया है—

तुझ ज़ुल्फ़ पेच बिन आठ पेच काली नागिन के पड़ते हैं,
मन चित्त बंध संसृती मर्म संकल्प सभा में गड़ते हैं ।
फिर छुटे नहीं मुखचन्द्र बिना जी जतन सैंकड़ों पड़ते हैं,
यह समझ चित दिलजानी की ज़ुल्फों में दिल को जड़ते हैं ॥[3]

संक्षेप में, सीतल की खड़ीबोली-रचनाओं के अनुशीलन से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनका काव्य तत्सम प्रधान (संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी शब्दयुत) है। जहाँ संस्कृत-प्रधान शब्दावली में माधुर्य भक्ति का वर्णन हुआ है वहाँ कविता में लावण्य और सौष्ठव अपेक्षाकृत अधिक है । इसका मूल कारण भाव और भाषा का तादात्म्य है । हाँ, जहाँ फ़ारसी शैली को कवि ने स्वीकार किया है, खड़ीबोली में प्रवाह तो है किन्तु भाव के साथ तादात्म्य नहीं रह पाया है । किन्तु इन गुण-दोषों के होते हुए भी सीतल का खड़ीबोली-काव्य भाषा की परिष्कृति एवं प्रांजलता की दृष्टि से स्तुत्य है ।

वृन्दावन जैन (सं० १८४८ जन्मकाल)

खड़ीबोली-काव्य के प्रमुख कवियों में जैन-साहित्य के आलोक-स्तम्भ वृन्दावन जैन का नाम भी चिरस्मरणीय रहेगा । जैसा कि द्वितीय अध्याय में दिखाया भी जा चुका है खड़ीबोली भाषा के विकास-सूचक चिह्न आदिकालीन अपभ्रंश जैन-साहित्य में ही दृष्टिगत होने लगे थे । अतः बनारसीदास[4] (सं० १६४३-१६९८) भगवतीदास[5] (रचनाकाल सं० १७३१-१७५५) श्री रंग विजय[6] (सं० १८४६ में वर्त्तमान) तथा श्री भूधरदास[7] प्रभृति परवर्ती जैन-कवियों

१—३. गुलजार चमन, पृ० १६, १८, २१
४. द्रष्टव्य—बनारसी विलास—पृ० ६०, सं० नाथूराम प्रेमी
५—७. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—पृ० १५०, २१६, २४४

ने खड़ीबोली को पृथक् भाषा मानकर स्फुट पद-रचना भी की है। किन्तु इन कवियों की खड़ीबोली-रचनाओं का कलेवर इतना अल्प है कि वृन्दावन जैन को छोड़कर शेष को खड़ीबोली के कवियों में स्थान देना समीचीन नहीं प्रतीत हुआ। अस्तु !

वृन्दावन जैन रचित 'प्रवचन सार', 'तीस चौबीस पाठ', 'चौबीस पाठ', 'छन्द शतक', 'अर्हत्पासाकेवली' तथा 'वृन्दावन विलास' (स्फुट काव्य-संग्रह) नामक छह ग्रन्थ प्राप्त हैं। खड़ीबोली की दृष्टि से 'वृन्दावन विलास' की जिनेन्द्र स्तुति, गुरु स्तुति, संकटमोचन स्तुति, जिनेन्द्र देव से अर्ज़ी, पद्मावती स्त्रोत तथा शील माहात्म्य शीर्षक पाँच कविताएँ विशिष्ट रूप में उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम संस्करण नाथूराम प्रेमी के सम्पादन में निर्णय सागर प्रेस से सं० १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसकी मूल प्रति काशी के सरस्वती भंडार में सुरक्षित बताई गई है। किन्तु सम्पादक का कहना है कि 'शील माहात्म्य' नामक कविता आरा जैन कन्या पाठशाला की अध्यापिका जानकीबाई की कृपा से उपलब्ध हुई है।[1]

विषय-वस्तु—समस्त हिन्दी, जैन-साहित्य का मूलाधार जैन-दर्शन या जैन-आचार-शास्त्र है। कविवर वृन्दावन जैन ने भी इन्हीं विषयों को केन्द्र-बिन्दु बनाकर अपने काव्य का ताना-बाना बुना है। प्रस्तुत खड़ीबोली-फुटकर-काव्य में जिनेश्वर-भक्ति तथा सामन्त भद्र, मानतुंग, अकलंकदेव, कुन्द-कुन्द जी आदि अनेकानेक गुरुओं की स्तुति है। जन-प्रचलित लोक कथाओं में राम, कृष्ण, शिव आदि का भी प्रसंगवश उल्लेख किया गया है जिसका कारण उनका 'शील माहात्म्य' है। किन्तु कवि की जैन-विचारधारा पर हिन्दुओं की पौराणिक भावना का प्रभाव भी है क्योंकि उसने जिनेश्वर को कमलाकर, रमापति आदि विशेषणों द्वारा विष्णु-स्वरूप घोषित कर दिया है। इसके अतिरिक्त कवि ने पद्मावती के प्रति विशिष्ट निष्ठा का कारण भी भली-भाँति स्पष्ट किया है।[2] 'संकट मोचन जिनेन्द्र से अर्ज़ी' शीर्षक रचना में भक्त की दैन्य, नैराश्य एवं दुख की भावना प्रतिबिम्बित होती है। साथ ही सती सुलोचना, गजग्राह-संकट, द्रौपदी-दु:शासन, श्रीपाल, हरिवेन, शीलवती चन्दना, सती अंजना, मैन, सेठ सुदर्शन, राम, हनुमान, इन्द्र आदि अनेक देवी-देवताओं तथा अन्य उच्चात्माओं का हवाला देकर उनसे सहायता के लिए आने का अनुरोध भी किया है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि कवि ने इस कविता की रचना उस समय की थी जब वह निरपराध कारावास में दण्ड भोग रहा था।[3]

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—वृन्दावन का खड़ीबोली-काव्य भाषा की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसकी शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास आदि खड़ीबोली की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। भाषा भाव के अनुकूल कहीं संस्कृतनिष्ठ है और कहीं ब्रज, उर्दू आदि प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं का पुट लिए बोलचाल का रूप प्रस्तुत करती है। फलत: अनुपात में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

---

१. वृन्दावन विलास, पृ० ३० (जीवन चरित्र)—सं० नाथूराम प्रेमी
२. द्रष्टव्य—वृन्दावन विलास, पृ० २०
३. वृन्दावन विलास—पृ० १२ (जीवन चरित्र)

तत्सम शब्द—करुणायतन, दुखहरन, विमल, त्रैकालिक, वस्तु, उर, राजिवलोचन, सोचविमोचन, हित, कर्णधार, निराधार, विलम्ब, स्वर्ग, विमान, नाग, नरेशपति, ऋद्धि, सिद्धि, निधान, सुखवृन्द, खल, कर्म, पालक, नृपनीति, पावक, शीतल, नीर, कल्पतरु, विस्तार, मुक्ति, शिव, साधन, उद्धार, गजग्राह, अंजन, कुसुम, खंग, सर्वथा, सत्य, अनन्त, शुद्ध, कमलाकर, उदयागत, कर्मविपाक, हलाहल, विषम, सर्वांग, द्वादशांग, मृषा, प्रतिभा, भद्र, कपि, सिंह, हंसासनी, पद्मासनी, चारु, धर्मार्थ, काम, मोक्ष, उमंग, संख्या, शब्द, ब्रह्म, रूप, आनन्दकन्द, अभिराम, खर्व, करकंज, चरणारविंद आदि।

तद्भव—तुमारा, अवार, विथा, ठिकाना, तुमारी, सरन, मनोग (मनोज्ञ), समरत्थ, न्याव, सुजस, साँचे, जस, चिन्तामनपारस, सुरइन्दपदी, विघन, विपत, लछमी, जद्पि, तद्पि, तिन्हें, तिनका, ततकाल, निर्वान, भुजा, परमान, सुद्ध, परतच्छ, कल्पवृच्छ, ईच्छित कारा, धरैया, करैया आदि।

प्रान्तीय शब्द—आय, चढ़ाय, मोहि, मोपर, देहु, लखो, तुमसो, बरते, निहचे, अवलोकि, नहिं, हमारे, काहूँ, लगि, गावत, तुव, दासन, भक्तन, मीति, देहिंगे, दई, रंच, पै, हती (थी) आदि।

विदेशी शब्द—इनसाफ, हैरान, बन्दा, चारा, दिल, औ, अर्ज, मालिक, जहान, हुनर, बेजान, गुनाह, मुश्किल, कहर, बहर, कौल, परदा, बेहया, खता आदि।

इस प्रकार कवि ने भाषा को भाव-प्रवण बनाने की पूर्ण चेष्टा की है और उसका परिमार्जित रूप भी यथाशक्ति उपस्थित किया है। हाँ, लोक-प्रचलित कथाओं के प्रसंग में कहीं-कहीं शब्द विकृति आ गई है, जैसे :—

धारती (धरती), उतारुस्के (उतार उसको), उस्के, तुमे, तुर्त्त, (तुरन्त), अरंभा, भि (भी), थुति (स्तुति), शोग (शोक) आदि।

पद-योजना में कहीं-कहीं संज्ञा, सर्वनाम, कारक-चिह्न, क्रिया आदि सम्बन्धित व्याकरण-दोष भी मिल जाते हैं :—

जब चीर द्रौपदी का दुशासन्ने था गहा।[1]
जिसके नगीच लगती थी जाहिर्रती रती।[2]
शूली से उतारुस्को सिंहासन पै बिठाया।[3]

न्यूनपदत्व दोष

सब चन्दना सती की व्यथा शील ने टारा।[4]
इस शील से ही शक्ति विशल्या ने निकारा॥[5]

दूरपदान्वय दोष

चक्रीस हो सुत उसके ने रथ जैन चलाया।[6]

उद्धृत निदर्शनों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत दोष प्रायः मात्रा अथवा तुक के आग्रह से संक्रमित हुए हैं। परन्तु सामान्यतया भाषा, भाव और विषय के अनुकूल कहीं विशुद्ध, संयत,

---

१—६. वृन्दावन विलास, पृ० १६, १६, २७, १४६, १४६, १६

परिमार्जित एवं संस्कृतनिष्ठ रूप में दृष्टिगत होती है जैसे :—

जिन शासनी हंसासनी पद्मासनी माता।
भुज चार तें फल चारु दे पद्मावती माता॥
जब पार्श्वनाथजी ने शुल्क ध्यान अरंभा।
कमठेस ने उपसर्ग तब किया था अचंभा।
निजनाथ सहित आय के सहाय किया है।
जिन नाथ को निज माथ पै चढ़ाय लिया है॥[1]

चरणारविंद में है नूपुरादि आभरन।
कटि में है सार मेखला प्रमोद की करन॥
उर में है सुमन माल सुमन माल की माला।
पटरंग अंग संग सौं सोंहैं है विशाला॥[2]

कहीं संकटमोचन को 'अर्जी' भेजने के समय खालिस उर्दू का रूप उपस्थित करती है :—

मालिक हो दो जहाँन के जिमराज आप ही।
ऐबो हुनर हमारा तुमसे छिपा नहीं॥
बेजान में गुनाह मुज से बन गया सही।
ककरी के चारे को कटार मारिये नहीं॥[3]

और कहीं लोक प्रचलित कथाओं के निरूपण में शुद्ध बोलचाल का बाना धारण कर लेती है :—

सोभा से कहा जो तु सती शील विशाला।
तो कुंभ तैं निकाल भला नाग जु काला॥
उस वक्त तुम्हें ध्याके सती हाथ ही डाला।
तत्काल ही वह नाग हुआ फूल की माला॥[4]

इक सेठ के घर में किया दरिद्र ने डेरा।
भोजन का ठिकाना नहीं था शाम सबेरा॥
उस सेठ ने थिर होके तुम्हें ध्यान में घेरा।
झट उसके यहाँ कर दिया लक्ष्मी का बसेरा॥[5]

अलंकार-विधान—वृन्दावन कवि की खड़ीबोली कविता सामान्यतया अलंकारों से अधिक बोझिल नहीं है। इसका कारण निश्चित रूप से विषय-वस्तु में गंभीरता का अभाव है। जिनेन्द्र-स्तुति आदि में प्रायः यथातथ्य बाह्य वर्णन मात्र किया गया है; किन्तु पद्मावती स्तोत्र एवं शील माहात्म्य आदि कविताओं में भाषा भावानुकूल तथा आभरण युक्त है। दैवी-भक्ति में आनुप्रासिक शब्द-योजना द्वारा भाषा में गति के अतिरिक्त भव्य प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति भी स्वतः सन्निविष्ट हो गई है, जैसे :—

१—५. वृन्दावन विलास—पृ० २०, २२, १५, १७, १७

प्रभु भक्ति व्यक्त जक्त मुक्त मुक्ति की दानी ।
आनन्दकंद वृन्द को है, मुक्त निदानी ॥[1]

तुम संकटा समस्त कष्टकाटिनी दानी ।
सुख सार की करनी तु शंकरीश महानी ॥[2]

तज के विलंब अब जी अवलंब दीजिए ।
वृजचन्द नन्द वृन्द को आनन्द दीजिए ॥[3]

गुरुओं की स्तुति में उनकी महिमा, ज्ञान, प्रताप आदि से पाठक को प्रभावित करने के हेतु भिन्नार्थक शब्दावृत्ति (यमक) द्वारा भाषा में चमत्कार भी लाया गया है । जैसे :—

जिस नाम के परभाव सों परभाव को दहों ॥[4] (प्रभाव, पर भाव)
जो मोह तिमिर भान ने को भान के समान ।[5]

(भानने=तोड़ने, भान—भानु=सूर्य)

इष्ट देवी पद्मावती के रूप-सौन्दर्य के निरूपण में कतिपय स्थलों पर उपमा, रूपक, प्रतीप आदि अर्थालंकारों का उपयोग किया गया है जो सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक भी कहे जा सकते हैं, जैसे :—

उपमा

संध्या समान लाल रंग अंग धरी हो ।[6]

रूपक

चरणारविंद में है नूपुरादि आभरन ।[7]

प्रतीप

मुखचन्द को अमन्द देख, चन्दहू थमा ।
छवि हेर हार हो रहा रंभा को अचंभा ॥[8]

प्रतीप एवं यमक की संसृष्टि

सम्यक्त सुद्ध शीलवती चन्दना सती ।
जिसके नगीच लगती थी जाहिरत्ती ॥[9]

(यमक—रति, रत्ती)

उपमा, रूपक एवं यमक

जो मोह तिमिर भानने को भान के समान ॥[10]

(भानने—तोड़ने, भान—भानु=सूर्य)

उपर्युक्त उद्धरणों में सादृश्य, साधर्म्म और प्रभाव-साम्य के आधार पर सुन्दर एवं रमणीय भावों की अभिव्यंजना सौन्दर्यानुभूति की वृद्धि में परम सहायक है । ये गिने-चुने अलंकार इस तथ्य के साक्षी हैं कि यदि कवि ने खड़ीबोली में गंभीर विषयों का निरूपण किया होता तो वह भाषा और भाव दोनों दृष्टि से अमूल्य होता ।

वस्तुतः भाषा पर कवि का इतना अधिकार प्रतीत होता है कि भावानुकूल कहीं वह

१—१०. वृन्दावन विलास—पृ० १६, २४, २४, १०, १४, २१, २२, २३, १६, १४

नादमय वर्णयोजना तथा माधुर्य विधायक शब्दावली द्वारा श्रुति-मधुर पद-नियोजन और कहीं ओज-व्यंजक शब्दों द्वारा भाषा में ओजगुण का सन्निवेश कर देता है। दोनों प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा :—

माधुर्यगुण

बेरी में परी थी तुमे जब ध्यावती हती।
तब वीर धीर ने हरी दुख दंद की गती॥
जब अंजना सती को हुआ गर्भ उजारा।
तब सास ने कलंक लगा घर से निकारा॥
वन वर्ग के उपसर्ग में तब तुमको चितारा।
प्रभु भक्त व्यक्ति जानि के भय देव निवारा॥[1]

ओजगुण

दृग तीन सहित लाल तिलक भाल धरे है।
विकसित मुखारविंद सौं आनन्द भरे है॥
जो आपको त्रिकाल लाल चाल सौं ध्यावे।
विकराल भूमि पाल उसे भाल झुकावे॥[2]

साह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' (सं० १८८२-१९३०) तथा साह फुन्दनलाल 'ललितमाधुरी' (सं० १८८५-१९४२)

लखनऊ के वैभव-सम्पन्न वैश्य कुल में उत्पन्न साह कुन्दनलाल और साह फुन्दनलाल दोनों भाई, प्रौढ़ावस्था में किसी कौटुम्बिक कलह के कारण (सं० १९१३) लखनऊ छोड़कर वृन्दावन आकर बस गये थे और जीवन की शेष अवधि उन्होंने वहीं व्यतीत की। सं० १९१७ में उन्होंने अपने पिता के नाम से वृन्दावन में (शाह) बिहारीजी का संगमरमर का एक मन्दिर बनवाया जिसमें सं० १९२५ में श्री ठाकुरजी का विग्रह प्रतिष्ठित किया गया। ये दोनों भाई संस्कृत, व्रज, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, बंगाली, खड़ीबोली, उर्दू, फ़ारसी आदि अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के अच्छे जानकार थे। इन्हें बचपन से ही कविता में रुचि थी। साह कुन्दनलालजी ने 'ललितकिशोरी' की छाप से और साह फुन्दनलालजी ने 'ललितमाधुरी' के नाम से भगवल्लीला सम्बन्धी सहस्रों सरस पदों की रचना की। गो० राधा-गोविन्द जी इनके गुरु थे और ये निम्बार्क मत के सखी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। दोनों श्री राधाकृष्ण युगल बिहारी के उपासक थे तथा अपने उपास्य की ललित लीलाओं का अवलोकन सखी भाव से करते थे, इसलिए इनका काव्य भावुकता तथा भक्ति-विलास का सुपक्व फल है।

प्रसिद्ध है कि 'ललितकिशोरी' तथा 'ललितमाधुरी' दोनों भाइयों ने दस हजार से अधिक पदों की रचना की। कहते हैं असमय में बड़े भाई 'ललितकिशोरी' का देहावसान हो जाने के कारण 'ललितमाधुरीजी' को अपने भाई के अपूर्ण ग्रन्थों एवं पदों को पूर्ण करना

१—२. वृन्दावन विलास—पृ० १६, २३

पड़ा था जिनमें भ्रातृ-प्रेम के कारण उन्होंने कई स्थानों पर अपना नाम तक नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन की एकता तथा काव्य कृतियों के समुचित सम्पादन के अभाव में दोनों के पदों को पृथक् करना सम्भव नहीं है। इसलिए हमें दोनों कवियों की रचनाओं को सामूहिक रूप से लेना पड़ रहा है।

कहा जाता है कि 'ललितकिशोरी' के पदों का संग्रह उनके अनुज 'ललितमाधुरी' ने सं० १६२५-१६४२ के बीच प्रकाशित करवाया था।[1] इसके सिवाय 'बृहत् रस कलिका' तथा 'लघु रस कलिका' नाम से दो संग्रह मथुरा से भी प्रकाशित बताए जाते हैं किन्तु ये सब अब अप्राप्य हैं।[2] प्राप्त संग्रहों में सं० १६१०-१६१२ के बीच में 'ललितकिशोरी' द्वारा विरचित 'अभिलाष माधुरी' नाम फुटकर काव्य-संग्रह साहजी के मन्दिर के अध्यक्ष श्री साह गौरशरण गुप्त ने सं० १६८८ में वृन्दावन से प्रकाशित कराया था। इसके अतिरिक्त कुछ लावनियाँ और झूलने भी काव्य-साहित्य में इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं। इन प्रकीर्णक पदों में अनेक प्रकार की भाषाओं का उपयोग किया गया है। उर्दू-फारसी की गज़लें, मारवाड़ी, ब्रज, पंजाबी आदि में अनेक राग-रागनियाँ, युगल विहारी शतक, शृंगार शतक आदि तथा खड़ीबोली में लावनी, झूलना, दूसरी बारहमासी, युगल विहारी की कहानी, जिला, देस, भैरवी, धानी, उत्तरी देस आदि स्फुट राग-रागिनियों में राधाकृष्ण-सम्बन्धित अनेक भावनाएँ पद्य-बद्ध हैं। खड़ीबोली के रेखते रासधारियों में प्रचलित हैं। झूलना तथा लावनी छन्दों में रचित कतिपय पद वैराग्य सम्बन्धी हैं। शेष में राधा-कृष्ण-उपासना तथा उनकी जन्मभूमि —वृन्दावन की वन-वीथियों, कुंजों, यमुना-पुलिन आदि के वर्णनों से कवि का इनके प्रति विशेष ममत्व का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं खड़ीबोली के परम्परा-प्राप्त विषय 'इश्क' का भी सुन्दर और सजीव वर्णन हुआ है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-विन्यास, व्याकरण आदि)—'ललितकिशोरी' और 'ललितमाधुरी' कृत खड़ीबोली-रचनाओं का भाषा विषयक अनुशीलन करने पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके रेखते, झूलने, लावनी तथा विभिन्न राग-रागिनियों पर खड़ीबोली की आकारान्त प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव है; कारक-चिह्न भी प्रायः खड़ीबोली के ही हैं। किन्तु शब्द-योजना में ब्रजभाषा का नैसर्गिक मार्दव इस प्रकार छा गया है कि काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग अत्यल्प और असंयुक्त शब्द अथवा ब्रजभाषा के अनुकूल तद्भव शब्दों का बाहुल्य मिलता है। हाँ, अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्द अपने शुद्ध रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। उद्धृत शब्द-राशि इस कथन की पुष्टि करेगी।

तत्सम—कालिंदी, आशा, माधुरी, रसिक, रूप, प्रीति, त्रिभुवन, चरण, कृपा, दृग, बंक, सम्पत्ति, मिथ्या, अष्टसिद्धि, माया, सरिता, सुषुम्ना, मुद्रा, विलम्ब।

तद्भव—दरसावै, हितू, हमारा, छवि, जमुना, कूलन, वासा, बेकल, बिराजे, दुवारे,

१. अभिलाष माधुरी—भूमिका, पृ० ६
२. ब्रज माधुरी सार—पृ० २६८

बेदरस, चल, तिहारे, हियरा, हिये, हिरदे, छुलकानि, छके, वरुनि, छीन, परपंच, नाव, महती, मारग, प्रान, निरजन, जुगति, बकसे, हंकत, मानुष ।

विदेशी—साही, गरेवाँ, दिल, मजलिस, याद, शिकवा, टुक, येक, हमन, तुमन, खौफ, आशिक, मस्त, नौजवाँ, दरवाजा, मुश्की, हुशियार विहत्तर ।

इस अल्पकाय खड़ीबोली-काव्य में भी शब्द-विकृति और अंग-भंग जैसे दोष मिल जाते हैं जिसका कारण चाहे छन्द का आग्रह हो या गेयता अथवा कवि की भाषा-शुद्धि की ओर उदासीनता, उदाहरणार्थ—

ललितकिशोरी नेम यही दृढ़ कुंज बिहारी देखेंगे ।[1]
बंक विलोकन बान के आगे मुसकिल से कुई अड़ता है ।[2]
कटीले कोर बरछीले तृछीले से कुरंग वारे ।।[3]

आवश्यक स्थलों पर कारक-चिह्नों के लोप से भाषागत अव्यवस्था और मुखर हो गई है—

लगा मगशिर शिसर के घर वधाई ।
सखी नरनारियाँ ओढ़ी दुलाई ।।[4]

दो-एक स्थलों पर उर्दू-फ़ारसी के सर्वनाम, क्रिया आदि के स्वच्छन्द प्रयोग के साथ पद-योजना पर भी विदेशी प्रभाव लक्षित होता है—

हमनग्रीवा लचक मिहरी उतारोगे तो क्या होगा ।[5]
नजर ताऊसे बेसर पर जु जा पड़ती थहरती है ।[6]
रंगीली डार झूला झूले खड़ियाँ
भरे रचि माँग से दुर मोती लड़ियाँ ।।[7]

किन्तु ऐसी अव्यवस्था सर्वत्र नहीं है। जहाँ वाक्य-विन्यास व्याकरण-सम्मत है, बोलचाल का पुट होने पर भी भाषा में निखार आ गया है, देखिए—

क्या करना है संतति सम्पत्ति मिथ्या सब जन माया है ।
शाल दुशाले हीरा मोती में मन क्यों भरमाया है ।।
माता, पिता, पत्नी, बंधु सब गोरखधंधा बनाया है ।
ललित किशोरी आनन्दघन हरि हिरदे कमल बसाया है ।।[8]

कहो कभी उस मजलिस में मेरी भी याद होती है ।
जिसमें राधाकृष्ण विराजे सखियन जगमग जोती है ।।
ललित किशोरी से कहियो कोई पड़ी दुवारे रोती है ।
कहती है बेदरस दासि की मिट्टी बरबाद होती है ।।[9]

(राग देस)

१—७. अभिलाष माधुरी, पृ० १८१, २३०, २६१, ८१, १४६, २६१, ८५
८. ब्रज माधुरी सार—पृ० २६६
९. अभिलाष माधुरी—पृ० १२४

इन साह कवियों के खड़ीबोली-काव्य के अध्ययन से यह भी संकेत मिलता है कि काव्य के शास्त्रीय पक्ष से उनका यथेष्ट परिचय न था। इसलिए इनके पदों में सौंदर्य-विधायक तत्त्वों का प्रायः अभाव है। लावनी-भूलना तथा अन्य राग-रागिनियों में आबद्ध पदों में अनुप्रास की झलक तो मिल जाती है किन्तु अर्थ-चमत्कृति से अभिव्यंजना-सौंदर्य में अभिवृद्धि करने वाले सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव साम्यमूलक उपमानों का प्रयोग नगण्य सा है। इसलिए प्रथम तो ऐसे स्थल ही कम हैं जहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों का सन्निवेश हो, यदि कहीं हैं भी तो वहाँ प्रेषणीयता का ही आग्रह अधिक दृष्टिगत होता है। निम्न निदर्शनों से स्पष्ट हो जाएगा—

उपमा

करन ताटंक कुण्डल नभ झलकते हैं सितारे से।[1]

उपमा एवं रूपक

चकोरी चख हमारे हैं तिहारे चाँद से मुख पै ॥[2]

रूपक

जुगललाल मैदान इश्क में घूँघट पट क्या ओटैं हैं।
बरुनी बान कमान भौंह से हरदम चलती चोटैं हैं ॥[3]

उत्प्रेक्षा

ललित किशोरी आनन्द घन हरि हिरदे कमल बसाया है।[4]
चपल नवदामिनी नैना सुहाई, करी कन्दर्प पे मानो चढ़ाई ॥[5]

रूपक-उत्प्रेक्षा

कमाँ भृकुटी अलक आनन मनौ नागिन लहरती है।[6]

प्रतीप

सितारे आसमाँ के सब दिखाते हैं उतारे से।[7]

अल्प

फेंक फाँक कर शाल-दुशाले, जग से चित्त उठाया है।[8]

जहाँ भावानुभूति तीव्र है, वर्णन शैली में चित्रोपमता स्वतः आ गई है यथा—

गगन दमकै छटा इत रूप गोरी।
नवल घनश्याम अंग दुरदुर किशोरी ॥
उठैं बंक पाँति नभ दुक भूल कि जावै।
इतै बन माल मुक्ता मन लुभावै ॥[9]

शब्द-शक्तियों का उपयोग भी भाषा की मुहावरेदानी में ही देखा जा सकता है। अन्यथा शब्दों का समुचित एवं सम्यक् ज्ञान या अर्थ-व्यापकता की प्रतीति इसका कारण कदापि नहीं कह सकते; जैसे—

१–३. अभिलाप माधुरी—पृ० २६१, १४६, २३०
४. ब्रजमाधुरी सार—पृ० २६६
५—६. अभिलाष माधुरी—पृ० ६१, २६१, २६१, २७०, ८६

रूढ़ि लक्षणा

अष्ट सिद्धि नव निधि हमारी मुट्ठी में हरदम रहती है ॥[1]

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा लक्षणा

गंसीले नैन का भाला सँभाला, पतिव्रत को दिया देश निकाला ॥[2]

प्रयोजनवती उपादान लक्षणा

छके रहत छवि ललितमाधुरी और नहीं कुछ चहते हैं।
चितवन हँसन चोट मोहन की निसि दिन हिय पर सहते हैं ॥[3]

हम पहले भी कह आए हैं कि ललितकिशोरी और ललितमाधुरी की खड़ीबोली पर ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। कदाचित् इसका कारण उनका कृष्ण की लीला-स्थली ब्रजभूमि के प्रति अनन्य अनुराग था। काव्य-भाषा में वर्ण-योजना प्रायः असंयुक्त है और साथ में तत्सम शब्दों का अभाव; जिससे इनके खड़ीबोली-पदों में भी माधुर्यगुण सहज ही आ गया है। हाँ, ऐसे स्थलों पर ब्रजभाषा का पुट बराबर मिलता है।

प्रसादगुण

जंगल में अब रमते हैं दिल बस्ती से घबराता है।
मानुष गंध न भाती है, संग मरकट मोर सुहाता है ॥
चाक गरेबाँ करके दम-दम आहें भरना आता है।
ललितकिशोरी इश्क रैन-दिन ये सब खेल खिलाता है ॥[4]

माधुर्यगुण

सवेरे ये न फूटे पौन सीरी।
चलै खसबोइ लीये धीरी धीरी ॥
चले उठि सेज से घर को छबीले।
झुकी फिर नींद अरसाने रंगीले ॥
परत पग डांवा डोली नैन झुपके।
झुके लपटाय तरवर नर न टसके ॥[5]

सिंहावलोकन—उपर्युक्त प्रकरण में भारतेन्दु से पूर्व (सं० १३००-१९००) के खड़ी-बोली-काव्य में अभिव्यंजना-सौष्ठव के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। छह शताब्दी की इस विस्तृत अवधि में रचित काव्य-साहित्य के वर्ण्य-विषय, भाषा-प्रयोग, अप्रस्तुत-योजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजना शक्ति आदि काव्यांगों के विभिन्न प्रयोगों पर विचार करने से निम्नलिखित विशेषताएँ उभर आती हैं—

१-३. अभिलाष माधुरी—पृ० २७०, ९२, २७१
४. ब्रजमाधुरी सार—पृ० २७१
५. अभिलाष माधुरी—पृ० ९४

विक्रम की १९वीं शताब्दी से पूर्व ब्रज एवं अवधी भाषा की कविता के समान खड़ीबोली-कविता का वर्ण्य-विषय भी जीवन के भौतिक पक्ष से दूर अध्यात्म और भक्ति तक ही सीमित रहा। अमीर खुसरो को छोड़कर समस्त संत तथा भक्त-कवियों ने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य जैसे पुरातन तथा परम्परायुक्त विषयों को पद्यबद्ध किया था। कदाचित् रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य का ही प्रभाव था कि परवर्ती खड़ीबोली-कविता के आलम्बन भी राधा-कृष्ण हुए। दो-एक कवियों ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगारपरक भावनाओं की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त प्रेम (इश्क) पर भी फुटकर रचना की; इसमें 'इश्क' के विविध पक्षों के साथ आशिक-माशूक की प्रवृत्ति और स्वभाव-परिणति का भी सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया गया। ऐसे स्थलों पर फ़ारसी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। साथ ही भावानुकूल भाषा में भी सहज परिवर्तन आ जाने के कारण अभारतीयता की छाप और भी गहरी हो गई है।

प्रायः सभी कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए जन-प्रचलित बोलचाल की भाषा के तत्कालीन स्वरूप को अपनाया है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक समस्त काव्य-साहित्य की भाषा सरल, प्रकृत एवं मिश्रित रूप में उपलब्ध होती है। भाषा का व्याकरण-सम्मत परिनिष्ठित रूप किसी कवि की कृति में नहीं मिलता। स्थान-भेद, काल-भेद और कवि विशेष के रुचि-भेद से प्रभावित खड़ीबोली किस प्रकार विभिन्न रूप धारण करती रही यह पद्माकर भट्ट, प्रतापसिंह देव 'ब्रजनिधि', शाह आलम सानी, सीतल प्रभृति समसामयिक कवियों की रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसलिए इस युग की कविता का आलोचनात्मक अध्ययन उसके अभिव्यंजना-सौंदर्य से अधिक उसकी भाषा के विकास पर प्रकाश डालता है।

वृन्दावन जैन के सिवाय अधिकांश कवियों की रचनाओं में संस्कृत-शब्दों की अपेक्षा फ़ारसी-अरबी के तत्सम और तद्भव शब्द अनुपात में अधिक हैं। अन्य भाषाओं के शब्द-प्रयोग में ब्रजभाषा के शब्द सर्वाधिक हैं। प्रारम्भिक कृतियों में तो अव्यय, कृदन्त, सविभक्तिक सर्वनाम तथा कोमल वर्ण-योजना भी ब्रजभाषा के अनुकूल हुई है। भाषा की मूल आकारान्त प्रवृत्ति के साथ शब्दों की बनावट, सहायक क्रियाओं का मेल तथा कारक-चिह्नों के प्रयोग में बोलचाल का रूप ही सर्वत्र मिलता है। भावानुकूल फ़ारसी पद-पदांश भी लगभग सब कवियों ने स्वेच्छा से अपनाये हैं; यद्यपि विषय प्रायः भारतीय रहने से उन्हें ऐसी स्वच्छन्दता के लिए अवकाश कम ही मिला है। भाषा की मुहावरेदानी इस युग की एक और विशिष्टता है जो १८-१९वीं शती तक आते-आते ब्रजनिधि की रचनाओं में अत्यन्त विकसित रूप को प्राप्त हुई। खड़ीबोली में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग उसके जन-प्रचलित स्वरूप के साथ उसकी परिपक्वता एवं लाक्षणिक शक्तिमत्ता का भी परिचय देता है।

खड़ीबोली पर अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू, बोलचाल तथा ब्रजभाषा जैसे विरोधी तत्त्वों के प्रभाव के कई कारण अनुमानित किए जा सकते हैं। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी तक हिन्दवी, हिन्दुई, रेखता आदि विभिन्न नामों से व्यवहृत खड़ीबोली पर शासन, नीति, धर्म और संस्कृति ने मुहर नहीं लगाई थी। उस समय तक हिन्दू कवि और मुसलमान शायर दोनों ही प्रचलित लोक-भाषा में समान रूप से स्वेच्छया काव्य-सृजन करते थे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सौदा, नज़ीर आदि उर्दू-फ़ारसी के प्रसिद्ध शायरों ने अर्जुन, कृष्ण, इन्द्र, होली,

दीवाली आदि भारतीय विषयों को अपनी शायरी में स्थान दिया उसी प्रकार नागरीदास, सीतल जैसे हिन्दू कवि भी आशिक, माशूक, इश्क आदि को रेखता-बद्ध करते रहे। यद्यपि प्रयोग-भेद से 'शेर' और 'कविता' की भाषा में थोड़ा-बहुत स्वरूप-भेद हो गया था किन्तु दोनों के पृथक्-पृथक् व्याकरण के अभाव में खड़ीबोली अब तक निश्चित रूप में दो विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित नहीं हुई थी। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द, अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू, फ़ारसी के वाक्यांश आदि का सन्निवेश नितान्त प्रकृत रूप में होता था। इस प्रकार के विविध प्रयोग कवि की जागरूक चेष्टा के परिणाम न थे। इनके अतिरिक्त प्रारम्भिक कवियों की रचनाओं पर ब्रजभाषा के प्रचुर प्रभाव का कारण भी स्पष्ट है। खड़ीबोली के अधिकांश कवि ब्रजभाषा के रस-सिद्ध कवि थे। नागरीदास, ललितकिशोरी जैसे कवियों का तो आधा जीवन ब्रजभूमि में व्यतीत हुआ था। अतः ब्रजभाषा का प्रभाव इनकी कविता पर पड़ना अनिवार्य था। कदाचित् इसीलिए ब्रजभाषा का यह प्रभाव खड़ीबोली के विकास के साथ कालान्तर में क्षीण तो होता गया किन्तु सर्वथा लुप्त कभी न हो सका।

आलोच्य काव्य में अर्थ-व्यंजकता अथवा भाषा-सौष्ठव के लिए काव्य-शिल्प का उपयोग नहीं हुआ। इसमें वर्ण-विन्यास-वक्रता-विधायक यमक-अनुप्रास आदि शब्दालंकार, संश्लिष्ट-योजनात्मक-चित्र-विधायक उपमान, गेयता लाने वाली ध्वन्यात्मक शब्द-रचना, और अनुभूति में तीव्रता एवं प्रखरता का सन्निवेश करने वाले प्रतीक कहीं नहीं मिलते। अधिकांश कवि इस प्रकार के काव्य-कौशल-प्रदर्शन के प्रति सर्वथा उदासीन रहे। सच तो यह है कि सीतल जैसे एक आध कवि के अतिरिक्त शेष कवियों की रचना में अलंकार-योजना भी नगण्य ही रही। प्राप्त अलंकार-विधान में भी किसी सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण नहीं हुआ। इसलिए कहीं तो अलंकरण ब्रजभाषा-साहित्य के रूढ़िग्रस्त, परम्परा-विहित उपमानों के आश्रित रहा और कहीं फ़ारसी-साहित्य से प्रभावित विदेशी उपादानों से अभिभूत बना रहा। एक ही कवि ने कहीं अपने इष्ट राधा-वल्लभ के नयनों को खंजन की, अधरों को विम्ब फल की उपमा दी है, और कही राधा को 'रायज़ादी' और कृष्ण को 'साहब' बना दिया है ; तदनुसार उनकी आँखें बादाम और नर्गिस सी, लब अंगूरे- शीरी और काकुल साँप जैसे वर्णित किए गए हैं।

शब्दों की प्रेषणीयता, अर्थ व्यंजकता आदि विविध गुणों की सम्यक् परीक्षा करने पर लाक्षणिक चापल्य या व्यंजना शक्ति की समृद्धि का भी कोई प्रयत्न नहीं मिलता। भाषा में मुहावरे-लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण लाक्षणिकता का सन्निवेश हो जाना सहज स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त भाषा निरलंकृत एवं सरल होने के कारण प्रसादगुण सम्पन्न अवश्य है। अनुभूति की प्रखरता के साथ खड़ीबोली में जहाँ गांभीर्य आया है वहाँ वह ब्रजभाषा का अंचल पकड़ती हुई दिखाई पड़ती है। ऐसे स्थलों पर भाषा में जो मार्दव आ गया है वह भाषा का सहज गुण कदापि नहीं कहा जा सकता।

अभिव्यंजना-बाधक इन तत्त्वों के होते हुए भी इस काल की खड़ीबोली-कविता को काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वथा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह नहीं कि इन कवियों में काव्य-कौशल की क्षमता न थी वरन इन्होंने अपनी खड़ीबोली-कविता के काव्य-शिल्प पर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। वस्तुतः ये कवि लावनी, झूलना, ख़याल, तुर्रे आदि

लोक-साहित्य में प्रयुक्त खड़ीबोली, फ़ारसी-ईरानी विचारधारा से अनुप्राणित उर्दू-प्रधान खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा साहित्य की भावधारा के आश्रय में पलती हुई खड़ीबोली के तीनों रूपों से तटस्थ न रह सके। घुटनों चलती और तुतलाती हुई खड़ीबोली ने इनके हाथों चलना सीखा। लोक-साहित्य में जिस प्रकार यह भाषा प्रकृत रूप में निराभरण रही और उर्दू साहित्य में फ़ारसी-ईरानी लिवास और ज़ेवरात से आरास्ता होकर आई उसी प्रकार इन कवियों की छत्रछाया में यह अनायास ही भारतीय वस्त्राभरणों से भी अलंकृत हुई।

पाँचवाँ अध्याय

भारतेन्दु युग (सं० १९००-१९४२)

भारतेन्दु युग से पूर्व 'खड़ीबोली-काव्य' का अपना स्वतन्त्र स्थान है और उसके पीछे कई शताब्दियों की लम्बी काव्य-परम्परा का इतिवृत्त है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि खड़ीबोली की प्रतिष्ठा काव्य-भाषा के स्वीकृत माध्यम के रूप में उन्नीसवीं शती से पूर्व हो चुकी थी। जैसा कि सर्व विदित ही है कि विक्रम की १९वीं शती के मध्य तक खड़ीबोली-गद्य का समुचित प्रचार एवं प्रसार होने पर भी पद्य-रचना के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त माध्यम समझा जाता था। यथार्थ में खड़ीबोली को गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में काव्य-रचना की समर्थ भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को ही है। भारतेन्दु स्वयं तो काव्य-रचना के लिए ब्रजभाषा को ही अपनाते रहे परन्तु उन्होंने खड़ीबोली की उपेक्षा नहीं की। उनके कतिपय समसामयिक तथा परवर्ती साहित्यिकों ने तो खड़ीबोली में काव्य-रचना करके पद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली के पैर जमाने का श्लाघ्य प्रयत्न भी किया। किन्तु आश्चर्य यह है कि फिर भी इस युग में सर्वतोभावेन खड़ीबोली को समर्थ काव्य-भाषा का पद प्राप्त न हो सका। वास्तव में प्राचीन परम्परा के पोषक ब्रजभाषा-प्रेमियों का प्रबल एवं विरोधी स्वर इसका प्रमुख कारण था। ईसा की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में काव्य-माध्यम को लेकर साहित्य-प्रेमियों में किस प्रकार विवाद ठना तथा ब्रजभाषा और खड़ीबोली-समर्थकों के दो विभिन्न दल बने इसका संक्षिप्त विवरण हम 'खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त इतिहास' शीर्षक अध्याय में दे चुके हैं।

भारतेन्दु युग में खड़ीबोली को गद्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने वाले कारण अव्यक्त रूप से शनैः शनैः पद्य-क्षेत्र को भी प्रभावित करने लगे। कदाचित् इसीलिए इस युग के लेखक तथा कवि क्रमशः ब्रजभाषा से हटकर खड़ीबोली की ओर उन्मुख दृष्टिगत होते हैं। यहाँ यदि एक ओर कवि के लिये खड़ीबोली का आकर्षण सक्रिय था तो दूसरी ओर उसे निष्क्रिय रूप से ब्रजभाषा की कृत्रिमता तथा वर्ण्य-विषय की संकीर्णता ब्रजभाषा-क्षेत्र से हटाने में क्रियाशील थी। अतएव नव-चेतना से प्रेरित नूतन उद्गारों का गायक कवि खड़ीबोली के समीप खिंचता चला गया।

वस्तुतः रीति युग के अन्तिम चरण (सं० १८५०-१९००) का साहित्य वर्ण्य-विषय

में पुरातन परम्परा के पिष्टपेषण तथा कलागत पच्चीकारी या शिल्प की अतिरंजना से इतना सीमित और रूढ़िगत हो गया था कि उसमें नूतन भावाभिव्यक्ति के लिए कहीं अवकाश ही शेष न था। उस काल की ब्रजभाषा एक ही तरह की अभिव्यंजना का बोझा ढोते-ढोते एकरस प्रतीत होने लगी थी। नूतन युग की चेतना से प्रबुद्ध नवयुवक को एक ओर अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य की समृद्धि आकृष्ट कर रही थी और दूसरी ओर अपने साहित्य की एकांगिता तथा भाषा-विषयक उदासीनता मन को क्षुब्ध बना रही थी। इस सम्बन्ध में उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में टीका-टिप्पणी आरम्भ हुई। इसके समर्थन में 'बिहार बन्धु' नामक समाचारपत्र में प्रकाशित निम्न अवतरण पठनीय है, "हिन्दी के प्राचीन कवि अपने समय की भाषा में रचना करते थे और केवल कविताई पर ध्यान देते थे। भाषा पर उनका कुछ भी ध्यान न था। उनकी रचना का क्यों कर अन्वय होगा, किसी पद का व्याकरण से कौन-सा रूप बनाया जाएगा इसका उनको भान ही न था। जैसा वाक्य मुख से निकला वैसा ही लिख दिया। दीर्घ को ह्रस्व कर दिया, युक्ताक्षर को असंयुक्त और असंयुक्त को युक्त बना दिया, जो किसी विभक्ति ने कुछ गड़बड़ किया तो उसे भी उड़ा दिया।"[१]

भारतेन्दु-युग के कवियों की यह स्वच्छन्दता भाषा के विषय में ही नहीं अपितु अलंकार, शक्ति, गुण, जैसे सौन्दर्य-विधायक उपादानों के प्रयोग में भी दृष्टिगत होती है। इसका एक कारण है। इन कवियों से पूर्व केशव, देव, बिहारी, मतिराम आदि रीतिकालीन कलाकार अभिव्यंजना-शिल्प द्वारा अभूतपूर्व काव्य-प्रणयन कर चुके थे। रीति-शृंगार-पूर्ण रचनाओं की मनोरम कारीगरी, सुन्दर एवं रंग-बिरंगी नक्काशी और पच्चीकारी को देखकर दर्शक दंग रह जाता है। आश्चर्य नहीं कि रीतियुग में पिछले खेवे के कवियों तक के लिए इस क्षेत्र में विलक्षण और मौलिक उद्भावना या कथन-शैली के नवीन प्रकार के लिए अवकाश न रहा। वे कवि खंजन, चकोर, कामदेव के नगाड़े, काम के गुम्बद, सेवार, त्रिवेणी, कदली, काम-सरोवर, तारे, चन्द्रमा, सूर्य, भँवर, प्रवाल, हंस आदि परम्परा-प्राप्त गिने-चुने उपमानों एवं प्रतीकों की सहायता से ही विविध रंग के काव्य-चित्र बनाते रहे थे। बात यहीं तक सीमित रहती तो भी गनीमत थी। परन्तु उन्होंने कला की सीमाओं का उल्लंघन कर, कविता को अलंकृत करने का साग्रह एवं सचेष्ट प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि उनके काव्य में कृत्रिमता और एकरसता बढ़ती गई। शब्द-चमत्कार के मोह से तथा बाह्य-प्रसाधनों से भाराक्रान्त काव्य में प्रतिपाद्य विषय इतना दब गया था कि न केवल अभिव्यंजना-सौन्दर्य श्रीहत हुआ अपितु अभिव्यंग्य भी नगण्य सा रह गया। कुछ कवियों की नायिका तो 'जौहरी की दूकान' ही बन गई। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में, "क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभी कुछ रूढ़ि से जकड़ गया, संजीवनी शक्ति टिकी भी रहती तो किस आधार पर ?"[२]

इस प्रकार नैतिकता के आवरण—राधाकृष्ण—में ऐन्द्रिय वासना को तृप्त करने वाले स्थूल उपकरणों का अत्यन्त अलंकारमयी भाषा में नग्न एवं स्थूल चित्रण ही उस युग

१. द्रष्टव्य—बिहार बन्धु, १६ दिसम्बर, सन् १८८६ ई०
२. आधुनिक काव्यधारा, पृ० ११—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल

की विशेषता बन गई। शृंगार के इस आतिशय्य के कारण ब्रजभाषा इतनी कोमल, मधुर और मसृण हो गई थी कि उसमें युग की नवचेतना से उद्‌बुद्ध ज्ञान-विज्ञान, विभिन्न धार्मिक आन्दोलन, समाज, देशभक्ति आदि विविध विषयों की अभिव्यक्ति संभव ही न रही। कदाचित् इसीलिए भारतेन्दु युग के अधिकांश कवि प्राचीन विषयों पर तो ब्रजभाषा में सफलतापूर्वक लिख सके किन्तु युग-चेतना से उद्दीप्त नवीन विषयों पर रचित उन्हीं की ब्रजभाषा-कृतियों में न तो काव्योचित लालित्य है और न अभिव्यंजना का सौष्ठव। इन रचनाओं में प्रायः देश-भक्ति, समाज-सुधार, अतीत-गौरव का गान आदि नवीन विषयों का यथातथ्य एवं इति-वृत्तात्मक वर्णन ही उपलब्ध होता है। ब्रजभाषा में भाव और भाषा के ऐसे असामंजस्य के कारण सम्भवतः 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और नवीन विषयों के लिए, ब्रजभाषा की इस अनुपयुक्तता को देखकर ही शायद भारतेन्दु तथा उनकी मित्र-मण्डली ने 'साधु भाषा' में लिखने का सजग प्रयत्न किया था।

भारतेन्दु तथा उनके युग के खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना

हिन्दी साहित्य में रीति और नवीन युग के इस सन्धि-स्थल पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १६०७-१६४२) तथा उनके सहयोगी लेखक उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सं० १६१२-१६७६), प्रतापनारायण मिश्र (सं० १६१३-१६५१), तथा अम्बिकादत्त व्यास (सं० १६१५-१६५७) का नाम खड़ीबोली-काव्य-परम्परा के प्रमुख उन्नायकों में लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त बा० अयोध्याप्रसाद खत्री के 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह में राय सोहनलाल, महेशनारायण तथा लक्ष्मीप्रसाद मौजे की भी कुछ कविताएँ संकलित हैं। उल्लिखित कलाकारों द्वारा प्रणीत खड़ीबोली-काव्य में उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत रचनाओं को छोड़कर शेष काव्य कलेवर में अत्यल्प है। दूसरे, अधिकांश रचनाएँ वस्तु-निष्ठ होने के कारण अभिव्यंजना-सौष्ठव की दृष्टि से प्रायः श्रीहीन हैं। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में आलोच्य काव्य का पर्यालोचन समवेत रूप से ही किया गया है।

वर्ण्य-विषय—पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के रीति-युग तक खड़ीबोली-कविता का वर्ण्य-विषय भी ब्रजभाषा-साहित्य के समान शृंगार (इश्क) तथा भक्ति-वैराग्य तक सीमित रहा। नवयुग में विदेशी शासन स्थापित होने के साथ-साथ भारतीयों का विदेशी भाव, विचार तथा संस्कृति से सम्पर्क बढ़ा। इस सम्पर्क से नवयुवक कवि के मन में भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को लेकर संघर्ष एवं सामंजस्य की भावना उदित हुई जो इस युग के नूतन काव्य में प्रतिध्वनित हो उठी। अतः साहित्य के अन्य अंगों की तरह खड़ीबोली-काव्य भी शृंगार (इश्क), भक्ति और वैराग्य की संकीर्ण परिधि से निकल कर जीवन और जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित करता लक्षित होता है। नव कवि ने साहित्य में इन नूतन प्रवृत्तियों का स्वागत तो किया किन्तु फिर भी प्राचीनता का पोषक एवं पुजारी बना रहा। अतएव खड़ीबोली-काव्य में एक ओर शृंगार (इश्क), धर्म, नीति और वैराग्य समन्वित काव्य का विकास हुआ तथा दूसरी ओर देशभक्ति

और उससे संलग्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त नूतन काव्य का जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में, इस युग के काव्य की विशेषता उसकी विषयगत व्यापकता में निहित है।

आलोच्य काव्य में 'दशरथ विलाप' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), 'शकुन्तला' 'कंसवध' 'कृष्णरस' 'उपदेश के कवित्त' 'नीति के दोहे' (अम्बिकादत्त व्यास), 'संगीत शाकुन्तल' नाटक के कुछ पद 'दयामय प्रभु' 'लोकोक्ति शतक' (:७वाँ पद) 'झूठे झगड़ों से मेरा पिण्ड छुड़ाओ' (प्रतापनारायण मिश्र) के अतिरिक्त भारतेन्दु कृत 'प्रेम तरंग', 'प्रेम प्रलाप,' 'विनय प्रेमपचासा' के कतिपय स्फुट पद, प्रेमघन कृत 'संगीत काव्य' के कुछ गेय पद तथा प्रतापनारायण मिश्र की हिन्दी ग़ज़लों का विषय, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य है। साथ ही, इनमें कृष्ण-प्रेम, गोपी-विरह, संसार की असारता, होली आदि धर्म एवं संस्कृति के विविध पक्षों का विवेचन है। देशभक्ति-प्रधान काव्य में 'प्रेमघन' कृत 'आनन्द अरुणोदय' (सं० १९४३) 'अधिकार धाराधर' (१९६४) 'देशद्रोही की दुतकार' (सं० १९६४) आदि कविताएँ प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं। उर्दू-फ़ारसी की विदेशी शैली के अनुकरण पर प्रेमघन कृत 'मन की मौज' (सं० १९४४) तथा प्रतापनारायण मिश्र विरचित 'मन ही लहर' शीर्षक रचनाओं की सृष्टि हुई, जिनका प्रतिपाद्य विषय इश्क है। बाबू महेशनारायण का 'स्वप्न' (सं० १९३८) बेमेल विवाह पर तीक्ष्ण व्यंग्य है जो समाज-सुधार की आवश्यकता की ओर भी संकेत करता है। इनके अतिरिक्त प्रेमघन की 'मयंक महिमा' अम्बिकादत्त व्यास की 'प्रातःकाल' 'कमल' 'उष्णकाल' 'सन्ध्या' 'अँधेरी रात' 'चाँदनी रात' 'वर्षा' 'वर्षा की नदी' और भारतेन्दु कृत 'बरसात' आदि रचनाओं में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है। 'हिन्द में सतयुग का समाँ' 'पतंग' 'सोने और ढोल की दो-दो बातें' 'चाँदनी का समाँ और उसके नूर की झलक' (राय सोहनलाल) 'अब क्या है?' 'नागरी' 'चाहे गाना समझो चाहे रोना' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर शोकाश्रु' (प्रतापनारायण मिश्र) 'नीति के दोहे' (अम्बिकादत्त व्यास), 'नागरी भाषा' 'चरखे की चमत्कारी' (प्रेमघन), आदि कविताओं का विषय सर्वथा तत्कालीन समस्याओं का प्रतिबिम्ब है।

अम्बिकादत्त व्यास ने महाकवि कालिदास कृत शाकुन्तलम् के प्रथम अंक के अनुवाद (शकुन्तला) द्वारा खड़ीबोली-साहित्य में नवीन मार्ग का उन्मेष किया। लक्ष्मीप्रसाद मौजे का 'योगी' (सं० १९३३) गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' की प्रतिच्छाया है। मौजे जी को इस अनुवाद की प्रेरणा कदाचित् बंगला के प्रसिद्ध कवि रंगलाल द्वारा अनूदित 'हरमिट' रचना से मिली थी जो १८६० ईस्वी में 'प्रभाकर' संवाद में प्रकाशित हुई थी। महाकाव्य की दृष्टि से 'कंसवध' (दूसरा सर्ग—अम्बिकादत्त व्यास) भी उल्लेखनीय है। प्रतापनारायण मिश्र का 'संगीत शाकुन्तल' स्वयं लेखक के अनुसार गीतिकाव्य की कमी पूर्ण करने का प्रयास है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "हरिश्चन्द्र काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचक में पड़कर ही करते

थे।"[1] स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग के सब कवियों का ध्यान 'भाषा-प्रवाह' पर केन्द्रित था। जिस प्रकार उन्होंने साहित्य को जन-जीवन से चिर सम्पृक्त करने का प्रयत्न किया, भाषा का रूप भी उसी प्रकार विषयानुकूल उपस्थित किया। इसीलिए ज्ञान और वैराग्य सम्बन्धित पदों की भाषा कबीर, नानक, तुलसीसाहब आदि के समान 'सधुक्कड़ी' खड़ीबोली है। 'इश्क' विषयक रचनाएँ उर्दू-प्रधान बोलचाल की भाषा में हैं। देशभक्ति, धर्म और नीति के पद अधिक साधु एवं गंभीर भाषा में लिखे जाने के कारण अपेक्षाकृत संस्कृतनिष्ठ हैं। हाँ, एक सामान्य गुण खड़ीबोली के सब रूपों में विद्यमान मिलता है। वह यह कि इस युग की काव्य-भाषा पर उर्दू, व्रजभाषा तथा प्रांतीय भाषा-शब्दों का न्यूनाधिक प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। परिणामस्वरूप भाषा में सामान्यतया बोलचाल के रूप का ही प्राधान्य उपलब्ध होता है। अधिकांश कवियों ने भाषा को परिनिष्ठित रूप प्रदान करने की चेष्टा नहीं की है। इसलिए प्रायः सभी कवियों में भाषा-सम्बन्धी अनेक दोष पाए जाते हैं, यथा स्वेच्छा से स्वर-व्यंजनों का घटाना, बढ़ाना, शब्दों का अंगभंग करना तथा संज्ञाओं का क्रियारूप में परिवर्तित कर देना आदि। साथ ही उन्होंने विभक्तियाँ हटाने के लिए मनमानी सन्धियाँ भी कर डाली हैं; उदाहरणार्थ, ठैराऊँ, दर्या (दरिया), भौरों (भँवरों), दुनिये (दुनिया), अनूपम, विधि, सीर (सिर), मूं (मुँह), व (वह), य (यह), विद्देशी, विविधि, तितिली, विलम (विलम्ब), विषद, हमरोही, अनगन (अनगिनत), ए (है), असिल (असली), चतुरे (चतुर), अनन्द, छवी, सम, कल्ल, उलझेड़ा, कर्ने (करने), इस्से, उस्से, उस्को, जिस्से, तिस्पर, सुन्ने, व्याप (व्याप्त), नेंव (नींव), घन (घना), बले (बला से), दुनिये (दुनिया में) आदि। उपेक्षालस, उचितादेस, औवलौ (अव्वल औ), नौमैदवारी (नाउम्मेदवारी) जैसी शब्द-सन्धियों के साथ विस्तारो, प्रगटाये, लखाते, प्रचारो, हरसाना, चितते (?) नसाता आदि जैसे क्रिया-रूप भी मिल जाते हैं। साथ ही कौऊ, इसै, उसै, क्यों, सरमाना, बास, विनसाना, दीठ, भाठ, ल्याया, बगराना, थिर, जोई, बौराई, देखत, बनि, पतियाना, अवसरहि, सर्वस, बीजुली, पै, प्रान, माया, उलेल, ग्रीखम, ऊँझट (?), कुआँट (?), उनकल, तिउरी आदि जैसे प्रान्तीय शब्द-प्रयोगों में भाषा लड़खड़ाती चलती है।

इनके अतिरिक्त खड़ीबोली और उर्दू अब तक एक ही भाषा के रूप में विकसित होती आ रही थीं, इसलिए 'य', 'व', 'सेती', और, आदि प्रयोग खड़ीबोली-क्षेत्र में भी विदेशी नहीं समझे जाते थे। अम्बिकादत्त व्यास ने तो उसे खड़ीबोली का स्वाभाविक गुण मानते हुए कहा था—"खड़ीबोली की कविता में 'यह' को 'य' और 'पर' को 'पै' हो सकता है।"[2] अतः अधिकांश कवियों की भाषा में यह आग्रह इस सीमा तक लक्षित होता है कि कहीं-कहीं निष्प्रयोजन ही शब्द हलन्त कर दिए गए हैं:—

डपट् रही है वहाँ भी लूह की वह् लपट् कड़ी ॥[3]

कहीं-कहीं संस्कृत वृत्तों को अपनाने के कारण शब्दों का अंग भंग भी मिलता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२—पं० रामचन्द्र शुक्ल

२-३. साहित्य नवनीत, पृ० ३६, ६० फुटनोट—पं० अम्बिकादत्त व्यास

लूट रहे हो भली तरह मैं जानूँ बले छुपाऊँ—(बला से)[१]

'मन की मौज'—प्रेमघन

अजी डाक्टर साहब अक्ल तुमारी देख डराऊँ—(डर जाऊँ)[२]

'मन की मौज'—प्रेमघन

पड़ी निशाकर पर जब आकर अचांचक आँखें मेरी[३]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

निज निज धर्माचरण यथाविधि करो कपट छल त्यागी (त्याग कर)[४]

'आनन्द अरुणोदय'—प्रेमघन

बच्चे सोलाये हैं तो भी रो रो पड़ते हैं बार बार।[५]

'उष्णाकाल'—अम्बिकादत्त व्यास

कहो तो आजी होवे यहाँ सजाव—(आज ही)[६]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

दुष्कर्म कोटि कर्ने से नहीं डरता है—(करने)[७]

'झूठे झगड़ो से मेरा पिण्ड छुड़ाओ' —प्रतापनारायण मिश्र

मुझे सूना दिखाता है जमाना,
कहीं भी अब नहीं मेरा ठिकाना (दिखाई देता है)[८]

'दशरथ विलाप'—भारतेन्दु

इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा तथा प्रान्तीय बोलियों के प्रभाव का कारण भी स्पष्ट है। भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम अब भी ब्रजभाषा थी। यद्यपि ये कवि साहित्य में गद्य और पद्य के लिए पृथक्-पृथक् भाषाओं के अनौचित्य को समझते थे तथापि वे ब्रजभाषा के विशाल साहित्य, उसके ऐतिहासिक महत्व, व्यापकता एवं सरसता की सहज ही उपेक्षा न कर सके। स्वभावतः कवि की ओर से भाषा को स्वच्छ तथा निर्मल रखने का विशेष आग्रह न होने के कारण प्रान्तीय शब्द वेधड़क आते चले गये। इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य प्रयोगों की भी कमी नहीं है, यथा :—

लिंग दोष

काली जखम कलेजे ऊपर[९]

'मन की मौज'—प्रेमघन

चौंक किनारे लम्बी एक दलान[१०]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

१—४. प्रेमघन सर्वस्व—पृ० १६१, १६२, ४०२, ३७६
५-६. साहित्य नवनीत—पृ० ६०, ६२
७. प्रताप लहरी—पृ० ८५
८. खड़ीबोली का पद्य—पृ० १३
९. प्रेमघन सर्वस्व—पृ० १८६
१०. साहित्य नवनीत—पृ० ६२

कारकचिह्न-दोष

झख मारेंगी फुलवारी की लता इनों के आगे[1]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

प्रकृति सिद्ध सुन्दरता है इन अंग[2]

'शकुन्तला'—अम्बिकादत्त व्यास

हजार आशिक अपने ही से जब मैं उसको पाऊँ[3]

'मन की मौज'—प्रेमघन

वचन-दोष

जगा जो मैं गोविन्द नाम, श्रोताजन आलस खोता था[4]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

इक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तू नहिं सुनता है[5]

'प्रेम प्रलाप'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

संज्ञा (भाववाचक)

बिखरी विविधि सनातन धर्म्मी सम्प्रदाय की एकी[6] (एकता)

'आनन्द अरुणोदय'—प्रेमघन

शोभा सब संचि विरंचि मनोहरताई[7]

'लावनी'—प्रेमघन

अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होने के कारण एकाध स्थल पर 'असमर्थ' दोष आ गया है :—

बँद कोई ऐसा नहिं जिस्में दिल की सैन बुझाऊँ।[8]

'मन की मौज'—प्रेमघन

यहाँ 'समझाने' अथवा बताने के अर्थ में बुझाऊँ (बूझनि) शब्द का प्रयोग किया गया है। कतिपय स्थलों पर आवश्यक विभक्ति-चिह्नों के अभाव में अभीष्ट अर्थ का अध्याहार न हो सकने से न्यूनपदत्व दोष आ गया है, जैसे—

शची देवि (के) सिर (पर) सीस फूल सा कैसा चित चुराया है।[9]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

छन्द के पूर्वार्द्ध वाक्य के कुछ भाग का छन्द के उत्तरार्द्ध में होना 'अर्थान्तरैकवाचक' दोष कहलाता है। यह दोष 'प्रेमघन' की रचनाओं में सबसे अधिक मिलता है :—

१-२. साहित्य नवनीत—पृ० ६२, ४३

३-४. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० १६२, ४०२

५. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० २६६

६-७. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ३७७, ४७६

८-९. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—१८६, ४०४

कोई कहती जुता हुआ मृग, विधु रथ में शोभाशाली ।
की है दिखलाती परछाहीं, पड़ी हुई उसमें काली ।।[1]
नव दल फल फूले फूलों से दबकर द्रुमदल मन मोहे ।
लेते थे मानो है लगी कनात हरी उनकी अवली ।।[2]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

उपयुक्त स्थान पर पद-प्रयोग न होने से 'अस्थान पद-दोष' के उदाहरण भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं :—

तुरत जलज रज जुगल चरन की उस्को शीश चढ़ाऊँ ।[3]

पद होना चाहिये था—'तुरत जुगल जलज चरन की रज को सीस चढ़ाऊँ ।' भाषा-सम्बन्धी ऐसी लापरवाही के कारण दूरपदान्वय दोष तो आया ही, वाक्य भी शिथिल हो गए हैं, देखिए—

चन्द्रलोक भी इस पृथ्वी के समान ही है हुआ बना ।[4]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

कृष्ण तुम्हारे बाबा, हैं व्रजराज,
हम लोगों की आज्ञा, सब को माथ ।
मल्ल युद्ध में चतुरे कितने गोप,
कौतुक करने वाले हैं सरनाम ।।[5]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

आज अमावस की है रजनी तिस पर आये बादल ।
कोई तारा भी नहीं, नभ में टिमटिम करते देखा ।।[6]

'वर्षा'—अम्बिकादत्त व्यास

हाँ, जहाँ भाषा इन दोषों से सर्वथा मुक्त है वहाँ रचना में कसावट आ गई है और विषयानुकूल खड़ीबोली विविध रूपों में अपनी छटा दिखाती लक्षित होती है। जैसा कि पहले भी कह आये हैं प्रत्येक कवि की रचनाओं में प्रसंगानुकूल सब प्रकार का भाषा मिश्रण मिलता है। वह भावानुकूल कहीं संस्कृत-प्रधान है, कहीं उर्दू से प्रभावित है और किसी स्थल पर बोलचाल का पुट अधिक आ गया है। निम्न उदाहरण हमारे कथन की पुष्टि करेंगे—

बोलचाल-प्रधान भाषा

बुरा चहे कितनहूँ लगे, सुन शरबत सा पी जाऊँ
तिरछी तिउरी देख तुम्हारी क्योंकर सीर नवाऊँ
हो तुम बड़े खबीस जानकर अनजाना बन जाऊँ ।[7]

'मन की मौज'—प्रेमघन

१-४. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४११, ४०६, १८६, ४१२
५-६. साहित्य नवनीत—पृ० ६५, ९०
७. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० १८६

क्यों बे क्या करने जग में तू आया था क्या करता है।
गरभबास की भूल गया सुध मरनहार पर मरता है।
खाना, पीना, सोना, रोना और विषय में भूला है।
यह तो सूअर में भी है तू मानुस बनि क्या भूला है॥[1]

'विनय प्रेम पचासा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

समझें सबको सब भाई, सबके सब होंय सहाई।
निज धर्म भली विधि जानें निज गौरव को पहिचानें।
आग्रह अनैक्य को छोड़ें, मुख भेड़ चाल से मोड़ें।
स्त्री गण को विद्या देवें, करि पतिव्रता यश लेवें॥[2]

—प्रतापनारायण मिश्र

उर्दू-प्रधान भाषा

बंसी बजा के हम को बुलाना नहीं अच्छा।
घर बार को यों हमसे छुड़ाना नहीं अच्छा।
करना किसी पै रहम इक अदना सी बात पर।
मुतलक किसी पै ध्यान न लाना नहीं अच्छा॥[3]

'प्रेम तरंग'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

नामवरी पर लानत है उस नाम पै जो बदनाम न हो।
किसी काम का नहीं है, इश्क से गर नाकाम न हो।
पूजा पाखण्ड निरा हर घड़ी जो उसका ध्यान नहीं।
कुफ्र है मजहब, अगर उस पर सच्चा ईमान नहीं॥[4]

'लावनी'—प्रतापनारायण मिश्र

सब्जे का बना था शामियाना।
औ' सब्जे ही मखमली बिछौना।
फूलों से बसा हुआ वह था कुंज।
था प्रीत मिलन के योग्य वह कुंज॥[5]

'स्वप्न'—महेशनारायण

संस्कृत-प्रधान भाषा

मेचक चिकुर पुंज रजनी के, मध्य मंजु मन भाता है।
रमा रुचिर विधु वदन चाँदनी, मिस मानो मुसकाता है।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० ५५३
२. प्रताप लहरी—पृ० १६०
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० २०६
४. प्रताप लहरी—पृ० १६६
५. खड़ीबोली का पद्य—पृ० १८-१६

जिसका चारु चकोर चक्रधर, चकित लालची लोचन से।[1]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

कर्षक के उत्साहक दाहक आश्चर्य है जवासा के।
शुण्डादण्डोद्दण्डित, छाये अति चंड दीर्घ दिग्गज से।
पर्वत गर्व निवारक, लूम रहे हैं अखर्व रूप धरे॥[2]

'वर्षा'—अम्बिकादत्त व्यास

सुसौन्दर्य जो पुष्प का सत्व है, सुआनन्द जो प्रेम का तत्व है।
कि जिसका यही सत्य आकार है, उसे ही हमारा नमस्कार है॥[3]

'ईश विनय'—प्रतापनारायण मिश्र

शर के घाट पर्वत के एक समान दिखाते हैं।
बड़े-बड़े ऊँचे वृक्षों के पत्र दृष्टि नहिं आते हैं।
नदी श्वेत रेखा-समान सब अभी दिखाई देती है।
किसी भाँति ध्वनि किसी ओर से नहीं सुनाई देती है॥[4]

'संगीत शाकुन्तल'—प्रतापनारायण मिश्र

मुहावरे-कहावतें—काव्य-भाषा में बोलचाल का प्राधान्य होने के कारण मुहावरों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। गले लगाना, ठानना, भर पाना, चितचूर रहना, जी जलना, हिय हरना, मनमाना, रंग जमाना, लोट-पोट होना, टूट पड़ना, रंग लाना, वारी जाना, दिन चार बसेरा, सिर धुनना, आँख की पुतली, छाती में आग लगना, कमर टूटना, मति बौराना, बुढ़ापे की लकड़ी, मुँह काला करना, आँख लगना, जले पर निमक डालना, पलक लगना, खाक में मिलना, भेड़चाल, चौतरा आप ही कुतवाली सिखा देता है, आदि मुहावरों और कहावतों के कारण भाषा में लाक्षणिक शक्तिमत्ता आ गई है। एक आध-स्थल पर मुहावरों में बंगला का प्रभाव लक्षित होता है, जैसे अम्बिकादत्त व्यास ने कंसवध में 'ढलढल रोने' का प्रयोग किया है। कहीं शब्दों के हेर-फेर से मुहावरों में भद्दापन भी मिलता है, देखिए :—

दिल में जो कुछ पकता उसको किस विधि किसे खिलाऊँ।[5]

—प्रेमघन

सहने का भी कोई दरजा इससे अधिक न पाऊँ।[6]

—प्रेमघन

अनुभव कर आनन्द ब्रह्म अपने में आप समाता।[7]

—प्रेमघन

तपे-तपे से लेतीं लम्बे साँस।[8]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४०३
२. साहित्य नवनीत—पृ० ९३
३. प्रताप लहरी—पृ० २५६
४. संगीत शाकुन्तल—पृ० १९९
५—७. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० १९०, १९२, ४१०
८. साहित्य नवनीत—पृ० ६१

'दिल पकने' को खिलाया नहीं जाता, दिखाते हैं। सहने की हद होती है 'दरजा' नहीं, आनन्द से व्यक्ति 'अपने आप में नहीं समाता'। साँस लम्बे-लम्बे या गरम-गरम लेते हैं 'तपे तपे' नहीं।

अलंकार—कहा जा चुका है कि भारतेन्दु-युग की अधिकांश खड़ीबोली रचनाएँ वस्तु-प्रधान हैं। सीधी-सादी भाषा में छन्द पढ़ते चले जाइए, न भावावेश है न कल्पना की उड़ान। अभिव्यंजना का सौंदर्य भी कहीं नहीं मिलता। लावनी, रेखते आदि में रचित काव्य भाव-प्रधान होने पर भी वाच्यार्थ के चमत्कार अथवा लाक्षणिक सौन्दर्य से विहीन हैं। अतएव रचनाएँ प्रायः पद्यबद्ध गद्य मात्र लगती है। हाँ, प्रकृति-वर्णन में भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत है। इस दृष्टि से प्रेमघन की 'मयंक महिमा' तथा 'आनन्द अरुणोदय' शीर्षक रचनाएँ विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। 'प्रेमघन' की इन रचनाओं में सादृश्य विधायक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की बाढ़ सी आ गई है, जो छन्द में कई पंक्तियों तक चलती ही जाती है; उदाहरणार्थ कवि ने वाटिका को 'बन्नी' (नववधू) की उपमा देकर मोतिया बेली की सुरंग चुनरी, कुसुम-सावनी की कंचुकी, स्वर्णलता के अलंकार, करवीर कुसुम के कर्णफूल, मोतिया की मोती माल, चम्पाकली और श्रीफल के कुच आदि रूपक बाँधकर नख से शिख तक वस्त्राभरणों से अलंकृत किया है। इसी प्रकार 'आनन्द अरुणोदय' में उद्यम रूपी सुखद मलयानिल, शिल्प रूपी कमल-कलिका, देशी वस्तुओं का प्रेम रूपी पराग का उड़ाना, शुभ आशारूपी सुगन्ध का फैलाना जिसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुरूपी तारकावली का लुप्त होना आदि वर्णित किया गया है। किन्तु इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना ने भाषा में चमत्कार का विधान भले ही किया हो अभिव्यंजना की सौन्दर्य-वृद्धि में वह असमर्थ ही रही। साथ ही इस काल के सब कवियों की प्रवृत्ति रीतिकालीन कवियों के समान आनुप्रासिक दिखाई पड़ती है, जैसे—

अनुप्रास

चमकाली चौकाली आली घुंघुराली,
है कहीं डंक बिच्छू से जहराली।[1]

'लावनी'—प्रेमघन

मेंहदी के रंग-रंग कर कर पद, पट करौंदिया धार धार,
विशद विभूषण से भूषित, झूलती है झूले हार हार।[2]

'नागरी भाषा'—प्रेमघन

बादल रंग रंगी, सेना जंगी, बिजली तोप तुरंगी है।
बूँदों की गोली, गर्जन बोली, बर्सा फौज फिरंगी है।[3]

'विनय प्रेम पचासा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

करोरों करोरों को खर्खर गिराती
औ नावों औ गांवों को सर्सर बहाती

१-२. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४७६, ५१२
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० ५५१

पहाड़ों से भिड़ती औ खाड़ी को भरती
चली है नदी नापती मानो धरती ॥[१]

'वर्षा की नदी'—अम्बिकादत्त व्यास

यमक

कैसी करूँ सखी अब कल से नहीं कल आती ॥[२]

'स्फुट पद'—प्रेमघन

प्रभा प्रकृति प्रगटाती है अम्बर का अम्बर फार फार ।[३]

'नागरी भाषा'—प्रेमघन

शुक था साधुवाद करता मन हरा हुआ सा हरा हुआ ।[४]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

अर्थालंकारों में प्रायः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक, उदाहरण आदि का उपयोग किया गया है, यथा :—

उपमा

धूप धूम सा पराग उड़ता हुआ हृदय हरसाता था ।[५]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

भभूका सा शर है, य रूई सा तन है ।[६]

'शकुन्तला'—अम्बिकादत्त व्यास

झरने से झरते थे उसके नेत्र ।[७]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

चिलम सरिस मुख बाये हँसता तिस पर तुमको पाऊँ ।[८]

'मन की मौज'—प्रेमघन

उत्प्रेक्षा

पर अद्यापि घड़ी दो रजनी, शेष विशेष सुहाती थी ।
मंजु मयंक मरीचि मालिका, मिस मानो मुसकाती थी ॥[९]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

आँधी चन्दन चूर की सी उड़ी है ।
धारा मानो दूध की है बरसती ॥[१०]

'चाँदनी रात'—अम्बिकादत्त व्यास

१. साहित्य नवनीत—पृ० ६४
२—५. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४७७, ५२३, ४०८, ४०७
६-७. साहित्य नवनीत—पृ० ३१, ६३
८-९. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० १६१, ४०१
१०. साहित्य नवनीत—पृ० ६३

रूपक

हरीचन्द भव पंक छुटै नहिं बिना भजन रस के धोए।[1]

—भारतेन्दु

हरि माया भठियारी ने क्या अजब सराय बसाई है।[2]

'विनय प्रेम पचासा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

धोई धोती यामिनी कामिनी की।
फूली फाली फैल के फर्फराती।[3]

'चाँदनी रात'—अम्बिकादत्त व्यास

अति गाढ़ मोह तम नाशौ, उर विद्या सूर्य प्रकाशौ।[4]

'प्रताप लहरी'—प्रतापनारायण मिश्र

सन्देह-रूपक (संकर)

तिमिर मत्त मातंग मारकर, सिंह उसी पर बैठा है,
मरीचि माला सटा छटा, छहराता गर्वित ऐंठा है।
अथवा क्या आकाश माठ में, मथित हुआ उतराया है,
मंजु मक्खन पिण्ड स्वच्छ, सब के मन को ललचाया है।[5]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

वा यह थाल रजत मन्मथ महीप का जिला कराया है।[6]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

रूपकातिशयोक्ति

अम्बर मानसरोवर में वाँ, राजहंस यह चरता है।
तारावली सकल मुक्ता चुग, जिसका पेट न भरता है॥[7]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

उदाहरण

लगा दिखाई देने जिससे स्वच्छ स्वरूप सहज ससि का।
जैसे गोली उज्वल कागज़ पर हो पड़ा दाग मसि का॥[8]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

धसे जो काजल कोठरी, लगती काली रेख।
वैसे दुर्जन संग से, अपजस लगता देख॥[9]

'नीति के दोहे'—अम्बिकादत्त व्यास

१-२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० २०६; ५५१
३. साहित्य नवनीत—पृ० ९३
४. प्रताप लहरी, पृ०—१५९
५. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४०३
६-८. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४०४, ४०४, ४११
९. साहित्य नवनीत—पृ० ८८

कतिपय स्थलों पर शब्दों के सुप्रयोग से शब्दचित्र उपस्थित हो गया है—

भाव रस भरे करता लोचन चंचल चारु घुमा करके।
सुन्दर ग्रीव सिकोड़ मरोड़ सिकुड़ इठलाता मन हर के॥[1]

'मयंक महिमा'—प्रेमघन

खंडहर पे उनकल, साँप खनकते, सुनकर जी डर जाता है।
हुई रात अँधेरी, बदली घेरी, हाथ से हाथ न दिखलाता है॥[2]

'विनय प्रेम पचासा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

उपर्युक्त उदाहरणों के परिशीलन से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि इन कवियों ने 'रूई सा तन', 'चिलम के समान मुँह बाना', 'चन्दन चूर सी आँधी उड़ाना', 'चन्द्रमा के दाग को गोल उज्ज्वल कागज़ पर मसि के दाग' आदि नवीन उपमानों द्वारा काव्य को समृद्ध करने का प्रयास किया है।

शब्द-शक्ति—इस युग के आलोच्य खड़ीबोली-काव्य में अभिव्यंजना-सौन्दर्य की अन्य विधाओं की तरह अभिधा वृत्ति, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता अथवा व्यंजना-वैचित्र्य आदि का सन्निवेश कवियों की सजग सचेष्टता का परिणाम न था। सच तो यह है कि खड़ीबोली लोकभाषा के रूप में पर्याप्त मँज-सँवर चुकी थी। मुहावरेदानी उसका स्वाभाविक गुण हो गया था। अतएव लक्षणा द्वारा भाषा कहीं-कहीं स्वतः ही चमत्कृत हो जाती थी यद्यपि उक्ति के सौन्दर्य की दृष्टि से इन प्रयोगों का विशेष महत्व नहीं है, यथा—

रूढ़ि लक्षणा

निखर पड़ा सारा जग जिससे, शोभा नई लखाती थी।
वहीं अटक सी जाती थी यह, दीठ जहाँ पर जाती थी।[3]

प्रयोजनवती, अगूढ़ व्यंग्या, लक्षण-लक्षणा

भौंहें मरोड़ कर मन मेरा मरोड़ता है।[4]
सिथिल भई हाय यह काया, है जीवन ओठ पर आया।[5]

'प्रेम तरंग'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रयोजनवती, साध्यवसाना, अगूढ़ व्यंग्या

सूखे विरह में तारे पानी इन्हें पिला जा।[6]

'प्रेम तरंग'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रयोजनवती, पदगता, अगूढ़ व्यंग्या लक्षण-लक्षणा

लगी है आग छाती में हमारे, **बुझाओ कोई उनका हाल कह के।**[7]

'दशरथ विलाप'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४०६
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० ५५१
३-४. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४०२, ४७७
५-६. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग II—पृ० २०७, २०६
७. खड़ीबोली का पद्य—पृ० १६

प्रयोजनवती, उपादानमूला, पदगता, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

उन पर तो बिजली सी थी यह बात।[1]

'कंसवध'—अम्बिकादत्त व्यास

काव्य-गुण—स्पष्ट है कि अभिव्यंजना की दृष्टि से खड़ीबोली में पर्याप्त एवं उच्चकोटि की रचना नहीं हुई। भारतेन्दु तथा उनके समसामयिक कवि काव्य के नूतन माध्यम में विविध प्रकार के भाषा-प्रयोग करके देखते रहे, परन्तु कोई मार्ग सुनिश्चित नहीं कर पाये। यह अवश्य है कि भाषा में वाक्य छोटे हों अथवा बड़े, संस्कृतनिष्ठ हों अथवा उर्दूपन लिए हों, कहीं भी वाक्यान्वय जटिल नहीं मिलता। इसलिए प्रसादता, सुबोधता तथा सरलता सर्वत्र व्याप्त है। प्रसंगानुकूल भाषा के स्वरूप में परिवर्तन कर देने से अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का नियोजन हो जाता है। इस युग की कविता में इस प्रकार के संदर्भानुकूल सुष्ठु प्रयोगों की संख्या अधिक तो नहीं है, फिर भी उनका प्रयोग यत्र-तत्र किया गया है, देखिए—

ओज प्रधान भाषा

धन्य सुअवसर जान क्रूरमति कूट नीति का अनुगामी।
पहुँचा लेकर सैन सुसज्जित संग सैन भट संग्रामी॥
लगा अमित उत्पात मचाने द्विज दल को दलने मलने।
निर्बल जान कर चंगुल में कस उर विदार शोणित चखने॥[2]

—'मयंक महिमा'

माधुर्यगुण

हरी भरी छिति भई, झुके तरु हरियारी के भार भार।
बहती बेग भरी पुरवाई खिले सुमन सब झार-झार॥
संयोगिनी नारि नीरजा नैनों में अंजन सार सार।
मेंहदी के रंग रंग कर पद, पट करौंदिया धार धार॥[3]

—'नागरी भाषा'

संक्षेप में, भारतेन्दु युग का खड़ीबोली काव्य वस्तुतः नये प्रयोगों का युग था। उस काल के कवि काव्य-भाषा में परिवर्तन लाने के आकांक्षी तो थे परन्तु ब्रजभाषा की तुलना में खड़ीबोली-अभिव्यंजना की शक्ति-सीमाएँ देखकर निराश हो जाते थे। इसलिए वे कभी उर्दू-प्रधान खड़ीबोली को अपनाते थे तो कभी संस्कृत-प्रधान तत्सम भाषा की ओर झुकते थे। कभी सादृश्य-योजना में रूढ़िग्रस्त ब्रजभाषा-काव्य से उपमान-चयन करते थे और कभी युग की बढ़ती हुई बुद्धिवादिता को देखकर 'रुई-सा शरीर', 'चिलम-सा मुख' बताते थे। अतः स्वभावतः इस प्रकार के नवीन प्रयोगों के कारण भाषा में लालित्य का उचित समावेश न हो पाया। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "एक नए माध्यम में ये महान लेखक अटपटा रहे

१. साहित्य नवनीत—पृ० १६१
२-३. प्रेमघन सर्वस्व, भाग I—पृ० ४१०, ५२३

हैं, परन्तु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छन्दता उनके गद्य में है उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने आँखों पर व्रजभाषा-प्रेम की पट्टी न बाँध कर गद्य की भाषा (खड़ीबोली) में भी प्रयोग किए।" अतएव भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों की दृष्टि से इस काव्य में नए युग का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है; और इन लेखक-कवियों का महत्व यही है कि इन्होंने खड़ीबोली भाषा के वे सब रूप नई पीढ़ी के समक्ष रखे जो काव्य-माध्यम के रूप में प्रयुक्त हो सकते थे जो और उनके परवर्ती कवियों के लिए मार्गदर्शक बन सके।

छठा अध्याय

सन्धि काल (सं० १९४२-१९६०)

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली अपनी पुरानी परिपाटी त्याग कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नवीन विषय और नूतन अभिव्यंजना शैली द्वारा नए क्षेत्रों का अनुसन्धान करने में प्रवृत्त हो गई थी। एक ओर कवि का पुरातन के प्रति अगाढ़ मोह था तो दूसरी ओर राजनीतिक जागृति और सामयिक चेतना से उद्भूत सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के प्रति भी कम उत्साह न था। इस प्रकार प्राचीन और नवीन, भावुक और बौद्धिक विचारधारा जैसी विरोधी प्रवृत्तियों के बीच खड़ीबोली अपना मार्ग सुनिश्चित करने में असमर्थ बनी रही। उस काल के काव्य-साहित्य में विषय-भेद से खड़ीबोली किस प्रकार अभिव्यंजना की विविध शैलियों से अलंकृत होकर पाठक के समक्ष आई, इसका परिचय गत अध्याय में कराया जा चुका है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की चर्चा समाप्त करके अब हम उन कवियों की ओर आते हैं जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु (सं० १९४२) के उपरान्त खड़ीबोली-काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। इनमें श्रीधर पाठक (सं० १९१६-१९८५) तथा बालमुकुन्द गुप्त (सं० १९२२-१९६४) विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन कलाकारों ने एक ओर खड़ीबोली में विविध भाषाओं से अनुवाद किए, पाश्चात्य शैली 'एलिजी' के अनुकरण पर 'शोकाश्रु' और 'मरसिये' लिखे, प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप का वर्णन किया, और दूसरी ओर भाषा में नूतन पद-विन्यास, नई बन्दिशें, नए वृत्त आदि सन्निविष्ट किये। इस प्रकार विषय और शैली, दोनों में स्वच्छन्दता दिखाकर इन्होंने खड़ीबोली की अभिव्यंजना-शक्ति की व्यापकता का परिचय देकर परवर्त्ती कलाकारों का मार्ग प्रशस्त किया। नए-नए मार्गों द्वारा भाव और भाषा के क्षेत्र में ऐसा युगान्तर उपस्थित करने वाले 'एकान्तवासी योगी', 'जगत सचाई सार' और 'व्योम वीणा' के निर्माता श्रीधर पाठक को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में 'स्वच्छन्दतावाद' (Romanticism) का प्रवर्त्तक ठहराया है।[1] ये दोनों कवि वास्तव में विषय, शैली और रचनाकाल तीनों की दृष्टि से भारतेन्दु और द्विवेदी युग को सूत्रबद्ध करने वाले दो सुदृढ़ एवं महत्वपूर्ण शृंखल हैं। अतएव इनको दोनों युगों से पृथक् 'सन्धिकाल' के अन्तर्गत रख कर इनकी अभिव्यंजना-शैली का विवेचन करना अधिक समीचीन प्रतीत हुआ।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०४—पं० रामचन्द्र शुक्ल

हैं, परन्तु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छन्दता उनके गद्य में है उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने आँखों पर ब्रजभाषा-प्रेम की पट्टी न बाँध कर गद्य की भाषा (खड़ीबोली) में भी प्रयोग किए।" अतएव भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों की दृष्टि से इस काव्य में नए युग का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है; और इन लेखक-कवियों का महत्व यही है कि इन्होंने खड़ीबोली भाषा के वे सब रूप नई पीढ़ी के समक्ष रखे जो काव्य-माध्यम के रूप में प्रयुक्त हो सकते थे जो और उनके परवर्ती कवियों के लिए मार्गदर्शक बन सके।

छठा अध्याय

सन्धि काल (सं० १९४२-१९६०)

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली अपनी पुरानी परिपाटी त्याग कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नवीन विषय और नूतन अभिव्यंजना शैली द्वारा नए क्षेत्रों का अनुसन्धान करने में प्रवृत्त हो गई थी। एक ओर कवि का पुरातन के प्रति प्रगाढ़ मोह था तो दूसरी ओर राजनीतिक जागृति और सामयिक चेतना से उद्भूत सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के प्रति भी कम उत्साह न था। इस प्रकार प्राचीन और नवीन, भावुक और बौद्धिक विचारधारा जैसी विरोधी प्रवृत्तियों के बीच खड़ीबोली अपना मार्ग सुनिश्चित करने में असमर्थ बनी रही। उस काल के काव्य-साहित्य में विषय-भेद से खड़ीबोली किस प्रकार अभिव्यंजना की विविध शैलियों से अलंकृत होकर पाठक के समक्ष आई, इसका परिचय गत अध्याय में कराया जा चुका है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की चर्चा समाप्त करके अब हम उन कवियों की ओर आते हैं जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु (सं० १९४२) के उपरान्त खड़ीबोली-काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। इनमें श्रीधर पाठक (सं० १९१६-१९८५) तथा बालमुकुन्द गुप्त (सं० १९२२-१९६४) विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन कलाकारों ने एक ओर खड़ीबोली में विविध भाषाओं से अनुवाद किए, पाश्चात्य शैली 'एलिजी' के अनुकरण पर 'शोकाश्रु' और 'मरसिये' लिखे, प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप का वर्णन किया, और दूसरी ओर भाषा में नूतन पद-विन्यास, नई बन्दिशें, नए वृत्त आदि सन्निविष्ट किये। इस प्रकार विषय और शैली, दोनों में स्वच्छन्दता दिखाकर इन्होंने खड़ीबोली की अभिव्यंजना-शक्ति की व्यापकता का परिचय देकर परवर्त्ती कलाकारों का मार्ग प्रशस्त किया। नए-नए मार्गों द्वारा भाव और भाषा के क्षेत्र में ऐसा युगान्तर उपस्थित करने वाले 'एकान्तवासी योगी', 'जगत सचाई सार' और 'व्योम वीणा' के निर्माता श्रीधर पाठक को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में 'स्वच्छन्दतावाद' (Romanticism) का प्रवर्त्तक ठहराया है।[1] ये दोनों कवि वास्तव में विषय, शैली और रचनाकाल तीनों की दृष्टि से भारतेन्दु और द्विवेदी युग को सूत्रबद्ध करने वाले दो सुदृढ़ एवं महत्वपूर्ण शृंखल हैं। अतएव इनको दोनों युगों से पृथक् 'सन्धिकाल' के अन्तर्गत रख कर इनकी अभिव्यंजना-शैली का विवेचन करना अधिक समीचीन प्रतीत हुआ।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०४—पं० रामचन्द्र शुक्ल

श्रीधर पाठक (सं० १९१६-१९८५)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सारगर्भित शब्दों में, "(पाठक जी) वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली भावुक और सुरुचि-सम्पन्न कवि थे।····इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए-नए मार्ग निकाला करती थी।"[1] हमें पाठक जी के उक्त गुणों का परिचय तो उसी क्षण मिल जाता है जब उस युग की साहित्य-परम्परा में हम उन्हें संस्कृत, ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी, खड़ीबोली और यहाँ तक कि अंग्रेज़ी में भी काव्य-रचना करते हुए पाते हैं। किन्तु यह निर्विवाद है कि श्रीधर पाठक का सर्वाधिक महत्व एवं ख्याति उनके खड़ीबोली-काव्य के कारण है। कवि ने प्रस्तुत भाषा में स्वतन्त्र काव्य-रचना के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत काव्यों के पद्यबद्ध अनुवाद भी किये। ये अनूदित काव्य एक ओर तो विदेश में पाठक जी की ख्याति का कारण बने[2] और दूसरी ओर इनसे देश में 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' में खड़ीबोली को सुदृढ़ अवलम्बन मिला। अतः पाठक जी के काव्य के अभिव्यंजना-सौष्ठव का मूल्यांकन करने के लिए इनके समस्त खड़ीबोली-काव्य के दो भाग कर लेना उचित होगा—

(१) अनूदित खड़ीबोली काव्य
(२) स्वतन्त्र खड़ीबोली काव्य

अनूदित खड़ीबोली काव्य

पाठक जी ने अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों भाषाओं से खड़ीबोली में अनुवाद किए थे। अंग्रेज़ी से अनूदित काव्य "गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री" ग्रे की 'शेफर्ड एंड फ़िलासफ़र' शीर्षक कविता का उल्था है जो 'भारत जीवन' (मई-जून) सन् १८८४ में प्रकाशित हुआ था। इस कविता को पाठक जी का सर्वप्रथम खड़ीबोली अनुवाद कहा जा सकता है। 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०) तथा 'श्रान्त पथिक' (१९०० ई०) क्रम से ऑलिवर गोल्डस्मिथ विरचित 'एडविन एण्ड अंजलीना' नामक बैलेड और 'ट्रैवलर' का अनुवाद है। इनके अतिरिक्त 'इज़ाबियला' शीर्षक रचना जॉन कीट्स के 'इज़ाबेला' अर्थात् 'द पॉट ऑफ़ बसिल' की प्रतिच्छाया कही जा सकती है।

संस्कृत काव्य में महाकवि कालिदास के गीतिकाव्य 'ऋतुसंहारम्' के प्रथम तीन सर्गों का ग्रीष्म वर्णन, वर्षा वर्णन तथा शरदऋतु-वर्णन के नाम से पद्यबद्ध अनुवाद हुआ। इनमें ग्रीष्म वर्णन और वर्षा वर्णन के गिने-चुने पद (पद सं० १४, १५, १६, १७, २०, २१, २६, २७) खड़ीबोली के और शेष ब्रजभाषा के हैं। इनके अतिरिक्त कवि ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के इकतीसवें अध्याय का 'गोपिका गीत' (१९१६ ई०) नाम से समश्लोकी अनुवाद भी किया था।

अनूदित काव्य की विषय-वस्तु—'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री' शीर्षक काव्य एक गड़रिये और दार्शनिक के बीच वार्तालाप है जिसमें दार्शनिक द्वारा प्रश्न किये जाने पर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ६०५, पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. द्र० मनोविनोद, भाग III—पृ० ४८-४९

गड़रिया प्रकृति को अपने ज्ञान, बुद्धि और विवेक का दाता बताता है। मधुमक्षिका से परिश्रम, चींटी से सावधानी, कुत्ते से स्वामिभक्ति और कृतज्ञता, युगल कपोतों से दाम्पत्य प्रेम, कुक्कुटी से ममत्व, उलूक से मौन आदि की शिक्षा लेकर गड़रिया कहता है कि, "विवेकी मन में सदा यह सद्विचार रहता है कि महान और क्षुद्र दोनों किसी महान् उद्देश्य के लिए मिले हैं।"

'एकान्तवासी योगी' 'एड़विन और अंजलीना' नामक दो प्रेमियों के पवित्र प्रेम की गाथा है जो परिस्थितियों-वश पृथक् हो जाते हैं। एडविन के वैरागी हो जाने पर 'अंजलीना' विरक्त हो पुरुष-पथिक का वेष धारण कर उसकी खोज में निकल जाती है। वह राह भटकी सौभाग्यवश उसी जंगल में वैरागी की कुटी में आश्रय पाती है। दैवी-विधान से अन्त में भेद प्रकट होने पर दोनों मिल जाते हैं।

गोल्डस्मिथ कृत 'द ट्रैवलर' 'श्रान्त पथिक' नाम से अनूदित हुई। यह पाश्चात्य कवि के योरोप-पर्यटन (१७५५-५६ ई०) के बाद की रचना है। गोल्डस्मिथ ने अपने बड़े भाई के प्रति उत्कट प्रेमाभिव्यंजन कर निरन्तर पर्यटन से अपने को अत्यन्त विश्रान्त दशा में दिखाया है। उसी श्रान्त अवस्था में अपने को 'आल्पगिरि' की उच्च शिखा पर आसीन कल्पित करके वह इटली, स्विट्ज़रलैंड, फ्रान्स, हॉलैण्ड, ब्रिटेन आदि सब देशों की आलोचना करने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। अन्त में प्रत्येक देश के स्वाभिमान और स्वतन्त्रताजन्य हानि-लाभ को तौलकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मानव मात्र का सच्चा सुख उसके अपने हृदय में केन्द्रीभूत रहता है।

'इज़ाबियला' इटली के फ़्लोरेंस नगर-निवासी लौरेन्ज़ो और इज़ाबेला की अधूरी प्रेम-कथा है। कीट्स की कविता ६३ पदों की लम्बी रचना है जिसमें कवि पाश्चात्य रूमानी विचारधारा के प्रारम्भिक रूप से भयाक्रान्त दृष्टिगत होता है। किन्तु वह बाद में इस असार-संसार से परे भी प्रेम का अस्तित्व दिखाकर उसे 'अमरत्व एवं अलौकिकत्व' प्रदान करता है। श्रीधर पाठक के 'इज़ाबियला' में केवल १२ पद हैं जिनमें कवि नायक-नायिका का परिचय मात्र देकर कथानक की भूमिका तैयार करके छोड़ देता है। और यह परिचय भी मूल काव्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। ऐसा प्रतीत होता है कि कीट्स की कविता से प्रेरित होकर पाठक जी ने स्वतन्त्र काव्य-सर्जन का संकल्प तो किया था किन्तु किसी कारणवश पूर्ण न कर सके। इनके अतिरिक्त पारनेल के 'हरमिट' 'एडविन और अंजलैना' (पद्यात्मक नाटक) तथा कालिदास की रचना पर आधारित 'कुमारसम्भव', तथा 'ऋतुसंहार' के 'वसन्तवर्णन' अपूर्ण काव्यानुवाद हैं। ग्रीष्म वर्णन और वर्षा वर्णन में दिखाया गया है कि इन ऋतुओं का प्राणिमात्र पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। गोपिकागीत, रासलीला के पश्चात् श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर विरह-विदग्धा गोपियों का विलाप है।

समस्त अनूदित काव्य में से 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री', 'श्रान्त पथिक' तथा 'ग्रीष्म' और 'वर्षा वर्णन' शीर्षक रचनाएँ मूल कविताओं की पंक्ति-प्रति-पंक्ति का उल्था है। किसी एक भाषा के काव्य को दूसरी भाषा में पद्यान्तरित करना यों ही दुष्कर होता है और यदि अनुवाद किसी अन्य देश की भाषा से करना हो तो कवि-कर्म और भी कठिन हो जाता है।

इस दृष्टि से मूल काव्यों के भाव और भाषा दोनों को सुरक्षित रखने का कवि-प्रयत्न श्लाघ्य है। ग्रीष्म वर्णन मूल काव्य के समान उन्हीं संस्कृत वृत्तों में रचा गया है, इसके प्रथम इक्कीस पद वंशस्थ वार्णिक वृत्त में हैं और शेष मालिनी छन्द में। 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री' शीर्षक रचना में कवि भाषा तो नहीं, हाँ मूलभाव को सुरक्षित रखने में पर्याप्त सफल हुआ है। प्रारम्भिक रचना होने के कारण इसकी भाषा बोलचाल की एवं अपरिष्कृत है इसलिए उसमें कसावट नहीं आ सकी है। हाँ, 'श्रान्त पथिक' रोला छन्द में 'ट्रैवलर' का अक्षरशः अनुवाद है और कवि ने मूलभाव ही नहीं, भाषा और अलंकार भी अधिकांशतः ज्यों के त्यों रखने का स्तुत्य प्रयास किया है, देखिए—

Some sterner virtues o'er the mountain's breast,
May sit, like falcons, cow'ing on the nest;
But all the gentler morals, such as play,
Thro' Life's more cultur'd walks, and charms the way,
These, far dispers'd, on Timorous pinious fly,
To sport and flutter in a kinder sky
233-238, —'Traveller.'

दृढ़ता के कुछ गुण चाहे पर्वती हृदय में वास करें,
जैसे श्येन घोंसलों के उर में अलक्ष्य अध्यास करें।
किन्तु मृदुलतर गुण समस्त उन्नत जीवन पथ सहचारी,
मधुर मोहिनीमय, अनेक विधि सुख शोभा संचयकारी।
ये सब बिखरे हुए भीरुतर पंखों पर उड़ भागे हैं,
निज अनुकूल व्योम में जाकर बिहरें औ' अनुरागे हैं।[1]

Nor this the worst. As nature's lies decay,
As duty, Love and honour fail to sway,
Fictitious bonds, the bonds of wealth and law,
Still gather strength, and force unwilling awe.
P. 349-352.

किन्तु यहीं तक नहीं। प्रकृति पथ ज्यों-ज्यों छुटता जाता है,
प्रीतिमान, मर्यादा का पद ज्यों-ज्यों घटता जाता है।
धन के और व्यवहार नियम के जाते हैं नाते जो बन,
पाते हैं बल अधिक, मान करवाते हैं सबसे बेमन॥[2]

इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं पद-पदांश भी वही हैं, जैसे—'दुशासन दुष्टों की भूमि यह' (A land of tyrants), 'सुघर सौम्य छवि' (Mildest charms), 'अति गरिष्ट साहसिक लक्ष्य' (Daring Aims) 'सदा वृहत व्यवसाय निरत' (Intent on high designs) 'सुगम स्वल्प आचारशील' (By forms unfashioned), 'अति की बसैं मनुष्यों ही के मन में अति

१. श्रान्त पथिक—पृ० ११
२. श्रान्त पथिक—पृ० १७

अधिकाई है' (Extremes are only in the master's mind)। अनुवाद की इस सफलता ने हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में बड़ी हलचल उत्पन्न कर दी और सात नवम्बर सन् १९०२ के 'विहार टाइम्स' में इसकी अत्यन्त प्रशंसात्मक आलोचना निकली थी।[1]

किन्तु इन अनुवादों में ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहाँ या तो मूल भाव स्पष्ट ही नहीं हुआ अथवा भाषा की सीमित अभिव्यंजन-क्षमता (छन्द, तुक या लय) के कारण लुप्त-प्राय हो गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

O ! then how blind to all that truth requires,
Who think it freedom when a part aspires.
तो फिर हाय ! निपट अन्धे वह करें भूल कैसी भारी।
जो स्वतंत्र सबको समझे हैं, यदपि नहीं सब अधिकारी ॥[2]

And the brown Indian marks with murderous aims.
अरुण 'इंडियन' तथा मृत्युमय लक्ष्य अमोघ लगाते हैं।[3]

How small, of all that human hearts endure,
That part which laws or kings can cause or cure.
उसका कितना अल्प, जिसे निस दिन मनुष्य मन सहता है,
होय किन्तु वह अंश, नियम वा नृप आधीन जा रहता है।[4]

In wild excess the vulgar breast takes fire,
Till buried in debauch, the bliss expire.

विकट व्यतिक्रम में असभ्य मन सन्दीपित दुख होता है,
अत्याहार विहार मग्न हो, सुख का अनुभव खोता है।[5]

पाठकजी ने कालिदास विरचित 'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म वर्णन तथा प्रावृड् वर्णन के भी उसी नाम से अक्षरशः अनुवाद किये। यद्यपि वे अनुवाद मूल की टक्कर के नहीं हैं तथापि तत्कालीन भाषा की शक्ति-सीमाएँ देखते हुए प्रशंसनीय अवश्य हैं, उदाहरणार्थ—

पयोधराश्चन्दनपंकचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः ।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥६॥
—'ग्रीष्म वर्णनम्'

1. When the translator has voluntarily delimited the sphere of his pen to writing in Khadi Boli and that too without any license to extend his thoughts to two lines, we are apparently compelled to unqualify ourselves to a severe examination of the style and its comparison with the original. Fortunately, however, the style of the composition is far and away of a superior order and no doubt fully preserves the reputation of the poet.

—मनोविनोद, खण्ड III में उद्धृत—पृष्ठ ६६

२. श्रान्त पथिक—पृ० १६

३—५. श्रान्त पथिक—पृ० २१, २१, ११

कुचों पै जो चन्दन-पंक है लिपी,
पड़े जो भारी हिम स्वेत हार हैं।
नितम्ब भागों पै सुवर्ण-कर्धनी,
उछाह किसके मन में करै नहीं ॥[1]

असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातप तापिता मही।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥१०॥

—'ग्रीष्म वर्णनम्'

असह्य आँधी उड़ फूल छा रही,
कड़ी पड़ै धूप बड़ी तपै मही।
उसे पियारी के विछोह से जले,
सकैं प्रवासी जन देख भी नहीं ॥[2]

वर्षाऋतु-वर्णन के सोलहवें पद का अनुवाद भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है यद्यपि अनूदित पद मूल की अपेक्षा लम्बा हो गया है—

सितोत्पलाभाम्बुद चुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः
प्रवृत्त नृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६॥

—'प्रावृड् वर्णनम्'

जिनके उपलनील-उत्पल निभ
जलभर-विनत-नवल-घन-चुम्बित,
जिन पर त्यों सब ओर विकल रव,
निर्झर विमल बहैं छवि मण्डित।
विलसें मुदित मयूर नृत्य रत,
अगनित वृन्द अमित आनन्दित,
सो मम प्राण प्रिये! पर्वत वर
करें चाह-युत-चित्त उमंगित ॥[3]

इनके अतिरिक्त ग्रीष्म एवं वर्षा-वर्णन के भी कई पदांशों का अनुवाद भावार्थ और लक्ष्यार्थ को स्पष्ट नहीं करता, जैसे निशाः शशांक क्षत नील राजयः (पद सं० २) तथा सचन्दनाम्बुव्यजनौद्भवानिलैः (पद सं० ८) का क्रम से 'कभी निशा चन्द उजास से धुली' और 'चलावैं चन्दन में भिगोई पंखियाँ' करके छोड़ दिया है। 'सेव्य चन्द्राशुहारः' के 'हार सुन्दर उज्यारी' अनुवाद से अर्थ की सम्यक् प्रतीति नहीं होती। मूल काव्य के बारहवें श्लोक (ग्रीष्म-वर्णन) में दो अर्थ निकलते हैं जबकि अनुवाद में केवल एक ही अर्थ ग्रहण किया गया है। पच्चीसवें श्लोक की प्रथम पंक्ति का अनुवाद तो बहुत ही असुन्दर हुआ है, यथा :—

ज्वलति पवन वृद्धः पर्वतानांदरीषु स्फुटति पटुनिनादैः शुष्क वंशस्थलीषु

१—३. मनोविनोद—पृ० ८२, ८६, प्रं० गिरिधर पाठक

भभक भभक बल्ती पर्वतों की गुफ़ों में,
फट फट फट करती फोड़ती बाँस सूखे ।।[1]

'दिशि दिशि परिदग्धा भूभयः पावकेन' (पद सं० ६४, ग्रीष्म-वर्णनम्) का अनुवाद हीं छूट गया है साथ ही 'निज' का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता । वर्षाऋतु के अनूदित पद (सं० १४) में 'रस पराग सुख आस धरे' कवि की मौलिक कल्पना प्रतीत होती है ।

शेष अनूदित रचनाओं में 'गोपिकागीत' और 'एकान्तवासी योगी' मूल काव्य के पंक्ति-प्रति-पंक्ति अनुवाद नहीं हैं । कवि ने 'गोपिकागीत' को प्रारम्भ में ही 'समश्लोकी स्वच्छन्द छायानुवाद' कहकर आगे स्पष्ट किया है कि—"इसमें मूल वहुत छूट गया है पर शायद कुछ वड़ा विगाड़ नहीं हुआ, उसकी छाया वहुत कुछ आ गई है ।"[2] 'एकान्तवासी योगी' में मूल काव्य के ४० पदों के स्थान पर ५९ पद हैं । मूल में पथिक ने अपना वृत्तान्त २४-३६ तक केवल तेरह पदों में सुनाया है, वही अनूदित काव्य में २९-५१ तक २३ पदों में बढ़ाकर सुनाया गया है । अन्तिम तीन पद भी कवि की मौलिक देन हैं । 'एकान्तवासी योगी' में मूल से हटकर भाव बढ़ाने-घटाने का कारण स्पष्ट करते हुए श्रीधर पाठक भूमिका में लिखते हैं कि, "(इससे) मात्र हिन्दी-भाषी पाठक के लिए यह विदेशी कथा अधिक समझ में आ सकेगी ।"[3]

यों तो 'एकान्तवासी योगी' में 'हरमिट' के कई भावपूर्ण स्थलों का अनुवाद छूट गया है;जैसे Cheers the vale. hospitable ray, the modern fair—one's gest, love lorn guest, dangerous gloom आदि के अतिरिक्त बाइसवें पद के Swift mantling to the view × × as bright as transient too का मूल भाव भी पूर्ण रीति से स्फुटित नहीं हुआ है । पच्चीसवें पद की Who seeks for rest but finds × × her way पंक्ति तो विल्कुल ही छोड़ दी गई है । फिर भी कतिपय स्थलों पर अनुवाद मूल के अनुरूप सुन्दर पड़ा है :—

Soft as the dew from heaven descends,
His gentle accents fell,
The modest stranger lowly bends,
And follows to the cell.
ओस बूंद ज्यों गिरे व्योम से कोमल निर्मल सुखकारी,
त्यों ये मृदुल वचन योगी के लगे पथिक को दुखहारी ;

---

१. मनोविनोद—पृ० ९८, ९२
२. श्री गोपिकागीत, समुपस्थिति, पृ० ८ –श्री पद्मकोट प्रयागस्थ ग्रन्थकार से प्राप्त
3. The numerous additions to, and the few slight deviations from the poet's original ideas, which will be found in the body of the translation, being introduced only to render more interesting and indeed more intelligible to the purely Hindi knowing reader a foreign tale, which without them, would have but little or no charm to him.
Preface—Ekantvasi Yogi.

नम्र भाव से कीनी उसने विनय समेत प्रणाम,
चला साथ योगी के हर्षित जहँ उसका विश्राम ।।[१]

दो एक स्थलों पर पाठकजी ने मूल का केवल भाव पकड़कर उसकी अभिव्यक्ति अपने ढंग से की है किन्तु इस परिवर्तन और परिवर्द्धन से कथानक में कहीं व्यवधान नहीं आया है, यथा :—

But mine the sorrow, mine the fault,
And well my life shall pay;
I'll seek that solitude he sought,
And stretch me where he lay.

किन्तु प्रेमनिधि प्राणनाथ को भूल नहीं मैं जाऊँगी
प्राणदान के द्वारा अपना ऋण मैं आप चुकाऊँगी ।
उस एकान्त ठौर को मैं अब ढूँढ़ूँ हूँ दिन रैन
दुख की आग बुझाय जहाँ पर दूँ इस मन को चैन ।।[२]

And love is still an emptier sound,
The modern fair one's gest;
On earth unseen, or only found,
To warm the turtle's nest.

जो तू प्रेम पंथ में पड़कर, मन को दुख पहुँचाता है,
तो है निपट अजान, अज्ञ, निज जीवन व्यर्थ गँवाता है।
कुत्सित कुटिल क्रूर पृथ्वी पर कहाँ प्रेम का वास,
अरे मूर्ख, आकाश पुष्पवत् झूठी इसकी आस ।।[३]

कवि ने अवसाद के क्षणों में भावानुभूति को प्रखर एवं तीव्र बनाये रखने के लिए मार्मिक शब्द-विधान द्वारा सुन्दर शब्दचित्र भी खींचे हैं। दो-एक निदर्शन द्रष्टव्य हैं :—

उदासीन मुख, शोक युक्त अति, पतित पलक भ्रू भाल,
भू दृग दृष्टि शिथिल तन दुर्बल, ज्यों नव शुष्क मृणाल ।
बहै अनर्गल अश्रुधार यह ज्यों पावस का मेह,
आर्द्र कपोल, चिबुक वक्षस्थल सजल हुई सब देह ।।[४]

निशाकाल, अतिशय अँधियारा, छाय रहा सुनसान
झिल्ली शब्द, शृगाल रुदन, बनभूमि, पड़ोस मसान ।।[५]

एकान्तवासी योगी में भाव और भाषा के ऐसे सुन्दर समन्वय के कारण ही कदाचित् देश और विदेश में इसकी बड़ी चर्चा रही और इण्डियन मेगज़ीन लण्डन[६], होमवर्ड मेल

१. एकान्तवासी योगी—पृ० ३

२—५. एकान्तवासी योगी—पृ० ३, ६, ४, ३

6. His verses move with natural grace and are melodious to an uncommon degree, while at the same time, they are singularly faithful to the original—"The Indian Magazine, London," June 1888.

—मनोविनोद, भाग III—पृ० ४८ से उधृत

लण्डन[1] तथा अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजेट[2] आदि पत्रों में बड़ी प्रशंसापरक सम्मतियाँ निकलीं।

जैसा कि पाठकजी ने कहा भी है 'श्री गोपिकागीत' स्वच्छन्द छायानुवाद है फिर भी उसके कुछ अनूदित पद मूल श्लोकों के अनुवर्त्ती हैं, जैसे—

तवकथाऽमृतं तप्त जीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवण मंगलं श्री मदाततं भुवि गृणन्ति ते भुरिदा जनाः ॥६॥
तव सुधामयी प्रेम जीवनी अघ निवारिणी क्लेशहारिणी।
श्रवण सौख्यदा विश्व तारिणी मुदित गा रहे धीर अग्रणी ॥[3]

न खलु गोपिका नन्दनो भवानखिल देहिनामन्तरात्महक।
विश्वनसार्ऽथितो विश्वगुप्तये सखे उदियिवान् सात्वंसां कुले ॥४॥
महरनन्द का पुत्र तू नहीं निखिल सृष्टि का साक्षि रूप है।
उदित है हुआ वृष्णि वंश में व्यथित विश्व के त्राण के लिए।[4]

अनूदित काव्यों पर विहंगम दृष्टिपात करने के उपरान्त यह कहना पड़ता है कि वे मूल की टक्कर के नहीं हैं। किन्तु अनुवाद मूल की टक्कर के हों न हों इसमें सन्देह नहीं वे मनोहर, सरस एवं सुपाठ्य हैं।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि) 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री' जैसी प्रारम्भिक रचना का 'श्री गोपिकागीत' जैसी बाद की रचना से मिलान करने पर आलोच्य काव्य-भाषा के क्रमिक विकास का परिचय मिलता है। यों तो श्रीधर पाठक की काव्य-भाषा पर सर्वत्र ही ब्रजभाषा का न्यूनाधिक प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु प्रारम्भिक रचनाओं में बोलचाल के शब्दों, ब्रजभाषा के पदांशों एवं क्रियापदों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। प्रारम्भ में कवि की प्रवृत्ति आवश्यकतानुसार शब्द गढ़ने की अधिक लक्षित होती है। हाँ कालान्तर में उसका झुकाव संस्कृत तत्सम शब्दावली की ओर हो गया जो संम्भवतः द्विवेदी युगीन कविता का प्रभाव था। इस प्रसंग में निम्नलिखित शब्द-राशि द्रष्टव्य हैं :—

शब्द-समूह— ग्रीष्म, मरम, भेद्, इस्का, उस्का, वूड़ी (डूबी), व्यौहार, प्रकृत (प्रकृति), निकाम, इकान्त, मसान, बैठाल, लाभी, सर्वस, नश्यमान, उस्पर, इस्पर, इनने, उनने चहे, सभों (सब), दृष्टी, सक्ता, अवन, (अवनि), इन्से, दर्श,मधू, अलभ (अलभ्य), हैगा आदि।

---

1. Shridhar Pathak has done justice to a famous English poem and his translations will give to the people of India an accurate idea of what is deemed beautiful on this side of the world.
—"The Homeward Mail, London," May 1888.
—मनोविनोद, भाग III—पृ० ४६ से उद्धृत

2. The work before us displays the remarkable translating skill of the Pandit and shows what a man, interested in his subject can accomplish.
—Review published in 'Aligarh Institute Gazette', July 1886.
—मनोविनोद, भाग III—पृ० ५४ से उद्धृत

३-४ श्री गोपिकागीत—पृ० ११, १०

गढ़न्त शब्द—सौरभित, संतोषित, नश्यमान, असौभाग्यवश, विविधि, आलिंग, स्वाधीनी, परिमितताई, अधिवेशन (अधिवास के अर्थ में), अधिकाई, अनुचरता, वाहुल्यता, नायकता लज्जाशीलिनि आदि।

प्रान्तीय शब्द—बहकाय, दौर, देय, सुनाय, त्यौं, पाय, चाहे, विषै, मनुहारे, लौं, भूकटी, ओहे, ह्याँ, ह्वाँ, हरखावे, मुस्क्याव चापल, जुआर, राजती, लीजै, दीजै, कीजै, वारै, धारै, नहिं, समझावे, रावरा आदि।

संज्ञाओं से क्रियापद बनाने की प्रवृत्ति—अनुसरती है, दरसाती है, बिसरावै, स्नेह दृढ़ाती है, अनुरागै है, बिहरै है, जन्माता है, गर्भाता है, स्रापो, भ्रमा, आदि।

विदेशी—लौन (Lawn), पारटी (Party), केस (Case), केमरा (Camera), फ़ोकस, (Focus)।

इस प्रकार ये रचनाएँ प्राय: संस्कृत की तत्सम शब्दावली से अत्यधिक अलंकृत होने पर भी शब्द, पदांश और क्रियापदों की इस विलक्षणता के कारण तत्कालीन बोलचाल की भाषा का अधिक आभास देती रहीं। कवि की रुचि शब्दों के मनमाने प्रयोगों की ओर इतनी अधिक थी कि कई स्थलों पर तो शब्द कुछ का कुछ अर्थ दे बैठते हैं, उदाहरणार्थ—

मैं रखता हूँ जिह्वा को ओठों में थाम
वृथावादी बकते बहुत हैं निकाम।[1]

(निकाम=बेकाम के अर्थ में) 'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री'

उद्यम की दृढ़ प्रकृति सभी उर में अधिवेशन करती है।[2]

(अधिवेशन=अधिवास)

त्यों मनुष्य होने का मान सब के समान मन धरता है।[3]

(त्यों=तथा)

चाहो अब भी वहाँ भटकता पथिक कोई फिरता होगा।[4]

(चाहो=शायद, सम्भवतः)

बीते है रीते कामों में दिन इनका आनन्द मगन।[5]

(रीते=चिन्ता शून्य, आमोद सम्बन्धी)

चिन्तारहित बिराजै है निज अल्प कुटी का वह राजा।[6]

(अल्प=छोटी)—'श्रान्त पथिक'

नेत्रों से फिर अश्रुपात की एक साथ बँध गई धारी।[7]

(धारी=धारा)

एकाकी में जाकर उसने तोड़ जगत से नेह।[8]

(एकाकी=अकेले)

---

१. भारत जीवन, जून १८८८, अंक १४

२-४. श्रान्त पथिक—पृ० १४, १६, २०

५-६. श्रान्त पथिक—पृ० ११, ११

७-८. एकान्तवासी योगी—पृ० ८, ११

प्रीति सहित उनके संग उसका जीवन मुदित निबहता था।[1]

(निबहता=निर्वाहित)—'इज़ाबियला'

जमा जो मोथा है सुखाने ताल में।[2]

(सुखाने=सूखे)—'वर्षा वर्णन'

भाषा में बोलचाल का पुट भी अधिक है, जिससे भाषा कहीं-कहीं अनगढ़ हो गई है, जैसे—

बुरा हैगा इनका भरा छल का घात।[3]
मिले है जगत में उ सब है महार्थ।[4]
सिखावें बहुत बात रातों दिना।[5]
ए रखते हैं सबसे बुरा बिस सियाह।[6]

'गड़रिये और दार्शनिक शास्त्री'

परम प्रशस्य अहो प्रेमी थे, कठिन प्रेम इनने साधो।[7]
तृणमय एक चटाई उस पर दिया पथिक बैठाल।[8]

—'एकान्तवासी योगी'

इन्हीं से हर्ती प्रिय ताप नागरी।[9]
तिन्हों में नूपुर पहने नितम्बिनी।[10]
उरोज मंडल्पे सजावे हार है।[11]
सुखाली सोती सुमुखी जो सुन्दरी।[12]
तृषा से सूखे हैं जिन्होंके तालुए।[13]
पिलासे भँसों के समूह खोह से।[14]
भभक भभक बल्ती पर्वतों की गुफों से।[15]

प्रस्तुत काव्य की भाषा में व्याकरण-दोषों की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ, एकान्तवासी योगी का प्रथम पद ही व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, देखिए :—

सुनिए झाड़ खंड बनवासी, दयाशील ! हे बैरागी।
करके कृपा बता दे मुझको कहाँ जले है वह आगी॥[16]

दयाशील बैरागी के लिए आदरसूचक 'सुनिए' के साथ 'बता दे' का प्रयोग अशोभन है। शेष अनूदित काव्य भी इस प्रकार के दोषों से भरा पड़ा है। इनमें सर्वनाम, लिंग, वचन, आदि की अशुद्धियाँ तो मिलती ही हैं, कारक-चिह्नों की गड़बड़ भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान.

१–२ मनोविनोद—पृ० २२२, ६०
३—६ भारत जीवन, मई-जून, १८८४ ई०
७–८ एकान्तवासी योगी—पृ० १२, ३
९—१२ मनोविनोद—पृ० ८७, ८८, ८८, ८८
१३—१५. मनोविनोद—पृ० ८६, ६१, ६१
१६. एकान्तवासी योगी—पृ० ५

है। उद्धृत पद-पदांश हमारे कथन का समर्थन करेंगे :—

लिंग-दोष

और उसी निश्चिन्त दशा में लगी सोलवीं साल।[१]
धोकर हाथ प्रीति मेरी से, त्याग दिया निज देह।[२]

विभक्ति-चिह्न

उस्को तुल्य धरातल ऊपर है नहिं कोई कूढ़।[३]
तृषा से सूखे हैं जिन्होंके तालुए।[४]
समीप बैठे को हमें न साँप को।[५]
जलन से तीखी से प्रचण्ड भानु की।[६]

क्रिया-दोष

इन बातों को किन्तु सूक्ष्मतर दृष्टि से परखा चाहिए।
साँच-जाँच के हेतु सामने का यह दृश्य रखा चाहिए॥[७]

जहाँ छन्द, तुक अथवा लय के आग्रह से पदान्वय दोष आ गया है भाषा शिथिल हो गई है, जैसे :—

वारे था वह मेरे ऊपर तन मन सर्वस प्रान।
किन्तु मनोरथ अपना उसने कभी प्रकाश दिया न॥[८]

सताया सूरज के कठोर तेज से,
जला मरै है चलने से रेत में।
फिरै है औंधे मुख हाँफता फणी,
थमै है जा करके मयूर के तले॥[९]
हे कृष्ण! कोमल पदाम्बुज ये तुम्हारे।
जो बार बार हमने निज वक्ष धारे॥
इन्से फिरौ हो बन में जब प्राण प्यारे।
पीड़ा उठै है उर में अति ही हमारे॥[१०]
पति सुतादि की लाज छाँड के तव समीप है आ गयी छली।
मधुर गीत से मोह के हमें, उचित है अहो त्यागना नहीं।[११]
तो भी किन्तु कदाचित् यदि बहु देशों का हम करे मिलान।[१२]

खड़ीबोली की ध्वनि विषयक अनेक विशेषताओं में स्वरोच्चारण की दृष्टि से मध्य

१-३. एकान्तवासी योगी—पृ० १, ८, ११
४—६. मनोविनोद— पृ० ८६, ८६, ६०
७-८. एकान्तवासी योगी—पृ० ६
६. मनोविनोद—पृ० ८६
१०-११. श्री गोपिका गीत—पृ० १५, १४
१२. श्रान्त पथिक—पृ० २०

एवं अन्त्य स्वर का लोप उसका एक उल्लेख्य गुण है; उदाहरणार्थ, उच्चारण में प्रायः इमली, बोलना, चलना, इसका, उसका आदि के मध्य स्वर का लोप हो जाता है और वे इम्ली, बोल्ना, चल्ना, इस्का, उस्का आदि बोले जाते हैं। इसी प्रकार चल, घर, सब, लिपट, निकट, जलन आदि अकारान्त शब्दों के अन्त्यस्वर का लोप हो कर वे चल्, घर्, सब्, लिपट्, निकट्, जलन् आदि की तरह उच्चरित होते हैं। किन्तु इनको इस रूप में लिखने की परिपाटी आधुनिक परिनिष्ठित खड़ी हिन्दी में ग्राह्य नहीं है। प्रस्तुत काव्य के परिशीलन से लक्षित होता है कि श्रीधर पाठक ने स्वेच्छया सर्वनामों को तो अधिकांशतः इस्का, उस्का, इस्पर आदि संयुक्त रूप दिया ही है, अकारान्त शब्दों को भी हलन्त करके लिखा है जैसे :—

निकट् के गज् पर भी चलावें हाथ नर,[1]
निज तट विटपों की चोटियों से लिपट् के,[2]
जलन् से तीखी से प्रचण्ड भानु की[3]

—'ग्रीष्म वर्णन'

इनसे पूर्व भारतेन्दु युग में अम्बिकादत्त व्यास ने भी इस प्रकार के प्रयोग करके देखे थे। और पाठक जी ने कदाचित् इन प्रयोगों की निस्सारता को समझकर ही बाद में इन्हें त्याग दिया था।

उपर्युक्त भाषा-दोषों के संक्षिप्त उल्लेख से यह निष्कर्ष कदापि न निकालना चाहिए कि प्रस्तुत काव्य में उन तत्वों का सवर्था अभाव है जो भाषा को प्रांजलता, सुबोधता, गति एवं माधुर्य प्रदान करते हैं। क्योंकि जहाँ भाषा इस प्रकार के व्याकरण तथा वाक्य-रचना के दोषों से मुक्त है उसमें स्वाभाविक रूप से प्रवाह, परिष्कृति एवं स्वच्छता आ गई है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

दिन के श्रम से थका जिस समय जगत चैन से सोता है,
यहाँ उटज के बीच उस समय, अतिथि समादर होता है।
निशाकाल, अतिशय अँधियारा, छाय रहा सुनसान,
झिल्ली शब्द, शृगाल-रुदन, बनभूमि, पड़ोस मसान॥[4]

—'एकान्तवासी योगी'

जिनके उपलनील-उत्पल निभ
जलभर, विनत, नवल घन चुम्बित
जिन पर त्यों सब ओर विकल रव,
निर्झर विमल बहैं छवि मण्डित।[5]

—'वर्षा वर्णन'

वणिज-कार्य में कुशल, स्वामि-हित तत्पर, सुमति सुचाल,
था वह किसी भले घर का सुत, रत्न लाड़ला लाल॥[6]

—'इजावियन्स'

१-३. मनोविनोद—पृ० ८६, ६१, ६०
४. एकान्तवासी योगी—पृ० ३
५-६. मनोविनोद—पृ० ६८, २३०

है। उद्धृत पद-पदांश हमारे कथन का समर्थन करेंगे :—

लिंग-दोष

और उसी निश्चिन्त दशा में लगी सोलवीं साल।[१]
धोकर हाथ प्रीति मेरी से, त्याग दिया निज देह।[२]

विभक्ति-चिह्न

उसको तुल्य धरातल ऊपर है नहिं कोई कूढ़।[३]
तृषा से सूखे हैं जिन्होंके तालुए।[४]
समीप बैठे को हमें न साँप को।[५]
जलन से तीखी से प्रचण्ड भानु की।[६]

क्रिया-दोष

इन बातों को किन्तु सूक्ष्मतर दृष्टि से परखा चाहिए।
साँच-जाँच के हेतु सामने का यह दृश्य रखा चाहिए॥[७]

जहाँ छन्द, तुक अथवा लय के आग्रह से पदान्वय दोष आ गया है भाषा शिथिल हो गई है, जैसे :—

वारे था वह मेरे ऊपर तन मन सर्वस प्रान।
किन्तु मनोरथ अपना उसने कभी प्रकाश दिया न॥[८]

सताया सूरज के कठोर तेज से,
जला मरै है चलने से रेत में।
फिरै है औंधे मुख हाँफता फणी,
थमै है जा करके मयूर के तले॥[९]
हे कृष्ण! कोमल पदाम्बुज ये तुम्हारे।
जो बार बार हमने निज वक्ष धारे॥
इन्से फिरो हो बन में जब प्राण प्यारे।
पीड़ा उठै है उर में अति ही हमारे॥[१०]
पति सुतादि की लाज छाँड के तव समीप है आ गयी छली।
मधुर गीत से मोह के हमें, उचित है अहो त्यागना नहीं।[११]
तो भी किन्तु कदाचित् यदि बहु देशों का हम करे मिलान।[१२]

खड़ीबोली की ध्वनि विषयक अनेक विशेषताओं में स्वरोच्चारण की दृष्टि से मध्य

१–२. एकान्तवासी योगी—पृ० १, ८, ११
४—६. मनोविनोद— पृ० ८९, ८९, ९०
७–८. एकान्तवासी योगी—पृ० ९
९. मनोविनोद—पृ० ८९
१०–११. श्री गोपिका गीत—पृ० १५, १४
१२. श्रान्त पथिक—पृ० २०

एवं अन्त्य स्वर का लोप उसका एक उल्लेख्य गुण है; उदाहरणार्थ, उच्चारण में प्रायः इमली, बोलना, चलना, इसका, उसका आदि के मध्य स्वर का लोप हो जाता है और वे इम्ली, बोल्ना, चल्ना, इस्का, उस्का आदि बोले जाते हैं। इसी प्रकार चल, घर, सब, लिपट, निकट, जलन आदि अकारान्त शब्दों के अन्त्यस्वर का लोप हो कर वे चल्, घर्, सब्, लिपट्, निकट्, जलन् आदि की तरह उच्चरित होते हैं। किन्तु इनको इस रूप में लिखने की परिपाटी आधुनिक परिनिष्ठित खड़ी हिन्दी में ग्राह्य नहीं है। प्रस्तुत काव्य के परिशीलन से लक्षित होता है कि श्रीधर पाठक ने स्वेच्छया सर्वनामों को तो अधिकांशतः इस्का, उस्का, इस्पर आदि संयुक्त रूप दिया ही है, अकारान्त शब्दों को भी हलन्त करके लिखा है जैसे :—

निकट् के गज् पर भी चलावै हाथ नर,[1]
निज तट विटपों की चोटियों से लिपट् के,[2]
जलन् से तीखी से प्रचण्ड भानु की[3]

—'ग्रीष्म वर्णन'

इनसे पूर्व भारतेन्दु युग में अम्बिकादत्त व्यास ने भी इस प्रकार के प्रयोग करके देखे थे। और पाठक जी ने कदाचित् इन प्रयोगों की निस्सारता को समझकर ही बाद में इन्हें त्याग दिया था।

उपर्युक्त भाषा-दोषों के संक्षिप्त उल्लेख से यह निष्कर्ष कदापि न निकालना चाहिए कि प्रस्तुत काव्य में उन तत्वों का सवर्था अभाव है जो भाषा को प्रांजलता, सुबोधता, गति एवं माधुर्य प्रदान करते हैं। क्योंकि जहाँ भाषा इस प्रकार के व्याकरण तथा वाक्य-रचना के दोषों से मुक्त है उसमें स्वाभाविक रूप से प्रवाह, परिष्कृति एवं स्वच्छता आ गई है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

दिन के श्रम से थका जिस समय जगत चैन से सोता है,
यहाँ उटज के बीच उस समय, अतिथि समादर होता है।
निशाकाल, अतिशय अँधियारा, छाय रहा सुनसान,
झिल्ली शब्द, शृगाल-रुदन, बनभूमि, पड़ोस मसान ॥[4]

—'एकान्तवासी योगी'

जिनके उपलनील-उत्पल निभ
जलभर, विनत, नवल घन चुम्बित
जिन पर त्यों सब ओर विकल रव,
निर्झर विमल बहै छवि मण्डित।[5]

—'वर्षा वर्णन'

वणिज-कार्य में कुशल, स्वामि-हित तत्पर, सुमति सुचाल,
था वह किसी भले घर का सुत, रत्न लाड़ला लाल ॥[6]

—'इजाबियन्स'

१-३. मनोविनोद—पृ० ८६, ६१, ६०
४. एकान्तवासी योगी—पृ० ३
५-६. मनोविनोद—पृ० ६८, २३०

निभृत में कहे प्रेम-बैन वे मदन की सुधा-सीधु में सने,
वदन की विभा नैन बान ये हृदय में स्पृहा हैं उठा रहे।
व्रज प्रदेश में व्यक्त रूप ले दुरित लोक के दूर हैं करे,
विरह ताप की शान्तकारिणी अलभ औषधी दे हमें हरे ॥[1]

भाषा में सजावट के साथ कसावट लाने वाले उपादानों में मुहावरे-लोकोक्तियों का अमित योग रहता है। कवि ने मुहावरों के समर्थ प्रयोग द्वारा अनूदित रचनाओं में भी भाषा की व्यंजक शक्ति के साथ-साथ अपनी प्रतिभा का पर्याप्त परिचय दिया है; यथा गद्गद होना, काम आना, तन-मन वारना, पीठ दिखाना, हाथ धोना जैसे प्रचलित मुहावरे रचनाओं में बड़ी सुन्दरता से नियोजित किए गये हैं।

अलंकार

अनूदित होने के कारण आलोच्य काव्य में पाठक जी को स्वतन्त्र कल्पना के लिये कम अवकाश मिला है। पाश्चात्य रचनाओं के अनुवाद में मूल के अनुरूप अप्रस्तुत-योजना प्रायः विदेशी है और संस्कृत-काव्यानुवादों का आधार भारतीय काव्यशास्त्र है। कतिपय निदर्शनों से स्पष्ट हो जाएगा—

उपमा

ओस बूंद ज्यों गिरे व्योम से, कोमल निर्मल सुखकारी।
त्यों ये मृदुल वचन योगी के, लगे पथिक को दुखकारी ॥[2]
Soft as the dew from heav'n descends
His gentle accents fell.

—'एकान्तवासी योगी'

दूर तलक दाहिनी दिशा को उठा है ऐपनेन जहाँ।
ऊषम ऋतु सम प्रभावान विस्तृत है इटली देश तहाँ ॥[3]
Far to the right; where Appennine ascends,
Bright as the summer, Italy extends.
उसकी उच्च भूमि ढालू, गिरितट को शोभा देती है।
वनश्रेणी की परम्परा, रंग-स्थल की छवि लेती है ॥[4]
Its uplands sloping deck the mountains side,
Woods over woods in gay theatric pride.
निज झीलों सम निरे अचल आँधी में भी जो सोते हैं।[5]
Dull as their lakes that slumber in the storm.

—'श्रान्त पथिक'

१. श्री गोपिकागीत—पृष्ठ १४
२. एकान्तवासी योगी—पृष्ठ ३
३-४. श्रान्त पथिक—पृष्ठ ६, ६
५. श्रान्त पथिक—पृष्ठ ६

अधिक अति दिखाती सेमलों के बनों में ।
कनक सदृश गोरी पेड़ के खोखलों में ।।[१]
बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु स्फुरति कनक गौरः कोटरेषु प्रमाणाम् ।।२६।।

—'ग्रीष्म वर्णनम्'

रूपक

केवल मनुष्य रूपी पौधे अवनति-चिह्न दिखाते हैं ।[२]
Man seems the only growth that dwindles here.

दृष्टान्त

दृढ़ता के कुछ गुण चाहे पर्वती हृदय में वास करे ।
जैसे श्येन घोसलों के उर में अलक्ष्य अध्यास करे ।।[३]
Some sterner virtues o'er the mountains' breast,
May sit like falcons, cow'ing on the nest.

निदर्शना

गर्व यहाँ अविनीत रीति से चापल निज दरसाता है ।
कम्बल के जामे पर ताँबे का गोटा चमकाता है ।।[४]
Here vanity assumes her pert grimace,
And trims her robes of frinze with copper lace.

—'श्रान्त पथिक'

प्रतीप

सुखाली सोतीं सुमुखी जो सुन्दरी ।
विलोक उनके मुखचन्द्र चन्द्रमा ।।
लजा के पीला पड़ता है प्राप्त को ।[५]
सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुख प्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
विलोक्य नूनं मृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये यातिह्रियेव पाण्डुताम् ।।६।।

—'ग्रीष्म वर्णनम्'

भ्रान्तिमान

निरख के काजल के समान व्योम को ।
दिशा में उसको जल जान दौड़ते ।।[६]
वनान्तरेतोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्यभिन्नांजनसंनिभिनिभः ।।११।।

गिरे नृत्य रत मोरों की चन्द्रिका चन्द्र पर मूढ़ बड़े ।
नव उत्पल के भ्रम से सत्वर, रस पराग सुख आस धरे ।।[७]
पतन्ति मूढ़ाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलाप चक्रेषु नवोत्पलाशया ।।१४।।

—'प्रावृड् वर्णनम्'

---

१. मनोविनोद—पृष्ठ ९२
२—४. श्रान्त पथिक—पृष्ठ १५, ११, १३
५—७. मनोविनोद—पृष्ठ ८८, ९७, १०१

उत्प्रेक्षा

जल के अतिशय भार से जब हम झुक जावें,
निश्चय ऊँचे पर यहाँ एक आश्रय पावें।
यों मानो घन सींचकर, ग्रीष्म के सताये,
विन्ध्याचल को कर रहे आह्लादित आये ॥[1]

जलधर विनतानामाश्रयो स्त्रावमुच्चेरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोय नम्राः।
अतिशय परुषाभिर्ग्रीष्मबद्धेः शिखाभि समुपजनिततापंह्लादयन्तीव विन्ध्यम ॥२७॥

—'प्रावृड् वर्णनम्'

जहाँ अनुवाद स्वतन्त्र है वहाँ भावाभिव्यंजन सीधी-सादी भाषा में हुआ है और अभिव्यंजना-वैचित्र्य के विविध उपादानों का उपयोग भी कम मिलता है। अप्रस्तुत-विधान में भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य योजनाएँ ही अधिक हैं, जैसे :—

अनुप्रास

गरल आप से व्याल ताप से जलद वात से वज्रपात से।
वृषभ व्योम के दस्यु धान से अवन है किया तूने सर्वदा ॥[2]

—'गोपिका गीत'

वणिज कार्य में कुशल, स्वामि हित तत्पर, सुमति, सुचाल।
था वह किसी भले घर का सुत रत्न लाड़ला लाल ॥[3]

—'इज़ाबियला'

रूपक

हमें प्रभो ! तेरी प्रेम-किंकरी वदन-चन्द्र का दर्श चारु दे।[4]
विरह ताप की शान्तकारिणी अलभ औषधी दे हमें हरे ॥[5]

सांगरूपक

नवयौवन के सुधा-सलिल में क्या विष-बिन्दु मिलाया है।
अपनी सौख्य-वाटिका में क्या कंटक-वृक्ष लगाया है ॥[6]

व्यतिरेक

उसके मन की सुघराई की उपमा उचित कहाँ पाऊँ।
मुकुलित नवल कुसुम कलिका सम कहते फिर फिर सकुचाऊँ ॥[7]

प्रतीप

यद्यपि ओस-बिन्दु अति उज्ज्वल, मुक्ता विमल अनूप।
किन्तु एक परिमाणु मात्र भी नहिं उसके अनुरूप ॥[8]

१. मनोविनोद—पृष्ठ ९२
२. श्री गोपिकागीत—पृष्ठ ६
३. मनोविनोद—पृष्ठ २२०
४-५. गोपिकागीत—पृष्ठ १०, १४
६. एकान्तवासी योगी—पृष्ठ ५
७–८. एकान्तवासी योगी—पृष्ठ १०, १०

परिकर

अनुगृहीत की सिन्धु की सुता, कर-सरोज सौं दे हमें हरे।[1]

हाँ एक-दो मार्मिक भाव-स्थलों पर सुन्दर शब्द-चित्रों द्वारा अभिव्यंजना तीव्र हो गई है। पथिक वेश में खिन्नमना 'अंजलैना' का चित्रण देखिए :—

उदासीन मुख, शोकयुक्त, अति पतित पलक भ्रू भाल।
भू दृग दृष्टि शिथिल तन दुर्बल, ज्यों नव शुष्क मृणाल॥[2]

'दुर्बल तन' का 'नव शुष्क मृणाल' से साम्य करके कवि ने अंजलैना के विरह-भाव को और निखार दिया है। इसी प्रकार जंगल के भयावह दृश्य की एक झलक द्रष्टव्य है :—

निशाकाल अतिशय अँधियारा छाय रहा सुनसान।
झिल्ली शब्द, शृगाल रुदन, बनभूमि पड़ौस मसान॥[3]

मूल एवं अवान्तर वाक्यों के हेर-फेर से भाषा में सहृदय सामाजिक के मन में कुतूहल जाग्रत करने की क्षमता किस प्रकार आ जाती है और उससे चमत्कार का विधान कैसे होता है, पाठक जी इससे पूर्णतया अभिज्ञ थे। निम्नलिखित पद में देखिए कि मूलभाव 'नव पवन' को अन्त में प्रकट कर कवि ने पाठक के औत्सुक्य को किस प्रकार चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। ऐसी पद-योजना को पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'पीरियड' भी कहते हैं :—

मिल के नवघन विन्दु से हो गया जो शीतल।
पुष्प-भार से झुके सघन वृक्षों को हिलावै॥
लिये केतकी फूल की सौरभित धूल को।
विदेशियों का चित्त विवश नव-पवन चुरावै॥[4]

—'वर्षा वर्णन'

परन्तु भाषा की ऐसी प्रौढ़ अभिव्यक्ति पाठक जी की पिछले काल की रचनाओं में ही मिलती है।

शब्द-शक्ति एवं काव्य-गुण—आलोच्य काव्य के परिशीलन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि खड़ीबोली में शनैः-शनैः परिष्कार एवं परिमार्जन तो आता गया किन्तु उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य एवं व्यंजकता का अभाव ही रहा। भाषा की शक्तिमत्ता मुहावरों के उपयोग तक ही सीमित थी; अतएव सादृश्यमूलक अलंकारों के सहारे रूपक में गौणी लक्षणा, अतिशयोक्ति में साध्यवसाना, बोलचाल के रूढ़ प्रयोगों में रूढ़ि लक्षणा तथा मुहावरों के कारण उसके अन्य भेदों को भले ही ढूँढ़ निकाला जाए किन्तु वे सौन्दर्य-विधायक उपादान नहीं कहे जा सकते। हाँ, भाषा सरल एवं सुबोध होने के कारण प्रसादगुण-सम्पन्न अवश्य है। प्रारम्भिक रचनाओं में शब्दों के स्वच्छन्द प्रयोगों तथा पाश्चात्य विचारों में वाक्यान्वय आदि की कठिनाई के कारण कहीं कहीं दुरूहता आ गई है। जैसा कि पहले भी कह आए हैं

१. गोपिकागीत—पृ० १०
२-३. एकान्तवासी योगी—पृ० ४, ३
४. मनोविनोद—पृ० ९८

ब्रजभाषा का प्रभाव आद्योपान्त बना रहा, तदनुसार अर्पन, दर्पन आदि लिखने की भी प्रवृत्ति सर्वत्र मिलती है।

स्वतंत्र खड़ीबोली-काव्य

विषयवस्तु—श्रीधर पाठक विरचित स्वतंत्र काव्य पर देश की तत्कालीन—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक—स्थिति की छाप स्पष्ट है। प्रस्तुत काव्य प्रायः विचार-प्रधान है। इसमें 'भारत वसुन्धरा', 'सफल सुनिश्चित', 'युद्ध पुकार', 'भारतभूमि', 'वीरभोग्या वसुन्धरा', 'स्मरणीय भाव', 'वन्द्य वन्दना', 'काल की गति', 'देश गीत', 'शिक्षक भारत', 'स्वराज स्वागत', 'श्रूयताम्', 'सुन्दर भारत', 'स्वदेश विज्ञान', 'हिन्दुस्तान', 'बिछड़ने वाले', 'कृतज्ञता ब्रिटेन की भारत के प्रति', आदि छोटी-बड़ी कविताओं में स्वदेश-भक्ति सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर भावाभिव्यक्ति हुई है।

इन रचनाओं में कवि अतीत-अनुराग-जन्य उद्गाराधिक्य से कभी भारत की भव्यता की ओर निर्देश करता है और कभी अव्यक्त रूप से उज्ज्वल भविष्य निर्माण की कल्पना में भी प्रवृत्त हो जाता है। वह कहीं देश के आन्तरिक कलह, समाज-दुर्दशा, आर्थिक समस्या आदि से विक्षुब्ध हो परिवर्तन का आकुलता से आह्वान करता है और कहीं 'ब्रिटेन की भारत के प्रति कृतज्ञता' गाने लगता है। इस प्रकार वह परिस्थितियों का व्यापक विश्लेषण तथा विवेचन कर अन्त में स्वराज्य-कामना में लीन हो जाता है। उर्दू-काव्य की प्राचीन भाववस्तु 'इश्क' पर भी कवि ने अनेक पद लिखे हैं। इनमें से अधिकांश अनुभूतिपरक हैं, जहाँ प्रेम को सर्वोपरि माना गया है। 'प्रेम अपनों ही पर कर रे', 'प्रेम संगीत', 'अपना मोल', 'सत्व को निर्वार', 'बात यह क्या रे', 'प्रेममय संसार', 'हित-अनहित', 'प्रेम विचार', 'प्रेमी की पहिचान', 'अमर पदारथ', 'प्रेम की आन', 'अपनी ओर निहार', 'प्रेम करो' आदि रचनाओं में प्रेम की महिमा गाई गई है। काव्य का तीसरा उल्लेख्य विषय ईश्वर-भक्ति है। कवि की धर्म-सम्बन्धी भावना के अनुसार मानव-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है जो प्रत्येक नर-नारी में पूर्ण रूपेण विद्यमान है। यही शक्ति स्वावलम्बन की दात्री है। अतएव प्रत्येक कार्य में ईश्वर-प्रार्थना, स्मरण आदि तो अनिवार्य है किन्तु अधीर एवं व्यग्र होकर उसे उलाहने देना मानवोचित नहीं। इन भावनाओं से युक्त 'भक्ति-प्रार्थना', 'शान्ति', 'दीन-दया', 'कान्हा', 'हरिनाम मधुर', 'तत्त्व पंथ', 'प्रभु-प्रार्थना', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'छिपे कहाँ हे लाल' आदि रचनाओं में उपासना-भाव को प्रमुखता दी गई है। कबीर आदि संत कवियों की तरह प्राणिमात्र को अकर्मण्यता, निराशा, आदि दुर्बल भावनाओं के लिए भर्त्सना की दृष्टि से 'ऐसा नहीं भला रे', 'सोच का मुकाम', 'रोग तेरा क्या रे', 'ऐसा अब न करेगा,' 'आप सहाई' आदि कतिपय रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

'जगत सचाई सार' इक्यावन पदों की लम्बी कविता है जिसमें जगत् की असारता पर विचार किया गया है। योगी, यति, संन्यासी, विद्वान, तत्वज्ञ और ग्रंथकार सभी गाते चले आए हैं कि संसार असार है, किन्तु प्रत्यक्ष इंद्रियगोचर इस अद्‌भुत-कौशलपूर्ण जगत् को असत् कैसे माना जाए। इसी विमर्श के कारण संशय-ग्रस्त कई विद्वान् जड़वादी और कुछ आत्मवादी हो गए। पाठक जी का कहना है कि दोनों विचार सत्य हैं। प्रत्येक वस्तु नाशवान

है अतएव जगत् मिथ्या है परन्तु साथ ही अविनाशी सारवस्तु होने से यह सत्य भी है। जो इसे मिथ्या जानकर केवल निन्दा करता है वह मनुष्योचित कर्तव्य-कर्म से पराङ्मुख होता है। अतएव मानव मात्र को चाहिए कि बुद्धि द्वारा सत्य-शोधन में प्रवृत्त हो और अकर्मण्य न रह कर परमात्मा के उद्देश्य को पूर्ण करने में सहायता दे।

'वनाष्टक' के पिछले चार पद तथा 'हेमन्त,' 'सान्ध्य अटन' और 'अटवि अटन' में प्रकृति का स्वच्छन्द वर्णन है। सामयिक विषयों में 'हा गोखले!', 'शोकाश्रु गीत', और 'विज्ञान मंगल' शीर्षक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'बाल विलास' और 'चरगीत' की समस्त कविताएँ बालकों के विनोदार्थ रची गई हैं जिनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—प्रस्तुत काव्य में भाषा भावानुकूल संस्कृत-प्रधान, बोलचाल और ब्रजभाषा का प्रचुर प्रभाव लिए, तीनों रूपों में मिलती है। स्वदेश विषयक गीतों में भाषा कवि की स्वतंत्र बौद्धिक चेतना से युक्त एवं दृढ़ व्यक्तित्व की छाप लिए हुए तत्सम-प्रधान है। लम्बे-लम्बे समास और आनुप्रासिक प्रवृत्ति के कारण भाषा में प्रवाह के साथ परुषता भी आ गई है, जो प्रकारान्तर से कवि के निर्भीक व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। प्रेम-परक कविताएँ अधिक आत्मनिष्ठ होने के कारण प्रायः छोटी हैं और भाषा सीधी-सादी; न उनमें संस्कृत शब्दों की तड़क-भड़क है और न ब्रजभाषा शब्दों का मार्दव। हाँ, ज्ञान और वैराग्य से सम्बद्ध दार्शनिक कविताओं में संत कवियों की सी अक्खड़ता और उर्दू-शब्दों का मेल है जैसे हुजूम, तर्फ़, इज़हार, इज़्ज़त, हुर्मत, चिहरे, नूर, मुकाम, अंजाम, शर्माया आदि। प्रकृति-वर्णन में ब्रजभाषा का प्रभाव सर्वाधिक है। 'हेमन्त', 'वनाष्टक' आदि में फिरौ हौ, रहै, कहै, लागी, ठूँठ भया आदि अनेक पद-पदांश ब्रजभाषा के हैं। भाषा के परिष्कृत एवं प्रांजल रूप का परिचय कवि के 'विज्ञानमंगल', 'सान्ध्य अटन', 'अटवि अटन', 'परिवर्तन', 'स्वर्गीय वीणा' जैसी गिनी-चुनी कविताओं में मिलता है। इसका एक कारण है। ये कविताएँ १६१५–१६२५ ई० के मध्य रची गईं। तब तक कवि का भाषा-विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त स्थिर हो चुका था जो उनके नवम्बर १६११ ई० की 'मर्यादा' में प्रकाशित 'खड़ीबोली की कविता' शीर्षक अपने लेख से ज्ञात भी होता है। भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए पाठक जी ने कहा कि "विशुद्ध भाषा की कविता ही उच्च श्रेणी की कविता कहलाने की सम्भावना और शिष्ट समाज में आदर पाने की योग्यता रख सकती है। मिश्रित या खिचड़ी भाषा के पद्य में यह योग्यता नहीं आ सकती...यह बात असंदिग्ध है कि संस्कृत शब्दों की सहायता बिना हमारी भाषा के गद्य वा पद्य की उन्नति सम्भव नहीं......परन्तु उसके अप्रचलित शब्द और लम्बे समासों का प्रयोग जहाँ तक सम्भव हो त्यागना चाहिए... ...खड़ीबोली ने अब ऐसा प्रशस्त रूप प्राप्त कर लिया है कि उसके पद्य में ब्रजभाषा आदि हिन्दी के इतर रूपों की वाक्य-वल्लरी वा वाक्यपद्धति का किंचित् अनुपयुक्त व्यवहार भी उसके प्रकृत गौरव की हानि का हेतु हो सकता है।"[1]

१. मर्यादा, भाग I, सं० १, नवम्बर १६६८

आनुप्रासिक प्रवृत्ति पाठक जी की एक और उल्लेखनीय विशिष्टता है जो उनकी रचनाओं में दुर्गुण की सीमा तक पहुँच गई है। वे अनुप्रास के मोह से अभिभूत इकारान्त-उकारान्त शब्दों को दीर्घ करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते थे। इनके हाथों गती, मती, दुर्गती, अवनती, उन्नती, सृष्टी जैसे अनेक विकृत शब्द प्रयुक्त हुए। यही नहीं, स्थल-स्थल पर उन्होंने मनोहरा, अनश्वरा, सहाया आदि विशेषण और संज्ञाओं का क्रियारूप में मनमाना प्रयोग भी कर डाला है। मिश्र बन्धुओं ने कदाचित् शब्दों के ऐसे अंग-भंग को देखकर ही कहा था कि, "श्रीधर जी अपनी रचना में पद-मैत्री (यमक) लाने का सदा ही बड़ा प्रयत्न करते हैं यहाँ तक कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की किम्वदन्ती के अनुसार उसको दूषण कहना पड़ता है और जैसा कि मोतीपुर निवासी पं० बलभद्र मिश्र ने कहा है, ऐसा जान पड़ता है कि मानो कोई शरीर को जीव से भी बढ़कर समझे।"[१] इस प्रसंग में दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

सज्जनता जय, शुचि मनता जय
शुभ गनता जय, दृढ़ प्रनता जय
मृदुता मिलित महा मनता अति
पावनता मन भावनता जय।[२]

—'भारत जय जय'

कर न्याय की न हिंसा, हे नर न हो नृशंसा
धर सत्य की सुपंथा, होकर निडर निसंसा।[३]

—'शिक्षक भारत'

अणिमादि-मयी, ओ अणु अणु बीच अमा जा,
महिमा-महि-मोहिनि, मोह-अपोहिनि आ जा।[४]

—'शांति'

दे मुझे प्रेम का हाथ उसी दिन से तू हुआ सहाया है।[५]

—'कृतज्ञता ब्रिटेन की भारत के प्रति'

सम्भवतः पाश्चात्य भाषा के प्रभाव से ही पारटी, केस, केमरा, फ़ोकस आदि शब्दों का उपयोग भी उपलब्ध होता है। जहाँ भाषा में प्रसंग अथवा भावानुकूल स्वरूप-भेद हो गया वहाँ तत्सम प्रधान शैली में बोलचाल के शब्द या बोलचाल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अनुपयुक्त लगते हैं, यथा :—

समैया हैगा कठिन कराल,
सहैया बनो स्वजन प्रतिपाल
नवल-घन नीलोत्पल-दल श्याम,
गुण-त्रय-मय त्रिलोक अभिराम[६]

— कहाँ है मेरे लाल'

१. सरस्वती, सन् १६००, भाग I, सं० ११, पृ० ३५६-३६६—'श्रीधर पाठक की कविता' (समालोचना)
२—६. भारत गीत—पृ० ३१, ५७, १६, १६५, ६६

फिर चला—मिले यदि बकुल तो वहाँ पर,
सुचित हो कुछक-छन सुरभि मन-छकित मन,
श्रम विगत श्रन-थकित मुदित बैठूँ ज़रा।[1]

—'अटवि अटन'

देखूँ तेरा प्यारा मुखड़ा, भूलूँ जी का सारा दुखड़ा।
पर्दा फटे दर्द का सुकड़ा, पिरथी बनै सुर्ग का टुकड़ा॥[2]

—'स्वराज स्वागत (२)'

तेरा दिल हर वक्त धड़कता
तैंने घरवालों पर डाली एक विपदा रे।[3]

—'रोग तेरा क्या रे'

पाठक जी ने भावाभिव्यंजनार्थ मुहावरों का उपयोग भी यत्र-तत्र किया है। अक्ल लड़ाना, काम आना, कुछ हाथ न आना, बोझ होना, काम लेना, पास न फटकना, गोते खाना, भंडा फोड़ना, होश ठिकाने न रहना, अपनी तानना आदि प्रचलित मुहावरे काव्य में मिल जाते हैं। कहीं-कहीं तो उनका प्रयोग अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। निम्न अवतरण देखिए :—

मधुबन में जो सुना था तेरा मधुर तराना,
जी में खटक रहा है फिर से सुना दे कान्हा।[4]

—'कान्हा'

उन्होंने यह क्या किया। किए पर एकदम चौका दिया।
सोम रस छाँड द्रोह मद पिया। प्रेम का गला घोट बिस पिया॥[5]

—'बिछड़ने वाले'

वस्तुतः पाठक जी मुहावरों के प्रयोग के पक्षपाती थे। वे उन्हें 'भाषा की आत्मा' कहा करते थे और उनके उपयुक्त प्रयोग को ऐसा समझते थे जैसे "चतुर चितेरे द्वारा चित्रित कोई शुष्क प्रकृति-दृश्य का निपुण सुनार और जड़िये का बनाया हुआ बढ़िया आभूषण अथवा अनुभवशाली माली का सजाया हुआ कुसुम-स्तवक।"[6]

अलंकार—कहा जा चुका है कि पाठक जी का खड़ीबोली-काव्य अधिकांश में वर्णन-प्रधान है। दूसरे, कवि में भाषा को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत नहीं होती। अतः रचनाओं में सौन्दर्य-विधायक उपादानों का प्रायः अभाव है। भाषा में न तो अर्थ-चमत्कृति के लिए उपमानों की योजना हुई है और न सामर्थ्य शब्द-प्रयोग द्वारा लाक्षणिक चापल्य लाने का ही प्रयत्न किया गया है। सामान्यतया सीधी-सादी बात के लिए सीधी-सादी भाषा है; जहाँ अलंकार-योजना है भी, केवल सादृश्य विधायक उपमानों के ही आश्रित, जैसे :—

१—५. भारत गीत—पृष्ठ १५७, ५९, ८४, ९०, ९१
६. मर्यादा भाग I, सं० १, नवम्बर, सं० १९६८, पृ०—'खड़ीबोली की कविता'—लेखक श्रीधर पाठक

मालोपमा

स्वर्गिक शीश फूल पृथिवी का,
प्रेममूल, प्रिय लोक त्रयी का।
सुललित प्रकृति नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश ॥[१]

—'देशगीत'

उत्प्रेक्षा

विस्तृत जो बहु दूर धवल पर्वत थली,
मानो भारत-भाल-भस्म उज्ज्वल मली।[२]

—'हेमन्त'

उदाहरण

बिन दुःख की कड़वाहट के सुख में रस नहिं आता है।
बिना तिक्त-परिपाक-शाक में ज्यों नहिं स्वादु समाता है ॥[३]

—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

सन्देह

कोई पुरन्दर की किंकरी है कि,
या किसी सुर की सुन्दरी है
वियोग-तप्ता सी भोगभुक्ता,
हृदय के उद्‌गार गा रही है।[४]

—'व्योम वीणा'

किम्बा उज्ज्वल ज्योति विमल मोती-जड़ी,
है ये नृप हेमन्त-चरण-चौकी पड़ी ॥[५]

विरोधाभास

—'हेमन्त'

संचालक सबका परन्तु जो स्वयं अचल है।[६]

—'विज्ञान मंगल'

कवि-मानस पर युग की बौद्धिक चेतना का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। फलतः निम्न पद में देखिए कवि ने प्राचीन उपमानों का सर्वथा त्याग कर नवीन अप्रस्तुत विधान का उपयोग करके देखा है।

---

१. भारत गीत—पृष्ठ २६
२. मनोविनोद—पृष्ठ ७८
३. भारत गीत—पृष्ठ ७८
४. भारत गीत—पृ० १६४
५. मनोविनोद—पृ० ७८
६. भारत गीत—पृ० १६६

उपमा—सन्देह

रजनि का उदय था,
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा, बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा,
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द निभ नील, सुविशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल सा।
था प्रखर भूख की यातना से प्रहित पारणा-रक्त-रस-लिप्सु,
अन्वेषणा-युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु या अतिव क्रोध-संतप्त जर्मन्य नृप सा,
कि या अभ्र-बैलून उर में छिपा इन्द्र, या इन्द्र का छत्र या ताज,
या स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज, या कर्ण उत्ताल या स्वर्ण का थाल सा।[1]

—'सान्ध्य अटन'

चित्रमयता (गति-चित्र)

अतः मैं भी बढ़ा, उसी के पंथ को, पकड़ कार्तूस झट एक हलका चढ़ा।
दौड़ते-दौड़ते, लपकते, झपकते, हिचकते, झिझकते चला अति दूर तक॥[2]

—'अटवि अटन'

व्योम वर यान, कल किंकिणी की चटुल मसृण ध्वनि से
स्वनित, सपट कर विपल में, पवन-पथ से, तड़ित-चमक-सम
उधर से, जिधर को लोमड़ी थी गई, निकल चटपट गया॥[3]

—'अटवि अटन'

शब्द-शक्ति तथा काव्य-गुण—भारतेन्दु-युग के कवियों के साथ-साथ पाठकजी की कविता का परिशीलन करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि इस युग तक खड़ीबोली में लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता तथा व्यंजना-शक्ति का सन्निवेश नहीं हुआ था। देश की परिस्थिति, पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव एवं रूढ़िग्रस्त रीतिकालीन साहित्य के प्रति सहज उपेक्षा आदि विभिन्न कारणों ने नूतन युग के कवि में भाव-गांभीर्य न आने दिया। अतएव अनुभूति की इस तीव्रता के अभाव में अधिकांश काव्य विषयप्रधान रहा और शब्द की मात्र अभिधा शक्ति से ही गुज़ारा होता रहा। परिणामतः अभिव्यंजना की सुन्दरता शब्द-शक्तियों की दृष्टि से मुहावरे एवं उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों तक ही सीमित रही। हाँ, विषयानुकूल भाषा सुबोधता में प्रसादगुण, परुषता में ओज और वर्ण-मैत्री के कारण माधुर्यगुण अवश्य सन्निविष्ट हो गये, उदाहरणार्थ—

प्रसादगुण

जो तन मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम क्रम से, सर्वस उसको मिलता है।

१–२. भारत गीत—पृ० १४६, १५४
३. भारत गीत—पृ० १५५

हाथ पैर और नाक, कान, बुद्धि से काम जो लेता है।
जीवन का सुख पाता है वह, औरों को सुख देता है।[1]

—'जगत सचाई सार'

माधुर्यगुण

हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ' लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है।
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती, तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक, सुधा की धारा बहा रही है।[2]

—'व्योम वीणा'

ओजप्रधान

कस ले झटपट कमर, खींच ले खंग म्यान से,
चटपट हो सन्नद्ध युद्ध को बड़ी शान से,
गुरखा, सिक्ख, पठान, डोगरा सेना सारी,
राजपूत रणवीर करो रण की तैयारी।
ब्रिटिश सिंह की ध्वजा धार सजधज से धाओ,
युद्ध भूमि से शीघ्र शत्रु को मार भगाओ।[3]

—'युद्ध-पुकार'

परिवर्तन-रत जयति सतत संसार सत्य मय
सुन्दर सरल सुढाल सुगम सुविधा सुकृत्य मय
परिवर्त्तन है प्राण प्रकृति के अविकल क्रम का
परिवर्त्तन-क्रम ज्ञान मर्म है निगमागम का।[4]

—'परिवर्तन तत्व'

संक्षेप में, श्रीधर पाठक के खड़ीबोली-काव्य का अनुशीलन करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी रचनाओं में अभिव्यंजना के सौंदर्य-विधायक तत्वों का उत्तरोत्तर विकास होता गया। उन्होंने भाषा को साहित्यिक एवं प्रांजल रूप प्रदान करने के लिए ब्रजभाषा तथा अरबी-फ़ारसी के शब्दों का क्रमशः बहिष्कार किया और उनके स्थान पर अर्थानुकूल व्यंजक तत्सम शब्द सन्निविष्ट कर खड़ीबोली को काव्योचित बनाया। अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से भी पाठकजी ने खड़ीबोली में नूतन एवं उपयुक्त बौद्धिक उपमान-प्रयोगों द्वारा नवीन मार्ग का उन्मेष किया। संस्कृत तथा अंग्रेज़ी काव्यानुवाद के कारण उनकी खड़ीबोली-रचनाओं को द्विगुणित लाभ हुआ। उससे एक तो खड़ीबोली-काव्य की विषयगत एकरूपता दूर हुई और दूसरे, भाषा में अनायास ही अन्य भाषाओं की कथन-भंगिमा समाविष्ट

१. जगत सचाई सार—पृ० २
२. मनोविनोद—पृ० १६४
३. मनोविनोद—पृ० १५२
४. भारत गीत—पृ० ६७

हो गई, जिससे खड़ीबोली के अभिव्यंजना-पक्ष को अभूतपूर्व बल मिला।

भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने की दिशा में कवि का ध्यान मुख्यतः शब्द-चयन तक ही सीमित रहा। फलतः व्याकरण विषयक आवश्यक परिष्कार उपेक्षित रहा। अब खड़ीबोली चौराहे पर खड़ी हुई केवल महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे वैयाकरण के संकेत की प्रतीक्षा कर रही थी जिन्होंने ठीक समय पर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण कर उसके स्वरूप का परिशोधन एवं कवियों का उचित मार्ग निर्देश किया।

बालमुकुन्द गुप्त (सं० १९२२-१९६४)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परवर्ती काल के खड़ीबोली-काव्य-सेवियों में दूसरा उल्लेखनीय नाम बालमुकुन्द गुप्त का है। यों तो भारतेन्दु के समय में ही गुप्तजी लेखनी पकड़ चुके थे।[1] किन्तु उस समय तक उनकी उर्दू-फ़ारसी साहित्य में अधिक अनुरक्ति थी। वे सन् १८८६ ई० में 'अख़बारे चुनार' के तथा सन् १८८८-१८८९ ई० में 'कोहेनूर' के सम्पादक के पद पर प्रतिष्ठित रहे। १८८९ ई० के अन्तिम भाग में वे मालवीय जी के अनुरोध पर काला काँकर पहुँचे और 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन-विभाग में सम्मिलित हो गए। यहीं से उनकी नियमित हिन्दी-सेवा का श्रीगणेश समझना चाहिए। गुप्तजी ने काला काँकर में रहकर पं० प्रतापनारायण मिश्र के सत्संग का विशेष लाभ उठाया, और उनसे पद्य-रचना सीखकर कविता करने लगे। उर्दू के प्रवीण पत्रकार होने के कारण इन्हें हिन्दी भाषा-साहित्य का मर्म समझने में बहुत समय न लगा।

विषय-वस्तु—गुप्तजी का खड़ीबोली-काव्य भी इस युग के अन्य काव्य के समान राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मात्र है। 'सर सैयद का बुढ़ापा', 'वसन्तोत्सव', 'पंजाब में लायल्टी' आदि कविताएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इनमें कवि ने राजनीतिक दासत्व, भारतीयों के सांस्कृतिक आचार-विचार एवं रहन-सहन के प्रति विमुखता और देशदारिद्र्य, अशिक्षा, कलह, किसानों की दुर्दशा आदि की ओर संकेत किया है; साथ ही यह भी दिखाया है कि प्रबल विदेशी संस्कृति और शासन से आक्रान्त जातीय-ज्योति-दीपक कैसे शनैः-शनैः निष्प्रभ होता जा रहा है। व्यंग्य-विनोद के लिए 'तकरीर मुँह जबानी', 'जोगीड़ा', 'टेसू', 'उर्दू को उत्तर', 'पोलिटिकल होली', 'नया काम कुछ करना', 'गुरुघंटाल का स्वप्न' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'सभ्य बीवी की चिट्ठी', 'विज्ञ विरहनी' और 'आजकल का सुख' शीर्षक कविताएँ उस समय की शिक्षिता नारी तथा विलास-प्रिय स्वार्थी नवयुवक पर तीखा व्यंग्य है। 'वसन्तोत्सव' और 'भैंस का स्वर्ग' जैसी रचनाओं में नगर की कृत्रिमता से दूर भारतीय गाँव-जीवन की सरलता तथा प्राकृतिक सुषमा की नैसर्गिक छटा का सुन्दर वर्णन है। 'मनुष्य की लालसा' में अमेरिका संयुक्त प्रान्त के एक प्रैज़ीडैंट की अंग्रेज़ी कविता का भाव है। बालविनोद के लिए 'ज़रूर कर सकते हो', 'रेलगाड़ी', 'खल और साधु' नामक रचनाएँ भी खड़ीबोली में लिखी गईं।

गुप्तजी के समस्त खड़ीबोली-काव्य की एक सामान्य विशिष्टता यह है कि इसमें

---

१. 'भैंस का स्वर्ग' (मई १८८५ ई०) गुप्तजी की प्रथम रचना मानी जाती है।

सर्वत्र देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रति एक विचित्र प्रकार का असंतोष परिव्याप्त मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को वर्तमान ने अत्यन्त क्षुब्ध और व्याकुल बना दिया था जिससे वह देश की दीन-हीन दशा के अतिरिक्त कुछ और सोचने में असमर्थ रहा। उदाहरणार्थ 'वसन्तोत्सव' में प्रकृति के मनोरम दृश्यों का वर्णन करते-करते वह सहसा कह उठता है "हाय समय ने एक साथ सब बात मिटाई, एक चिह्न भी उसका नहीं देता दिखलाई।" अपने इन विचारों को कवि ने विनोदपूर्ण रचनाओं में भी इस प्रकार लपेट कर रखा है कि उनका आभास बीच-बीच में मिलता रहे। अतएव वह कभी पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की चकाचौंध से अन्धे, विदेशी शासन की दासता से पराभूत, धनाधिक्य के कारण भोग-लिप्सा में शराबोर नवयुवक पर तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार करता है और कभी क्रान्तिकारी शब्दों द्वारा उनमें राष्ट्रीय चेतनता भरने का प्रयास करता दृष्टिगत होता है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा—(शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि) बालमुकुन्द गुप्त का समस्त खड़ीबोली-काव्य विषय-प्रधान है। कवि ने इनका पद्य-बद्ध वर्णन-मात्र किया है। इन कवित्व-विहीन इतिवृत्तात्मक रचनाओं को पद्यात्मक निबन्ध कहना ही उचित होगा क्योंकि इनमें विषय का वर्णन मात्र हुआ है। अतः भाषा-शैली और व्यंजना-सौष्ठव की दृष्टि से इन कविताओं का कोई महत्त्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि गुप्तजी ने भाषा, अलंकार, शक्ति आदि सौन्दर्य-विधायक उपादानों के प्रति पर्याप्त उदासीनता दिखाई है। वे 'जटिल भाषा' लिखना एक दोष मानते थे; आश्चर्य नहीं कि इसलिए उन्होंने केवल बोलचाल की भाषा का ही उपयोग किया हो। अतः उनकी कविताओं में तर्क, मट्टी, पै, स्वारथ, निरभर, जाती, आय, होनी, वाँ, असवारी, तिवहार, झाँपल, भवचक (भौंचक), नीरे (नियरे), कानूनन, गारे, इलैक्टिव सिस्टम, एक्ट, नेशन, ट्रस्टी, डुयल, लायल, डिसलायल आदि ब्रजभाषा, उर्दू, अंग्रेज़ी तात्पर्य यह कि देशी-विदेशी सब प्रकार के शब्दों का प्रचुर उपयोग उपलब्ध होता है। रचनाओं में कहीं ठेठ बोलचाल के ग्राम्य प्रयोग हैं, जैसे—

चलती बेर देख धन अपना, मार दुहत्थड़ सिर कूटा।[१]
चाहे टिक्कस के मारे लोगों के तन पे चाम न हो।[२]
जिनके धाऊधप्प पेट में कहत का चन्दा पचता है।[३]
माघ सुदी पाँचे का शुभ अवसर जब आता।[४]
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई।[५]
दीख पड़ा मन की आँखों से एक दिव्य अस्थान।[६]

कहीं पद-पदांश ब्रजभाषा अथवा उर्दू के हैं, जैसे—

बौराई सी ताक रही है आम की भौरी।
देख रही है तेरी बाट बहोरि बहोरी।।[७]

१—७. गुप्त निबन्धावली—पृष्ठ ६२३, ६२८, ६२४, ६३६, ६३६, ६६३, ६३३

चमन फूला है किस जा पर, कहाँ है बेलों का बावर ।[१]

ग्रौर कहीं भाषा सरल, सुबोध एवं प्रवाहमयी है, यथा 'भैंस के स्वर्ग' में नैसर्गिक सुषमा का वर्णन देखिए—

कोसों तक का जंगल है ग्रौर हरी घास लहराती है ।
हरियाली ही दीख पड़े है दृष्टि जहाँ तक जाती है ।।
कहीं लगी है झड़बेरी ग्रौर कहीं उगी है ग्वार ।
कहीं खड़ा है मोठ बाजरा, कहीं घनी सी ज्वार ।।
कहीं पे सरसों की क्यारी है, कहिं कपास के खेत घने ।
जिसमें निकले मनों बिनौले ग्रथवा धड़ियों खली बने ।।
मूँग मोठ की पड़ी पतोरन ग्रौर चने का खार ।
कहीं पड़े चौले के डंठल कहीं उड़द का न्यार ।।[२]

काव्य-भाषा में बोलचाल का प्राधान्य होने से नाम कमाना, हाथ मलना, ग्राँख लड़ना, ग्राँख दिखाना, डींगें मारना, मारग तकना, दिल पानी करना, कान भारी करना, ग्रपना-सा मुँह लेकर रह जाना, घाट-घाट का पानी पीना, डेरा कूँच करना, मुँह की खाना जैसे ग्रामफ़हम मुहावरे तो प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं, किन्तु इन रचनाग्रों में शब्द ग्रौर ग्रर्थ को चमत्कृत करने वाले यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे सामान्यतया प्रयुक्त ग्रलंकार दिखलाई तक नहीं पड़ते । हाँ, कहीं-कहीं लाक्षणिक पद-योजना ग्रवश्य दृष्टिगत होती है जो सम्भवतः उर्दू पद-पदांशों के उपयोग से स्वतः सन्निविष्ट हो गई है, उदाहरणार्थ :—

प्रयोजनवती, उपादानमूला लक्षणा

पर यह क्या बात कि चेला ही बन जावे स्वारथ का ।[३]

जिसके घर में रंगरलियों से सदा मुहम्मद शाही है ।[४]

प्रयोजनवती, ग्रगूढ़व्यंग्या, लक्षणालक्षणा

ग्रच्छे ग्रच्छे कपड़ों से तुम ग्रपने ग्रंग सजाते हो ।
इससे क्या हो सकता है जब नीचे कोढ़ छिपाते हो ।।[५]
चुने हुए मेम्बर होते तो ऐसा कब होने पाता ।
इस प्रकार कौंसिल में कब नानीजी का घर बन जाता ।।[६]

प्रयोजनवती सारोपा, शुद्धा, लक्षणा

खुले ग्रब नैन, नींद गई टूट, बुद्धि के पर ग्राये हैं फूट ।[७]

किन्तु ऐसे स्थल काव्य में ग्रनेक नहीं हैं । इसका कारण यह है कि गुप्तजी की साहित्य-साधना सोद्देश्य थी । वे 'कल्पना जीवी कवि नहीं थे, इस धरती के कवि थे जिसे विदेशी शासकों ने नष्टभ्रष्ट कर दिया था ग्रौर जहाँ के निवासी मांसल-मानव को जन-विरोधी शक्तियों ने नोंच-नोंचकर खा डाला था । इसी त्रस्त मानव-समाज की यथार्थ

१—७. गुप्त निबन्धावली—पृ० ६६९, ६६६, ६२३, ६२८, ६२९, ६३०, ६६९

अभिव्यक्ति उनकी लेखनी की अमर साधना है।'[१] गुप्तजी का कहना था कि "पराधीनता की बेड़ियों से जकड़े हुए भारत का नवयुवक 'कवि' कहलाने का अधिकार ही नहीं रखता क्योंकि कविता के लिए अपने देश की बात अपने देश के भाव और मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब कहाँ ? फिर हमारी कविता क्या, और उसका गुरुत्व क्या, इससे उसे तुकबन्दी कहना ही ठीक है।"[२] काव्य में वर्णन की ऐसी इतिवृत्तात्मकता तथा भाषा-शैली की ऐसी कलाहीनता को देखकर ही कदाचित् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बालमुकुन्द गुप्त को आधुनिक युग के केवल 'गद्यकारों' में स्थान दिया है, कवियों में नहीं।

१. बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन—डॉ० नत्थनसिंह (आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध १९५६)

२. स्फुट कविता की भूमिका, सन् १९०५ ई०

सातवाँ अध्याय

द्विवेदी युग (सं० १९५७-१९७७)

हिन्दी साहित्य में ईसा की बीसवीं शती के प्रथम दो दशाब्द खड़ीबोली के बहुमुखी विकास का परिचय देते हैं। यह निश्चित है कि इससे पूर्व खड़ीबोली का स्वरूप अपरिष्कृत एवं काव्योचित गुणों से विहीन बना हुआ था। उस युग की काव्य-कृतियों के समीक्षात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक कविगण स्वरुचि-वश अथवा छन्दानुरोध से प्रान्तीय शब्दों का उपयोग कर लेते थे। एक ही कवि स्वेच्छा से कभी अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ तत्सम-प्रधान और कभी उर्दू-फ़ारसी-मिश्रित बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में अपने भाव छन्दोवद्ध करता दृष्टिगत होता है। अधिकांश कवियों में न शब्द-शोधन का आग्रह मिलता है और न संकर भाषा को प्रांजल बनाने के प्रति उत्साह। भारतेन्दुयुगीन काव्य में भाषा के व्याकरण-निष्ठ न होने से सर्वत्र शिथिलता एवं अव्यवस्था मिलती है। हाँ, गिने-चुने कलाकार साहित्य के रीतिकालीन सीमित काव्य-बन्धनों को छिन्न कर विविध प्रयोगों द्वारा नूतन काव्य-शैली का अनुसन्धान करने में अवश्य प्रवृत्त दिखाई देते हैं। ये कलाकार कभी यमक-अनुप्रास-हीन अतुकान्त कविता रचते और कभी संस्कृत की मात्रिक-वर्णिक शृंखलाओं में जकड़े रहकर तुकाग्रह से शब्द की मात्रा को दीर्घ या लघु कर देते, अंत्याक्षर उड़ा देते अथवा छन्द में खपाने के लिए उसके स्वरूप को ही विनष्ट कर देते। उनका नूतन काव्य-माध्यम विषयानुकूल कभी अभिनव उपमान-चयन करता और कभी रूढ़ अप्रस्तुतों के बीच लड़खड़ाकर रह जाता। व्याकरण की ऐसी घोर उपेक्षा तथा अभिव्यंजना-शैली की ऐसी अनिश्चितता उस युग के सामान्य कवियों में ही नहीं अपितु प्रेमघन एवं श्रीधर पाठक जैसे पंडित-कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं में भी उपलब्ध होती है। तात्पर्य यह है कि भाषा के स्वरूप-निर्धारण एवं कला की सजीवता, दोनों ही दृष्टि से खड़ीबोली प्राग्द्विवेदी युग तक विपन्न एवं असहाय बनी रही। इसे प्रौढ़, सक्षम एवं सम्पन्न बनाने की आवश्यकता का अनुभव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

द्विवेदी युग में कवि, पाठक एवं आलोचक तीनों का ध्यान नव-स्वीकृत पद्यभाषा की त्रुटियों की ओर आकृष्ट हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों तथा साहित्य-सभाओं के अध्यक्षीय भाषणों में खड़ीबोली की शब्द-संकरता, तुकबन्दी के आतिशय्य और व्याकरण-सम्बन्धी दोषों की कटु आलोचना हुई। साथ ही कवि ने नूतन विषय-वस्तु के लिए रीतिकालीन

रूढ़ काव्य-शैली का भी विरोध किया। परिणाम-स्वरूप खड़ीबोली की उल्लिखित उच्छृंखलता का तो अन्त हो गया किन्तु भाषा के अत्यन्त व्याकरण-निष्ठ एवं काव्य-शैली के अतिशय वर्णनात्मक हो जाने से खड़ीबोली उत्तरोत्तर गद्यात्मक होती गई। इन दुर्गुणों ने उसकी अभिव्यंजन-क्षमता को व्यापक न होने दिया। उसमें अब भी कवि की मार्मिक अनुभूति एवं भावमयी कल्पना की व्यंजना के लिए उपयुक्त न तो मार्दव, कान्ति, दीप्ति आदि गुण आए, और न संगीत एवं चित्रांकणता जैसे काव्योचित धर्मों का सन्निवेश हुआ। अतः अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय प्रभृति कवियों ने काव्य-भाषा में नादात्मक शब्दों द्वारा ध्वन्यर्थव्यंजकता, विलक्षण विशेषणों की सहायता से अपूर्व लाक्षणिक चापल्य, विशिष्ट अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों द्वारा अभिनव मूर्त्तिमत्ता का विधान किया। इस प्रकार संगीत एवं चित्रांकणता को कविता के अनिवार्य गुण घोषित कर उन्होंने सत्कविता के मापदण्ड में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। परिणामस्वरूप बीस वर्षों की अल्प अवधि में ही खड़ीबोली इतनी समृद्ध एवं शक्तिशालिनी हो गई कि उसमें बाद में उत्कृष्ट कोटि की काव्य-रचना सम्भव हो सकी।

भारतेन्दु-युग की व्याकरण-मुक्त एवं स्वच्छन्द खड़ीबोली को क्रम से व्याकरण-निष्ठ एवं व्यवस्थित बनाने का सर्वाधिक श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को दिया जा सकता है। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में सत्रह वर्ष तक व्याकरण सम्बन्धी लेखों, व्यंग्य-चित्रों और प्रकाशनार्थ प्राप्त कविताओं पर कठोर व्यंग्य-प्रहार द्वारा भाषा-मार्जन किया, उसे तत्सम-तद्भव शब्दों से समृद्ध किया, प्रान्तीय शब्द-संकरता का तिरस्कार किया और उचित निर्देश द्वारा उदीयमान कवि का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी इस एकान्त भाषा-सेवा का समुचित मूल्यांकन कर विद्वानों ने इन दो दशाब्दियों को उचित ही 'द्विवेदी युग' नाम से अभिहित किया है। अतएव इस युग के खड़ीबोली-काव्य का अनुशीलन हम महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य से ही प्रारम्भ करेंगे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १६२१-१६६५)

द्विवेदीजी की खड़ीबोली-पद्य-रचना का प्रारम्भ १६ अक्तूबर, १६०० के श्री वेंकटेश्वर समाचार-पत्र में प्रकाशित 'बलीवर्द' शीर्षक कविता से माना जा सकता है क्योंकि इससे पूर्व की उनकी समस्त रचनाएँ स्थूलतः व्रजभाषा अथवा संस्कृत भाषा में है। हाँ, 'बलीवर्द' प्रकाशन के उपरान्त की दो-एक रचनाओं को छोड़कर शेष सब कविताएँ खड़ीबोली में ही मिलती हैं। द्विवेदीजी ने खड़ीबोली में मौलिक कविताओं के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यों के कुछ पद्यबद्ध अनुवाद भी किये थे। अभिव्यंजना की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् अनुशीलन ही समीचीन होगा; क्योंकि यों तो किसी भी काव्य का भाषान्तर अथवा रूपान्तर निश्चित रूप से अनुवादक की अभिव्यंजना-शैली को प्रभावित करता है किन्तु स्वयं अनूदित रचनाओं में मूल-रचना का भाव ही नहीं अपितु शैलीगत भंगिमाओं की प्रतिच्छाया भी बहुधा विद्यमान रहती है। इसलिए किसी अनूदित काव्य की अभिव्यंजनागत विशिष्टताओं के लिए अनुवादक को सर्वांश में श्रेय देना उचित नहीं। अस्तु!

मौलिक काव्य

द्विवेदीजी ने राजनीति, समाज, अध्यात्म, प्रकृति तथा साहित्य आदि विविध विषयों को पद्यबद्ध किया। 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना', 'जन्म-भूमि', 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार', 'वन्देमातरम्', 'प्यारा वतन', 'आर्यभूमि', 'कर्तव्य पंचदशी', 'कवि और स्वतंत्रता', 'देशोपालम्भ', 'भारतवर्ष', 'सेवावृत्ति की विगर्हणा' जैसी रचनाओं में मुख्यतः मातृभूमि-प्रेम, देशभक्ति, विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार आदि विषयों का पाठ है। कहीं-कहीं राजभक्ति का क्षीण स्वर भी सुनाई पड़ जाता है। 'विधि विडम्बना', 'ईश्वर की महिमा', 'विचार करने योग्य बातें' शीर्षक रचनाओं में जीवन-मरण, सुख-दुख, आदि शाश्वत एवं गंभीर प्रश्नों का भावपूर्ण उल्लेख है। 'हे कविते !' 'ग्रंथकार लक्षण', 'सरस्वती की विनय', 'ग्रंथकारों से विनय', 'सन्देश' आदि में हिन्दी की शोचनीय दशा की मार्मिक व्यंजना है। 'महिला परिषद्', 'कान्य-कुब्ज अवला विलाप' तथा 'ठहरौनी' में समाज की अधोगति और दुरवस्था का कारण-सहित वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'जम्बुकी न्याय' 'बलीवर्द', 'टेसू की टाँग' आदि में अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत विषय का हास्य-मिश्रित व्यंग्यपूर्ण कथन है। 'रम्भा', 'कुमुद सुन्दरी', 'महाश्वेता', 'गौरी', 'गंगा-भीष्म', 'प्रियंवदा', 'इन्दिरा' आदि रचनाएँ रवि वर्मा कृत चित्रोंके परिचय मात्र हैं जिनका आलम्बन आधुनिक नारी या पौराणिक आख्यान हैं।

द्विवेदीजी की कविता पर आधुनिक आलोचक इतिवृत्तात्मकता का दोष लगाते हैं। यह आरोप कविताओं के क्रमिक अध्ययन से किसी सीमा तक सार्थक भी प्रतीत होता है। किन्तु भाषा-शैली की इस इतिवृत्तात्मकता के लिए द्विवेदीजी को ही सर्वथा दोषी ठहराना अन्याय होगा। कारण यह है कि एक तो इनकी खड़ीबोली-रचनाएँ अधिकांशतः विषय-प्रधान हैं, जिनके लिए काव्य में प्रायः वर्णनात्मक शैली का ही उपयोग किया जाता है। दूसरे, द्विवेदीजी का अधिकांश काव्य सोद्देश्य लिखा गया था। उन्होंने सन् १९०३ में 'सरस्वती' सम्पादन का भार ग्रहण करते ही खड़ीबोली की सीमित अभिव्यंजना शक्ति को देखा और अपनी सारी शक्ति उसके सुधार पर केन्द्रित कर दी। जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है उन्होंने यह कार्य व्याकरण-सम्बन्धी लेखों, अन्य कवि-कृतियों की निर्मम आलोचना, व्यंग्य-चित्र आदि साधनों द्वारा ही सम्पन्न नहीं किया वल्कि अपनी कविताओं को भी भाषा-शिक्षण का माध्यम बना लिया। उनकी इस अविश्रान्त सेवा से खड़ीबोली का रूप परिनिष्ठित हुआ, उसमें भावाभिव्यंजन की क्षमता आई और उसके विरोधियों का मुख भी सदा के लिए बन्द हो गया; किन्तु इस प्रयास से कवि द्विवेदी की अपनी अर्द्ध-विकसित कोमल काव्य-भावनाएँ कुंठित ही नहीं विलुप्तप्राय हो गईं। साथ ही, आदर्श भाषा प्रस्तुत करने का विशेष आग्रह द्विवेदीजी के काव्य को अधिकाधिक गद्यात्मक बनाता गया जिसका उनकी अभिव्यंजना-शैली पर घातक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—यह निर्विवाद है कि 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन से पूर्व स्वयं द्विवेदीजी का ध्यान स्वरचित काव्य-परिष्कार की ओर नहीं गया था। इसलिए उनकी प्रारम्भिक काव्य-भाषा में बाद की रचनाओं से पर्याप्त अन्तर

है। 'बलीवर्द', 'विधि विडम्बना', 'हे कविते' ! आदि प्रारंभिक कृतियों में उस युग के अन्य कवियों की तरह भाषा-संकरता प्रचुर मात्रा में मिलती है। कवि ने स्थल-स्थल पर यदपि, तदपि, विध, थिर, थान, सिख, सामत, पठाया, उपजैहौ, चहते हौ, लौ, देवै, मिटाय, होय, सुभाय, अकुलानी, लजानी, समानी, विकानी, घबरानी आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया है। उसका शब्द-विकृति से बचने का भी कोई जागरूक प्रयत्न लक्षित नहीं होता; मिष (मिस), योज्ञता (योग्यता), सुहागिलपन (सुहागिनपन), मूरखताई (मूर्खता), सुन्दरताई (सुन्दरता) जैसे सामान्यतया प्रचलित शब्दों का निस्संकोच अंगभंग कर दिया गया है। इसी प्रकार शब्द-सन्धि, सर्वनाम, क्रियापद, संज्ञा-प्रयोग आदि में भी कवि ने स्वच्छन्दता बरती है, उदाहरणार्थ :—

भाववाचक संज्ञा

मद पर भी निज उन्मदता से विजय बड़ाई पाते हो।[1]

—'बलीवर्द'

अद्भुत मेरी सुन्दरताई, मूर्ति मनोहर मैंने पाई।[2]

—'जम्बुकी न्याय'

सर्वनाम

हुआ जिन्होंने को, यह तत्व ज्ञान,
वही वशीभूत तुझे करेंगे।[3]

—'कविते'

शब्द-सन्धि

देख देख कर उसे मनीमन फूले नहीं समाते हो।[4]

—'बलीवर्द'

विकास तेरा कविते ! कल्ही हुआ।[5]

— 'हे कविते'

क्रियापद

नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में,
दिखा पड़े है तव रम्य-रूपता।[6]

(दिखाई पड़ती है)—'हे कविते'

किसी न किसी काम में, सब दिन,
जब देखो तब जोते हो।[7]

—(जुते हो) 'बलीवर्द'

मैं जैसा विषयी हूँ वैसा और नहीं दिखलाता है।[8]

(दिखलाई पड़ता है)—'बलीवर्द'

जिनकी कीर्ति ध्वजा अभी तक,
सतत फिरे है फहरानी।[9]

(सतत फहराती है)—'विधि विडम्बना'

१—९. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० २७७, ३९८, २९१, २७५, २९२, २९१, २७३, २७४, २८१

लिंग-दोष

नूतन चित्र चरित्र प्रसार, करके उनकी चित्त अनुसार ।[1]

अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के समान खड़ीबोली में भी संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुल मात्रा में पाया जाता है। संयुक्त क्रिया विशेष अर्थ के लिए विशिष्ट कृदन्त संज्ञा या विशेषण के साथ सहायक क्रिया जोड़ने से बनाई जाती है। संज्ञा या विशेषण के साथ क्रिया-प्रत्यय जोड़ने पर उसे नामधातु-क्रिया कहा जाता है यथा निर्माण करना, अनुमान लगाना, प्रकट होना, स्वीकार करना, आरम्भ होना आदि। द्विवेदीजी के काव्यानुशीलन से विदित होता है कि उन्हें नामधातु-क्रिया की संयुक्तता पद्य में पसन्द न थी इसलिए कुछ तो तुकाग्रह से और कुछ भाषा में कसावट लाने के लिए उन्होंने संज्ञाओं को ही क्रिया-रूप में प्रयुक्त कर दिया है, जैसे —

काम कामिनी की ले छाया,
जिसे चतुर्मुख ने निर्माया।[2]

—'कुमुद-सुन्दरी'

सुषमा सर उसने अवगाहा।[3]

—'उषा-स्वप्न'

सुरसरि ने इनको स्वीकारा।[4]

—'गंगा-भीष्म'

जन समूह उर बीच प्रीति मेरी प्रकटावौ।[5]

—'सरस्वती की विनय'

इनके अतिरिक्त पधारा, प्रकटा, अनुमाना, पूजा, आराधी, शायक सन्धाना, सुयश विस्तारा, आदि और भी अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन प्रयोगों की अशुद्धता का ज्ञान द्विवेदीजी को बहुत बाद में हुआ था। प्रारम्भिक कविताओं में वाक्य-योजना भी बड़ी अव्यवस्थित है। कहीं छन्द के आग्रह से क्रिया की निरर्थक पुनरावृत्ति मिलती है, जैसे :—

अवश्य श्री हर्ष शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई।[6]

—'हे कविते'

अतः उन्हीं से चुन एक आध को,
कृपाधिकारी अपना बना, बना।[7]

—'हे कविते'

और कहीं भाषा में लाघव लाने के लिए एक ही पूर्ण अथवा सहायक क्रिया से तीन-चार वाक्य शृंखलित कर दिये गये हैं, जैसे :—

सीखा चित्र बनाना इसने, करके कौशल नाना इसने।
पढ़ना और पढ़ाना इसने, पति का चित्त चुराना इसने॥

१—७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३००, ३७७, ३८६, ४१५, ३६४, २६२, ४४१

पुरुषों में भी जाना इसने, मंद मंद मुस्काना इसने।
सुधा सलिल बरसाना इसने, जरा नहीं शरमाना इसने ॥[१]

—'प्रियंवदा'

यों कह कर घबड़ाने तब वह, लगी गिरीश मानने तब वह,
दु:ख अत्यधिक पाने तब वह, तनु को कृशित बनाने तब वह।[२]

—'उषा-स्वप्न'

दो-एक स्थलों पर दूरपदान्वय दोष भी मिल जाता है, यथा :—

न तिस पर भी हमे जो लाज आवै, किया क्या हाय, हे जगदीश ! जावै।[३]

'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार'

जो पदार्थ, तुमको अपने बनाये हैं प्राप्य, लो तुम वही न छुवो पराये।
लावो न गे वचन जो मन में हमारा, तो सर्वनाश अब दूर नहीं तुम्हारा ॥[४]

—'देशोपालम्भ'

महिला अनेक महि की भूषण हैं हो गई,
उनकी सुचाल को ही चले चित्त लाय हम।[५]

—'महिला-परिषद्'

इसके अतिरिक्त भाषा में कहीं ठेठ बोलचाल के शब्द हैं, कहीं प्रान्तीय क्रियाओं का उपयोग किया गया है और कहीं संस्कृत की समस्त पदावली दो-दो पंक्तियों में प्रवाहित होती चली जाती है, जैसे :—

बोलचालप्रधान भाषा

कमलासन ! सचमुच यह तेरी हैगी भारी भूल।[६]

—'विधि-विडम्बना'

मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है।[७]

प्रान्तीय भाषा-मिश्रण

जो इनमें जगदीश ! न तुम करुणा उपजैहौ।
इस वत्सर के अन्त मुझे नहिं जीवित पैहौ ॥
तब मेरे गुण-दोष चित्त में ये लावैंगे।
सम्भव है उस समय कदाचित् पछतावैंगे ॥[८]

संस्कृतप्रधान भाषा

सुरम्य रूपे ! रसराशि रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र कान्ते ! कविते, अहो कहाँ ?[९]

—'हे कविते'

पृथ्वी समुद्र-सरिता-नग-नाग-सृष्टि।
मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि वृष्टि ॥

१–९. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ४४१, ३८५, ३६६, ४२३, ३८२, २८८, ३७४, ३६४, २६१

तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति हारी।
आह्लादकारक शशी निशि तापहारी ॥[१]

—'विचार करने योग्य बातें'

भाषा की यह अव्यवस्था एवं अनिश्चितता तो शीघ्र बन्द हो गई, किन्तु अधिक व्याकरणनिष्ठ होने से द्विवेदीजी की काव्य-भाषा अत्यन्त गद्यात्मक हो चली। 'आदर्श भाषा' में यह दोष यहाँ तक बढ़ा कि वाक्य-रचना में उद्देश्य और विधेय का पद्य के अनुकूल स्थान-परिवर्तन भी न किया जाता जिससे कवि की अधिकांश कविताएँ गद्यवत् पढ़ी जा सकती हैं:—

कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है, सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुँवर कन्हाई, उसने भी वह रंगत पाई ॥[२]

—'कोकिल'

देखो यहाँ सकल बालक ये खड़े हैं, छोटे अनेक, दस पाँच कहीं बड़े हैं।
हे हे दयालु, इनका कर थाम लीजै, कीजै कृपा, अब इन्हें मत छोड़ दीजै ॥[३]

—'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना'

जहाँ बालपन सकल बिताया, जहाँ खेल खेला मनभाया।
जहाँ रहे भगिनी प्रिय भ्राता, पिता और सुत वत्सल माता ॥[४]

—'जन्मभूमि'

माता से जग के बीच जन्म मिलता है,
भाषा से सब व्यवहार सदा चलता है।[५]

—'ग्रन्थकारों से विनय'

द्विवेदी-काव्य के वाक्यगत शैथिल्य का दूसरा कारण उसमें तुक का दुराग्रह है। निम्न उद्धरण देखिए जहाँ तुक तो मिल नहीं पाया है परन्तु भाषा अवश्य अटपटी सी जान पड़ती है:—

सुरगुरू को भी गालीदान, देने में जिनको लज्जा न,
उनको ही ऊँचे दर्जे के ग्रन्थकार जग कहता है।[६]

—'ग्रन्थकार लक्षण'

जिनका कहीं नहीं सम्मान, तिस पर प्यारे घमण्ड घटा न,
ग्रन्थकार सिंहासन ऊपर आसन वही लगाते हैं।[७]

—'ग्रन्थकार लक्षण'

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि द्विवेदी-काव्य में संस्कृत-शब्दों का प्राधान्य, तदनुकूल द्वित्व वर्ण-योजना आदि का उपयोग 'आर्यभूमि' 'कर्तव्य पंचदशी' 'देशोपालम्भ' 'शरीर-रक्षा' जैसी गिनी-चुनी रचनाओं में ही उपलब्ध होता है। वस्तुतः पद्य-भाषा की इस तत्सम-निष्ठता का मूल कारण कवि पर मराठी भाषा का प्रभाव और संस्कृत वृत्तों का उपयोग ही है[८], अन्यथा अधिकांश कविताओं में खड़ीबोली के प्रांजल एवं प्रकृत रूप का उपयोग

१—६. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३७२, ३५७, ३६२, ३६५, ३७५, २६७
७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० २६६
८. रसज्ञ रंजन—पृ० १८

हुआ है। कारण यह है कि स्वयं द्विवेदी जी कविता के लिए बोलचाल की सरल भाषा को ही उपयोगी मानते थे। उनका कहना था कि, "कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले······विलष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही वांछनीय है······जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है वह बहुत लोकमान्य नहीं होता।"[१] अन्य कवियों के समक्ष काव्य-भाषा की उपर्युक्त परिभाषा प्रस्तुत कर निश्चय ही वे स्वयं उसका कोई दूसरा रूप ग्रहण नहीं कर सकते थे।

द्विवेदी-काव्य में सामान्यतया बोलचाल का रूप प्रधान होने से कहावतों और मुहावरों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। ऐसी अवस्था में जबकि खड़ीबोली बहुत अशक्त तथा अपरिपक्व थी और उसमें किसी भी गम्भीर विषय का पद्यबद्ध निरूपण ही न हो सकता था, किसी साधारण विषय पर मात्र मुहावरों की सहायता से चुभती अथवा मार्मिक बातें कह देने में कवि ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है, यथा:—

पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है।
बड़े बड़े कुलवानों का तो मुँह फीका पड़ जाता है।
कन्या नहीं बला यह कोई, यही चित्त में आता है।
किसी किसी के ऊपर मानों वज्रपात हो जाता है॥[२]

—'कान्यकुब्ज अबला विलाप'

कन्या कुल को भाँति-भाँति से पीड़ित हम नित करते हैं।
मुनियों के वंशज होने का तिस पर भी दम भरते हैं॥[३]

—'ठहरौनी'

इनके अतिरिक्त दाने-दाने को मुहताज होना, आँखें उठना, आँख लड़ाना, फूले न समाना, सिर घिसना, तूल करना, दखल जमाना, बात तोलना, वक्रचाल, अलग खिचड़ी पकाना, दिल फूटना, गारत होना, भेद खुलना, खाक छानना, हजारों रंग बदलना, अपना राग गाना, दिल खिलना, बातें बनाना, गुन गाना, सब्ज बाग दिखलाना, खोटी चाल चलना, चाट लगाना, हा-हा खाना, मुँह फीका पड़ना, नाम पर धब्बा लगाना, कलंक धोना आदि अनेक मुहावरों के सदुपयोग से भाषा में सजीवता लाई गई है। निम्न उद्धरण में कान्यकुब्ज अबला की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण देखिए:—

अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा **जाता है।**
निकल पेट के भीतर से वह मुँह में आ-आ **जाता है॥**[४]

उक्त पद में 'कलेजा फटना' और उसका भी 'पेट से निकल कर मुँह में आ-आ जाने' से हृदय की दारुण वेदना और तज्जन्य मानसिक क्लेश का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. (अ) 'कर्तव्य पंचदशी' तथा 'आर्यभूमि' क्रम से 'मैसेज टू यंगमैन' नामक चौथे एवं दसवें मराठी पत्र के भावार्थ हैं।
(आ) 'कर्तव्य पंचदशी' एवं 'देशोपालम्भ' मुकुन्द वृत्त में है और 'आर्यभूमि' मिश्रित वृत्त में है।
२—४. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ४२५, ४३६, ४२४

अलंकार—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है द्विवेदी-काव्य में विषय की प्रधानता एवं रचना के सप्रयोजन होने से, वे काव्योचित गुण न आ सके जो सहृदय पाठक को आह्लादित कर सकते। अधिकांश कविताएँ भावों का वाचन मात्र हैं, न उनमें शब्द-सौन्दर्य है और न अर्थ की रमणीयता। 'विधि विडम्बना', 'वन्देमातरम्', 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' 'महिला परिषद्' आदि गेय रचनाओं में लावनी, बहर आदि लोक-प्रचलित छन्द अपनाकर भी कवि ने उनमें वर्ण-विन्यास प्रयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। आश्चर्य नहीं कि उनमें सरसता, श्रुतिप्रियता एवं माधुर्य आदि संगीत-विधायक-तत्त्वों का सन्निवेश न हुआ हो। वाक्यों में जहाँ वर्ण अथवा पदावृत्ति अनायास हुई भी है, वहाँ यमक और अनुप्रास प्राचीन परिपाटी पर है, उदाहरणार्थ :—

वृत्यनुप्रास

नाभि नवल नीरज दिखलाती,
स्तन-तट से पट को खिसकाती।[1]
सुविचार राशि है रत्न रुचिरताधारी,
है सुन्दर वर्ण-सुवर्ण, कर्ण सुखकारी।[2]

—'ग्रन्थकारों से विनय'

यमक

गौरी-गौरी शिखर सुधारी।[3]
अवश्य श्री हर्ष शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई।
चाहे कभी नर नए पट भी न पावै,
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावै।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में अनुप्रास भी है और यमक भी। किन्तु वर्णावृत्ति में न कथन की मनोहारिता है और न पदावृत्ति में विशेष चमत्कार। हाँ, उद्बोधनात्मक कविताओं में भाषा अपेक्षाकृत अच्छी है ; उसमें भावानुसार गति, लय, ओज आदि गुण भी विद्यमान मिलते हैं, यथा :—

सुरम्य रूपे ! रस राशि रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ।[5]

—'हे कविते'

विश्वाधार ! विशाल विश्व-बाधा-संहारक।
प्रेममूर्ति ! परमेश ! अबल अबला हितकारक॥[6]

—'सरस्वती की विनय'

कहाँ पूर्वजों की वह करनी ? कहाँ हमारा ऐसा काम ?
निपट निंद्य, निर्दय, अति निष्ठुर, न्यायहीन दोषों का धाम।[7]

१—७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३७५, ३७४, ४०५, २६२, ३००, २६१, २६३

उपर्युक्त पदों में सानुप्रासिक वर्ण-योजना से निश्चय ही पद-लालित्य आ गया है। भाव के साथ भाषा भी कभी ओजमयी और कभी करुण स्वर में कुछ उपालम्भ और अनुनय-विनय सी करती प्रतीत होती है। साथ ही प्रथम पद में कान्ता-रूपिणी-कविता के लिए 'सुरम्य-रूपा', 'रसराशि-रंजिता', 'विचित्र वर्णा-भरणा', 'अलौकिकानन्ददायिनी' आदि श्लिष्ट-विशेषण प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पक्षों में चरितार्थ हो जाते हैं। यहाँ द्विवेदीजी की भाषा की शब्द-मैत्री का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने अपनी काव्य-भाषा के समस्त पदों को अनुप्रासिक रखने का जागरूक प्रयत्न किया है, जैसे 'लीलाललित', 'मही-मयंक', 'वाचक-वृन्द', 'पाप-पुण्य-पचड़ा', 'सौजन्य-सिन्धु', 'बुध-बन्धु', 'नाभि-नवल-नीरज', 'काम-कामिनी', 'चारु-चन्द्रमा', 'सुमन-सुवासित', 'नाग-नारियाँ', 'विपत्ति-विभागी', आदि। इस प्रकार की समस्त पदावली से उनकी भाषा में कसावट आ गई है।

आलोच्य काव्य की भाव-वस्तु में रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष विधायक उपमानों अथवा प्रतीकों की खोज निरर्थक होगी। चित्र परिचयात्मक रचनाओं में कवि ने नायिका-सौन्दर्य के वर्णनार्थ जहाँ अप्रस्तुत का आश्रय लिया भी है, उसमें विशेष-नवीनता नहीं मिलती। रीतिकालीन काव्य-शैली के अनुकरण पर वही 'कर-पल्लव', 'मुख-मयंक', 'धनुषाकार-भृकुटि', 'विधुवदनी' आदि रूढ़ एवं परम्पराग्रस्त उपमान उपलब्ध होते हैं। उनमें कवि की भावमयी कल्पना का सर्वथा अभाव होने से भावोद्बोधन की क्षमता नहीं रही है। इन्हें शब्दों में चित्रों का परिचय मात्र कहा जा सकता है, देखिए :—

उपमा-विषम

वदन नील नीरद-सम काला।[1]

रूपक-प्रतीप

मंजु मृणाल पराजयकारी, वाम बाहु आभूषणकारी।
किस प्रकार लटकाया इसने, कमलों को शरमाया इसने॥[2]

प्रतीप

इसके भृकुटी भय का मारा, लोप शरासन है बेचारा।[3]
इसके अधर देख जब पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते।[4]

व्यतिरेक

रूपवती यह रम्भा नारी, सुरपति तक को यह अति प्यारी।
रति, धृति भी दोनों बेचारी, इसे देख मन में है हारी॥[5]

हाँ, जहाँ अनुभूति के योग से काव्य-सृष्टि हुई है अभिव्यंजना अपेक्षाकृत सशक्त एवं सौन्दर्य विधायक तत्वों से युक्त है, यथा—

अभी मिलेगा ब्रज मण्डलान्त का सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही,
शरीर संगी करके उसे सदा, विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए ही भवभूति भाविते, अभी यहाँ, हे कविते! न आ, न आ,
बता तुही कौन कुलीन कामिनी सदा चहेगी पट एक ही कहीं॥[6]

१—६. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३८५, ३७६, ३७८, ३७८, ३७५, २९२

'कामिनी' से 'कविता' की उपमा परम्परागत अवश्य है, किन्तु 'सुन्दर वेशभूषा में सहज प्रवृत्ति रखने वाली कुलीन कामिनी एक ही सुभुक्त वस्त्र पर जीवन निर्वाह नहीं कर सकती'—सामान्य वाक्य द्वारा कवि ने सुन्दर 'अर्थान्तरन्यास' प्रस्तुत किया है।

दासत्व में सेवावृत्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि आत्म-सम्मान की भावना सुरक्षित रहना कठिन है। स्वतंत्रता का आकांक्षी मनुष्य यदि परतन्त्र हो जाय तो दास-भावना उसको घुन की तरह खाये जाती है। कवि ने प्रस्तुत सामान्य भाव को शिव एवं चन्द्रकला के उदाहरण द्वारा सौम्य रूप प्रदान किया है।

अर्थान्तरन्यास

सौम्य स्वरूप शिव ने सिर पै बिठाया,
सर्व प्रकार अति आदर भी दिखाया।
तौ भी महाकृश कलाधर की कला है,
हा, हा ! पराजय नहीं किसको खला है।[1]

—'सेवावृत्ति की विगर्हणा'

किन्तु द्विवेदी-काव्य में सामान्यतया अर्थ के अतिशय प्रकाशन के कारण इन सुकर प्रयोगों के लिए अधिक अवकाश ही न था।

शब्द-शक्ति—द्विवेदीजी की काव्य-भाषा सरल एवं प्रकृत होने का कारण स्वच्छ और स्पष्ट है। हास्य-मिश्रित व्यंग्य-प्रधान-कविताओं में वाच्यार्थ का चमत्कार उन्हें रसपूर्ण बनाने में अत्यन्त सहायक हुआ है। अतएव इनमें सुन्दर अभिधा-वैचित्र्य मिलता है। उदाहरण के तौर पर 'विधि विडम्बना' में कवि कहता है कि उस विधाता ने सृष्टि रचते समय विभिन्न उपकरणों में गुण-अवगुणानुसार रूप-भेद न करके अपनी निपट अपटुता का परिचय दिया है। उसकी यह मूर्खता मानव-बुद्धि को प्रतिक्षण चुनौती देती है। कवि के विचारानुसार—

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं।
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिह्न देख उसमें सब उनको पहचानते निशंक॥[2]
उपलपात, जलपात, भयंकर वज्रपात भी सहते हैं,
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहिं कहते हैं।
किन्तु असह्य उरोजपात का करते ही कुविचार,
तेरी विषम बुद्धि पर बुधवर हँसते हैं शत बार॥[3]

उक्त दोनों पदों में कवि-कल्पना निस्सन्देह चमत्कारिणी है। वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को दबाये बैठा है। पाठक के समक्ष इस विडम्बनापूर्ण सृष्टि का ऐसा चित्र अंकित होता है जो उसका मनोरंजन किए बिना नहीं रहता। इस प्रकार काव्य में सर्वत्र वाच्यार्थ का ही साम्राज्य है। क्योंकि कवि का ध्यान सामान्यतया वर्ण्य-वस्तु पर ही केन्द्रित रहा है अतएव अलंकार,

१—३. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३०३, २९०, २९०

मुहावरों आदि में अभिधेयार्थ व्याहत करके लक्षणा अथवा व्यंजना जहाँ अर्थान्तर में संक्रमित होती भी है, वहाँ केवल विषय ही स्पष्ट हो पाया है; अभिव्यंजना शैली में विशेष चमत्कार दृष्टिगत नहीं होता, यथा—

रूढ़ि लक्षणा

किसी समालोचक के द्वार, सिर घिस घिस कर वारम्वार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं ॥[1]

शुद्धा, उपादानमूला, अजहत्स्वार्था, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

निस्सार होकर पड़े तुम जी रहे हो।
पानी सदैव पर के घर पी रहे हो ॥[2]

शुद्धा, उपादानमूला, पदगता, अजहत्स्वार्था लक्षणा।

विदेशी धोबियों तक ने हमारी,
समझ पर हैं कलप की ईंट मारी।[3]

जहत्स्वार्था, अगूढ़ व्यंग्या, लक्षण लक्षणा

पुरुषों में भी जाना इसने,
मंद मंद मुस्काना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने,[4]

गौणी, सारोपा, पदगता लक्षणा

विरह वह्नि ने उसे जलाया,
इससे वह परलोक सिधाया।[5]

शुद्धा, सारोपा, पदगता, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

दुर्भिक्ष राक्षस जहाँ सबको सताता।
लाखों मनुष्य यह प्लेग कृन्तात खाता ॥[6]

गौणी, सारोपा, पदगता, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

दुर्वाक्य वाण सह जो न करे विचार,
धिक्कार क्यों न उनको दश लाख बार।

विवाह सम्बन्धी कविताओं में द्विवेदीजी का भावुक हृदय मुखर हो उठता था। विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ प्रायः सुहाग, घोड़ियाँ, मंगल-गाली आदि गाकर अपना और अभ्यागतों का मनोरंजन करती हैं। कवि भी ऐसे मधुर गीत सुनकर बोल उठा—

उन कोकिल कंठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये।
सुधा-सदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये ॥
इनका यह गाली गाना भी चित्त में जब यों चुभ जाता,
यदि ये कहीं और कुछ गातीं, बिना मोल मैं बिक जाता ॥[7]

१—६. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० २६६, ४२२, ३६६, ४४१, ३८०, ४१७
७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ४५१

'कोकिल कंठी कामिनियों', 'सुधा सदृश' आदि पदांशों में अनुप्रास का लालित्य है। 'कानों से पीकर' में सहर्ष सुनने की व्यंजना के लिए प्रयोजनवती लक्षणा से काम लिया गया है। मधुर गीतों को 'सुधा' की उपमा देकर 'कानों से पीने' उक्ति द्वारा उसका उचित समय पर तिरस्कार भी कर दिया। यदि ये नारियाँ गालियाँ न गाकर प्रणय-निवेदन के गीत गातीं तो कवि आत्म-समर्पण ही कर देता। विवाहोत्सव के तीसरे दिन तक वे गीत कानों में गूँजते ही रहे; अतएव वे कहते हैं—

परसों जो मधुमय गीतों का रस-समुद्र भर आया था,
मैंने तो उसमें परसों ही गोता खूब लगाया था।
आज उसी का बढ़ा हुआ जो बहा वेग से निर्मल नीर,
मन मेरा बह गया उसी में यहाँ रह गया सिर्फ़ शरीर ॥[1]

'मधुमय गीत', 'रस-समुद्र में गोता खाना', 'निर्मल नीर में मन बहना' आदि पदों में प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा उन्होंने अपनी आत्म विभोरता का परिचय दिया है।

द्विवेदीजी की काव्य-भाषा सरल, प्रांजल एवं प्रवाहयुक्त होने से प्रसादगुण-सम्पन्न है। कवि हास्य, व्यंग्य आदि के विधान में पर्याप्त सफल हुआ है। विषयानुकूल जहाँ खीझ और उपालम्भ का स्वर प्रखर है वहाँ भाषा में ओजगुण भी आ गया है; किन्तु इनमें काव्य-सौन्दर्य की उल्लेखनीय रमणीयता नहीं मिलती। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि द्विवेदीजी की कविताएँ अभिव्यंजना-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रायः श्रीहीन ही रहीं। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में वे "अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन स्पन्दन कहीं ही कहीं मिलता है।"[2]

अनूदित-काव्य—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी विरचित खड़ीबोली-काव्यानुवाद में 'द्रौपदी वचन बाणावली' (१९०० ई०) भारवि कृत किरातार्जुनीयं के प्रथम सर्ग के २७-४६ श्लोकों का, और 'कुमारसम्भव सार' (१९०२ ई०) कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' के प्रथम पाँच सर्गों का पद्यबद्ध भाषान्तर है। 'कुमारसम्भव सार' में केवल तृतीय एवं पंचम सर्ग का अविकल अनुवाद किया गया है; शेष तीन—प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ 'मूल का आशय मात्र' हैं।[3] यद्यपि अनुवादक ने भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए शब्द और भाव के क्रम-विन्यास में स्वच्छन्दता से काम लिया है तथापि दोनों अनुवादों में भाषान्तर मूल श्लोकों के अनुरूप अत्यन्त सुन्दर हुआ है। कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥१॥३२॥

—'किरातार्जुनीयम्'

हे महीप मानी नर जिसको महानिंद्य बतलाते हैं,
उसी पंथ के आप पथिक हैं, नहीं परन्तु लजाते हैं।

१. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ४५२
२—३. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रस्तावना—पृ० ४

कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मीभूत बनाता है,
सूखे शमी वृक्ष को जैसे ज्वाला जाल जलाता है ॥[1]

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलमतीव मे मनः ॥१॥४१॥
—'किरातार्जुनीयम्'

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
हृदय समूल उखड़ जाता है, पाती हूँ मैं व्यथा विशाल ।[2]

विधि समयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधेमग्नमापत्पयोधौ ॥
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ,
दिनकृतमिवलक्ष्मीस्त्वांसमभ्येतुभूयः ॥१॥४६॥
—'किरातार्जुनीयम्'

देवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस,
शत्रु-नाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश ।
जैसे प्रातःकाल सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥[3]

मधुरव ते मन्मथ साहचर्यदसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोंदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥३॥२१॥
—'कुमारसम्भव'

ऋतु-नायक तेरा सहचर है सदा साथ रहने वाला,
बिना कहे ही तुझको देगा वह सहायता इस काला ।
'शिखा अग्नि की बढ़ा दीजिए, हे समीर ! जीवनदाता !'
भला पवन से क्या कोई भी इस प्रकार कहने जाता ॥[4]

हिमव्यपायाद्विशदधरानामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किं पुरुषांगनानां चक्रे पदं पत्र विशेषकेषु ॥३॥२३॥
—'कुमारसम्भव'

जिनके अधर निरोग हो गये हिम पड़ना मिट जाने से,
जिनकी मुख-छवि पीत हो गई कुंकुम के न लगाने से ।
ऐसी किन्नर-कामिनियों के तन में स्वेद बिन्दु, सुन्दर,
रुचिर पत्र रचना के ऊपर, शोभित हुए प्रकट होकर ॥[5]

हरस्तुकिंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः
उमामुखेबिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयाभासविलोचनानि ॥३॥६७॥
—'कुमारसम्भव'

राका पति को उदित देखकर क्षुब्ध हुए सलिलेश समान,
कुछ कुछ धैर्य्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान ।

१—५. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३०६, २८३, २८४, ३२२, ३२४

लगे देखने निज नयनों से सादर, साभिलाष सस्नेह,
गिरिजा का बिम्बाधरधारी मुखमण्डल शोभा का गेह ॥[1]

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेणनाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥५॥२४॥
—'कुमारसम्भव'

प्रथम वृष्टि के बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर पीड़ित कर अधर, कुचों पर चूर चूर होकर बिखरे।
तदनन्तर, सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लंघन कर,
बड़ी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि भीतर ॥[2]

तं वीक्ष्यवेपथुमती सारसांगयष्टि निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितैव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥५॥८५॥
—'कुमारसम्भव'

उनको देख कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक,
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त,
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी, हुई चित्र खींची सी भ्रान्त ॥[3]

उद्धृत पद्यांशों की मूल श्लोकों से तुलना करने पर स्पष्ट विदित हो जाता है कि अनुवादक ने संस्कृत काव्यों का भाषान्तर करते समय यथाशक्ति उनका भाव ही नहीं अपितु काव्य-प्रसाधन भी ज्यों का त्यों बनाए रखने का प्रयत्न किया है। उसका यह प्रयास केवल 'किरातार्जुनीयम' तथा 'कुमारसम्भव' के तृतीय और पंचम सर्ग के अविकल अनुवादों तक ही सीमित नहीं बल्कि उसके प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ सर्ग के भावानुवादों में भी पाया जाता है। यद्यपि द्विवेदीजी को इस भावानुवाद में स्वच्छन्द कल्पना तथा शैली-प्रयोग के लिए पर्याप्त अवकाश था, तथापि इनमें भी मूल के अनुरूप वही अलंकार, वही शब्द-शक्ति और वही गुण आदि विद्यमान मिलते हैं। इसका एक कारण है। प्रस्तुत अनुवादों द्वारा द्विवेदीजी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करना नहीं चाहते थे। उनका उद्देश्य तो कालिदास-भारवि जैसे महाकवियों के भावों को खड़ीबोली में भाषान्तरित करके उसके विरोधियों को यह अवगत कराना था कि इस नवस्वीकृत पद्य-भाषा में भी व्रजभाषा की तरह उच्च से उच्च भावमयी कल्पना अभिव्यंजित करने की असीम एवं व्यापक शक्ति निहित है। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन अनुवादों की महत्ता एवं सार्थकता उनमें प्रयुक्त विविध अभिव्यंजना-उपादानों के आश्रित नहीं बल्कि खड़ीबोली के स्वरूप की प्रांजलता, उसके द्वारा मूल भाव की सक्षम प्रेषणीयता तथा अर्थ की बोधगम्यता पर निर्भर है।

'द्रौपदी वचनवाणावली' तथा 'कुमारसम्भव सार' दोनों अनुवाद-ग्रन्थों में खड़ीबोली प्रायः संस्कृत-निष्ठ है। तत्सम शब्दों के प्राचुर्य के कारण बोलचाल के शब्दों का व्यवहार

१-२. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३३०, ३४२
३. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३५२

अनुपात में कम हुआ है। आसीस, करिए, पिय, लुनाई, यदपि, तदपि, द्रव जैसे तद्भव प्रयोग गिने-चुने स्थलों पर ही मिलते हैं। क्योंकि ये रचनाएँ प्रारम्भिक हैं, इसलिए उनमें प्रान्तीय भाषा-शब्द स्वतः आ गए हैं; किन्तु उनकी मात्रा द्विवेदीजी के तत्कालीन मौलिक काव्य की अपेक्षा न्यून है। तुम्हैं, नहिं, यौं, तौ आदि अव्यय और बिहाय, बढ़ाय, आय, पाय, लगाय, नाय, उठौ, दिखावौ जैसे क्रियापद यत्र-तत्र झलक दिखा जाते हैं जिनसे भाषा की शुद्धता को बड़ा आघात पहुँचा है। अन्त्यनुप्रास-प्रेम ने द्विवेदीजी का यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा है। कवि ने तुक या मात्रा के आग्रह से शब्दों का अंग-भंग करने में कोई संकोच नहीं किया है; 'औषधी', 'भगवाना', 'राशी', 'आराती', (आराति), 'समाना', 'बलवाना', 'बाणा', 'जाला' (जाल), 'काला' (काल), 'लाली' (लाल), 'ठिकान' (ठिकाना) जैसे अनेक शब्दों की मात्राएँ तुक मिलाने के लिए दीर्घ या लघु कर दी गई हैं या सर्वथा उड़ा ही दी हैं। विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ बनाने में केवल 'ता' या केवल 'आई' प्रत्यय से काम नहीं चल सका; दोनों जोड़कर 'चंचलताई', 'सुन्दरताई', 'मधुरताई', 'सुघरताई', आदि भी बनाए गये हैं। मौलिक काव्य के समान अनुवादों में भी नामधातु क्रिया के स्थान पर 'प्रकटाया', 'अस्वीकारी', 'अनुमाना', आदि उपलब्ध होते हैं। शब्द-स्वरूप की ऐसी विकृति के कारण एक तो भाषा अव्यवस्थित प्रतीत होती है, और दूसरे अर्थ-बोध कठिनाई से होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

जल बीच प्रथम निज बीज तुम्हीं ने डाला,
अतएव तुम्हीं से हुआ चराचर जाला।
विधि, विष्णु, रुद्र आकार, यथा क्रमधारी,
उत्पादक, पालक तुम्हीं, तुम्हीं संहारी॥[1]
देह मृदुलता की अनपेक्षा, करके तब वह सुकुमारी।
करने लगी उसी क्षण से ही, तपो विधान महा भारी॥[2]
वही ईश निज आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति आगी।[3]
बड़े वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दुख महान॥[4]
कमलाकर मानौ मन्द पवन के प्रेरे॥[5]
वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय, प्राय पराभव भरते हैं॥[6]

प्रथम पाँच अवतरणों के रेखांकित शब्दों से कवि का तात्पर्य क्रम से 'जाल', 'संहारक', 'उपेक्षा', 'आगे', 'प्रवेश किया', 'प्रेरित किये हुए' आदि है। छठे अवतरण में 'निश्चय' के साथ 'प्राय' का प्रयोग अनुपयुक्त है। इसी प्रकार अन्त्यनुप्रास का निर्वाह भी इस सीमा तक किया गया है कि भाषा में व्याकरण की दृष्टि से स्थल-स्थल पर व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। उसमें शब्द-सन्धियों की स्वच्छन्दता, कारक-चिह्नों की गड़बड़ तथा लिंग और वचनों में मनमाने प्रयोग मिलते हैं, यथा :—

शब्द-संधि

सुरवृन्द घरी में पड़ा सड़ा करता है।[7]

(घर+ही)

१—७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३१३, ३४१, ३१२, ३४७, ३१५, २८२, ३१८

यह उसे हमीं से मिला विभव विस्तारा,
फिर कैसे उसका करें हमीं संहारा।[1]
(हम+ही)

कारकचिह्न

कामिनियों के लिए मधुर मदिरा मुददायी,
विडम्बना है बिना तुम्हें अब बनी बनाई। (तुम्हारे)
नाम शेष सुन तुम्हें शशी अति पछतावेगा, (तुम्हारा)
शुक्ल पक्ष में भी न वृद्धि सुख से पावेगा॥[2]

लिंग-दोष

मनोऽभिलाष जानने वाले गिरिवर से निज अभिलाषा।
एक बार आली के मुख से शैल सुता ने यों भाखा।[3]
सारे ऋतु उसके जाये हुये हैं माली॥[4]

वचन

उसके भय वीथी बन्द, सभी डरता है,
सुर-वृन्द घरी में पड़ा सड़ा करता है[5]

कतिपय स्थलों पर वाक्य-रचना में दूरपदान्वय दोष आ जाने से अर्थ का सहसा बोध नहीं हो पाता, यथा :—

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरों की मानसी सुता शुचि मैना से, समेत उत्साह॥[6]

ये गदा धनद के बाहु-दण्ड-आकारी।
हैं कह से मानौ रहे पराभव भारी॥[7]

उद्धृत पदों में क्रम से अन्वय होना चाहिए था—'उसी हिमालय पर्वत पति ने उत्साह समेत अपना विवाह विधिवत् किया' तथा 'हैं कह से रहे मानौ पराभव भारी'। निम्न पद में देखिए, कवि का अभिप्राय है 'जला देना' किन्तु वाक्य से अर्थ निकलता है 'जलाना छोड़ दें' :—

फिर मलयानिल छोड़ जलाना मुझको सत्वर,
मेरे बिना मनोज नहीं रह सकता पल भर॥[8]

द्रौपदी धर्मराज से क्रोधित होकर कहती है—

वस्त्र हरण आदिक अति दुस्सह दुःख, तथापि आज इस काल,
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल॥[9]

प्रस्तुत पद से कवि का आशय कठिनाई से स्पष्ट होता है। मूल रचना पढ़ने के उपरांत ही बोध किया जा सकता है कि 'वस्त्र हरण आदि जैसे अति दुस्सह दुःख में भी (मैं मौन रही.

१—९. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३१८, ३३३, ३३९, ३१६, ३१६, ३०८, ३१५, ३३६, २८२

अनुपात में कम हुआ है। आसीस, करिए, पिय, लुनाई, यदपि, तदपि, द्रव जैसे तद्‌भव प्रयोग गिने-चुने स्थलों पर ही मिलते हैं। क्योंकि ये रचनाएँ प्रारम्भिक हैं, इसलिए उनमें प्रान्तीय भाषा-शब्द स्वतः आ गए हैं ; किन्तु उनकी मात्रा द्विवेदीजी के तत्कालीन मौलिक काव्य की अपेक्षा न्यून है। तुम्हैं, नहिं, यों, तौ आदि अव्यय और विहाय, वढ़ाय, आय, पाय, लगाय, नाय, उठौ, दिखावौ जैसे क्रियापद यत्र-तत्र झलक दिखा जाते हैं जिनसे भाषा की शुद्धता को बड़ा आघात पहुँचा है। अन्त्यनुप्रास-प्रेम ने द्विवेदीजी का यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा है। कवि ने तुक या मात्रा के आग्रह से शब्दों का अंग-भंग करने में कोई संकोच नहीं किया है; 'औषधी', 'भगवाना', 'राशी', 'आराती', (आराति), 'समाना', 'वलवाना', 'वाणा', 'जाला' (जाल), 'काला' (काल), 'लाली' (लाल), 'ठिकान' (ठिकाना) जैसे अनेक शब्दों की मात्राएँ तुक मिलाने के लिए दीर्घ या लघु कर दी गई हैं या सर्वथा उड़ा ही दी हैं। विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ वनाने में केवल 'ता' या केवल 'आई' प्रत्यय से काम नहीं चल सका; दोनों जोड़कर 'चंचलताई', 'सुन्दरताई', 'मधुरताई', 'सुघरताई', आदि भी बनाए गये हैं। मौलिक काव्य के समान अनुवादों में भी नामधातु क्रिया के स्थान पर 'प्रकटाया', 'अस्वीकारी', 'अनुमाना', आदि उपलब्ध होते हैं। शब्द-स्वरूप की ऐसी विकृति के कारण एक तो भाषा अव्यवस्थित प्रतीत होती है, और दूसरे अर्थ-बोध कठिनाई से होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

जल बीच प्रथम निज बीज तुम्हीं ने डाला,
अतएव तुम्हीं से हुआ चराचर जाला।
विधि, विष्णु, रुद्र आकार, यथा क्रमधारी,
उत्पादक, पालक तुम्हीं, तुम्हीं संहारी ॥[१]
देह मृदुलता की अनपेक्षा, **करके तब वह सुकुमारी।**
करने लगी उसी क्षण से ही, तपो विधान महा भारी ॥[२]
वही ईश निज आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति आगी।[३]
बड़े वेग से इसके उर में प्रविशे **देकर दुख महान** ॥[४]
कमलाकर मानौ मन्द पवन के प्रेरे ॥[५]
वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय, प्राय **पराभव भरते हैं** ॥[६]

प्रथम पाँच अवतरणों के रेखांकित शब्दों से कवि का तात्पर्य क्रम से 'जाल', 'संहारक', 'उपेक्षा', 'आगे', 'प्रवेश किया', 'प्रेरित किये हुए' आदि है। छठे अवतरण में 'निश्चय' के साथ 'प्राय' का प्रयोग अनुपयुक्त है। इसी प्रकार अन्त्यनुप्रास का निर्वाह भी इस सीमा तक किया गया है कि भाषा में व्याकरण की दृष्टि से स्थल-स्थल पर व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। उसमें शब्द-सन्धियों की स्वच्छन्दता, कारक-चिह्नों की गड़बड़ तथा लिंग और वचनों में मनमाने प्रयोग मिलते हैं, यथा :—

शब्द-संधि

सुरवृन्द घरी **में पड़ा सड़ा करता है।**[७]

(घर+ही)

१—७. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३१३, ३४१, ३१२, ३४७, ३१५, २८२, ३१८

यह उसे हमीं से मिला विभव विस्तारा,
फिर कैसे उसका करें हमीं संहारा।[1]
(हम+ही)

कारकचिह्न

कामिनियों के लिए मधुर मदिरा मुददायी,
विडम्बना है बिना तुम्हें अब बनी बनाई। (तुम्हारे)
नाम शेष सुन तुम्हें शशी अति पछतावेगा, (तुम्हारा)
शुक्ल पक्ष में भी न वृद्धि सुख से पावेगा॥[2]

लिंग-दोष

मनोऽभिलाष जानने वाले गिरिवर से निज अभिलाषा।
एक बार आली के मुख से शैल सुता ने यों भाखा।[3]
सारे ऋतु उसके जाये हुये हैं माली॥[4]

वचन

उसके भय वीथी बन्द, सभी डरता है,
सुर-वृन्द घरी में पड़ा सड़ा करता है[5]

कतिपय स्थलों पर वाक्य-रचना में दूरपदान्वय दोष आ जाने से अर्थ का सहसा बोध नहीं हो पाता, यथा :—

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरों की मानसी सुता शुचि मैना से, समेत उत्साह॥[6]

ये गदा धनद के बाहु-दण्ड-आकारी।
हैं कह से मानौ रहे पराभव भारी॥[7]

उद्धृत पदों में क्रम से अन्वय होना चाहिए था—'उसी हिमालय पर्वत पति ने उत्साह समेत अपना विवाह विधिवत् किया' तथा 'हैं कह से रहे मानौ पराभव भारी'। निम्न पद में देखिए, कवि का अभिप्राय है 'जला देना' किन्तु वाक्य से अर्थ निकलता है 'जलाना छोड़ दे' :—

फिर मलयानिल छोड़ जलाना मुझको सत्वर,
मेरे बिना मनोज नहीं रह सकता पल भर॥[8]

द्रौपदी धर्मराज से क्रोधित होकर कहती है—

वस्त्र हरण आदिक अति दुस्सह दुःख, तथापि आज इस काल,
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल॥[9]

प्रस्तुत पद से कवि का आशय कठिनाई से स्पष्ट होता है। मूल रचना पढ़ने के उपरांत ही बोध किया जा सकता है कि 'वस्त्र हरण आदि जैसे अति दुस्सह दुःख में भी (मैं मौन रही,

१—९. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३१८, ३३३, ३३६, ३१६, ३१६, ३०८, ३१५, ३३६, २८२

वही मौन मुझे आज भी ग्रहण करना चाहिए था) तथापि हे भूपाल ! (तुम्हारी कायरता) आज वार-वार मुझे बोलने को प्रेरित करती है।' ऐसे पद्यांशों में अनुवादक ने रसज्ञ पाठक की बुद्धि की पूरी परीक्षा कर डाली है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अनुवादों की भाषा में कोई सौंदर्य अथवा लालित्य ही नहीं है। ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं जहाँ भाषा कवि की अनुवर्त्तिनी प्रतीत होती है—

राकापति को उदित देखकर, क्षुब्ध हुए सलिलेश-समान,
कुछ कुछ धैर्यहीन होकर के संयमशील शंभु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का बिम्बाधर धारी मुखमण्डल शोभा का गेह॥
खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुच्छ अंगों-द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से अभिष्ट सी, वहीं देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही॥[1]

उपर्युक्त अवतरणों की भाषा प्रांजल है, पद असमस्त हैं और प्रत्येक अनुभूति का सरलता से अंकन किया गया है। अनुप्रास की प्रतिच्छाया के कारण पदावली कोमल और कान्त हो गई है। संयमशील शंभु ने गिरिजा के नत आनन को सादर, साभिलाष, सस्नेह नयनों से देखा। शंभु भगवान के साथ मानो 'सादर' 'साभिलाष' शब्द भी दृष्टिक्षेप कर रहे हैं। अनुवाद करते समय एक जगह द्विवेदीजी ने अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय भी दिया है। 'मदन दहन' के प्रसंग में कालिदास ने 'शंकर' के लिए 'भव' शब्द का उपयोग किया है। द्विवेदीजी ने 'भव' शब्द को जन्म या उत्पत्ति का सूचक बताकर प्रसंगानुकूल 'हर' (संहारवाची शंकर) शब्द को समीचीन कहा है।[2]

भावपूर्ण स्थलों का सफल निर्वाह—अनुवादक की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि वह मूलकाव्य के मर्मस्पर्शी स्थलों का यथावत् चित्रण कर दे। भावानुवादों में यह कर्तव्य-कर्म अधिक कठिन होता है अतः सफलता उतनी ही स्तुत्य मानी जाती है। 'कुमारसम्भवम्' के चतुर्थ सर्ग में 'रति विलाप' बड़ा ही करुण एवं हृदय विदारक प्रसंग है। रतिपति सहसा त्रिनयन शंभु के कोपभाजन बने और रति को असह्य वैधव्य भोगना पड़ा। अनूदित सर्ग में भी इसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। मूल रचना के अनुरूप इसमें भी स्मृति, प्रलाप, उन्माद, जड़ता आदि संचारी भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। द्विवेदीजी की 'रति' के उद्गारों में भी कालिदास की 'रति' की सी तड़पन, विवशता और दैन्य है। पति को भस्मीभूत होते देख 'रति' संज्ञाहीन होकर निश्चेष्ट पृथिवी पर गिर पड़ी। कुछ समय के उपरान्त वास्तविक स्थिति का परिज्ञान होते ही वह कहती है—

नव नलिनी को नीर छोड़ जाता है जैसे,
कहाँ गया, हे नाथ ! छोड़ मुझको तू तैसे ?

१-२. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३३०, ३३१ (पाद-टिप्पणी)

किया नहीं प्रतिकल कभी कुछ मैंने तेरा,
फिर क्यों देता नहीं दरस रोदन सुन मेरा ?[1]

यहाँ प्रकृति और उसके समस्त उपकरण भी प्रेम के वशीभूत हैं। उनको भी प्रेम-देवता की यह बलि सह्य न हुई। अतएव भ्रमर-पंक्ति भी रति की व्यथा को देखकर करुणा विगलित हो मानो रुदन कर रही है—

बनस्थली को आज करुण रव से भरती है,
मुझको दुःखित देख, रुदन सा वह करती है ॥[2]

सुखद स्मृति से रति की भावना का रंग और गाढ़ा हो जाता है। भावों का यह तारतम्य आवेगों को और प्रखर कर देता है। इसके अतिरिक्त पति-मृत्यु के उपरान्त जीवित रहने में उसके आदर्श को भी आघात पहुँचा है। अतः वह कहती है—

रति मनसिज के बिना रही पल भर भी जीवित,
हे मम जीवित नाथ ! कहेंगे यही सभी नित।
यद्यपि तनु तज, अभी तुम्हें फिर अंक भरूँगी,
इस कलंक को दूर तदपि किस भाँति करूँगी ॥[3]

यह वियोग निरवधि है, अनन्त है; रति इस दुःख से त्राण पाना चाहती है। इसका अन्तिम उपचार है मृत्यु ! उसकी इच्छा है कि यह कार्य स्वामी के प्रिय सखा के हाथों सम्पन्न हो, इसलिए वह ऋतुपति से अनुनय करती है—

बहुधा मिला सहाय सुमन-शय्या में तेरा,
प्रस्तुत कर अब चिता, विनय तुझसे यह मेरा ॥[4]

—विषाद की पराकाष्ठा है ! इसमें रसज्ञ पाठक को द्रवीभूत करने की पर्याप्त क्षमता है।

मूल के अनुसार अनुवाद में भी दृश्य-विधान का यथोचित निर्वाह हुआ है। पात्रों की भाव-भंगिमा, मुद्रा आदि अंकित करने वाले बिम्बचित्र मूल की टक्कर के न होने पर भी सुन्दर बन पड़े हैं। निम्न पद में देखिए, अनुवादक की तूलिका के प्रसाद से 'बाण छोड़ते हुए मनसिज' की चित्र-रेखाएँ ज्यों की त्यों उभर आई हैं—

नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाये हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाये हुए चक्र-सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल ॥[5]

समाधि-मग्न-शंकर की भव्य मूर्ति और देखिए—

तन का भाग ऊपरी स्थिर था, वीरासन में थे शंकर,
वे विशेष सीधे भी थे, पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उलटे रक्खे देख पाणि युग, मन में ऐसा आता था,
खिला कमल उनकी गोदी में, मानो शोभा पाता था ॥[6]

१—६. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३३३, ३३४, ३३४, ३३६, ३३१, ३२६

गिरिजा की कठोर तपस्या से प्रभावित होकर शंकर भगवान् ब्राह्मण-वेश में उसकी अन्तिम परीक्षा लेने गये। पार्वती उसमें भी खरी उतरी। परमानन्दित हो शंकर प्रकट हो गये और पार्वती का हाथ पकड़ लिया। अप्रत्याशित घटित होने के कारण पार्वती का अवाक् रह जाना स्वाभाविक था। निम्न अवतरण में पार्वती की विस्मय-विमूढ़ दशा द्रष्टव्य है—

उनको देख, कम्प युत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त,
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी हुई चित्र खींची सी भ्रान्त।।[1]

अनुवादक का सूक्ष्म पर्यवेक्षण श्लाघ्य है, मानो मूल चित्र के अन्तर में प्रवेश करके उसका फ़ोटो अंकित कर दिया हो!

अलंकार—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, द्विवेदीजी ने अभिव्यंजना की दृष्टि से कोई मौलिक कौशल नहीं दिखाया है। कथन को प्रभावपूर्ण और हृदयस्पर्शी तथा भाव को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए अनेक अलंकारों का उपयोग किया गया है; यद्यपि उनका स्रोत प्रायः मूल श्लोक है। उसमें अनुवादक का अपना कुछ भी योगदान नहीं है; यहाँ तक कि भावानुवादों में भी इसका कोई अपवाद नहीं मिलता। यों तो द्विवेदीजी के अनुसार 'कुमार सम्भव सार' के प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ सर्ग में 'मूल का आशय मात्र' लिया गया है किन्तु स्थल-स्थल पर अलंकार यथावत् है—

जैसे ज्योति दीप को, सुरसरि सुरपुर को शोभादायी,
तैसे हुई हिमाचल को वह कन्या उसके घर आई।।[2]

(वाक्योपमा)

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ।।१।।२८

—'कुमारसम्भवम्'

चन्द्रकलावत नित दिन-दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान,
चढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चाँदनी-समान।।[3]

(वाक्योपमा)

दिने-दिने सा परिवर्द्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषांज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ।।१।।२५

—'कुमारसम्भवम्'

जैसे रंग, चित्र की दूनी छवि क्षण में दिखलाता है,
जैसे कमल कली की शोभा भानु विशेष बढ़ाता है।
तैसे नवयौवन ने उसके तन की सुन्दर सुघराई,
अंग अंग में दरसित करके, छटा अनूपम उपजाई।।[4]

(उदाहरण)

१—४. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३५२, ३१०, ३०६, ३१०

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥१॥३२
—'कुमारसम्भवम्'

फूल नवल पल्लव पर रहता, विद्रुम ऊपर जो मोती,
उसकी सित मुसकानि अधरयुत तो इनके समान होती।
मृदु भाषण में जब वह मुख से सुधा-सलिल बरसाती थी,
कोकिल-कूक, विषम वीणा-सम, कानों को न सुहाती थी ॥[1]

(प्रतीप)

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततो नुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठ पर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥१॥४४
—'कुमारसम्भवम्'

वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है,
भुवनत्रय उससे त्रस्त, नाथ ! रोता है।
उपकार न खल को कभी शान्त करता है,
अपकार मात्र तद्गर्व सर्व हरता है ॥[2]

(अर्थान्तरन्यास)

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥२॥४०
—'कुमारसम्भवम्'

विशदवदनि ! इसलिए बना रख यह वपु सुन्दर,
यथा समय तन पाय, मिलैगा तेरा प्रियवर।
आतप से जो नदी निर्जला हो जाती है,
पावस में वह नया नीर पुनरपि पाती है ॥[3]

(अर्थान्तरन्यास)

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
रविपीत जलातपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥४॥४४
—'कुमारसम्भवम्'

हाँ, यमक-अनुप्रास आदि चमत्कारक शब्दालंकारों के प्रयोग में द्विवेदीजी ने अवश्य कुछ मौलिकता दिखाई है, यथा—

यमक

मानौ अंगीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा ।[4]
नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान ।[5]

अनुप्रास

जब उन मलीन-मुख-युक्त सुरों के सम्मुख,
वे हुए प्रकट कर कृपा कृपालु चतुर्मुख ।[6]

१—६. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३११, ३१७, ३३७, ३२१, ३२४, ३०६

क्या वायुवेग हे देव ! हो गया भंग ?
जो शिथिलित उसके सर्व अंग-प्रत्यंग ?[1]

कामिनियों के मधुर-मधुर रवकारक नव नूपुरधारी,
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी ॥[2]

अनूदित काव्यों की भाषा में सर्वत्र प्रासादिकता है और प्रसंगानुकूल माधुर्य एवं ओजगुण का सन्निवेश भी, उदाहरणार्थ—

ओजगुण

तेरे ही वंशज महीप वर, सुरनायक-सम तेज-निधान,
जो धरणी अखंड इस दिन तक, धारण किये रहे बलवान ।
हा ! हा ! वही मही निज कर से तूने ऐसे फेंकी आज ।
शिर से हार फेंक देता है, जैसे महामत्त गजराज ॥[3]

यहाँ महीतल पर सोने से, मृदुल गात हो गया कठोर,
बन-गज-तुल्य देख पड़ते हैं, जटा लटकती है सब ओर ।
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश,
क्या तू शेष नहीं कर सकता अब भी अपना धैर्य विशेष ?[4]

उपर्युक्त अवतरणों में 'द्रौपदी' ही नहीं अपितु भाषा भी 'धर्मराज' का तिरस्कार करती प्रतीत होती है । स्फीत वाग्धारा में प्रवाहित माधुर्यगुणमयी भाषा भी देखिए—

फूले हुए नवल फूलों के गुच्छे रूपी कुचवाली,
हैं चंचल पल्लव ही जिनके अधर मनोहरताशाली ।
ऐसी ललित लता-ललनाओं से तरुओं ने भी पाया,
झुकी हुई शाखाओं के मिष भुज-बन्धन अति मन भाया ॥[5]

अन्त में, उपर्युक्त रचनाओं को समवेत रूप में देखने पर कहा जा सकता है कि इन अनुवादों में खड़ीबोली का अत्यन्त शिष्ट एवं प्रौढ़ रूप दृष्टिगत होता है । इनकी भाषा गद्य-भाषा से एकदम दूर काव्योचित है । इसमें काव्य-वस्तु के रूप, गुण, क्रिया आदि सबको व्यंजित करने की क्षमता है । पद्यों में समस्त एवं असमस्त दोनों प्रकार की पदावली नियोजित करके द्विवेदीजी ने सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली में गम्भीर से गम्भीर विषय, लम्बे से लम्बे कथानक और प्रखर से प्रखर भावमयी अनुभूति का सफलता से अंकन किया जा सकता है । और यही कदाचित् उनका उद्देश्य भी था ।

नाथूराम शर्मा 'शंकर' (सं० १९१६-१९८९)

नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने जिस समय कविता-जगत् में प्रवेश किया उस समय समस्या-पूर्तियों की बड़ी धूम थी । अतः उन्होंने भी अपनी पद-रचना का श्रीगणेश समस्यापूर्तियों से किया तथा अन्य कवियों के समान ब्रजभाषा को ही अभिव्यंजना का माध्यम रखा ।

१—५. द्विवेदी काव्यमाला—पृ० ३१५, ३२३, २८२, २८३, २५३

प्रारम्भिक वर्षों में 'शंकर'जी ने गिनी-चुनी कविताएँ खड़ीबोली में रचीं अवश्य थीं जिनका एक संग्रह सन् १९०४ में 'शंकर सरोज' के नाम से प्रकाशित भी हुआ था, किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में काव्य-रचना उन्होंने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुरोध पर ही प्रारम्भ की। 'शंकर'जी ने 'सरस्वती की लाज रखने के लिये उसके सम्पादक की अपील पर' पत्रिका के १९०६-७ ई० के कुछ अंकों में 'हमारा अधःपतन', 'समालोचक लक्षण', 'पावस-पंचाशिका', 'केरल की तारा', 'अविद्यानन्द का व्याख्यान', 'कजली कलाप', 'प्रशस्त पाठ', रामलीला', 'वसन्त विकास', 'वसन्त सेना', 'सरस्वती की महावीरता' आदि कतिपय स्फुट रचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजी थीं। इसके उपरान्त इनकी खड़ीबोली-रचनाएँ 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'मर्यादा', 'विद्यार्थी', 'प्रतिभा' आदि अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी बराबर निकलती रहीं। स्वतंत्र ग्रन्थ-रूप में कतिपय रचनाओं का संकलन 'अनुराग रत्न' (१९१३ ई०) तथा एक प्रबन्ध काव्य 'गर्भ रण्डा रहस्य' (१९१३ ई०) और संक्षिप्त पद्यानुवाद 'वायस विजय' (१९१९ ई०) उल्लेखनीय है। कविवर 'शंकर'जी के सुपुत्र श्री हरिशंकर शर्मा ने 'शंकर सर्वस्व' नाम से आपकी कविताओं का एक विशाल संग्रह प्रकाशित कराया है जिसमें कवि 'शंकर' की सभी प्रमुख रचनाएँ संकलित हैं। यह संकलन 'शंकर'जी का पूरा प्रतिनिधित्व करता है।

वर्ण्य-वस्तु—'शंकर' विरचित खड़ीबोली काव्य (१९२० तक) में लगभग सभी प्रकार के विषय संस्कृत वृत्तों में पद्यबद्ध हैं। अधिकांश रचनाओं का विषय धर्म अथवा समाज है। कवि की आध्यात्मिक विचारधारा पर आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव हुआ। अतएव ब्रह्म-तत्त्व-निरूपण एवं धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैदिक ढंग पर हुआ है। कवि ने योग तथा वैराग्य को मोक्ष-प्राप्ति की कुंजी और सद्गुरु को सच्चा पथ-प्रदर्शक माना है, इसलिए प्रसंगवश गुरु-महिमा का गुणगान भी मिलता है। 'शंकर'जी की धारणा थी कि देश की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दुर्दशा का मूल कारण अधःपतन है। अतः उन्होंने समाज के प्राणों में व्याप्त अन्धविश्वास, धार्मिक असहिष्णुता, पाखण्ड, रूढ़ि आदि का बड़ी सशक्त एवं ओजमयी भाषा में विरोध किया है। इन रचनाओं में साम्प्रदायिक भावना (आर्य समाज) का विशेष पुट आ जाने से खण्डन-मण्डन वृत्ति सन्निविष्ट हो गई है। अधिकांश उक्तियों में कवि का सुधारक-रूप मुखरित हो उठा है, जिससे पदावली में सन्त कवियों का सा अक्खड़पन मिलता है।[1] कदाचित् इसी कारण डॉ० सुधीन्द्र ने 'शंकर'जी को 'खड़ीबोली का कबीर'[2] कह डाला है।

'शंकर'जी की रचनाओं का दूसरा प्रमुख विषय देश और समाज है। भारत के दासत्व, असामर्थ्य, शस्त्रहीनता, आर्थिक वैषम्य, अशिक्षा, द्वेष, कलह आदि तथा अनाचार से उत्पन्न विपन्न समाज की दुर्दशा का आपने बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। व्यंग्य के कशाघात से देश, समाज और साहित्य को जगाने के लिये 'मेरा महत्व', 'अविद्यानन्द का व्याख्यान', 'पंच पुकार', 'आर्य पंच की आल्हा' आदि अनेक हास्य-मिश्रित व्यंग्य गीत लिखे। इनके

---

१. शंकर सर्वस्व, भूमिका, पृ० ६—सं० श्री हरिशंकर शर्मा
२. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० २१२,—डॉ० सुधीन्द्र

अतिरिक्त कवि ने 'निदाध निदर्शन', 'सूर्य ग्रहण पर अन्योक्ति', 'वसन्त विकास', आदि कुछ रचनाओं में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण कर अपने प्रकृति-प्रेम का भी परिचय दिया है। 'नैसर्गिक शिक्षा', 'पावस प्रसाद' जैसी कविताएँ प्रकृति के नीतिपरक (डाइडैक्टिक) रूप का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करती है। 'वसन्त सेना', 'केरल की तारा', 'पुरानी पाठशाला', 'परोपकारी क्या है ?' आदि में चित्र अथवा पत्रों का परिचय मात्र है। फुटकर विषयों में 'शोकाश्रुगीत', 'राजभक्ति', 'बाल-विनोद, 'होली', 'नीति' आदि पद्यबद्ध रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'वायस विजय' पंचतन्त्र के 'काकोलूकीय' प्रकरण का संक्षिप्त रूपान्तर है। 'गर्भ रण्डा रहस्य' गर्भ में ही विधवा-घोषित-बालिका की कल्पित कथा के आधार पर विधवाओं की दीन-हीन दुर्दशा का चित्रण है; साथ ही उसमें सनातन धर्म के मन्दिरों में धर्म के नाम पर होने वाली गर्हित विलास लीलाओं का नग्न एवं जघन्य रूप भी प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण काव्य सनातन हिन्दू समाज पर एक गहरा व्यंग्य है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—उपर्युक्त विषयों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के दूसरे कवियों के समान 'शंकरजी' का काव्य भी विषय-प्रधान है। कारण यह है कि कवि 'शंकर' का प्रयोजन खड़ीबोली के माध्यम से धार्मिक अन्ध-विश्वास के कारण मिटने वाले देश, समाज और साहित्य को पतन के गर्त से निकालना तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करना था। किन्तु इस उपदेशात्मक काव्य के प्रचार के लिये उसने भाषा के शुद्ध स्वरूप को नष्ट नहीं होने दिया। आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में प्रायः दार्शनिक शब्दावली का उपयोग किया गया है। भाव की गंभीरता के साथ भाषा के तत्सम प्रधान संस्कृतनिष्ठ होने पर भी क्लिष्टत्व-दोष नहीं आया है। कवि ने सामयिक विषयों के वर्णनार्थ बोलचाल की भाषा को ग्रहण नहीं किया है। कारण यह है वह अरबी-फ़ारसी मिश्रित 'खिचड़ी भाषा' लिखने के स्वयं विरुद्ध था। उसने ऐसी भाषा को 'हिजड़ी भाषा'[1] संज्ञा दी है। अतएव इस बृहत्काय-काव्य में अरबी-फ़ारसी अथवा बोलचाल के शब्दों की संख्या अत्यल्प है। हाँ, प्रसंगवश इन्सॉलवन्ट, बिशप, गॉड, मिस्टर, बॉयलर, नेटिव आदि गिने-चुने अंग्रेज़ी के शब्द अवश्य आ गये हैं किन्तु वे भी व्यंग्य गीतों में ही पाये जाते हैं। अतः रचनाओं में सामान्यतया खड़ीभाषा का अत्यन्त परिष्कृत एवं प्रांजल रूप दृष्टिगत होता है, उदाहरणार्थ—

> **कवि, काल, कालानल, कृपाकर, केतु करुणानन्द है,**
> **सुखधाम, सत्य, सुपर्ण, सच्छिव, सर्वप्रिय स्वच्छन्द है।**
> **भगवान, भावुक, भक्त, वत्सल, भू, विभू, भुवनेश है,**
> **करतार तारक है तुही यह वेद का उपदेश है॥**[2]

---

१. 'हिन्दी उर्दू की खिचड़ी का रख लो हिजड़ी भाषा नाम।'
—'हिजड़ों की मजलिस', शंकर सर्वस्व, पृ० ४५६

२. शंकर सर्वस्व—पृ० ४०

अव्यक्त, अकल, अकाय, अच्युत, अंगिरा, अविशेष है,
श्रीमच्छुभाशुभ शून्य, शंकर, शुक्र, शासक, शेष है।
जगदन्त, जीवन, जन्म-कारण, जातवेद जनेश है,
करतार-तारक है तुही यह वेद का उपदेश है ॥[1]

—'ईश्वर प्रणिधान'

अरि मर्दन से युद्ध चला तो कभी नहीं होगा कल्याण,
सन्धि-प्रयोग बचा सकता है निस्सन्देह हमारे प्राण।
जो रणजीत महाविजयी से कर लेता है मेल-मिलाप,
उस राजा से आ मिलते हैं, अन्य विरोधी अपने आप।
यह सुनकर संजीवी बोला, पहले मन्त्री के प्रतिकूल,
रिपु को सन्धि संदेशा देना, देव ! न होगा मंगल-मूल।
आज दिवाकर के छिपते ही रात चाँदनी में रण-शेष,
विग्रह के बल से खल-दल को मारो काट-काट कर कोप ॥[2]

—'वायस विजय'

सामान्य विषयों के प्रतिपादनार्थ जहाँ शब्दों के तद्भव रूपों को ग्रहण किया भी गया है, भाषा अपने प्रकृत रूप से नहीं हटती; उसमें रसानुकूल प्रवाह एवं गति है, देखिए—

मुझको दबकी देख अड़ीली आकर अटकी,
मुख पै मार गुलाल, अछूती चादर झटकी।
घोर घुमाय, घसीट, घुड़क लाई दंगल में,
फिर यों हुआ प्रवेश, अमंगल का मंगल में ॥[3]

—'गर्भ रण्डा रहस्य'

विदुषी उपजें, क्षमता न तजें, व्रतधार भजें, सुकृती वर को,
सधवा सुधरे, विधवा उबरें, सकलंक करें न किसी घर को।
दुहिता न बिके, कुटनी न टिके, कुलबोर छिकें, तरसे दर को,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को ॥[4]

—'प्रार्थना पंचक'

किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि जहाँ एक ओर 'शंकर'जी ने अरबी-फ़ारसी, उर्दू तथा बोलचाल के शब्दों का बहिष्कार सा कर दिया है, वहाँ दूसरी ओर ब्रजभाषा के शब्दों से बचने का कोई जागरूक प्रयत्न नहीं किया। रचनाओं में ब्रजभाषा के रहै, गहै, छिपै, कहै, लचै, ऊलै आदि सामान्यतया प्रयुक्त क्रियापद ही नहीं अपितु वरजो, बगारो, खदेरा, धिकै, विडारो, विगोयै, मझारो आदि प्रयोग भी मिल जाते हैं। उपजाय, पाय, पकाय,

---

१-२. शंकर सर्वस्व—पृ० १२३, १२३
३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५
४. अनुराग रत्न—पृ० ५

नमाय, रखाय, तनक, आदि क्रियाएँ तथा करतूति, ताख, मीबु, परेखा, व्यार, अधबर, भामर, धग्गड़, उछार, चख, मूँड़, चवोए, उचेल, धुतैली, पट्टस जैसे ठेठ देशज शब्दों का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। इससे भाषा की एकरूपता, स्वच्छता और प्रांजलता को पर्याप्त क्षति पहुँची है, यथा—

गुरु भारद्वाज ने सुगम गैल बतलाई,
यमुना को उतरे सहित सीय दोऊ भाई।[1]

—'पवित्र रामचरित्र'

अछूती छूत छैया की अछोपाई छुड़ा देंगे,
मरों के साथ जीतों के जुड़े नाते तुड़ा देंगे,
तरेंगे ज्ञान-गंगा में, अविद्या को बुड़ा देंगे॥[2]

—'प्रचंड पंच पंचदशी'

होना सम्भव ही नहीं, जिसमें सैक-निरेक,
जाना उस अद्वैत को किसने बिना विवेक॥[3]

—'परमात्मा पंचक'

पल खाय अपव्यय खेल रहा,
ऋण बूचड़ खाल उचेल रहा।[4]

—'सम्मुखोद्गार'

भरती है भरपूर, लमक ऊपर लाती है,
वारि बहाय बहाय अधोमुख मुड़काती है॥
जल घड़ियों की माल, रहट पै यों फिरती है,
इस प्रकार प्रत्येक जाति उठती-गिरती है॥[5]

—'पुनरुद्धार की आशा'

उर्युक्त अवतरणों में भाषा देखिए; गैल, दोऊ, अछोपाई, बुड़ाना, सैक-निरेक, खाया, उचेल, लमक आदि शब्दों का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। निम्न पद में भी 'विसासी' शब्द का विश्वासघाती के अर्थ में उपयोग सर्वथा प्रान्तीय है—

माता सुन कर हाल घुसी घर में द्विविधा सी
रख दी रोकड़ काढ़, लपक ले गया विसासी।[6]

—'गर्भ रण्डा रहस्य'

समझे काल कूट उगलेना, छोड़ेगा न विसासी बैर।[7]

—'वायस विजय'

कहीं-कहीं शब्द-निर्माण में भी कवि ने स्वच्छन्दता बरती है यथा—

वर का लिंग शरीर बँधा है इस पुड़िया में,
वरनी का प्रतिबिम्ब, दरसता है गुड़िया में।[8]

१. शंकर सर्वस्व—पृ० ७०
२—५. अनुराग रत्न—पृ० १५४, २६, १६४, २०८
६. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ७
७. शंकर सर्वस्व—पृ० १३०
८. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ८

न चोरी माल मारेगी न जारी भनभनावेगी,
न फल कर न फूट फैलेगी, न झंझट झनझनावेगी।
जुआ की हार-जीतों में न नौली खनखनावेगी,
न मादकता किसी के भी बदन में गनगनावेगी ॥[१]

—'भारत भक्ति'

क्या टीचर धनदास कुटीचर हो सकते हैं ?[२]

कवि ने 'वर' का स्त्रीलिंग 'वरनी' तथा 'खनखनावेगी' से तुक मिलाने के लिए 'गनगनावेगी' जैसे शब्द गढ़ लिए हैं। तीसरे अवतरण में अंग्रेजी शब्द 'टीचर' के साथ हिन्दी का 'कु' उपसर्ग संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त स्थल-स्थल पर संस्कृत-व्याकरण के अनुसार मात्रा को गुरु-लघु करने के लिए कवि ने शब्द-संधियाँ कर दी हैं; उदाहरणार्थ 'ओमुत्कर्ष', 'ओमर्थज्ञान', 'ओमनुभूत', 'ओमाराधन', 'ओमनेक', 'ओमिष्ठदेव', 'ओमुद्भूत', 'ओमक्षर', 'जगदुपकार', 'अस्तोदय', 'सदुदर' आदि समस्त शब्द संस्कृत-व्याकरण के अनुकूल होते हुए भी खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। और देखिए—

धन्य सच्छिक्षा-सुधा से धर्म का मुख धो गया।[३]
तत्तटवासी खरगोशों को कुचल गया वह कुंजर झुंड।[४]
जितने मन्वादि के कथन हैं।[५]
जगदुन्नति पै जमाय डेरा, चमके अनुराग रत्न मेरा।[६]
प्रकटे महदुद्योत ब्रह्म विवेक दिनेश का।[७]
जिसकी सत्ता का नहीं, नादि, न मध्य, न अन्त।[८]
भानूदय से पहले न्हाना, तरना विविध प्रकार।[९]
अन्योदक अवलोक, तृषातुर चोंच न खोले।[१०]
चहुँ दिश विद्युदृश्य दौड़ते दरस रहे हैं।[११]
'शंकर' का मत ब्रह्म बना, जगदद्भुत को भ्रम का फल जाने।[१२]

इस प्रकार के समस्त-पद एवं प्रान्तीय शब्द-सम्मिश्रण का उपयोग सम्भवतः कारणवश किया गया था। आलोच्य काव्य की अधिकांश रचनाएँ गेय हैं। संस्कृत-वृत्तों में रचना करने से कवि को प्रायः शब्द-संस्थिति में परिवर्तन करने और मात्राएँ घटाने-बढ़ाने की स्वच्छन्दता नहीं रही। छन्द के सीमित बन्धों में संगीत के अनिवार्य गुणों—स्वर, लय, ताल आदि को सुरक्षित रखने के लिए उसके पास शब्द-सन्धियाँ ही मात्र साधन रह गई थीं। खड़ीबोली की तथाकथित कर्कशता एवं शुष्कता में कोमलता एवं श्रुति-मधुरता सन्निविष्ट करने के लिए शब्द-मैत्री, अन्त्यनुप्रास आदि योजनाओं के अतिरिक्त कदाचित् ब्रजभाषा-शब्दों का भी उपयोग कर लिया गया।

---

१. शंकर सर्वस्व—पृ० १०२
२. अनुराग रत्न—पृ० ५
३—५. शंकर सर्वस्व—पृ० ६८, १२५, १४७
६—१२. अनुराग रत्न—पृ० ६, १४, ३०, ४७, ५६, २४१, ११०

वाक्य-रचना की दृष्टि से भाषा व्याकरण-सम्मत एवं सुगठित है। उसमें सर्वनाम, लिंग, वचन आदि की अव्यवस्था कहीं दृष्टिगत नहीं होती। दो एक स्थलों पर छन्द के आग्रह से 'पाये जाते हैं', 'रो पड़ते हैं' आदि के स्थान पर 'पाते हैं', 'रो जाते हैं' आदि विधेय मिल जाते हैं, किन्तु काव्य-कलेवर के अनुपात में इनकी मात्रा अत्यल्प है। वाक्य-रचना में कहीं शैथिल्य नहीं है। पदावली सामान्यतया असमस्त होते हुए भी चुस्त है। प्रसंगानुकूल भाषा में गाम्भीर्य भी है और हास्य-मिश्रित व्यंग्य भी।

लोकोक्ति-मुहावरे—कहा जा चुका है कि कवि ने भावाभिव्यंजन के लिए खड़ीबोली के प्रकृत किन्तु शुद्ध रूप को अपनाया था। बोलचाल की भाषा को यथा-शक्ति दूर रखने से इन रचनाओं में लोकोक्ति-मुहावरों के प्रयोग के लिए कम अवकाश रहा, फिर भी कवि ने इनका कहीं-कहीं श्लाघ्य प्रयोग किया है। देश, समाज, साहित्य आदि से सम्बन्धित रचनाओं में व्यंग्य को तीव्र एवं चमत्कृत करने के लिए लक्षणा शक्ति से परिपूर्ण मुहावरों की सहायता ली गई है। 'बेड़ा पार लगाना', 'घाट उतारना', 'टेढ़ा तिरछा चलना', 'झख मारना', 'धरोहर मारना', 'दिन फिरना', 'कान न धरना', 'कान खोलना', 'कान कतरना', 'छक्के छुड़ाना', 'जड़ काटना', 'दाल न गलना', 'गुल खिलाना' आदि अनेक मुहावरे प्रसंगानुकूल आ गये हैं जिनसे भाषा में कसावट भी आ गई है। कतिपय उदाहरण देखिए—

बालकपन में राँड अविद्या की जड़ काटी।[1]
केवल गाल बजाय घना धन जोड़ लिया था।[2]
भाव सत्य युग का भर जाय, कलियुग की नानी मर जाय।[3]
कंगाली जी जला रही है, महँगी बरछी चला रही है।[4]

अमीरो धुँआधार छोड़ा करो,
पड़े खाट के बान तोड़ा करो।
गली मार मूँछें मरोड़ा करो,
न ठाली रहो, काम थोड़ा करो॥[5]

छूत छैया की अछूती नाक लम्बी कट गई,
लालची पाखण्डियों की पेट पूजा घट गई॥[6]

इन अवतरणों में 'बरछी चलना' (दिल पर बरछी चलना), 'खाट के बान तोड़ना' (चारपाई या खाट तोड़ना) आदि दो-एक मुहावरों के अंशिक प्रयोग अथवा परिवर्तित रूप मिलते हैं किन्तु मुहावरा एकदम पकड़ में आ जाता है। हाँ, कुछ स्थलों पर सर्वथा भिन्न रूप हो जाने से मुहावरे भ्रामक भी हो गए हैं। उन्हें वाक्य मान लिया जाय तो झगड़ा तै हो सकता है किन्तु वास्तव में हैं वे मुहावरे—

सबके कण्ठ अदम्य दरिद्र मसोस रहा है,
ससुर अछूता प्यार, पतोहू पर करता है,
अनुज वधू की ओर, जेठ सिसकी भरता है।

१—६. शंकर सर्वस्व—पृ० ११०, १११, ११६, १५२, १५७, ९९

मुहावरे हैं 'गला घोटना' और 'आहें भरना' न कि 'कंठ मसोसना' अथवा 'सिसकी भरना'। उर्दू में एक मुहावरा है 'कलम तोड़ना' जिसका अर्थ है 'रचना में ऐसी सुन्दर अनूठी बात कहना जिससे अधिक सुन्दर अनूठी बात न कही जा सके'—अर्थात् रचना-कौशल की पराकाष्ठा दिखाना। निम्न पद में कवि महोदय की मनमानी देखिए 'ल' के अनुप्रास के लिए 'कलम' की 'लेखनी' बनाकर ही सन्तोष नहीं किया, 'लेखनी तोड़ने' के अभिधेयार्थ से ही काम चलाना चाहा है—

लेखक लेख निहार लेखनी तोड़ चुके हैं।
सम्पादक हिय हार हेकड़ी छोड़ चुके हैं॥[1]

—'मेरा महत्व'

अलंकार (शब्दालंकार)—ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि 'शंकर'जी की खड़ीबोली-कविता गेय है।[2] इनकी रचनाएँ आर्य समाज के गायक-भजनीक सार्वजनिक मंचों से बराबर गाया करते थे। संगीत की दृष्टि से अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि चमत्कारक शब्दालंकारों का बड़ा हाथ होता है। माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों की योजना भी रसानुकूल होने पर पदावली को संगीतमय बनाने में योग देती है। अतः कवि ने भी अपनी वाणी में काव्यात्मक संगीत के साथ नाद-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा के लिए शब्दों की ध्वन्यात्मकता, वर्ण-योजना एवं पदावृत्ति पर विशेष ध्यान दिया है, यथा—

चपला चंचल चाल दमकती दुर जाती है,
वज्रपात घनघोर गगन में पुर जाती है।[3]

भूधर से सब श्याम धवल धाराधर धाये,
घूम घूम चहुँ ओर घिरे गरजें झर लाये।
वारि-प्रवाह अनेक चले अचला पर दीखे,
इस विधि कुल्या कूल बहाना हम सब सीखे॥[4]

—'पावस प्रसाद'

कुल बोर कठोर महाकपटी, कब कोमल कर्म कलाप करें,
पशु पोच प्रचण्ड-प्रमाद-भरे, भर पेट भयानक पाप करें।
प्रण रोप लड़ें लघु आपस में, तज वैर न मेल-मिलाप करें,
कवि 'शंकर' मूढ़ विवेक-बिना, अपना गल-बन्धन आप करें॥[5]

—'प्रशस्त पाठ'

---

१. शंकर सर्वस्व—पृ० ११४

२. 'शंकर सरोज' की सब कविताएँ संगीत के नियमानुसार गाई जा सकती हैं। कवि ने 'अनुराग रत्न' के अन्तिम पृष्ठों पर गायकों के लिए ध्वनि, स्वर, मूर्छना, आलाप, राग-रागिनी, वाद्य-वादन, गायन-दोष आदि सम्बन्धित कुछ आदेश लिखे हैं और ग्रन्थ गीतों को अच्छे गवैयों द्वारा गाये जाने की कामना प्रकट की है।
द्र० अनुराग रत्न—पृ० २६५-२६७

३—५. शंकर सर्वस्व—पृ० ५२, ५२, ६२

तेज न रहेगा, तेज धारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द-मन्द पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायेंगे।
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन-खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।[1]

—'वसन्त सेना'

अनरीति कटाकट काट रही, पशु पद्धति शोणित चाट रहीं,
पल खाय अपव्यय खेल रहा, ऋण बूचड़ खाल उचेल रहा।
ससके सब घायल अंग हुआ, बस भारत का रस भंग हुआ॥[2]

—'सम्मुखोद्गार'

इन पदों का प्राण 'वृत्यनुप्रास' है। प्रसंगानुकूल इनमें प्रसाद एवं ओजगुण भी विद्यमान है। इस प्रकार के सुन्दर तथा उच्चारण-सुलभ शब्द-विन्यास, अशिथिल काव्य-बन्ध से भाषा श्रुति-सुखद एवं मनोहारी हो गई है। गीतों की इस लहरी में आनुप्रासिक छटा तो सर्वत्र छिटकी ही हुई है, यमक का चमत्कार भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होता है, यथा —

कर जोड़ जोड़ कर यत्न अनेक मनाये,
पर डिगे न प्रण से राम महाचल पाये।[3]

—'पवित्र रामचरित्र'

कुछ दीन किसान कमाय रहे,
हल का हलका फल खाय रहे।[4]

जब तलक तू हाथ में मनका न मनका लायगा॥[5]

किन्तु कहीं-कहीं अनुप्रास-आडम्बर के प्रति यह मोह रीतिकालीन कवियों के समान अत्यधिक हो जाने से रचना में दोष-सा बन गया है—

शुभ समझ बन्धु से बन्धु सभेद लड़ाना,
प्रण बालि-निधन का ठोस ठसक से ठाना।[6]

—'पवित्र रामचरित्र'

स्वामिनी मदनिका की, भामिनी रदनिका की,
धूता की सर्वति वार, बनिता की जाई है॥[7]

—'वसन्त सेना'

बूढ़े के बड़प्पन पे बीजुरी गिराने वाली,
ज्योति जाति जीत की जवानों में जगाते हैं।
ऊँचा न चढ़ाते हैं चबोर चोर लम्पटों को,
ठीकरी भी ठल्लू ठगियों को न ठगाते हैं।

१-७. शंकर सर्वस्व—पृ० १७६, ६०, ६१, ६१, ४६५, ७५, १७६

खोल खोल पोल खलोपाड़ खोटे खट्कों की,
भीरुता मसक्कों भूल, भुग्गों को भगाते हैं।
भट्ट पक्षपातियों के पक्षपात पंजर में,
लुक्कड़ जी लूकटी लताड़ की लगाते हैं॥[1] —'पंच प्रपंच'

अर्थालंकार—कवि ने अपनी भावानुभूति को पाठक तक प्रेषित करने के लिए विषय के अनुसार भाषा की बोधात्मिका तथा रागात्मिका दोनों शक्तियों से काम लिया है। अतएव कहीं भाव अथवा वस्तु का तथ्यनिरूपक शैली में वर्णन किया गया है और कहीं रसानुभूति को प्रखर बनाने के लिए भाषा में शब्द-चित्र, रेखा-चित्र अथवा भाव-चित्रों का विधान मिलता है। तदनुकूल उपमान-योजना भी नाना रूपों में दिखलाई पड़ती है। उदाहरणार्थ नायिका के नख-शिख वर्णन में रीतिकालीन रूढ़ उपमानों के आधार पर उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अपह्नुति, रूपक आदि अलंकारों का उपयोग देखिए :—

सन्देह

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्यामघन मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शंकर-कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
टाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥[2]

उपमा

कंज से चरण-कर, कदली से जंघ देखो,
क्षुद्र तण्डुला से दो उराजे गोल-गोल हैं।
कृष्ण कुण्डला से कान, भृंग वल्लभा से दृग,
किंशुक सी नासिका, गुलाब से कपोल हैं।
चंचरीक पटली से केश नई कोंपल से,
अधर अरुण कल कण्ठ के से बोल हैं॥[3]

फूल अम्बर के न कानों को बताकर चुप रहा,
रूप सागर के सजीले सीप हैं यों भी कहा।
गोल गुदकारे कपोलों को कड़ी उपमा न दी,
पुष्प पाटल से समझ सौन्दर्य-सुषमा चूम ली॥[4]

गोल कठोर उरोज, कुंभ उन्नति के उकसे,
कंचुक में कर बन्द, कसे दर से कन्दुक से।[5]

१-४. शंकर सर्वस्व—पृ० ४४४, १७८, १८१, १८३
५. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० १६

वाक्योपमा

अरुण फूल फूले सेमर के प्रकट कोश गम्भीर,
क्या लोहित मणि की कुलियों में माँग रहे मधुवीर ?[१]

प्रतीप

आनन कलानिधि में दूनी कला देख-देख,
चाहक चकोरों के उदास उर ऊलेंगे।
दाड़िम के दानी फल दाने उगलेंगे नहीं,
कुन्द कलियों के भुण्ड भाड़ में न भूलेंगे।
सीप के सपूतों पर शोभा न करेगी प्यार,
शंकर चमेली और मोतिया न फूलेंगे।
दान की बत्तीसी मणि-मालिका हँसी की इस,
दामिनी की दूती को न देवता भी भूलेंगे ॥[२]

श्याम चिबुक का बिन्दु घटाता था दर तिल की,
करता था कल कण्ठ निपट निन्दा कोकिल की ॥[३]

लुप्तोत्प्रेक्षा

खिलखिला कर मुख-बतीसी को कहा बेलाग यों,
कुन्द की कलियाँ कमल के कोष में छिपती हैं क्यों।[४]

अपह्नुति-सन्देह

भ्रू नहीं मैंने कहा रसराज के हथियार हैं,
काम के कमठा कि ये तारुण्य की तलवार हैं।
मीन-खंजन-मृग भरे दृग-देह द्रुम के फूल हैं,
इन्दु, मंगल, मन्द से तीनों गुणों के मूल हैं ॥[५]

उदाहरण

मेरा वदन विलोक, घटी दर दारागण की,
करता है शशि मन्द, यथा छवि तारागण की ॥[६]

देश, समाज एवं अध्यात्म-सम्बन्धी विषयों में सरसता तथा प्रभविष्णुता उत्पन्न करने के लिए जिन सादृश्य अथवा साधर्म्यमूलक उपमानों का चयन किया गया है, उनका मूल स्रोत भी प्रकृति के मूर्त उपकरण हैं। कदाचित् विषय का ही प्रभाव है कि रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि आलंकारिक-योजना में परम्पराभुक्त अलंकारों का आभास नहीं मिलता। कहीं-कहीं इनके द्वारा अमूर्त भावों का भी गोचर रूप प्रस्तुत किया गया है—

१-२. शंकर सर्वस्व—पृ० २३८, १८०
३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० १६
४. शंकर सर्वस्व—पृ० १८३
५. शंकर सर्वस्व—पृ० १८३
६. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५१

मिल वैदिक मन्त्र पयोद घने, सुविचार-महाचल पै बरसैं,
विधि और निषेध-प्रवाह बहै, उपदेश-तड़ाग भरे दरसै।
व्रत-साधन-वृक्ष बढ़े विकसें, लटके फल चार पके सरसें,
कवि 'शंकर' मूढ़ विवेक-बिना, इस रूपक के रस को तरसे॥[1]

—'प्रशस्त पाठ'

अनुभूत-विवेक-यन्त्र डाला, भय-सत्य-समुद्र को निकाला,
बर वर्ण-सुवर्ण में जड़ा है, हित के हिय हार में पड़ा है॥[2]
ऐसी अमित कृपा कर प्यारे,
मेघ महाभ्रम के उड़ जावें, तर्क-पवन के मारे,
दिव्य-ज्ञान-दिनकर के आगे खिलें न दुर्मत-तारे॥[3]

रूपक-उपमा

सुर-पादप निर्भय न्याय बने, घनश्याम-घटा बन जाय दशा,
रुचि-भू पर प्रीति-सुधा बरसे, बन ब्यार बहे करनी अभया।
उपकार मनोहर फल खिलें, सबको दरसे नय दृश्य नया,
कवि 'शंकर' पुण्य फले उसका, जिसमें गुण-ज्ञान समाय गया॥[4]

—'प्रशस्त पाठ'

निदर्शना

देखो वैदिक यज्ञ कुण्ड में हव्य कवलिका पाता है,
न्याय-धर्म से सब देवों को सार भाग पहुँचाता है।
भस्म छोड़ कर हो जाता है, हुतभुक अन्तरधान,
दान करें यों विद्या-धन का बुध याजक यजमान॥[5]

सन्देह

चपला के चर दूत कि रजनी-पति के चेरे,
चमचम चारों ओर चमकते हैं बहुतेरे।[6]

उदाहरण

नदिया वेग बढ़ाय, पाय पानी जलधर से,
मिलती हैं तज मान, प्राण-वल्लभ-सागर से।
यों सधवा सुख भोग, प्यार पति पै करती है,
दुखिया अक्षत योनि, बाल विधवा मरती है॥[7]

दृष्टान्त

दिन में विचरें साथ, रजनी भर न्यारे,
सरिता के इस पार और उस पार पुकारें।

---

१. शंकर सर्वस्व—पृ० ५६
२-३. अनुराग रत्न—पृ० ६, ७४
४-६. शंकर सर्वस्व—पृ० ६०, १४७, ५४
७. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ३०

यों चकई-चक-जोड़ सुधा-विष बरसाते हैं,
मिलने का सुख दुख विरह का दरसाते हैं ॥[1]

यथासंख्य

अँधियारी निशि पाय विचरते हैं चरते हैं,
दोनों पर घर तोड़-फोड़ ऊजड़ करते हैं ।
इनका सिद्ध प्रसिद्ध चरित साधर्म्य घना है,
अटके चोर, उलूक उड़े उपमान बना है ॥[2]

अन्योक्ति

रे रजनीश निरकुंश तूने, दिननायक का ग्रास किया,
नैक न धूप रही धरणी पै, घोर तिमिर ने वास किया ।
जिसको पाय चमकता था तू अधम, उसी को रोक रहा,
धिक् पापिष्ठ, कृतघ्न, कलंकी, तेज-त्याग-तम पास रहा ॥[3]

इस मानसरोवर से अपनी, उस पोखर का न मिलान करेंगे,
पिक, चातक, कीर, चकोर, शिखी, सबका अब तो अपमान करेंगे ।
कवि 'शंकर' काक, शचान, कुही-कुल को अति आदर-दान करेंगे,
बक राजमराल बने पर, हा ! जल-त्याग, न गोरस-पान करेंगे ॥[4]

विभावना

बिन वास बसे वसुधा भर में, द्रवता रसहीन बहे बन में,
चमके बिन रूप हुताशन में, बिचरे बिन छूत प्रभंजन में ।
गरजे बिन शब्द खमण्डल में, बिन भेद रहे जड़-चेतन में,
कवि 'शंकर' ब्रह्म विलास करे, इस भाँति विवेक भरे मन में ॥[5]

अप्रस्तुत योजना का सौन्दर्य केवल वाह्य रूप, रंग या स्थूल आकार-प्रकार पर ही निर्भर नहीं रहता । कवि विषयानुकूल अपनी कल्पना से ऐसी उपमान-योजना भी करता है जिससे सहृदय पाठक के मन पर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न हो जाय,। वस्तुतः उपमान-चयन में कवि की यही विवेक-बुद्धि काव्य में शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करती है । यौवन पर अभिमान करने वाली कामिनी भी वृद्धावस्था आने पर श्रीहीन हो जाती है । वह भृकुटि-विलास जो कभी युवकों को मोहित करता था, वह चन्द्रानन जिसकी उपमा देते कविगण थकते न थे, क्षणभंगुर होने के कारण नष्ट हो जाता है । निम्न पंक्तियों में 'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' के सहारे प्रस्तुत शब्द-चित्र कितना प्रभावशाली बन पड़ा है—

आँखों में टेढ़ी चितवन का बीर ! न रहा बसेरा,
फीका आनन-मण्डल मानो विधु-बदली ने घेरा ।

१–३. शंकर सर्वस्व—पृ० ५३, ५३, २३८
४. अनुराग रत्न—पृ० १८३
५. शंकर सर्वस्व—पृ० ५६

झोंझ बया के से कुच झूले, फाड़ मदन का डेरा,
अब तो पास न झाँके कोई, रसिया रस का चेरा ॥[1]

—'बुढ़िया ! बीता यौवन तेरा'

काव्य में प्रभाव-साम्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वस्तु के प्रत्येक क्रिया-व्यापार, रूप या गुण का पूर्णतः साम्य किया जाय, इनके संकेत मात्र से भी भाव का चित्रण किया जा सकता है। 'शंकर'जी ने निम्न अवतरण में 'कैकेयी' की उपमा 'कुदशा' से देकर उसके गुण और क्रिया-व्यापार का अव्यक्त संकेत दिया है। इससे पाठक को भावी अनर्थ की सूचना भी मिल जाती है—

अभिषेक-कथा सुन मित्र-अमित्र उदासी,
उलही मिल सबकी चाह, कल्प लतिका सी।
वर केकय तनया माँग उठी कुदशा सी ॥[2]

आधुनिक काव्य में अमूर्त भावों का मूर्त विधान काव्य-शैली का एक कुशल साधन माना गया है। एकाध स्थल पर कवि ने ऐसे प्रयोगों द्वारा भी अपनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है, यथा—

चूड़ियाँ फोड़ी विनय की, काट करुणा की लटें,
नीति के नूपुर उतारे हाय मिस्टर गोखले !
जन्म जगती थे दया के पुष्प बरसाते रहे,
आज बरसाये अँगारे हाय मिस्टर गोखले ॥[3]

उक्त पद गोपालकृष्ण गोखले की मृत्यु पर रचित शोकाश्रु गीत से उद्धृत है। विनय, करुणा एवं नीति की प्रतिमूर्ति गोखले के देहावसान से ये तीनों मानों विधवाएँ हो गई। 'विनय', 'करुणा' एवं 'नीति' पर 'विधवा' का आरोप व्यंग्य है। तीनों अमूर्त हैं, इनमें क्रम से विधवोचित कार्य चूड़ी फोड़ना, केश काटना, नूपुर आदि आभूषण उतारना वर्णित है। व्यंग्य रूपक को कवि ने दूर तक निरर्थक खींचा नहीं, दया के पुष्प बरसाने, अंगारे बरसाने, आदि पदांशों के लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा गोखले के जन्म से दया, सुख आदि का प्रसार और मृत्यु से 'कष्ट' का आधिक्य लक्षित किया है।

उपमान जैसे भाव-वर्द्धक होते हैं वैसे ही भावापकर्षक भी। कुशल कवि को इस बात का ध्यान बना रहना चाहिए कि चुने हुए उपमान से उपमेय का विरोध न हो। 'शंकर' के काव्य में ऐसे स्थल भी उपलब्ध हैं जहाँ भावापकर्षक अप्रस्तुत नियोजित किये गये हैं। ग्रीष्म ऋतु में प्रकृति का प्रत्येक उपकरण सूर्य की प्रचण्ड और प्रखर किरणों से भस्मीभूत सा दृष्टिगत होता है और ऊपर से—

गरम गरम आँधी आती है, भुलभुल बरसाती जाती है।
झाँखड़ झाड़ रगड़ खाते हैं, आग लगे बन जल जाते हैं ॥

१. अनुराग रत्न—पृ० १२०
२-३. शंकर सर्वस्व—पृ० ६८, २४६

लपके लट लू लहराती हैं, जल-तरंग सी थहराती हैं।
तृषित तुरंग वहाँ आते हैं, पर न बूँद वन की पाते हैं ॥[1]

—'निदाघ निदर्शन'

आँधी का 'भुल भुल वरसना' क्या होता है ? 'लपके लट लू लहराती हैं जल-तरंग-सी थहराती हैं' में वाक्योपमा है। 'लू का लहराना' 'जल-तरंगों' से उपमित है। कवि ने 'तृषित तुरंगों' को मृग-मरीचिका में फँसाने के लिए साहृश्य का तो निर्वाह किया किन्तु 'लू' के आन्तरिक गुण 'दाहकता' और जल-तरंग की 'शीतल सुखदता' की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

शब्द-शक्ति—कवि की समस्त प्रतिभा, कल्पना तथा अभिव्यंजना-कला का उद्देश्य एक ही होता है—हृदय पर प्रभाव डालना। इस प्रभाव के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि कवि वर्ण्य-वस्तु को चित्रमयी भाषा में मूर्त रूप प्रदान करे। शब्द की लक्षणाशक्ति वर्णनीय को गोचर रूप देने में सर्वाधिक समर्थ होती है। मुख्यार्थ में वाधा अथवा व्याघात होने से अभिव्यंजना तथा अभिव्यंग्य दोनों में चमत्कार आ जाता है। इस दृष्टि से 'शंकर' की भाषा पर्याप्त समृद्ध है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

रूढ़ि लक्षणा

जो तेरी वैदिक पद्धति से टेढ़ा-तिरछा चलता है।
वह पापी उद्दण्ड प्रमादी घोर पाप से जलता है ॥[2]

प्रयोजनवती, उपादानमूला, शुद्धा, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

उस ओर लखन को भेज तोख दे अति का,
रह गई कुटी पर खोल द्वार दुर्गति का।[3]
घर घेर दरिद्र दहाड़ रहा, उर शोक महासुर फाड़ रहा।[4]
कुछ दीन किसान कमाय रहे, हलका हलका फल खाय रहे।
उनको कर भार भुजंग हुआ, बस भारत का रस भंग हुआ ॥[5]

प्रयोजनवती, उपादानमूला, गौणी, सारोपा, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

प्रेमामृत-बूँद भी मिला न प्रेम-सागर से,
वैर-वारि से न कुविचार-घट रीते हैं।
कान काट सकता था शोणित बहाय रहे,
हाय न मिलाप महिमा का रस पीते हैं ॥[6]

सीस पै पसार पवन लंक लौं लपेटा मार,
लटकी लटक दिखलाती बल खाती सी।
माँग-मुख फाड़ काढ़ मोतियों के दाने दाँत,
भूमर की जीभें लप लप लपकाती हैं ॥[7]

१—७. शंकर सर्वस्व—पृ० १६६, ४१, ७३, ६०, ६१, ८५, १७८

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

सिद्धों के आगम-कानन को काटे कुमत-कुठार,
समझें सद्ग्रन्थों को जड़धी जड़ता के अनुसार ॥[1]

—'कजली कलाप'

प्रकृति के व्यापारों को लेकर भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं जिससे भाव निखर आया है और उसका अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप सामने आता है :—

पावक-बाण दिवाकर मारें, हा ! बड़वानल फूँक पजारे ।
खौल उठे नद-सागर सारे, जलते हैं जल-जन्तु बिचारे ॥
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से, चन्द्र न शीतल करे सुधा से,
धूप हुताशन से क्या कम है, हाय चाँदनी रात गरम है ॥[2]

भयंकर गर्मी है, भानु की प्रचण्ड किरणों से समस्त अवनीतल दावानल की तरह जला जा रहा है। सूर्य-रश्मियों पर पावक-बाणों के आरोप में 'सारोपा लक्षणा' है। पावक-बाण तथा रश्मियों में जलाने धर्म की समानता है अतः 'गौणी' है। कवि का प्रयोजन ग्रीष्म का आधिक्य सूचित करना है इसलिए 'प्रयोजनवती' है।

कहीं-कहीं विशेष्य अथवा संज्ञाओं का भी लाक्षणिक प्रयोग मिल जाता है, यथा :—

ठग मेरे विपरीत बुरी बातें कहते हैं,
घर ही में रणजीत बने बैठे रहते हैं।[3]

मद-पान करे न तजे पल को, अपनाय रहा खल-मण्डल को,
पग पूज कलंक-विभीषण को, अनुराग-रँगे गणिका गण के।
दृग-दीपक देख पतंग हुआ, बस भारत का रस-भंग हुआ ॥[4]

प्रथम पद में 'रणजीत' का लक्ष्यार्थ विजयी, विक्रमशाली योद्धा होता है। 'रणजीत' में ये सब गुण विद्यमान थे। पद अपने अर्थ का त्याग नहीं करता अतः 'उपादानमूला' है। सहृदय पाठक को सहज ही समझ में आ जाता है, इसलिए 'अगूढ़ व्यंग्या' है। सादृश्येतर सम्बन्ध होने से 'शुद्धा' है। शब्दगत होने से 'शाब्दी' है तथा अर्थान्तर में संक्रमित होने से 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' है। द्वितीय पद के कलंक पर 'विभीषण' के आरोप में 'सारोपा' है। अमूर्त 'कलंक' तथा मूर्त 'विभीषण' में गुणों का अत्यन्त सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नहीं होती; यह सादृश्य ही 'गौणी लक्षणा' का कारण है। और देखिए :—

अटके श्वान अनेक मदन की मार पड़ी थी,
कुतिया पूँछ दबाय, अकेली विकल खड़ी थी,

—'गर्भ रण्डा रहस्य'

वाक्यार्थ की संगति के लिए 'श्वान' का अर्थ 'नवयुवक वर्ग', 'मदन की मार' में प्रेमाधिक्य और 'कुतिया' में काव्य की नायिका (कमला) का अर्थ आक्षिप्त है। वाच्यार्थ

१—३. शंकर सर्वस्व—पृ० १६६, ११३, ६०
४. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० १८

अपने को छोड़ लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित करता है अतः 'लक्षणलक्षणा' है। केवल अमुख्यार्थ अन्वित होने से 'जहत्स्वार्था' भी है। वह वाक्यगत 'अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि' का सुन्दर उदाहरण है।

कहा जा चुका है कि काव्य में जब सूक्ष्म भावों को विशेष रूप से व्यक्त करना होता है और उनकी गम्भीर व्यंजना अभीष्ट होती है तो उनका मूर्त-विधान कर दिया जाता है—उन्हें गोचर बना दिया जाता है। इस प्रकार के मूर्त-विधान से अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव साकार हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर 'प्रयोजनवती लक्षणा' काम देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जाल प्रपंच पसार घने, कुल-गौरव का उर फाड़ रहा है,
मानव मण्डल में मिल दाहक, दानव दुष्ट दहाड़ रहा है ॥[1]

उद्यम को कर अन्ध आँख अवनति ने खोली है,
धन की धूलि उड़ाय, अकिंचनता हँस बोली है ॥[2]

शिखा सत्य की झूठ ने काट ली,
न विज्ञान फूला न विद्या फली।[3]

हरि-मन्दिर में जाय, ध्यान माधव का धरती,
बगलों के सिर तोड़, दम्भ के कान कतरती ॥[4]

क्या अब दुख-दरिद्र हमारा दूर न होगा,
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥[5]

काव्य-गुण—शंकरजी की खड़ीबोली रचनाएँ प्रायः असमस्त पदावली एवं सुकुमार वर्णों में बँधी होने से प्रसादगुण-सम्पन्न है। अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयों से लेकर व्यंग्य गीतों तक उसमें शब्द-योजना इतनी सुकर है कि सुनने मात्र से अर्थ-बोध हो जाता है, यथा—

नीर मेघ से, मेघ भाप से, भाप नीर बन जाता है,
पिछले, जमे, उड़े यों पानी कौतुक तीन दिखाता है।
ये रस, अन्न, प्राणदाता के द्रव, दृढ़ वायु-विकार,
देखो देवो, ऋषियो, पितरो, करिये जगदुपकार ॥
औषधि अन्न आदि सामग्री सुखदा सब को देती है।
अपने उपजाऊ बीजों को सावधान रख लेती है।
जीव जन्म लेते मरते हैं, जिस पर जीवन-भोग,
उस वसुन्धरा माता की सी सुगति गहो गुरु-लोग।[6]

—'नैसर्गिक शिक्षा'

१—३. अनुराग रत्न—पृ० १०३, १८६, १६७
४. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ३६
५-६. शंकर सर्वस्व—पृ० ६२, ४२

पटक पादुका पहनो प्यारे, बूट इटाली का लुकदार,
डालो डवल वाच पाकट में, चमके चेन कंचनी चार।
रख दो गाँठ-गँठीली लकुटी, छाता-बेत बगल में मार,
मुरली तोड़-मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार।
फरिया चीर फाड़ कुवरी को पहिना लो पंचरंगी गौन,
तरुण त्रिभंगीलाल तुम्हारी लेडी और बनेगी कौन।
मुँदना नहीं किसी मन्दिर में काटो होटल में दिन-रात,
पर नजखौआ ताड़ न जावें, बढ़िया खान-पान की बात ॥[1]

—'आर्य पंच की आल्हा'

कभी-कभी भावावेग से मन की अवस्था आवेशमयी हो जाती है। भावना के उद्दीप्त होते ही भाषा का भी ओजमयी हो जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के अनुसार समस्त पदावली तथा कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग इसके लिए आवश्यक माना गया है। परन्तु 'शंकर'जी ने असमस्त पदावली और साधारण वर्ण-योजना की सहायता से ही ओजगुण का सुन्दर विधान किया है—

वृषवल्लभ गोस्वामि बने कामुक दुर्मति से,
मनुज मोहिनी मान मुझे, दौड़े पशुपति से।
परखा पाप प्रचण्ड, प्रमादी पामरपन में,
उपजा उग्र अदम्य, शेष मेरे तन-मन में।
लमकी लटकी देख लाय तलवार निकाली,
गरजी छन्द कृपाण, सुनाकर सुमरी काली।
वीर, भयानक, रुद्र रूप समझी रणचण्डी,
सुन मेरी किलकार, गिरी गच पै हुरसण्डी।
मूत रहे, न पुरीष रुका, पटकी पिचकारी,
रस वीभत्स बहाय, दुरे प्रभु प्रेमपुजारी ॥[2]

भंग हुआ रस-रंग, भयातुर हुल्लड़ भागा,
निरख नर्तनागार, छुपा रसराज अभागा।
हौट गया हुरदंग, भुजा मेरी फिर फड़की,
भड़की उर में आग, क्रोध की तड़िता तड़की ॥[3]

'गर्भ रण्डा रहस्य' की नायिका 'कमला' के इस वीरोचित कृत्य से चित्त दीप्त हो उठता है। भाषा में एक ऐसा आवेश है जो समस्त भावनाओं को ऊर्जस्वित कर देता है। शब्दों के ऐसे समर्थ प्रयोगों को देखकर ही कदाचित् पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विराट कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से कहा था कि, "शंकरजी शब्दों के स्वामी, भाषा के

१. शंकर सर्वस्व—पृ० २१८
२-३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५१, ५२

अपने को छोड़ लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित करता है अतः 'लक्षणलक्षणा' है। केवल अमुख्यार्थ अन्वित होने से 'जहत्स्वार्था' भी है। वह वाक्यगत 'अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि' का सुन्दर उदाहरण है।

कहा जा चुका है कि काव्य में जब सूक्ष्म भावों को विशेष रूप से व्यक्त करना होता है और उनकी गम्भीर व्यंजना अभीष्ट होती है तो उनका मूर्त-विधान कर दिया जाता है—उन्हें गोचर बना दिया जाता है। इस प्रकार के मूर्त-विधान से अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव साकार हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर 'प्रयोजनवती लक्षणा' काम देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जाल प्रपंच पसार घने, कुल-गौरव का उर फाड़ रहा है,
मानव मण्डल में मिल दाहक, दानव दुष्ट दहाड़ रहा है ॥[1]

उद्यम को कर अन्ध आँख अवनति ने खोली है,
धन की धूलि उड़ाय, अकिंचनता हँस बोली है ॥[2]

शिखा सत्य की झूठ ने काट ली,
न विज्ञान फूला न विद्या फली ।[3]

हरि-मन्दिर में जाय, ध्यान माधव का धरती,
बगलों के सिर तोड़, दम्भ के कान कतरती ॥[4]

क्या अब दुख-दरिद्र हमारा दूर न होगा,
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥[5]

काव्य-गुण—शंकरजी की खड़ीबोली रचनाएँ प्रायः असमस्त पदावली एवं सुकुमार वर्णों में बँधी होने से प्रसादगुण-सम्पन्न है। अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयों से लेकर व्यंग्य गीतों तक उसमें शब्द-योजना इतनी सुकर है कि सुनने मात्र से अर्थ-बोध हो जाता है, यथा—

नीर मेघ से, मेघ भाप से, भाप नीर बन जाता है,
पिछले, जमे, उड़े यों पानी कौतुक तीन दिखाता है।
ये रस, अन्न, प्राणदाता के द्रव, दृढ़ वायु-विकार,
देखो देवो, ऋषियो, पितरो, करिये जगदुपकार ॥
औषधि अन्न आदि सामग्री सुखदा सब को देती है।
अपने उपजाऊ बीजों को सावधान रख लेती है।
जीव जन्म लेते मरते हैं, जिस पर जीवन-भोग,
उस वसुन्धरा माता की सी सुगति गहो गुरु-लोग ।[6]

—'नैसर्गिक शिक्षा'

१—३. अनुराग रत्न—पृ० १०३, १८६, १६७
४. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ३६
५-६. शंकर सर्वस्व—पृ० ६२, ४२

पटक पादुका पहनो प्यारे, बूट इटाली का लुकदार,
डालो डबल वाच पाकट में, चमके चेन कंचनी चार।
रख दो गाँठ-गँठीली लकुटी, छाता-बेत बगल में मार,
मुरली तोड़-मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार।
फरिया चीर फाड़ कुवरी को पहिना लो पंचरंगी गौन,
तरुण त्रिभंगीलाल तुम्हारी लेडी और बनेगी कौन।
मुँदना नहीं किसी मन्दिर में काटो होटल में दिन-रात,
पर नजखौआ ताड़ न जावें, बढ़िया खान-पान की बात ॥[1]

—'आर्य पंच की आल्हा'

कभी-कभी भावावेग से मन की अवस्था आवेशमयी हो जाती है। भावना के उद्दीप्त होते ही भाषा का भी ओजमयी हो जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के अनुसार समस्त पदावली तथा कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग इसके लिए आवश्यक माना गया है। परन्तु 'शंकर'जी ने असमस्त पदावली और साधारण वर्ण-योजना की सहायता से ही ओजगुण का सुन्दर विधान किया है—

वृषवल्लभ गोस्वामि बने कामुक दुर्मति से,
मनुज मोहिनी मान मुझे, दौड़े पशुपति से।
परखा पाप प्रचण्ड, प्रमादी पामरपन में,
उपजा उग्र अदम्य, शेष मेरे तन-मन में।
लमकी लटकी देख लाय तलवार निकाली,
गरजी छन्द कृपाण, सुनाकर सुमरी काली।
वीर, भयानक, रुद्र रूप समझी रणचण्डी,
सुन मेरी किलकार, गिरी गच पै हुरसण्डी।
मूत रहे, न पुरीष रुका, पटकी पिचकारी,
रस बीभत्स बहाय, दुरे प्रभु प्रेमपुजारी ॥[2]

भंग हुआ रस-रंग, भयातुर हुल्लड़ भागा,
निरख नर्तनागार, छुपा रसराज अभागा।
हौट गया हुरदंग, भुजा मेरी फिर फड़की,
भड़की उर में आग, क्रोध की तड़िता तड़की ॥[3]

'गर्भ रण्डा रहस्य' की नायिका 'कमला' के इस वीरोचित कृत्य से चित्त दीप्त हो उठता है। भाषा में एक ऐसा आवेश है जो समस्त भावनाओं को ऊर्जस्वित कर देता है। शब्दों के ऐसे समर्थ प्रयोगों को देखकर ही कदाचित् पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विराट कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से कहा था कि, "शंकरजी शब्दों के स्वामी, भाषा के

१. शंकर सर्वस्व—पृ० २१८
२-३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५१, ५२

अपने को छोड़ लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित करता है अतः 'लक्षणलक्षणा' है। केवल अमुख्यार्थ अन्वित होने से 'जहत्स्वार्था' भी है। वह वाक्यगत 'अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि' का सुन्दर उदाहरण है।

कहा जा चुका है कि काव्य में जब सूक्ष्म भावों को विशेष रूप से व्यक्त करना होता है और उनकी गम्भीर व्यंजना अभीष्ट होती है तो उनका मूर्त-विधान कर दिया जाता है—उन्हें गोचर बना दिया जाता है। इस प्रकार के मूर्त-विधान से अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव साकार हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर 'प्रयोजनवती लक्षणा' काम देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जाल प्रपंच पसार घने, कुल-गौरव का उर फाड़ रहा है,
मानव मण्डल में मिल दाहक, दानव दुष्ट दहाड़ रहा है ॥[1]

उद्यम को कर अन्ध आँख अवनति ने खोली है,
धन की धूलि उड़ाय, अकिंचनता हँस बोली है ॥[2]

शिखा सत्य की झूठ ने काट ली,
न विज्ञान फूला न विद्या फली।[3]

हरि-मन्दिर में जाय, ध्यान माधव का धरती,
बगलों के सिर तोड़, दम्भ के कान कतरती ॥[4]

क्या अब दुख-दरिद्र हमारा दूर न होगा,
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥[5]

काव्य-गुण—शंकरजी की खड़ीबोली रचनाएँ प्रायः असमस्त पदावली एवं सुकुमार वर्णों में बँधी होने से प्रसादगुण-सम्पन्न है। अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयों से लेकर व्यंग्य गीतों तक उसमें शब्द-योजना इतनी सुकर है कि सुनने मात्र से अर्थ-बोध हो जाता है, यथा—

नीर मेघ से, मेघ भाप से, भाप नीर बन जाता है,
पिघले, जमे, उड़े यों पानी कौतुक तीन दिखाता है।
ये रस, अन्न, प्राणदाता के द्रव, दृढ़ वायु-विकार,
देखो देवो, ऋषियो, पितरो, करिये जगदुपकार ॥
औषधि अन्न आदि सामग्री सुखदा सब को देती है।
अपने उपजाऊ बीजों को सावधान रख लेती है।
जीव जन्म लेते मरते हैं, जिस पर जीवन-भोग,
उस वसुन्धरा माता की सी सुगति गहो गुरु-लोग।[6]

—'नैसर्गिक शिक्षा'

१—३. अनुराग रत्न—पृ० १०३, १८६, १६७
४. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ३६
५-६. शंकर सर्वस्व—पृ० ९२, ४२

पटक पादुका पहनो प्यारे, बूट इटाली का लुकदार,
डालो डबल वाच पाकट में, चमके चेन कंचनी चार।
रख दो गाँठ-गँठीली लकुटी, छाता-बेत बगल में मार,
मुरली तोड़-मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार।
फरिया चीर फाड़ कुबरी को पहिना लो पंचरंगी गौन,
तरुण त्रिभंगीलाल तुम्हारी लेडी और बनेगी कौन।
मुँदना नहीं किसी मन्दिर में काटो होटल में दिन-रात,
पर नजखौआ ताड़ न जावें, बढ़िया खान-पान की बात ॥[1]

—'आर्य पंच की आल्हा'

कभी-कभी भावावेग से मन की अवस्था आवेशमयी हो जाती है। भावना के उद्दीप्त होते ही भाषा का भी ओजमयी हो जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के अनुसार समस्त पदावली तथा कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग इसके लिए आवश्यक माना गया है। परन्तु 'शंकर'जी ने असमस्त पदावली और साधारण वर्ण-योजना की सहायता से ही ओजगुण का सुन्दर विधान किया है—

वृषवल्लभ गोस्वामि बने कामुक दुर्मति से,
मनुज मोहिनी मान मुझे, दौड़े पशुपति से।
परखा पाप प्रचण्ड, प्रमादी पामरपन में,
उपजा उग्र अदम्य, शेष मेरे तन-मन में।
लमकी लटकी देख लाय तलवार निकाली,
गरजी छन्द कृपाण, सुनाकर सुमरी काली।
वीर, भयानक, रुद्र रूप समझी रणचण्डी,
सुन मेरी किलकार, गिरी गच पै हुरसण्डी।
मूत रहे, न पुरीष रुका, पटकी पिचकारी,
रस बीभत्स बहाय, दुरे प्रभु प्रेमपुजारी ॥[2]

भंग हुआ रस-रंग, भयातुर हुल्लड़ भागा,
निरख नर्तनागार, छुपा रसराज अभागा।
हौंट गया हुरदंग, भुजा मेरी फिर फड़की,
भड़की उर में आग, क्रोध की तड़िता तड़की ॥[3]

'गर्भ रण्डा रहस्य' की नायिका 'कमला' के इस वीरोचित कृत्य से चित्त दीप्त हो उठता है। भाषा में एक ऐसा आवेश है जो समस्त भावनाओं को ऊर्जस्वित कर देता है। शब्दों के ऐसे समर्थ प्रयोगों को देखकर ही कदाचित् पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विराट कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से कहा था कि, "शंकरजी शब्दों के स्वामी, भाषा के

१. शंकर सर्वस्व—पृ० २१८
२-३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५१, ५२

अपने को छोड़ लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित करता है अतः 'लक्षणलक्षणा' है। केवल अमुख्यार्थ अन्वित होने से 'जहत्स्वार्था' भी है। वह वाक्यगत 'अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि' का सुन्दर उदाहरण है।

कहा जा चुका है कि काव्य में जब सूक्ष्म भावों को विशेष रूप से व्यक्त करना होता है और उनकी गम्भीर व्यंजना अभीष्ट होती है तो उनका मूर्त-विधान कर दिया जाता है—उन्हें गोचर बना दिया जाता है। इस प्रकार के मूर्त-विधान से अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव साकार हो उठते हैं। ऐसे स्थलों पर 'प्रयोजनवती लक्षणा' काम देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जाल प्रपंच पसार घने, कुल-गौरव का उर फाड़ रहा है,
मानव मण्डल में मिल दाहक, दानव दुष्ट दहाड़ रहा है ॥[1]

उद्यम को कर अन्ध आँख अवनति ने खोली है,
धन की धूलि उड़ाय, अकिंचनता हँस बोली है ॥[2]

शिखा सत्य की झूठ ने काट ली,
न विज्ञान फूला न विद्या फली।[3]

हरि-मन्दिर में जाय, ध्यान माधव का धरती,
बगलों के सिर तोड़, दम्भ के कान कतरती ॥[4]

क्या अब दुख-दरिद्र हमारा दूर न होगा,
क्या अनुचित दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥[5]

काव्य-गुण—शंकरजी की खड़ीबोली रचनाएँ प्रायः असमस्त पदावली एवं सुकुमार वर्णों में बँधी होने से प्रसादगुण-सम्पन्न हैं। अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयों से लेकर व्यंग्य गीतों तक उसमें शब्द-योजना इतनी सुकर है कि सुनने मात्र से अर्थ-बोध हो जाता है, यथा—

नीर मेघ से, मेघ भाप से, भाप नीर बन जाता है,
पिघले, जमे, उड़े यों पानी कौतुक तीन दिखाता है।
ये रस, अन्न, प्राणदाता के द्रव, दृढ़ वायु-विकार,
देखो देवो, ऋषियो, पितरो, करिये जगदुपकार ॥
औषधि अन्न आदि सामग्री सुखदा सब को देती है।
अपने उपजाऊ बीजों को सावधान रख लेती है।
जीव जन्म लेते मरते हैं, जिस पर जीवन-भोग,
उस वसुन्धरा माता की सी सुगति गहो गुरु-लोग।[6]

—'नैसर्गिक शिक्षा'

१—३. अनुराग रत्न—पृ० १०३, १८६, १६७
४. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ३६
५-६. शंकर सर्वस्व—पृ० ६१, ४२

पटक पादुका पहनो प्यारे, बूट इटाली का लुकदार,
डालो डबल वाच पाकट में, चमके चेन कंचनी चार।
रख दो गाँठ-गँठीली लकुटी, छाता-बेत बगल में मार,
मुरली तोड़-मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार।
फरिया चीर फाड़ कुवरी को पहिना लो पंचरंगी गौन,
तरुण त्रिभंगीलाल तुम्हारी लेडी और बनेगी कौन।
मुँदना नहीं किसी मन्दिर में काटो होटल में दिन-रात,
पर नजखौआ ताड़ न जावें, बढ़िया खान-पान की बात ॥[1]

—'आर्य पंच की आल्हा'

कभी-कभी भावावेग से मन की अवस्था आवेशमयी हो जाती है। भावना के उद्दीप्त होते ही भाषा का भी ओजमयी हो जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के अनुसार समस्त पदावली तथा कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग इसके लिए आवश्यक माना गया है। परन्तु 'शंकर'जी ने असमस्त पदावली और साधारण वर्ण-योजना की सहायता से ही ओजगुण का सुन्दर विधान किया है—

वृषवल्लभ गोस्वामि बने कामुक दुर्मति से,
मनुज मोहिनी मान मुझे, दौड़े पशुपति से।
परखा पाप प्रचण्ड, प्रमादी पामरपन में,
उपजा उग्र अदम्य, शेष मेरे तन-मन में।
लमकी लटकी देख लाय तलवार निकाली,
गरजी छन्द कृपाण, सुनाकर सुमरी काली।
वीर, भयानक, रुद्र रूप समझी रणचण्डी,
सुन मेरी किलकार, गिरी गच पै हुरसण्डी।
मूत रहे, न पुरीष रुका, पटकी पिचकारी,
रस बीभत्स बहाय, दुरे प्रभु प्रेमपुजारी ॥[2]

भंग हुआ रस-रंग, भयातुर हुल्लड़ भागा,
निरख नर्तनागार, छुपा रसराज अभागा।
हौंट गया हुरदंग, भुजा मेरी फिर फड़की,
भड़की उर में आग, क्रोध की तड़िता तड़की ॥[3]

'गर्भ रण्डा रहस्य' की नायिका 'कमला' के इस वीरोचित कृत्य से चित्त दीप्त हो उठता है। भाषा में एक ऐसा आवेश है जो समस्त भावनाओं को ऊर्जस्वित कर देता है। शब्दों के ऐसे समर्थ प्रयोगों को देखकर ही कदाचित् पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने एक विराट कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से कहा था कि, "शंकरजी शब्दों के स्वामी, भाषा के

१. शंकर सर्वस्व—पृ० २१८
२-३. गर्भ रण्डा रहस्य—पृ० ५१, ५२

अधीश्वर, मुहाविरों के सिरजनहार और साहित्य के अखाड़े के अक्खड़ पहलवान थे। पूजाई शंकरजी में शब्द-निर्माण की क्षमता असाधारण रूप से विद्यमान थी। जिस वक्त वे किचकिचा कर लिखते थे, तो उनके शब्द ऐसे होते थे कि पढ़ते-पढ़ते पाठक स्वयं दाँत किटकिटाने लगता था।"[1]

संक्षेप में पं० नाथूराम शंकर शर्मा खड़ीबोली-कविता के उन्नायकों में अग्रणी हैं। उन्होंने गम्भीर एवं दार्शनिक विषयों से लेकर सामाजिक तथा शाश्वत से लेकर सामयिक विषयों तक सब प्रकार के वर्णन में परिष्कृत एवं तत्सम-प्रधान भाषा का ही उपयोग किया। उन्होंने उर्दू के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर उर्दू में रचना तो की, किन्तु खड़ीबोली की रचनाओं में उसके शब्द न आने दिये। इनकी भाषा व्याकरण एवं वाक्य-रचना की दृष्टि से अत्यन्त परिनिष्ठित रही। खड़ीबोली-कविता में काव्य-शैली की जो गतानुगतिक प्रवृत्ति चली आ रही थी उन्होंने उसको छिन्न-भिन्न कर दिया और अप्रस्तुत तथा लाक्षणिक योजना में नूतन प्रयोग करके भावी कवियों का पथ-निर्देश किया। 'शंकर'जी ने राग-रागिनियों में उद्बोधन, जागरण, और नवनिर्माण के गीत सुनाकर खड़ीबोली को गेय बनाया। वे वास्तव में खड़ीबोली के सच्चे साधक थे। इनकी काव्य-प्रतिभा एवं साहित्य-साधना को देखकर ही उस युग के साहित्यकारों ने इन्हें 'कविता-कामिनी-कान्त'[2], 'कविता-कानन-केसरी'[3] आदि उपाधियों से विभूषित किया था।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १९२२-२००४)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपना कवि-कर्म भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ कर दिया था। भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों तक वे भक्तिकाल की पावन भावना तथा रीतिकाल का कला-चातुर्य लेकर व्रजभाषा में कवित्त-सवैये लिखते रहे जो 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बुप्रस्रवण' 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' तथा 'प्रेमप्रपंच' आदि नामों से ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित हुए; फारसी के अष्टम 'बाब गुलिस्ताँ' तथा 'गुलज़ार दबिस्ता' के पद्यानुवाद तथा 'उपदेश कुसुम' और 'विनोद वाटिका' का भाषा-माध्यम भी व्रजभाषा ही रहा। हाँ, जब उन्होंने भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर खड़ीबोली का बढ़ता हुआ प्रचार देखा तो वे भी उर्दू-छन्दों के सहारे बोल-चाल की खड़ीबोली में पद-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इस ढंग की भाषा में सर्वप्रथम एक कविता उन्होंने सं० १९५७ में नागरी प्रचारिणी सभा के 'गृह-प्रवेशोत्सव' पर पढ़ी। जो १९०४ ई० में 'प्रेम पुष्पोपहार' नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में भी प्रकाशित हुई थी।

---

१. शंकर सर्वस्व—पृ० ६ (भूमिका)

२. "कविता-कामिनी-कान्त, श्री नाथूराम शंकर,
ज्वाला पुरार्थ विदुषां समया मान्यतेतराम् ॥"
—उक्त उपाधि ज्वालापुर की एक बड़ी विद्वत्सभा में 'शंकर'जी की काव्य-साधना के उपलक्ष्य में दी गई थी
—दे० 'शंकर सर्वस्व' पृ० १०

३. "रसिक कुमुद बन-कलाधर, प्रतिभा पारावार।
कविता-कानन-केसरी सहृदयता आगार ॥"—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, दे० 'शंकर सर्वस्व', पृ० ७

सन् १६०६ ई० में हरिऔध जी ने 'उद्‌बोधन' शीर्षक एक पद्य-निबन्ध लिखा। उस वर्ष देश के नौनिहालों के विनोदार्थ, 'सरस्वती', में कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई। सन् १६०७ में प्रकाशित 'अधखिला फूल' शीर्षक उपन्यास में कुछ चौपदे भी ठेठ खड़ीबोली में फ़ारसी छन्द में लिखे गये। इसके उपरान्त कुछ तो पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से और कुछ दूसरे लेखकों की देखा-देखी, हरिऔध जी खड़ीबोली में निरन्तर कविता करते रहे जो समय-समय पर सरस्वती, मर्यादा, प्रभा, श्रीशारदा, प्रतिभा, विद्यार्थी आदि पत्रिकाओं में निकलती रहीं।

विषय-वस्तु—हरिऔध ने प्रबन्ध और फुटकर दोनों प्रकार का काव्य-सृजन किया। प्रबन्ध काव्य में उनकी अमर रचना 'प्रिय प्रवास' अपने समय का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। कवि ने लगभग पाँच वर्ष की गहन साधना के उपरान्त सन् १६१३ में इसे समाप्त किया था। यह प्रथम वार सन् १६१४ में खंग विलास प्रेस, पटना से प्रकाशित हुआ था। वाह्य रूप में 'प्रिय प्रवास' संस्कृत वृत्तों में रचित एक महाकाव्य है। गीता के कर्मयोगी कृष्ण और देश-सेविका राधा इसके नायक-नायिका हैं। कवि ने युग की बौद्धिक प्रवृत्ति के अनुरूप कृष्ण से सम्बद्ध लगभग सभी अलौकिक लीलाओं का बौद्धिक दृष्टि से आकलन किया है। कृष्ण के अभाव में पीड़ित गोकुलवासियों के विविध जीवन-व्यापारों का मार्मिक चित्रण इस काव्य का वर्ण्य-विषय है और राधा-विलाप, यशोदा-क्रंदन तथा गोप-गोपियों की वेदना का प्राचुर्य दिखाना इसका उद्देश्य। काव्य अधिकतर भाव-व्यंजनात्मक है क्योंकि इसमें शृंगार एवं करुण रस के प्रसंग ही अधिक हैं। 'प्रिय प्रवास' में महाकाव्य के अनुरूप विशाल-विस्तीर्ण पृष्ठाधार न होने के कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे अच्छा प्रबन्ध काव्य मानने में संकोच किया है।[1]

फुटकर काव्य—हरिऔधजी मानव जाति का सर्वोच्च आदर्श समाज-सेवा और लोक-कल्याण मानते थे। अतएव उनकी अधिकांश प्रकीर्णक रचनाओं में समाज-हित की स्रोतस्विनी प्रवाहित मिलती है। 'धर्म्मवीर', 'कर्म्मवीर', 'जीवन मुक्त', 'हमें चाहिए', 'अविद्या', 'कुलीनता', 'नोंकझोंक' आदि कविताओं में आदर्श मानव-गुणों की व्याख्या के साथ उपदेश भी व्यंजित हैं। समाज की नैतिक दुर्बलताओं पर आक्रोश व्यक्त करने के लिए कवि ने 'मनोव्यथा', 'आरम्भ शूरता', 'चेतावनी', 'दिल के फफोले', 'जी की कचट', 'दुखिया के आँसू' 'दीन की आह', 'मतलब की दुनिया', 'जी टटोलो' आदि चौपदे, छपदे, चौतुके, छतुके लिखे। कवि की धारणानुसार समाज की कल्याणी शक्ति नारी है। उसकी दुर्दशा का वर्णन 'बेवायें', 'नापाकपन', 'बेटियाँ', 'घर देखो-भालो' आदि कविताओं में बड़े विशद रूप से हुआ है। कवि के चौपदे भूलभुलैया में फँसी हुई हिन्दू जाति को देखकर चोट खाए हुए दिल के फफोले हैं जो स्वयं उसी के शब्दों में चौपदों की सूरत में फूटे हैं **जिससे इन्हें पढ़कर हिन्दू जाति की आँखें खुलें**।[2] इनके अतिरिक्त कुछ पद अन्य विषयों पर भी मिलते हैं। 'विद्या', 'विद्यालय', 'प्रेमपुष्पोपहार', 'जातीय भाषा' आदि का प्रतिपाद्य स्थूलतः शिक्षा अथवा साहित्य है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८—पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. द्र० 'दो दो बातें' चुभते चौपदे, पृ० ६—प्रणेता, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

'वेद हैं' शीर्षक कविता में कवि ने वेदों को अनेक धर्मों का सारभूत घोषित किया है। 'प्रभु प्रताप' में परोक्ष सत्ता का स्तवन है। 'चित्तौड़ की एक शारद रजनी' तथा 'कृतज्ञता' में प्रकृति का नीतिपरक रूप मिलता है, जबकि 'वसन्त-वर्णन' में उसका शुद्ध आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है। 'आर्य वाला' और 'वीर वधू संयुक्ता' आदर्श नारी तथा ऐतिहासिक वीरांगना की प्रशस्ति में लिखा गया है। कवि ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख (सरस्वती, जुलाई १९०८ ई०) से प्रेरणा लेकर 'उर्मिला' तथा 'वीरवर सौमित्र' नामक दो परिचयात्मक लघु पद्य-निबन्ध भी रचे। 'रुक्मिणी सन्देश' और 'सुतवती सीता' मर्यादा पत्रिका में प्रकाशित चित्रों के परिचय मात्र हैं। दो एक कविताएँ उत्सव-समारोहों पर भी लिखी गईं, जैसे 'दशहरा' 'राज प्रशंसा' दादरा और कव्वाली में जॉर्ज पंचम के राज्याभिषेक पर गाने के लिए लिखी गई थी। बालकों के विनोदार्थ रचित पदों में 'भगवान की बड़ाई', 'कोयल', 'गौरी' आदि उल्लेखनीय हैं।

काव्य-भाषा के स्वरूप और अभिव्यंजना-सौष्ठव-विधायक अन्य उपादानों की दृष्टि से हरिऔधजी के प्रबन्ध काव्य 'प्रिय प्रवास' एवं फुटकर काव्य में स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। इसलिए इनकी पृथक्-पृथक् मीमांसा ही समीचीन होगी।

प्रिय प्रवास

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—'प्रिय प्रवास' की भाषा सामान्यतया संस्कृत-गर्भित एवं समासयुक्त खड़ीबोली हिन्दी है। वास्तव में देखा जाय तो द्विवेदी-युगीन कवियों की तत्सम-प्रधान भाषा की रुचि इस काव्य में ही पूर्ण प्रतिनिधित्व पा सकी है। अतः अन्य शब्दों की अपेक्षा तत्सम शब्दों का प्राचुर्य इस काव्य का सहज गुण है। यहाँ तक कि इसमें उपेत, कियत, यदिच, प्रथित, क्षरण, निर्जर, कदन, तल्प, उत्सन्न, उल्मुक, वपुष, मुहुर्मुहुः, घोटक, प्रतिना जैसे संस्कृत शब्द जो हिन्दी में प्रचलित नहीं वे भी मिल जाते हैं। यह संस्कृत-पद-विन्यास प्रायः उपसर्गों से बोझिल है जैसे समुत्सुक, समुत्तम, समुन्नत, विहरित, विमोहक, विनिमज्जित, विनिद्रित, विवर्द्धक, विनिर्मित, विलोड़क, विभूषण, प्रदायिनी, प्रसुप्त, प्रबोधक, प्रपीड़न, प्रशोभी, प्रतपित, प्रलुब्ध, प्रवीर, संपोषिका, सुतान, सुप्रफुल्लित आदि। कवि ने खड़ीबोली में संस्कृत की संश्लेषणात्मक (उपसर्ग-प्रत्यय विभूषित) समस्तता लाने के लिये सन्धि-प्रधान-पदावली का भी उपयोग किया है यथा—पलायनेच्छु, प्रज्वलिताग्नि, ज्वलदग्नि, उचिताभिलाषी, तुहिनाभिभूत, अलौकिकालोकमयी, अनन्तराघात, दर्शनोत्कंठिता, सद्भावाश्रयता, कुंजातिरम्या, पुष्पभारावनम्रा, वियोगाग्नि, पुष्पोपशोभी, मनसोपयोगिता, वशीकरणादिक, श्यामलताग्रभाग जैसे अनेक समस्त पद 'प्रिय प्रवास' से उद्धृत किये जा सकते हैं। फलस्वरूप कहीं-कहीं भाषा इतनी संस्कृतनिष्ठ हो गई है कि शुक्लजी के अनुसार हिन्दी को "है, था, किया, दिया ऐसी दो-एक क्रियाओं के भीतर सिमटकर रह जाना पड़ा है।"[1] देखिए—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८—पं० रामचन्द्र शुक्ल

नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल कटाक्ष-पात निपुणा भ्रू-भंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोद वादन-परा आभूषण भूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आन्दोलिता॥ —सर्ग ४।६

प्रसादिनी-पुष्प सुगन्ध-वर्द्धिनी विकाशिनी वेलि-लता विनोदिनी।
अलौकिका थी मलयानिली क्रिया विमोहिनी पादप-पंक्ति-मोदिनी॥
—सर्ग १६।१५

इतना अवश्य है कि इससे काव्य-भाषा में कसावट और प्रवाह के साथ संस्कृत की कोमलता और कान्ति भी सन्निविष्ट हो गई है जिसकी आभा को कवि द्वारा आयोजित सानुप्रास शब्द-मैत्री ने द्विगुणित कर दिया है। तरणिजा-तट, वनव्यापित-वीथिका, धवल-धूसर, गोकुल-ग्राम, मुकुर-मंजुल, कल-केतु, मानस-मोहिनी, विटप-वेलि, सर्व-सुकक्ष, कुल-कामिनी, मंद-मदंग, प्रमोद-प्रवाह, विवशता-वश, वादक-वृन्द, तम-तोम, विपुल-व्याकुल, दीपक दीप्ति, नितान्त-निरीह, लीला-लोल, भ्रू-भंगिमा, कल-क्रीड़न जैसे युगल शब्दों ने भाषा की गेयता में निश्चय ही अभिवृद्धि की है। पदावली को श्रुति-मधुर बनाने के लिए 'ता' भाववाचक प्रत्यय भी बहुल मात्रा में प्रयुक्त किया गया है जो कहीं सर्वथा संस्कृत-व्याकरण के अनुसार है और कहीं हिन्दी-व्याकरण के आधार पर। निम्न अवतरणों में सुन्दर संगीत लहरी में अनुस्यूत 'ता' का विधान द्रष्टव्य है—

स बुदबुदा-फेनयुता-सुशब्दिता अनन्त-आवर्त्तमयी प्रफुल्लिता,
अपूर्वता अंकित थी प्रवाहिता, तरंग माला कुलिता-कलिन्दजा॥
—सर्ग ९।७६

अति जरा-विजिता बहु चिन्तिता विकलता-ग्रसिता सुख-वंचिता।
सदन में कुछ थीं परिचारिका, अधिकृता-कृशता अवसन्नता॥
मुकुर उज्ज्वल मंजु निकेत में, मलिनता अति थी प्रतिबिम्बिता।
परम-नीरसता सह आवृत्ता, सरसता-शुचिता युत वस्तु थी॥
—सर्ग १०।७-८

डॉ० सुधीन्द्र ने ऐसे भाषा-स्थलों को देखकर ही कहा है कि, "संस्कृताभास शब्दों के शिलाखण्डों से टकराकर बहनेवाली धारा एक प्रकार का कलकल शब्द करती है और अन्त में विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती है—इससे एकरागता नहीं उत्पन्न होने पाती।"[1] किन्तु ऐसी संस्कृत-गर्भित, श्रुति-मधुर, संगीतमय, प्रवाहपूर्ण एवं संश्लिष्ट पद-योजना काव्य में सर्वत्र उपलब्ध नहीं होती। सम्पूर्ण 'प्रिय प्रवास' में तीस-पैंतीस से अधिक छन्द ऐसे न होंगे जिनकी भाषा इतनी संयत, गम्भीर एवं शुद्ध हो। उसका कारण यह है कि ऐसी संस्कृतनिष्ठ भाषा में भी प्रायः ब्रजभाषा, फ़ारसी, उर्दू आदि के शब्द-प्रयोग मिल जाते हैं

१. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ५०६—डॉ० सुधीन्द्र

यथा थिर, छन, परस, जुगुत, सुअन, महर, पै, लसना, छार, बगरना, अवलोकना, अवमानना, उन्मोचना, विलसना, वितरना आदि जैसी ब्रजभाषा की संज्ञा-क्रियाएँ, उर्दू के दिल, समाँ, याँ, वाँ, ए आदि तथा बोलचाल की खड़ीबोली के जनम, महातम, सनेह, कढ़ना, पिन्हाना, पैन्हना, बेकली, ढिग, तुमारा आदि शब्द खटकते हैं। उदाहरणार्थ देखिए—

कल अलाप समापित हो गया, —सर्ग १।४२

सदन के सब थे इकठे कहीं, —सर्ग २।७

प्रथम था करता बहु ताड़ना, —सर्ग २।१२

जगत में यक पुत्र बिना कहीं,
विलटता सुर-वांछित राज्य है। —सर्ग ३।७२

महरि पास खड़ी उस तल्प के,
छवि अनुत्तम थी अवलोकती। —सर्ग ८।२५

अतः यही है अब युक्ति उत्तमा,
तुझे वधूं मैं भव-श्रेय-दृष्टि से। —सर्ग १३।७७

वह निज कर से थे बालकों को पिन्हाते, —सर्ग १३।१००

समुकुट मनहारी सर्वदा पैन्हते थे, —सर्ग १३।१०७

सकल को उपढौकन आदि ले,
उचित है चलना मथुरा पुरी। —सर्ग २।१५

प्यारा लेरू अलग जिसकी आँख से हो गया है। —सर्ग १३।१७०

इधर था इस भाँति समा बँधा,
उधर व्योम हुआ कुछ और ही। —सर्ग १।३४

कमल-लोचन कृष्ण-वियोग की,
अशनिपात समा यह सूचना। (समा=समान) —सर्ग २।१८

जो भूरि भूत जनता समवेत वाँ थी, —सर्ग ५।१७

बूढ़े के ए वचन सुन के नेत्र में नीर आया, —सर्ग ५।२६

था सूखता अधर औ कँपता कलेजा, —सर्ग ५।१८

ऊधो को यों सदुख जब थे गोप बातें सुनाते,
आभीरों का यक दल गया वाँ उसी काल आया। —सर्ग १२।१

वन ... विलपूँ या मैं धसूँ मेदिनी में। —सर्ग १५।१२३

उपर्युक्त पद-पदांशों के शब्द-प्रयोगों पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि भाषा-प्रवाह में बाधा ही नहीं अपितु लचरपन भी आ गया है। हरिऔधजी ने इस प्रकार के प्रयोगों के औचित्य पर 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि व्रजभाषा संज्ञा-क्रियाओं आदि के मूल में उनका सामान्य प्रचलन, माधुर्य एवं कोमलता है। शाब्दिक विकलांगता का कारण मात्रा और छन्द-पूर्ति है। कभी छन, भाग, पयान और कभी क्षण, भाग्य, प्रयाण आदि विभिन्न रूपों का कारण रस-निर्वाह और या, वो, यक, औ आदि का उपयोग स्थल संकीर्णता के कारण हुआ है।[1] परन्तु प्रत्येक भाषा की एक विशिष्ट गतिविधि और विशिष्ट प्रकृति होती है। खड़ीबोली के साहित्यिक स्वरूप में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य उसमें कृत्रिमता ला देता है। कठिन सन्धिज पद, कारक-चिह्नों का लोप, संज्ञाओं के मनमाने रूप शुद्ध खड़ीबोली को कदापि ग्राह्य नहीं हैं और यदि इन प्रयोगों में प्रान्तीय प्रयोग आ जायें तब तो उसका स्वरूप और भी अधिक उपहासास्पद हो जाता है, यथा :—

आदौ होता गुण-ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति द्वारा,
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग लिप्सा। —सर्ग १६।६७

जैसे प्रायः लहर उठती वारि में वायु से है,
त्यों ही होता चित चलित है कश्चिदावेग द्वारा।
उद्वेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है,
हाँ, ज्ञानी औ विबुध-जन में मुह्यता है न होती। —सर्ग १६।५२

गिन-गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहा के,
यदि निज निशि होती कश्चिदार्ता बिताती।
वह ढिग उसके भी रात्रि में ही सिधाती,
निज अनुपम राधा-नाम की सार्थता से। —सर्ग १७।३५

१. द्र०—प्रिय प्रवास, भूमिका—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

मम उर जिसके ही हेतु है मोम जैसा,
निज उर वह क्यों है संग जैसा बनाता। (संग=पत्थर)

—सर्ग १५।११५

जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ.
लौटाल श्यामघन को व्रज-मध्य लाओ। —सर्ग १४।७५

इस प्रकार की विरोधी शब्द-योजना अत्यन्त संस्कृत-निष्ठ खड़ीबोली में कदापि ग्राह्य नहीं हो सकती। कुछ शब्द वर्णिक वृत्तों में ठीक नहीं बिठाये जा सके। अतः उनके स्थान पर ऐसे शब्द नियोजित किये गये हैं जिन्होंने भाव ही बदल दिया है, जैसे :—

अपार कोलाहल ग्राम में मचा, विषाद फैला व्रज सद्म-सद्म में,
व्रजेश हो व्यस्त-समस्त दौड़ते, खड़े हुए आकर उक्त कुण्ड पै।

—सर्ग ११।३२

'अस्त-व्यस्त' का बहिष्कार करके 'व्यस्त-समस्त' का प्रयोग निरर्थक सा हो गया है। कई शब्द तो अत्यन्त सुगम होते हुए भी ठीक-ठीक प्रत्युक्त नहीं हुए। उदाहरण द्रष्टव्य है :—

रोता-धोता, विकल बनता एक आभीर बूढ़ा,
दीनों के से वचन कहता पास अक्रूर के आ।
बोला कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें,
मेरे प्यारे कुँवर मुझसे आज न्यारे न होवें॥ —सर्ग ५।२४

'बनता' शब्द की बानगी देखिए, ऐसा मालूम होता है कि बूढ़ा आभीर दुखमग्न था नहीं, अपितु दूसरों को दिखाने के लिए उसे विकल 'बनना' पड़ा था। यह 'बनना' दुख के प्रसंग को ही व्यर्थ बना देता है।

नयन से बरसा कर वारि को।
बन गई पहले वह बावली॥
निज सखी ललिता-मुख देख के।
दुख कथा फिर यों कहने लगी॥ —सर्ग ४।२४

कदाचित् हरिऔधजी की 'राधा' को किंचिन्मात्र भी दुख नहीं था। वह अपनी सखी का मुख देखकर बावली बन गई। कवि महोदय आगे लिखते हैं :—

तजा किसी ने जल से भरा घड़ा
उसे किसी ने शिर से गिरा दिया॥
अनेक दौड़ी सुधि गात की गँवा।
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने॥ —सर्ग ६।१२८

घड़े लिये कामिनियाँ, कुमारियाँ।
अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता॥
पधारती जो जल से स्वगेह थी।
बजा-बजा के निज नूपुरादि को॥

ऐसा प्रतीत होता है कि व्रजांगनाओं के शिरों से घड़े गिरना, गात की सुधि गँवाना और नूपुर बजना सायास था—जानबूझकर किया गया था।

खड़ीबोली एक स्वतन्त्र भाषा है। शब्द-राशि के लिए वह संस्कृत की ऋणी होते हुए भी बहुत से शब्दों में उसका आधार छोड़ चुकी है। संस्कृत में 'पत्' धातु का अर्थ है गिरना, नीचे आना, हिन्दी में 'पतन' या 'पतित' का प्रयोग 'पापी' अथवा 'धर्मच्युत' के अर्थ में होता है। 'प्रिय प्रवास' में कवि ने संस्कृत-अर्थों को बनाये रखने की चेष्टा की है जिससे कहीं-कहीं मूल-अर्थ हास्यास्पद हो गया है :—

व्रज-धरा यक बार इन्हीं दिनों,
पतित थी दुख-वारिधि में हुई। —सर्ग १२।१६

पतित थी व्रज-भू पर हो रही,
प्रति-घटी उर-दारक-दामिनी। —सर्ग १२।२३

क्या तू है भी रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही,
जो पत्तों में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं। —सर्ग १५।१८

आवर्त्तों में वारि-पतित है नौ-धनी है न कोई। —सर्ग १४।५८

सकल-पादप नीरव थे खड़े,
हिल नहीं सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही,
पतित था अवनी पर हो रहा। —सर्ग ३।३

मारा भी है कुसुम-कलिका से, कभी लाडिले को।
तौ भी मैं हूँ निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया॥ —सर्ग १०।५७

संस्कृत में 'मार्जन' का अर्थ है स्वच्छ या साफ़ करना। झाड़ू को मार्जनी कहते हैं। मार्जनीया हिन्दी में बनाया गया; तात्पर्य है मार्जन करने अथवा परिष्कार करने योग्य। धात्वर्थ के शुद्ध होने पर भी हिन्दी में यह प्रयोग कृत्रिम सा लगता है।

निम्न पद देखिए, कवि ने 'प्राचीना' शब्द 'वृद्धा' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। प्राचीन

का स्त्रीलिंग 'प्राचीना' व्याकरण से शुद्ध होने पर भी वृद्धा स्त्री के अर्थ में विचित्र सा ही प्रतीत होता है।

जो संतप्ता-सलिल-नयना-बालिकाएँ कई हैं।
ऐ प्राचीना-तरल-हृदया-गोपियाँ स्नेह-द्वारा ॥
शिक्षा देना-समुचित इन्हें कार्य होगा तुमारा।
होने पावे न वह जिससे मोह-माया-निमग्ना ॥ —सर्ग १४।३४

प्राचीना की सदुख सुनके सर्व बातें मुरारी,
दोनों आंखें सजल करके प्यार के साथ बोले। —सर्ग ५।५१

और देखिए, निम्न पद में 'अनुरक्त' और 'विचित्र' को संस्कृत वृत्त मन्दाक्रान्ता के आग्रह से 'रक्त' और 'चित्र' ही बना दिया गया है जो शीघ्र समझ में नहीं आता।

जो बालायें विपुल हरि में रक्त हैं चित्र क्या हैं?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है —सर्ग १४।६६

ऊपर दिखा आये हैं कि 'प्रिय प्रवास' में 'ता' प्रत्यय लगाकर हरिऔध ने पदावली को श्रुति-मधुर किया है अतः कुशीलता, आविलता करालता, प्रवाहिता, विमोहिता, मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता, रंजिता, शोभिता, प्रफुल्लिता, रवकारिता, वनता आदि संख्यातीत भाववाचक संज्ञाएँ काव्य से उद्धृत की जा सकती हैं। किन्तु ये प्रयोग अति की सीमाओं का भी परिलंघन कर गये हैं। मूलता, आमूलता, अशंकता, सद्म्बुता, निरम्बुता, साँगता,लोभता, आश्वासिता, उपल-गठिता, मर्दनोद्यता, कष्टिता, दग्धिता, आदि गढ़े हुए शब्द जहाँ-जहाँ प्रयुक्त हुए हैं जो व्यर्थ और अनावश्यक ही नहीं, कवि-कौशल का खिलवाड़ सा लगते हैं। निम्न पद में 'ता' प्रत्यय वाले शब्दों के प्रलोभन में पड़े हुए कवि की उक्ति पठनीय है—

अति जरा विजिता बहु चिन्तिता
विकलता ग्रसिता सुख-वंचिता।
सदन में कुछ थीं परिचारिका।
अधिकृता कृशता अवसन्नता ॥
मुकुर उज्ज्वल-मंजु निकेत में,
मलिनता अति थी प्रतिबिम्बिता।
परम नीरसता-सह-आवृत्ता,
सरसता-शुचिता-युत वस्तु थी ॥ —सर्ग १०।७-८-९

अन्तिम पंक्तियों में मलिनता, प्रतिबिम्बिता, नीरसता, सह-आवृत्ता होने पर भी सरसता, शुचिता (सहित) थी? कदाचित् विरोधाभास का चमत्कार है!

सामान्यतया हरिऔध ने शब्द-सन्धि की सहायता से सौन्दर्य-सम्पादन के साथ संस्कृत

के वर्णिक वृत्तों को बनाये रखने का श्लाध्य प्रयत्न किया है। इससे भाषा में जटिलता तो अवश्य आ गई है किन्तु तत्सम-बाहुल्य के कारण ऐसे समस्त पद खटकते नहीं हैं। हाँ, जहाँ खड़ीबोली के आवश्यक कारक-चिह्न उड़ा दिए गये हैं अथवा दो ऐसे शब्दों का समास किया गया है जिनकी सन्धि सहज रूप में ग्राह्य ही नहीं होती, ऐसे स्थलों पर भाषा अशुद्ध हो गई है, यथा—

प्रफुल्ल बैठे दिवसेक श्याम थे,
तले इसी पादप के समण्डली। —सर्ग १३।४६

है कल्प-पादप मनोहराटवी का। —सर्ग १४।१३६

जेठे भ्राता-सहित जननी-पास गोपाल आये। —सर्ग ५।४३

कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे। —सर्ग ५।४६

ऐसा खोटा यक दिन उन्हीं वासरों-मध्य आया। —सर्ग ७।६

उदक में घुस तो करते रहे,
वह कहीं जल-बाहर मग्न हो। —सर्ग १२।५३

श्यामा-बातें श्रवण करके बालिका एक रोई। —सर्ग १४।५

ऊधो-बातें हृदय-तल की बोधिनी गूढ़ प्यारी। —सर्ग १४।४०

प्रलय-काल-समान प्रसुप्त हो,
प्रकृति निश्चल, नीरव शान्त थी। —सर्ग ३।१

तू पावेगी कुसुम-गहने कान्तता-साथ पैन्हे। —सर्ग ६।५१

देखे पूजा-समय, मथुरा-मन्दिरों-मध्य जाना। —सर्ग ६।५३

कहा जा चुका है कि कवि ने भाषा में व्रजभाषा और बोलचाल की क्रियाओं का निस्संकोच उपयोग किया है। भाषा में लाघव लाने के लिये खड़ीबोली की संयुक्त क्रियाओं को उड़ा कर संस्कृत-धातुओं में हिन्दी के क्रिया-प्रत्यय 'ना' से काम निकाला गया है। अतएव अवलोकना, अवमानना, विमोचना, उन्मोचना, जैसी अनेकानेक क्रियाएँ काव्य में बिखरी पड़ी हैं। जहाँ खड़ीबोली की ही मूल क्रिया के साथ उसकी पूरक क्रिया को उड़ाने का प्रयत्न किया गया है वहाँ वाक्य-रचना दूषित हो गई है, यथा—

बन अपार विषाद उपेत वे,
बिलख थीं दृग वारि विमोचती। (बिलख रही थीं)
—सर्ग २।५५

सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता। (दिखाई देता है)
—सर्ग ४।३१

यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं,
मम सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया। (दिखाई देता, दिखाई दिया)
—सर्ग ६।१३

सारी बातें दुख भरी नन्द-अर्द्धांगिनी की।
लोगों को थी व्यथित करती औ महाकष्ट देती॥
ऐसी रोई सकल जनता खो वची धीरता को।
भू में व्यापी विपुल जिससे शोक-उच्छ्‌वास-मात्रा॥ (वची हुई धीरता खो दी)
—सर्ग ५।६३

दो-एक स्थलों पर कवि ने केवल मात्रा-पूर्ति के लिये निरर्थक ही शब्द का वहुवचन रूप प्रयुक्त कर दिया है, जैसे—

चावों से था वदन उनका देखता ग्राम सारा। —सर्ग ८।४

पीछे बैठे विशद रथ में बोध दे के सबों को। —सर्ग ५।४६

काव्य में वाक्य-रचना-दोष की भी कमी नहीं है। न्यूनपदत्व दोष, दूरान्वय दोष, च्युत संस्कृति दोष आदि स्थल-स्थल पर मिल जाते हैं जिनसे अर्थ-विवक्षा में निश्चय ही वड़ी कठिनाई पड़ती है, देखिए—

दूरान्वय दोष

मैं भी बीती भगिनि अपनी आह, देती सुना हूँ। (अपनी बीती सुना देती हूँ)
—सर्ग ८।३७

जी में बात अनेक बार यह थी मेरे उठी मैं चलूँ,
प्यारी-भावमयी सु-भूमि ब्रज में दो ही दिनों के लिये। —सर्ग ६।५

कैसी हैं अनुरागिनी हृदय से माता, पिता, गोपिका,
प्यारे हैं यह भी छिपी न तुमसे जाओ अतः प्रात ही। —सर्ग ६।६

न्यूनपदत्व दोष

अनेक गायों बहु गोप बाल की,
विलोक ऐसी करुणामयी दशा।
बड़े सुधी ऊधव चित मध्य भी,
सखेद थी अंकुरिता अधीरता॥ (गायों की, अंकुरिता हो रही)
—सर्ग ६।११६

आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का संग छोड़ो,
देखो बैठी सदन कहती क्या कई नारियाँ हैं। (बैठी सदन में)
—सर्ग ८।२३

भाषा-सम्बन्धी ऐसी अराजकता देखकर ही कदाचित् डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने यह कहा है कि, "प्रिय प्रवास से ऐसे सैकड़ों पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें यदि धारा-प्रवाहिकता है तो उसकी वेदी पर हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा की बलि दी गई है।"[1]

यह अवश्य है कि काव्य-भाषा जहाँ इन दोषों से मुक्त है, पद-रचना क्लिष्ट और संश्लिष्ट हो अथवा सरल, उसमें प्रवाह भी है और प्रांजलता भी। उसके क्लिष्टत्व में कोमलता और माधुर्य है तथा सरलता में उर्दू की सजीवता एवं गतिशीलता। निम्न अवतरण में छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा यशोदा की मार्मिक उक्ति देखिए—

कोई भी है न सुन सकता, जा किसे मैं सुनाऊँ।
मैं हूँ, मेरा हृदय तल है, हैं व्यथाएँ अनेकों॥
बेटा, तेरा सरल मुखड़ा, शान्ति देता मुझे है।
क्यों जीऊँगी कुँवर, बतला जो चला जायगा तू॥ —सर्ग ५।३४

भाषा में कसावट लाने के लिये कहीं-कहीं अनेक उद्देश्यों को एक विधेय से अन्वित कर दिया गया है जिससे लाघव और संक्षिप्तता के साथ सौष्ठव का विधान भी स्वतः हो गया है। अलंकारवादी इस प्रकार की पद-योजना को 'देहली दीपक' कहते हैं—

आवासों में, सुपरिसर में, द्वार में, बैठकों में।
बाजारों में, विपणि सब में, मन्दिरों में, मठों में॥
आने ही की **न ब्रज-धन के** बात फैली हुई थी।
कुंजों में औ पथ-अपथ में बाग में औ बनों में॥ —सर्ग ६।५

उद्यानों में सु-उपवन में, वापिका में, सरों में,
फूलोंवाले नवल तरु में पत्र शोभी द्रुमों में।
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना,
कुंजों में औ कमल-कुल में बीथिका में, वनों में॥ —सर्ग ६।४७

यही नहीं, भाव और प्रसंग के अनुकूल उपयुक्त शब्द एवं सुष्ठु पद-योजना की सहायता से काव्योचित गुणों का सन्निवेश भी हो गया है। निम्न उद्धरणों में माधुर्य, प्रसाद एवं ओज-गुणों का विधान द्रष्टव्य है—

माधुर्यगुण

फूली फैली लसित लतिका,
वायु में मन्द डोली।
प्यारी-प्यारी ललित लहरें,
भानुजा में विराजी।

---

१. महाकवि हरिऔध का प्रिय प्रवास, पृ० २८—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

सोने की सी कलित किरणें,
मेदिनी और फूटी,
कूलों कुंजों कुसुमित वनों में,
जगी ज्योति फैली ॥ —सर्ग ५।२

जाते ही छू कमल-दल से पाँव को पूत होना,
काली-काली कलित अलकें गण्ड शोभी हिलाना।
क्रीड़ायें भा ललित करना ले दुकूलादिकों को,
धीरे-धीरे परस तन को प्यार की वेलि बोना।
तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथा सुनाये,
व्यापारों को प्रखर मति और युक्तियों से चलाना।
बैठे जो हों निज सदन में मेघ सी कान्ति वाले,
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना। —सर्ग ६।६६-६७

प्रसादगुण (बोलचाल की भाषा)

कब टल सकता था श्याम के टालने से,
मुख पर मंडलाता था स्वयं मत्त हो के।
यक दिन वह था औ एक है आज का भी,
जब भ्रमर न मेरी ओर तू ताकता है।
कब पर-दुख कोई है कभी बाँट लेता,
सब परिचय वाले प्यारे ही हैं दिखाते ॥ —सर्ग १५।७७

(साहित्यिक भाषा)

होता निर्झर का प्रवाह जब था सावर्त्त उद्भिन्न हो,
तो होती उसमें अपूर्व ध्वनि थी उन्मादिनी कर्ण की।
मानो यों वह था सहर्ष कहता सत्कीर्ति शैलेश की,
या गाता गुण था अचिन्त्य गति का सानन्द सत्कण्ठ से। —सर्ग ९।१८-१९

ओजगुण

भयंकरी-प्रज्वलिताग्नि की शिखा।
दिवान्धता-कारिणि राशि धूम की।
वनस्थली में बहु-दूर व्याप्त थी,
नितान्त घोरा ध्वनि त्रास-वर्द्धिनी ॥ —सर्ग ११।८१

बिलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहु,
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो।

निपात होता तब भूत-प्राण था,
विभीषिका-गर्त्त नितान्त गूढ़ में।
प्रलम्ब आतंक-प्रसू, उपद्रवी,
अतीव मोटा यम-दीर्घ-दण्ड सा।
कराल आरक्तिम-नेत्रवान औ,
विषाक्त-फूत्कार-निकेत सर्प था॥ —सर्ग १३।४०-४१

लोकोक्ति-मुहावरे—हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि समस्त काव्य में केवल संस्कृत-गर्भित भाषा का ही उपयोग नहीं मिलता बल्कि अनेक स्थलों पर सुबोध, सरल एवं व्यासशैली-प्रधान भाषा में सरस भावाभिव्यंजन भी उपलब्ध होता है जिनके स्पष्टीकरण में कवि ने मुहावरों-लोकोक्तियों का आश्रय लिया है। बाल बाँका न होना, बात बनाना, फूले न समाना, रंग जमाना, कान फोड़ना, मुँह सूखना, कलेजा थामना, जाल बिछाना, कलेजा पत्थर होना, आँखें लाल करना जैसे अनेक मुहावरे काव्य में बिखरे पड़े हैं। कुछ स्थलों पर हरिऔध ने संस्कृतनिष्ठता के आग्रह से यद्यपि शब्द-परिवर्तित कर दिये हैं, किन्तु इससे अभिलषित अर्थ में कहीं व्याघात नहीं हुआ है, यथा—

सुखद थे वह जो जन के लिये,
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे। —सर्ग २।६४

कह कर कटु बातें जी न भूले जलाया। —सर्ग ४।३०

पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है। —सर्ग ४।३१

यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं,
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता। —सर्ग ४।३२

रह रह इनमें क्यों रंग आ जा रहा है। —सर्ग ४।४५

लख कर मुख सूखा सूखता है कलेजा। —सर्ग ५।५७

ज्यों ज्यों आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे। —सर्ग ७।४

पाँवों को वे सँभल बल के साथ ही थे उठाते,
तो भी वे थे न उठ सकते हो गये थे मनों के। —सर्ग ७।५

सारी शोभा सकल ब्रज की लूटता कौन क्यों है,
हा! हा! मेरे हृदय पर यों साँप क्यों लोटता है। —सर्ग ८।२२

मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते,
हो जाती तो प्रबल-दुख से मूर्ति मैं हूँ शिला की। —सर्ग १०।६०

हाँ, जहाँ भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाने का विशेष आग्रह है, वहाँ कवि ने मुहावरों को भी तोड़-मरोड़ कर इस तरह विकृत कर दिया है कि उससे अभिलषित अर्थ-ग्रहण करने

में कठिनाई होती है, देखिए—

दिन दिन उर में थी वृद्धि पाती निराशा,
तम निबिड़ दृगों के सामने हो रहा था। —सर्ग ६।१५

'आँखों के आगे अँधेरा छा जाना' मुहावरे का रूप कितना कृत्रिम बना दिया गया है। यदि मुहावरा पकड़ में ही न आता तो अधिक अच्छा होता। और देखिए—

निज श्रवण उठाती थी समुत्कंठिता हो। (कान खड़े होना)
—सर्ग ६।२१

तब हृदय **करों से ढाँपती थी दृगों को।** (दिल थामना)
—सर्ग ६।२२

मैं रोती हूँ हृदय **अपना** कूटती **हूँ सदा ही।** (छाती पीटना)
—सर्ग १०।६५

हरिऔध मुहावरेदार भाषा लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। उनके 'बोलचाल', 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अतः यह कहना तो सर्वथा अनुचित होगा कि उन्होंने अपनी अनभिज्ञता के कारण मुहावरों के दोषपूर्ण प्रयोग किये। वास्तव में इसका कारण उनका साहित्यिक भाषा लिखने का विशेष आग्रह ही कहा जा सकता है। खड़ीबोली में एक मुहावरा है 'हाथ मलना' जिसका रूढ़ अर्थ है 'पश्चात्ताप करना'। कवि ने उसी वज़न पर 'हृदय मलना' मुहावरे का निर्माण किया है जो अनुपयुक्त सा लगता है, यथा—

कैसे भूला-व्रज अवनि को, कल को, भानुजा को,
क्या थोड़ा भी हृदय मलता **लाडिले का न होगा।** —सर्ग ८।६२

हाँ, कवि ने प्रायः बड़ी सफलता से लोकोक्तियों को पदावली में नियोजित किया है। शब्दों के हेर-फेर से वे अधिकांशतः सूक्तियों का रूप धारण कर गई हैं, यथा—

वह कब टलता है भाल में जो लिखा है। —सर्ग ४।३५

हा ! भावी है परम प्रबला दैव-इच्छा बली है। —सर्ग १५।३३

पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है। —सर्ग १५।८

खोटे होते दिवस जब हैं, भाग्य जो फूटता है।
कोई साथी अवनि-तल में है किसी का न होता॥ —सर्ग १४।२६

आशा की है अमित महिमा, धन्य है दिव्य आशा।
जो छू के है मृतक बनते प्राणियों को जिलाती॥ —सर्ग ७।६३

प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है। —सर्ग १४।९६

जो होता है सुखित, उसको अन्य की वेदनाएँ।
क्या होती हैं विदित वह जो भुक्त-भोगी न होवे॥ —सर्ग १५।१४

किन्तु हरिऔध इस प्रकार की भाव-योजना का सभी स्थलों पर सफल रूप से निर्वाह नहीं कर पाये हैं। एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है 'डूबते को तिनके का सहारा'। कवि महोदय को जलमग्न जनों के लिये नौका लानी पड़ी है, देखिए—

प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को,
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न जावे।
हो जाता है कब तरणि का नाम ही त्राणकारी,
नौका ही है शरण-जल में मग्न होते जनों की॥ —सर्ग १०।१३

अलंकार-योजना—'प्रिय प्रवास' की सबसे बड़ी विशेषता उसमें रसोचित माधुर्यगुण का निर्वाह है। वर्णिक वृत्तों के आग्रह से अथवा संस्कृत की हृदयहारिणी कोमलता सन्निविष्ट करने के लिये हरिऔधजी ने काव्य के वर्ण तथा पद-विन्यास पर विशेष बल दिया है। इन शब्द-बन्धों के सबसे बड़े सहायक शब्दालंकार ही हैं। स्वभावतः काव्य में अनुप्रास की छटा द्वारा नाद-सौन्दर्य एवं श्रुति-सुखदता का समावेश किया गया है। अनुप्रास का यह सौष्ठव कहीं युगल शब्द-मैत्री तक सीमित है और कहीं यह वर्णावृत्ति पद अथवा वाक्य तक छिटकी मिलती है। काव्य में इस प्रकार की अनुप्रास-योजना से श्रुति-सुखदता और नाद-सौन्दर्य के अतिरिक्त चित्रमयता भी आ गई है—

वृत्यनुप्रास

लालीकारी, ललित-गलियाँ, लोमनीयालयों में।
क्रीड़ाकारी कलित कितने केलि वाले थलों में।
कैसे भूला ब्रज-अवनि को कूल को भानुजा को।
क्या थोड़ा भी हृदय मलता लाडिले का न होगा॥ —सर्ग ८।६२

शोभा-संभ्रम-शालिनी ब्रजधरा-प्रेमास्पदा-गोपिका।
माताप्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता पिता॥
प्यारे गोप-कुमार प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है हमें॥ —सर्ग ९।४

छेकानुप्रास

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी।
नाना चाहें कलित-कलियाँ थी लतायें उमंगें॥
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना वेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे॥ —सर्ग १०।४९

प्रस्तुत वर्ण अथवा शब्दावृत्ति के कारण यमक की योजना भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है, जो कहीं सार्थक एवं भिन्नार्थक और कहीं निरर्थक हुई है, यथा—

वह कभी करता रस सेक था
बन सके जिससे सरसा-रसा। (रसपूर्ण, पृथ्वी)

—सर्ग १२।५

विनय से नय से भय से भरा,
कथन ऊधव का मधु में पगा।
श्रवण थीं करती बन उत्सुका,
कलपति-कंपती व्रजपांगना॥ (नम्रता, नीति)

—सर्ग १०।१०

किन्तु कवि को खड़ीबोली को संस्कृत वृत्तों एवं संस्कृत भाषा ही के ढाँचे पर ढाल लेने की ऐसी धुन समाई थी कि अनेक स्थलों पर अनुप्रासाधिक्य के कारण काव्य-भाषा कृत्रिम हो गई है। अन्त्यानुप्रास का एक उदाहरण हमारे कथन की पुष्टि करेगा।

अति-जरा-विजिता बहु-चिन्तिता।
विकलता-ग्रसिता सुख-वंचिता॥
सदन में कुछ थी परिचारिका।
अधिकृता - कृशता - अवसन्नता॥ —सर्ग १०।७

प्रफुल्लिता कोमल पल्लवान्विता।
मनोज्ञता-मूर्ति नितान्त रंजिता।
वनस्थली थी मकरंद मोदिता।
अकीलिता कोकिल-काकली मयी॥ —सर्ग १६।३

इसमें कोरे शब्द ही शब्द हैं; भाव समस्त पदावली तथा भाववाचक संज्ञा के शब्दजाल में फँसकर रह गया है।

आधुनिक काव्य में कल्पना, भाव और विचार-वैभव की तुलना में अर्थालंकारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। किन्तु हरिऔधजी ने नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण, प्रभृति कलाकारों के समान व्रजभाषा में ही काव्य-रचना प्रारम्भ की थी। उत्तरकालीन व्रजभाषा काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर बहुत बल दिया जाता था। अतः व्रजभाषा के क्रियापदों की तरह अलंकारों का आग्रह भी वे साथ-साथ ले आये। इसलिये 'प्रिय प्रवास' में सब प्रकार के अर्थालंकार उपलब्ध होते हैं। कथा-प्रवाह में वर्णनात्मक स्थलों के लिये प्रायः व्रजभाषा के प्रचलित तथा रूढ़ उपमानों का उपयोग किया गया है, जैसे—

द्विवेदी युग

उपमा

नवल सुन्दर श्याम शरीर की,
सजल नीरद सी कल कान्ति थी। —सर्ग १।१६

तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को।
आभा वाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं ।। —सर्ग ६।४८

साँचे-ढाला सकल वपु है दिव्य सौन्दर्यशाली,
सत्पुष्पों सी सुरभि उसकी प्राण-संपोषिका है।
दोनों कंधे वृषभ-वर से हैं बड़े ही सजीले,
लम्बी बाहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका हैं ।। —सर्ग ६।८८

दसन थे रस के युग बीज से,
सरस धार सुधा-सम थी हँसी ।। —सर्ग ८।२६

वाक्योपमा

कुकुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
विलसता नभ में नलिनीश है ।। —सर्ग १।१५

विशद उज्ज्वल-उन्नत भाल में,
विलसती कल केसर खौर थी।
असित पंकज के दल में यथा,
रज-सुरंजित पीत सरोज की ।। —सर्ग १।२१

मालोपमा

हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा,
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा।
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा,
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था ।। —सर्ग ६।८३

नवप्रभा - परमोज्वल - लीक सी,
गति-मति कुटिला फणिनी-समा।
दमकती - दुरती - घन अंक में,
विपुल केलि-कला-खनि-दामिनी ।। —सर्ग १२।४

रूपक

ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं॥
न्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी॥ —सर्ग १०।४८

उत्प्रेक्षा (उपमा-सन्देह)

तिमिर-लीन कलेवर को लिये,
विकट दानव पादप के बने।
भ्रममयी जिनकी विकरालता,
चलित थी करती पवि चित्त को।
अति सशंकित और सभीत हो,
मन कभी यह था अनुमानता।
ब्रज [समूल विनाशन को खड़े,
यह निशाचर हैं नृप कंस के॥ —सर्ग ३।१६-१७

पत्रों-पुष्पों-सहित तरु की डालियाँ औ लतायें।
भीगी सी थीं विपुल जल में वारि बूँदों भरी थीं॥
मानो फूटीं सकल तन में शोक की अश्रुधारा।
सर्वांगों से निकल उनको सिकता दे बही थी॥ —सर्ग ५।६

उल्लेख

सच्चा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उजाला।
दीनों का है परम धन औ वृद्ध का नेत्र तारा॥
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सुरतरु कहाँ आप ऐसा हमारा॥ —सर्ग ५।२८

प्रतीप

लाली थी करती सरोज-पग की भू-पृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा-विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की॥ —सर्ग ४।७

अपह्नुति

दुख-अनल-शिखायें व्योम-फूटती हैं,
यह किस दुखिया का हैं कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा,
पतन दिल जले के गात का हो रहा है॥ —सर्ग ४।४३

वदन से तज के मिष धूम के,
शयन-सूचक श्वास - समूह को।
झलमलाहट-हीन शिखा लिये,
परम निद्रित सा गृह-दीप था ॥ —सर्ग ३।१९

अपह्नुति-सन्देह

फूलों-पत्तों सकल पर हैं वारि बूँदें दिखाती,
रोते हैं या विटप सब यों आँसुओं को दिखा के।
रोई थी जो रजनि दुख से नन्द की कामिनी के,
ये बूँदें हैं निपतित हुई या उसी के दृगों से ॥ —सर्ग ५।५

परिकर

प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को,
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न जावे।
हो पाता है कब तरणि का नाम ही त्राणकारी,
नौका ही है शरण जल में मग्न होते जनों को ॥
(तरणि—पार लगाने वाली) —सर्ग १०।१३

स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के,
दलन की यह निर्मम प्रार्थना ॥
बहुत सम्भव है यदि यों कहें,
सुन नहीं सकतीं जगदम्बिका ॥ —सर्ग ३।५६

('जगदम्बा' होने से एक पुत्र का मरण और दूसरे का रक्षण सम्भव नहीं)।

तुल्योगिता-विशेष

अवनि में, जल में वर व्योम में,
उमड़ता प्रभु प्रेम समुद्र है।
कण इसी वर वारिधि बूँद का,
शमन में मम ताप समर्थ है ॥ —सर्ग ३।८३

अर्थान्तरन्यास

व्यथित होकर क्यों बिलखूँ, नहीं,
अहह धीरज क्यों कर मैं धरूँ।
मृदु कुरंगम शावक से कभी,
पतन हो सका हिम शैल का ॥ —सर्ग ३।६२

दृष्टान्त

थोड़ी ही है वय यदपि, वे तेजशाली बड़े हैं
तारों में है न छिप सकता कंत राका-निशा का ॥ —सर्ग ६।६०

काव्यलिंग

रसमयी भव-वस्तु विलोक के,
सरसता लख भूतल-व्यापिनी।
समझ है पड़ता बरसात में,
उदक का रस नाम यथार्थ है॥ —सर्ग १२।१५

उदाहृत अलंकारों से हरिऔधजी की अलंकार-प्रियता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। 'प्रिय प्रवास' अलंकारों की खान है। भावपूर्ण स्थलों पर कवि ने उपमेय के गुण, क्रिया अथवा रूप में प्रकर्षता लाने के लिये उपमानों का अत्यन्त सुन्दरता से नियोजन किया है। निम्न पद में 'अनुप्रास' के योग से प्रकृति का भयंकर रूप द्रष्टव्य है—

उपल-वृष्टि हुई तम छा गया,
पट गई महि कंकर-पात से।
गड़गड़ाहट वारिद-व्यूह की,
ककुभ में परिपूरित हो गई।
उखड़ पेड़ गये, जड़ से कई,
गिर पड़ी अवनी पर डालियाँ।
शिखर भग्न हुए उजड़ीं छतें,
हिल गये सब पुष्ट निकेत भी॥ —सर्ग २।३७-३८

सन्ध्या का समय था, यमुना तट के कुंजों से कृष्ण की मुरली का निनाद सुनाई पड़ा। मंत्रमुग्ध से गोकुल-वासी उसी दिशा में चल पड़े और वे व्रजाधिप की छवि को यों निरखने लगे जैसे तृषित चातक घन-घटा को देखता है। परन्तु गोपियाँ और अधिक व्याकुल थीं। उनकी मनोदशा विचित्र थी ; वे प्रस्तर प्रतिमा-सी स्तब्ध, अचंचल खड़ी थीं—

पलक लोचन की पड़ती न थी,
हिल नहीं सकता तन लोम था॥
छवि-रता बनिता सब यों बनी,
उपल-निर्मित पुतलिका यथा॥ —सर्ग १।२७

पत्थर की पुतलिका से व्रज-वनिताओं की 'उपमा' रेखाचित्र को और भी स्पष्ट कर देती है।

और देखिए, मथुरा-नरेश के निमन्त्रण पर कृष्ण प्रातः होते ही गोकुल से प्रयाण कर जायेंगे। माता यशोदा महीपति कंस की नृशंसता का ध्यान कर परम चिन्तित हो उठीं। हरि जाग न उठें इस सोच से सिसकती भी नहीं। अतएव दुःख-वेग से हृदय फटा जा रहा है। कवि ने 'गृह-प्रदीप' के हिलने में 'महरि का कष्ट देखकर' 'सिर धुनना' तथा 'दीप्ति' का दुख से 'महि-लुंठित' होना उत्प्रेक्षित करके अनुभूति को तीव्र कर दिया है—

महरि का यह कष्ट विलोक के,
धुन रहा शिर गेह-प्रदीप था।
सदन में परिपूरित दीप्ति भी,
सतत थी महि-लुंठित हो रही॥ —सर्ग २७।३४

कुछ मिलता-जुलता भाव निम्न अवतरण में भी है। किन्तु यहाँ 'सन्देह' अलंकार ध्वनित होकर रह जाता है क्योंकि कवि अनिश्चय की दशा में है—

सब नभ-तल तारे जो उगे दीखते हैं,
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज-दुख अवलोके क्या हुए हैं दुखारी,
कुछ व्यथित बने से या हमें दीखते हैं॥ —सर्ग ४।४१

निम्न पद में प्रकृति के रूप और व्यापारों की योजना द्वारा वर्णनीय विषय को गोचर रूप देने की सफलता के पीछे वास्तव में कवि का सूक्ष्म वीक्षण झाँक रहा है—

निदाघ का काल महा-दुरन्त था,
भयावनी थी रवि-रश्मि हो गयी।
तवा समा थी तपती वसुन्धरा,
स्फुलिंग वर्षारत तप्त व्योम था॥
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में,
ज्वलन्त था आतप ज्वाल-माल-सा।
पतंग की देख महा प्रचण्डता,
प्रकम्पिता पादप-कुंज-पंक्ति थी॥ —सर्ग ११-५६-५७

कवि ने वसुन्धरा को 'तपते तवे' से तथा आतप को 'ज्वाल-माल से' उपमित करके ग्रीष्म की प्रचण्डता का आधिक्य व्यक्त किया है।

उद्धव से कृष्ण का सन्देश सुनकर विरह-विधुरा राधा मिलन की कोई सम्भावना न देखकर पहले तो कृष्ण का गुण-कथन करती हैं और फिर स्मृति के गर्त में निमज्जित होकर कहती हैं—

ताराओं से खचित नभ को देखती जो कभी हूँ।
या मेघों में मुदित बक की पंक्तियाँ दीखती हैं॥
तो जाती हूँ उमग, बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानो मुक्ता-लसित-उर है श्याम का दृष्टि आता॥ —सर्ग १६।८०

छू देती है मृदु पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस-सुधि है श्याम-प्यारे करों की॥
तो पुष्पों की सुरभि वह जो कुंज में डोलती है।
तो गंधों से वलित मुख की वास है याद आती॥ —सर्ग १६।८१

'नभ' और 'मेघ' को देखकर कृष्ण का स्मरण आने में वर्ण-साम्य है। सादृश्य के आधार पर श्याम का मुक्ता-लसित-उर की स्मृति उत्प्रेक्षित है। किन्तु सुरभित पवन के स्पर्श ने भावों के स्मरण में गम्भीरता एवं तीव्रता ला दी है। अनुभूति की प्रभविष्णुता का आधार यहाँ 'स्मरण' अलंकार ही है।

सूर्यास्त का समय है। आकाश की लालिमा में कालापन बढ़ रहा है। पृथ्वी-तल अन्धकार से ढकता जा रहा है, और—

तिमिर की यह भूतल-व्यापिनी,
तरल धार विकाश-विरोधिनी।
जन-समूह विलोचन के लिये,
बन गई प्रतिमूर्ति विराम की॥
द्युतिमती उतनी अब थी नहीं,
नयन की अति दिव्य कनीनिका।
अब नहीं वह थी अवलोकती,
मधुमयी छवि श्री घनश्याम की॥
यह अभावुकता तम-पुंज की,
सह सकी न नभस्तल तारिका।
वह विकाश-विवर्द्धन के लिये,
निकलने नभ-मण्डल में लगी॥ —सर्ग १।३६-८

कवि ने 'तिमिर की तरल धारा' का मानवीकरण और 'विराम की प्रतिमूर्ति' बनाने में 'अन्धकार की गहनता' को जिस रूप से व्यंजित किया है, वह अप्रस्तुत-विधान का सुन्दर निदर्शन है। द्युतिमत्ता के अभाव में वह घनश्याम की छवि नहीं देखती थी। नभमण्डल में 'नभस्तल तारक' को उदित होने में 'तम-पुंज' की 'अभावुकता' को कारण कल्पित कर लिया गया है। बात को सिद्ध करने के लिये कारण कहा गया है इसलिये 'काव्यलिंग' भी है। इस प्रकार का अमूर्त्त से मूर्त्त चित्रण 'प्रिय प्रवास' में अनेक स्थलों में मिलता है। दिशा का वधू-रूप में मानवीकरण देखिए :—

फिर अचानक धूलिमयी महा,
दिवस एक प्रचण्ड हवा चली।
श्रवण से जिसकी गुरु-गर्जना,
कँप उठा सहसा उर दिग्वधू॥ —सर्ग २।३६

छठे सर्ग में राधा की करुण दशा का चित्रण करते हुये कवि ने पवन को दूतिका रूप में प्रस्तुत किया है। और राधा के मुख से उसे 'पापिष्ठा', 'भगिनि' आदि कहलाकर उसमें मानवीय गुणों का आरोप किया है, यथा—

प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती,
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से।
कालिन्दी के कल पुलिन पै घूमती सिक्त होती,
प्यारे प्यारे कुसुम चय को चूमती गंध लेती।
तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को,
हा ! पापिष्ठे फिर किसलिये ताप देती मुझे है।
क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है,
तू है मेरी परिचिता तू हमारी प्रिया है॥ सर्ग ६।३०-३२

आधुनिक काव्य-शैली का आभास देने वाले कुछ ऐसे भी अप्रस्तुतों का चयन उपलब्ध होता है, जो स्वयं अमूर्त्त हैं किन्तु उनका साम्य मूर्त्त उपमेय (प्रस्तुत) से किया गया है, जैसे—

कहीं कहीं था विमलाम्बु भी भरा,
सुधा समासादित संत-चित्त-सा। —१३।६

अधर सान्ध्य सु व्योम-समान थे,
दसन थे युग तारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति-समान थी,
जननि-मानस की अभिनन्दिनी॥ —सर्ग ८।३१

उपर्युक्त उद्धरण में उपमेय 'विमलाम्बु' की अमूर्त्त उपमान 'संत-चित्त' से समता की गई है। दूसरे पद की उपमाओं का आधार क्रम से वर्ण-साम्य, गुणसाम्य, तथा धर्मसाम्य है। कवि ने कृष्ण के अलौकिक रूप का आभास देने के लिये 'सान्ध्य व्योम की लाली', 'तारकों की चमक' तथा 'ज्योति' के सहज धर्म (प्रकाशमान करना) से समता की है। इस प्रकार कुछ अमूर्त भावनाओं का भी मूर्त्त प्राकृतिक उपकरणों से 'रूपक' बाँधा गया है—

न्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी॥
सच्चिन्ता की सरस लहरी संकुला वापिका थी।
नाना चाहें कलित कलियाँ थीं लतायें उमंगें॥
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-बेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे॥ —सर्ग १०।४८-४९

इन प्रयोगों में कवि ने एक सच्चे एवं कुशल कलाकार का परिचय दिया है। भावों की कोमलता या कर्कशता के अनुसार भाषा भी कोमल या परुष हो गई है। काव्य-भाषा में चित्रोपमता इतनी अधिक विद्यमान है कि कवि ने जिस भाव, पदार्थ या प्राकृतिक व्यापार का चित्र प्रस्तुत करना चाहा वह बड़ी कारीगरी और अनेक सौन्दर्य-विधायक-तत्वों के उपयोग द्वारा कर दिया है।

शब्द-शक्ति—हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में कहा है कि उन्होंने पहले इस ग्रंथ का नाम 'व्रजांगना विलाप' रखा था किन्तु कुछ कारणों वश उसे परिवर्तित कर दिया। इस शीर्षक की उपयुक्तता भले ही दूषित रही हो किन्तु इससे हरिऔध की अन्तरात्मा में छिपा हुआ उद्देश्य ध्वनित होता है क्योंकि इसका मुख्य विषय श्रीकृष्ण, बलराम तथा बाबा नन्द का गोकुल से प्रस्थान, और उनके विरह में गोप-गोपियों का निरन्तर विलाप करना ही है। अतएव विप्रलंभ शृंगाररस से ओतप्रोत 'प्रिय प्रवास' में भावपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों का प्राचुर्य है। कवि ने प्रसंगानुकूल रस का निर्वाह प्रायः वाच्यार्थ द्वारा किया है। उसने शब्दों के सुप्रयोग को ध्यान में रखकर वाच्यार्थ की जननी अभिधा के बल पर अनेकानेक रमणीय चित्र उपस्थित किये हैं, यथा—

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि शून्या न होवे।।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे।।

—सर्ग १०।६७

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई कल-छल से लाल ले ले किसी का।।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।।

—सर्ग १०।६७

उपर्युक्त पंक्तियों में हरिऔधजी ने अनेकानेक दृष्टान्तों द्वारा वस्तु विशेष का आवश्यक उपकरणों के बिना श्रीहीन होना वर्णित किया है। यशोदा की इस उक्ति में उसका प्रगाढ़ पुत्र-स्नेह ध्वनित होता है। निम्न पंक्तियों में चमेली (पुष्प-वृक्ष) के प्रति एक गोपिका की मार्मिक उक्ति देखिए ; केवल वाच्यार्थ की सहायता से कवि उसकी वेदना का आधिक्य सूचित करने में समर्थ हो पाया है—

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही।
जो पत्तों में पतित इतनी वारि को बूँदियाँ हैं।।
पीड़ा द्वारा मथित उर के प्रायशः काँपती है।
या तू होती मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है।।

—सर्ग १५।१८

राधा को कृष्ण-विरह में शीतल-सुरभित पवन अत्यन्त दुःखप्रद हुई। उन्मत्त-सी होकर वह उसे कलुषित, पापिष्ठ कह बैठती है। किन्तु सहसा उसे स्मरण हो आता है कि पवन सर्वव्यापिनी है, यह अवश्य प्रियतम तक सन्देश ले जा सकती है। अतएव उस से अति विनम्र भाव से अनुरोध करती है कि—

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना॥
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ' सूखते नित्य जाना।
कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही॥
धीरे-धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता सा हमारा॥

—सर्ग ६।७५-७६

उद्धृत अवतरणों के वाच्यार्थ में प्रेषणीयता की पूरी शक्ति विद्यमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में ही मानते हैं। उनका कथन है, "प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में ? इसका बेड़धक उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रिय प्रवास' में प्रायः वाच्यार्थ की ही प्रधानता है। अतः प्रस्तुत काव्य को अभिधा-प्रधान काव्य भी कह सकते हैं। फिर भी जहाँ-तहाँ लक्षणा शक्ति का उपयोग मिल जाता है, यथा—

विवशता किससे अपनी कहूँ,
जननि ! क्यों न बनूँ बहु-कातरा।
प्रबल हिंस्रक-जन्तु-समूह में,
विवश हो मृग-शावक है चला॥ —सर्ग ३।६६

यशोदा की 'जगदम्बिका' से उक्ति है। मथुरा-नरेश के निमंत्रण पर कृष्ण चले गये। कंस के मन की दुर्भावनाओं से यशोदा तो क्या सभी ब्रजवासी परिचित थे। अतएव कंस और उसके साथियों का उल्लेख न करके 'प्रबल हिंस्रक-जन्तु-समूह' तथा 'मृग-शावक' का आरोप्यमान कथन है। कंस और हिंस्रक जन्तु में गुण और धर्म की समानता है, अतएव 'गौणी लक्षणा' है। आरोप के विषय का कथन न होने से 'साध्यवसाना' है। हिंस्रक जन्तु एवं मृग-शावक क्रम से अपना मुख्यार्थ छोड़कर अन्य अर्थ में संक्रमित कर जाते हैं, इसलिए 'लक्षण लक्षणा' है। यशोदा का प्रयोजन देवी को कंस की नृशंसताओं का परिचय देना है, अतः 'प्रयोजनवती' है। और देखिए :—

प्रिय ! सब नगरों में वे कुवामा मिलेंगी।
न सुजन जिनकी हैं वामता बूझ पाते॥
सकल समय ऐसी साँपिनों से बचाना।
वह निकट हमारे लाडिलों के न आवें॥ —सर्ग ३।५५

---

१. चिन्तामणि, भाग II, पृ० १६६—पं० रामचन्द्र शुक्ल

सर्पिणी और मथुरा की वामाओं में कर्म-साम्य है अतएव 'शुद्धा लक्षणा' है। उपमेय और उपमान का पृथक्-पृथक् कथन होने से 'सारोपा' है। मथुरा की स्त्रियों की कुटिलता बताना अभीष्ट था इसलिए 'प्रयोजनवती लक्षणा' है। निम्न पंक्तियों में यशोदा कहती हैं—

ऊधो आदौ तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली॥
ज्योतिर्माला-वलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा।
राका श्री ले समुचित हुआ चित्त-उत्फुल्ल-कारी॥ —सर्ग १०।५५

उपर्युक्त अवतरण में भाग्याकाश का तिमिरमय होने में 'लक्षण लक्षणा' से सुख-शान्ति हीन अर्थ निकलता है जिसका कारण व्यंजना की सहायता से 'पुत्रवती न होना' ज्ञात होता है। चन्द्रमा से कवि का तात्पर्य 'कृष्ण' से है। दोनों में रूप-गुण साम्य है, अतः 'गौणी' है। उपमेय का सर्वथा निगरण हो जाने से 'साध्यवसाना' है। चन्द्रमा अपने वाच्यार्थ को छोड़कर कृष्ण का अर्थ देता है इसलिए 'जहत्स्वार्था लक्षण लक्षणा' है। कतिपय उदाहरण और द्रष्टव्य हैं—

प्रयोजनवती, उपादानमूला, शुद्धा लक्षणा

यदि विधिवश सोचा भूप ने और ही हो,
यह विनय बड़ी ही दीनता से सुनाना।
हम बच न सकेंगे जो हुई दृष्टि मैली,
सुअन युगल ही है जीवनाधार मेरा॥ —सर्ग ५।५६

प्रयोजनवती, गौणी, उपादानमूला, पदगता लक्षणा

क्यों प्यारे ने सदय बन के डूबने से बचाया।
जो यों गाढ़े विरह-दुख के सिन्धु में था डुबोना॥
तो यत्नों से उरग-मुख के मध्य से क्यों निकाला।
चिन्ताओं से ग्रसित यदि मैं आज यों हो रहा हूँ॥ —सर्ग १०।६५

रूढ़ि लक्षणा

हा! वाद्यों की मधुर ध्वनि भी धूल में जा मिली क्या।
हा! कीला है किस कुटिल ने कामिनी-कण्ठ प्यारा।
सारी शोभा सकल ब्रज की लूटता कौन क्यों है
हा! हा! मेरे हृदय पर यों साँप क्यों लोटता है॥ —सर्ग ८।२२

हरिऔधजी ने कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति के लिये शब्द के अन्तरंग में बैठकर उसमें निहित अर्थ के मर्म को समझा है। इसके लिए वाक्यार्थ की संगति के लिये शब्द की अनेकार्थ-वाचकता नियन्त्रित करनी पड़ी है। ऐसे स्थलों पर 'अभिधामूला' व्यंजना का चमत्कार स्वतः सन्निविष्ट हो गया है। शब्द विशेष का पर्याय रख देने से व्यंजना नहीं रहेगी

इसलिए यह 'शाब्दी' कहलाती है—

पीड़ायें जो मदन हिम के पात के तुल्य देगा।
स्नेहोत्फुल्ला विकच वदना बालिकांभोजिनी को॥ —सर्ग १४।६४

कब टल सकता था श्याम के टालने से।
मुख पर मँडलाता था स्वयं मत्त होके॥
यक दिन वह था और एक है आज,का भी।
जब भ्रमर न मेरी ओर तू ताकता है॥ —सर्ग १५।७६

प्रथम पद में अंभोजिनी (कमलिनी) के विकसित होने के प्रसंग में 'मदन' का अर्थ 'वसन्त काल' निकलता है। और 'भ्रमर' का अर्थ 'भ्रमणशील' अथवा 'कामी' पर केन्द्रित होकर अनेकार्थ बोध की शक्ति को रोक देता है।

फुटकर काव्य

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—जिस समय हरिऔधजी 'प्रिय प्रवास' का निर्माण कर रहे थे उस समय भी उनकी 'कर्म्मवीर', 'प्रभुप्रताप और विद्या' (१९०७ ई०), 'धर्म्मवीर', 'रुक्मिणी सन्देश', 'चित्तौड़ की एक शारद रजनी' तथा 'राज प्रशंसा' (१९११ ई०), 'होली', 'दशहरा' (१९१२ ई०), 'सती सीता', 'वीरवधू संयुक्ता' (१९१३ ई०) आदि फुटकर कविताएँ सरस्वती, मर्यादा, आदि पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित हो रही थीं। इन रचनाओं की भाषा 'प्रिय प्रवास' के समान संस्कृत गर्भित एवं सामाजिक पद्धति पर तो नहीं है, परन्तु उसका रूप कवि ने यथाशक्ति साहित्यिक रखने का प्रयत्न अवश्य किया है। क्योंकि उस समय तक सर्वत्र तत्सम प्रधान भाषा पर ही जोर दिया जाता था। 'प्रिय प्रवास' तत्कालीन युग का प्रथम खड़ीबोली महाकाव्य था जो शैली तथा वर्ण्य-वस्तु के अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से भी अपना विशिष्ट स्थान रखता था। इसमें प्रयुक्त संस्कृत गर्भित विशिष्ट भाषा की बड़ी निर्मम आलोचना हुई। मर्यादा, मई १९१३ ई० के अंक में 'धृष्ट समालोचक' ने कहा, "जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग छन्दों के आग्रहवश किया जाता है वहाँ भाषा समासबद्ध क्लिष्ट संस्कृत के शब्दों से बोझिल अवश्य हो गई है और खड़ीबोली खो सी गई है। जब कोई भाषा अन्य भाषा पर अधिक अवलम्बित हो जाती है तब उसका प्रकृत रूप तो छिप ही जाता है उसका स्वाभाविक विकास भी रुक जाता है।"[१] मिश्र बन्धुओं ने तो इनके सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला कि, "एक तो खड़ीबोली में बिना खास प्रयत्न के श्रुति-कटुत्व आ ही जाता है और दूसरे ये लोग संस्कृत शब्दानुरागी होने से और भी सम्मिलित वर्णों की भरमार रखते हैं जिससे खड़ीबोली के छन्दों में श्रुति-माधुर्य का लोप हुआ जाता है।"[२] इसके अतिरिक्त स्वयं

---

१. मर्यादा, मई १९१३ ई०, भाग ६, सं० १—पृ० ४४-४५
२. पुष्पांजलि, प्रथम भाग, १९१५ ई०, पृ० ३६२-३६३—पं० शुकदेव विहारी मिश्र

हरिऔधजी के एक मित्र उर्दू के प्रतिष्ठित मौलवी साहिब थे। वे जब कभी हरिऔधजी से मिलते हिन्दी की बड़ी कुत्सा करते, व्यंग्य करते और उसमें चुलबुलेपन की कमी बताते। चारों ओर से इस प्रकार की आलोचनाओं को सुनते-सुनते हरिऔधजी तंग आ चुके थे। अतएव उन्होंने जन-साहित्य के लिए सरल मुहावरेदार भाषा में विचारों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार 'प्रिय प्रवास' प्रकाशन के उपरान्त हरिऔधजी ने जितनी फुटकर कविताओं का प्रणयन किया उनकी भाषा अत्यन्त सुबोध बनी रही। बोलचाल प्रधान भाषा में मुहावरों से सजीवता और चुस्ती आई। यहाँ तक कि कवि ने 'बाल', 'सिर और सेहरा', 'माथा', 'तिलक', 'आँसू', आदि को इस प्रकार पद्यबद्ध किया कि बोलचाल में प्रयुक्त तत्सम्बन्धित सब मुहावरे आ जाएँ।

अतएव, सन् १९२० तक के प्रकाशित प्रकीर्णक काव्य में हम दो प्रकार की भाषा का प्रयोग पाते हैं। पौराणिक विषय, प्रकृति एवं चरित्र-चित्रण आदि प्रसंगों के वर्णन में खड़ीबोली का शुद्ध, साहित्यिक एवं निखरा हुआ रूप दृष्टिगत होता है तथा देश, समाज, जाति आदि से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर रचना करते समय कवि मुहावरेदार भाषा में मीठी चुटकियाँ लेता दृष्टिगत होता है। खड़ीबोली के शुद्ध स्वरूप पर कवि का ब्रजभाषा के माधुर्य के प्रति सम्मोहन बना रहा इसलिए एक ओर तत्सम-प्रधान खड़ीबोली में परब, देस, ईस, बान, जामिनी, परस, दसा, जतन, आसा, बिथा, बिवस, भरम, सरन, संसकीरत, नसा, सोग, सुकीरत, अगिन, लदना, लौ, कढ़े, नक्षत्र, छन जैसे शब्द उपलब्ध हो जाते हैं; और दूसरी ओर जन प्रचलित बोलचाल की भाषा में कमाल, बेवा, आबाद, बरबाद, आबरू, बेगुनाह, रंज, नापाक, जवानी, अजब, हमदर्द, चन्द, सितम, अरमान, नागहानी, बदनाम जैसे आमफ़हम उर्दू-शब्दों की बानगी भी मिलती है। इन रचनाओं की साहित्यिक भाषा में कवि का झुकाव जिस प्रकार तत्सम शब्दों के बाहुल्य एवं समस्त पदावली की ओर दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार द्विपदों, चौपदों, छपदों आदि की भाषा में तद्भव शब्दों तथा समासहीन पदावली का प्राधान्य मिलता है। दोनों प्रकार की भाषाओं के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा—

संस्कृत-प्रधान (समस्त-पदावली)

विविध कौतुक-केलि-कलावती
मुद निकेत महोत्सव-मोदिता।
बहु विनोद पगी जनतामयी,
रमणि-कान्त अलाप-विभूषिता।
अतुल मंजुल भाव-विबोधिनी,
अति अलौकिक गौरव-अंकिता।
दशहरा अवनीतल में लसी,
सरसता शुचिता-समलंकृता॥[1]

—'दशहरा'

१. मर्यादा, सन् १९१२, भाग ४, सं० ५-६

प्रकोष्ठ की कारु कार्य्य वाली,
खुली रुचिर सित-शिला-रची छत
सकल उपस्कर सुरत्नशाली
सुवर्न चूड़ा परम समुन्नत ॥[1]

—'चित्तौड़ की एक शारद रजनी'

असमस्त भाषा

स्वजाति सेवाव्रत है विडम्बना,
समस्त व्याख्यान प्रलाप मात्र है।
विवेक-शीला वर बुद्धि आपकी,
विलुप्त होवे यदि कार्य्य-काल में।
समाज के सम्मुख औ सभादि में,
जिसे बतावें अति कुत्सिता क्रिया।
करें उसी को यदि कार्य्य आ पड़े,
न अन्य तो है कुप्रवृत्ति ईदृशी ॥[2]

—'कुलीनता'

बोलचाल की भाषा (तद्भव-प्रधान)

पालने वाला धरम का है कहाता धर्म्मवीर।
सब लकीरों में उसी की है बड़ी सुन्दर लकीर।
है सुरत्नों से भरी संसार में उसकी कुटीर।
वह अलग करके दिखाता है जगत को छीर-नीर।
है उसी से आज तक मरजाद की सीमा बची।
सीढ़ियाँ सुख की उसी के हाथ की ही हैं रची ॥[3]

—'धर्म्मवीर'

उर्दू-प्रधान

हम कहेंगे, कहेंगे यह सभी,
आँख के आँसू नये होते अगर,
बावले हम हो गये होते कभी,
सैंकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर।
है सगों पर रंज का इतना असर,
जब कड़े सदमे कलेजे ने सहे,
सब तरह का भेद अपना भूलकर,
आँख के आँसू लहू बनकर बहे ॥[4]

—'आँख का आँसू'

१. मर्यादा, सन् १९११—नवम्बर-अप्रैल—सं० १, भाग ३
२. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, सं० १
३. मर्यादा, सं० १९६८, भाग १, सं० ३
४. मर्यादा, सन् १९१२, मई-अक्तूबर, भाग ५, सं० ३

देखना ही कमाल रखता है,
प्यार का रंग कब जमा वैसे।
आँख जिस पर ठहर नहीं पाती,
आँख में वह ठहर सके कैसे।
आ जमी है याद वैसी बनी,
है वही रंगत और चाहत है वही।
तुम तरस खाकर कभी मिलते नहीं,
आँख अब तक तो तरसती ही रही।।[1]

—'नोंक झोंक'

साधारणतः शब्द-विकृति दोनों प्रकार की भाषाओं में नहीं पाई जाती। हाँ, संस्कृत-निष्ठ खड़ीबोली में उर्दू, व्रज अथवा ठेठ बोलचाल के शब्द कहीं-कहीं खटकते हैं, देखिए—

देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी[2]

—'प्रभु प्रताप'

यह देवि स्वरूपा कौन है वन भूतल में आजती[3]

—'सुतवती सीता'

औ जा बैठी पुष्प वेलि ढिग मंद मंद चल[4]

—'सुतवती सीता'

कर कर बाल लिये रणभू में निधरक जाना[5]

—'वीरवर सौमित्र'

वे दिखला पड़ते चढ़ते गिरि दुरारोह पर[6]

—'वीरवर सौमित्र'

लता वेलि काटते, कटीले तरु छिन्न गाते[7]

—'वीरवर सौमित्र'

इस प्रकार चीठी लिख वे चिन्ता में डूबीं[8]

—'रुक्मिणी सन्देश'

हरिऔध ने छन्द या लय के आग्रह से कहीं-कहीं शब्दों की मात्राओं को घटा-बढ़ा भी दिया है जिससे या तो शब्द विकृत हो गया है अथवा व्याकरण-दोष का भाजन बन गया है, जैसे—

---

१. प्रतिभा, सं० १९७७, भाग ४, सं० १
२. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ५
३–४. मर्यादा, सन् १९१५, जुलाई-दिसम्बर, भाग १०
५–७. मर्यादा, सन् १९१४, मई-अक्तूबर, भाग ८, सं० ?
८. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० ४

यह लगे उनके लिये करने जतन,
आज भी साहस है इनका वैस ही।[1] (वैसा ही)

—'प्रेम पुष्पोहार'

है बहुत गहरे धरम के भाव सब,
उठ गया है संसकीरत का चलन।[2] (संस्कृत)

—'प्रेम पुष्पोहार'

वीर ऐसे दिखा पड़े न कहीं,
सब बड़े आन-बान साथ करें।[3] (दिखाई)

—'बाल'

हिन्दुओं जैसी तुमारी है बनी,
बेबसी ऐसी बनी किसकी सगी।[4] (तुम्हारी)

—'चेतावनी'

किन्तु सामान्यतया भाषा सरल हो अथवा क्लिष्ट, तद्भव-प्रधान हो अथवा तत्सम-बहुला उसमें सजीवता एवं मार्मिकता सर्वत्र विद्यमान है। शब्द-योजना विषयानुकूल है एवं वाक्य-रचना में कसावट है। कवि की भाषा-सम्बन्धी इसी प्रतिभा को देखकर एक विद्वान ने कहा है कि "सब प्रकार की भाषा पर इनका सर्वाधिकार देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है······भाषा इनके हाथ की कठपुतली मालूम होती है। वह जो नाच उसे नचाना चाहते हैं वह नाच बड़ी नाज़ और अदा के साथ वह नाचती है······सरल से सरल और क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा लिखने में वे सिद्धहस्त हैं। 'देखो लड़के बन्दर आया, एक मदारी उसको लाया, से लेकर 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना' सरीखी भाषा लिखना हरिऔधजी का ही काम है।"[5]

प्रसंगानुकूल उक्ति में वैचित्र्य अथवा गाम्भीर्य लाने के लिये कहीं छोटे-छोटे प्रसाद पूर्ण सरल वाक्य हैं और कहीं मिश्रित वाक्य। किन्तु भाषा में प्रवाह, सहजता एवं प्रसादता सर्वत्र मिलती है, यथा—

सरल वाक्य

नुच गये, खिच उठे, गिरे, टूटे,
और भक मार अन्त में सुलझे।
कंघियों ने उन्हें बहुत झाड़ा,
क्या भला बाल को मिला उलझे॥[6]

—'बाल'

१–२. प्रेम-पुष्पोहार, (सन् १९०४ में प्रकाशित) नागरी प्रचारिणी सभा
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ५
४. श्री शारदा, सं० १९७७, भाग १, सं० ४
५. हरिऔध अभिनन्दनोत्सव ग्रन्थ—पृ० ४५४, आरा नागरी प्रचारिणी सभा
६. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ५

मर मिटे, पिट गये, सहा सब कुछ,
पर निबल की सुनी गई न कहीं।
है सबल के लिये बनी दुनिया,
है निबल का यहाँ निबाह नहीं ॥[1]

—'सबल और निबल'

मिश्रित वाक्य

जिस महा मरुभूमि से कढ़ती सदा है लू लपट,
वारि की धारा मधुर रहती उसी के है निकट।
जिस विशद जल-राशि का है दूर तक मिलता न तट,
है उसी के बीच हो जाता धरातल भी प्रगट ॥[2]

—'प्रभु प्रताप'

मिश्रित वाक्य-विन्यास में कवि ने कतिपय स्थलों पर अवान्तर वाक्यों को प्रारम्भ में रखकर उक्ति-वैचित्र्य के लिये मुख्य वाक्य को पद के अन्त में स्थान दिया है जिससे 'पीरियड' का सहज ही विधान हो गया है, यथा—

जब सारा संसार अचेतन पड़ा हुआ था,
निज पाँवों पर जीव नहीं जब खड़ा हुआ था।
रहा जिन दिनों अन्धकार भतल पर छाया,
जब न ज्ञान-रवि-बिम्ब निकलने भी था पाया।
तभी प्रगट हो जिन्होंने बतलाये सब भेद हैं,
वे ही सारे लोक के दिव्य विलोचन वेद हैं ॥[3]

—'वेद हैं'

'एन्टीथीसिस' में दो अथवा दो से अधिक विरोधी भावों को इस प्रकार के शब्दों, पदों अथवा वाक्यों में अन्वित किया जाता है जो एक दूसरे से सर्वथा विपरीत पड़ें। 'सबल और निबल' की व्याख्या में हरिऔध ने भी कुछ ऐसे ही वाक्य-बन्ध प्रयुक्त किये हैं—

घर किसी का उजाड़ होता है,
और बनते महल किसी के हैं।
है किसी गेह का दिया बुझता,
औ कहीं दीये जलते फीके हैं।
दूसरों का बिगाड़ करके रंग,
रंग अपना सभी जमाते हैं।

---

१. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६ सं० ५
२. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ५
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ५

एक के नाम को मिटा करके,
दूसरे लोग नाम पाते हैं ॥[1]

—'सबल और निबल'

लोकोक्ति-मुहावरे :—यह सर्वविदित तथ्य है कि आधुनिक हिन्दी कवियों में हरिऔध के सदृश मुहावरेदानी में दूसरा कोई कवि सिद्धहस्त नहीं है। देश की गरीबी पर आँसू बहाने के लिये, समाज पर फबतियाँ कसने के लिए, जाति के सुधारकों को दाद देने के लिये, कपूतों पर बरसने के लिये और भारतीय नारी की सामाजिक दुर्दशा की झाँकी प्रस्तुत करने के लिये हरिऔधजी ने मुहावरों का उपयोग बड़ी सफलता से किया। प्रयुक्त मुहावरों से रचनाओं की भाषा में रुलाने, हँसाने, फड़काने, तड़पाने और खून खौला देने की अपूर्व क्षमता आ गई है। 'कर्म्मवीर', 'धर्म्मवीर', 'उर्मिला', 'दिल के फफ़ोले', 'दीन की आह', 'दुखिया के आँसू', 'मतलब की दुनिया', 'दिल टटोला', 'नोंकझोंक', 'जी की कचट', 'बैवायें', 'बेटियाँ', 'चेतावनी', 'सच्चे काम करने वाले' आदि शीर्षक कविताओं की भाषा में वाग्वैदग्ध्य एवं सजीवता के साथ प्रवाह और प्रासादिकता द्रष्टव्य है—

यह भला है, यह बुरा है, वह समझता है सभी।
भसियों में, छोड़कर चावल नहीं फँसता कभी।
जब ठिकाने है पहुँचता मोद पाता है तभी।
बात थोथी है नहीं मुँह से निकलती एक भी।
है जहाँ पर चूक उसकी आँख पड़ती है वहीं।
जल पकड़ता है उलझता पंक्तियों में वह नहीं ॥[2]

—'धर्मवीर'

काम क्या निकला हुये बदनाम भर,
जो नहीं होना था वह भी हो लिया।
हाथ से अपना कलेजा थाम कर,
आँसुओं से मुँह भले ही धो लिया ॥[3]

—'आँख का आँसू'

जंगलों में देख ली धूनी रमी,
जोग ही में बाल कितनों का पका।
क्या हुआ घर से किनारे हो गये,
कौन मतलब से किनारा कर सका ॥[4]

—'मतलब की दुनिया'

---

१. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, सं० ५
२. मर्यादा, सं० १९६८, भाग १, सं० ३
३. मर्यादा, सन् १९१२, नवम्बर-अप्रैल, भाग ५, सं० ३
४. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० २

धूल में मरदानगी अपनी मिला,
लात हिम्मत को लगा जीते मरें ।
है अगर हममें न कुछ दम रह गया,
तो भरोसा और के दम का करें ॥[1]

—'चेतावनी'

अपना अपना राग व अपनी अपनी डफली ।
बहुत गा-बजा चुके पर न अब भी सुधि सँभली ।
ढाई चावल की खिचड़ी हम अलग पका कर ।
दिन-दिन हैं मिट रहे समय की ठोकर खाकर ॥[2]

—'विद्यालय'

यही नहीं 'बाल', 'सिर और सेहरा', 'माथा', 'तिलक', 'टीका' आदि कविताओं में विषय से सम्बन्ध रखने वाले मुहावरे ही पद्यबद्ध किये गये हैं । इस प्रकार की रचनाएँ वास्तव में मुहावरों की शिक्षा के हेतु लिखी गई थी; अन्य भाव तो (मुहावरों के) प्रयोजनवश आ गये हैं । किन्तु साध्य होने पर भी मुहावरों की सजीवता और मार्मिकता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है । अधिकांश मुहावरे इतने सुष्ठु, सुन्दर एवं चित्ताकर्षक हैं और उनकी उक्ति में इतना वैचित्र्य एवं अर्थ-गाम्भीर्य है जितना उस काल के किसी अन्य कवि में उपलब्ध नहीं होता, यथा—

छूट पाये दाँव पेचों से नहीं,
औ पकड़ भी है नहीं जाती सही ।
हम तुम्हें माथा पटकते ही रहे,
पर हमारी पीठ ही लगती रही ॥[3]

—'माथा'

हो भलाई के लिये ही जब बने,
तब तिलक तुम क्यों बुराई पर तुले ।
भेद छलियों के खुले तुम से न जब,
भाल पर तब तुम खुले तो क्या खुले ॥[4]

—'तिलक'

हाँ, जहाँ तत्सम-प्रधान साहित्यिक भाषा के माध्यम से काव्य-प्रणयन हुआ है, हरिऔधजी ने संस्कृत शब्दों के आग्रह से रूढ़ शब्दों तक को पर्यायवाची तत्सम शब्दों में बदल दिया है जिनसे मुहावरे का चुटीलापन तथा प्रभावोत्पादकता अपेक्षाकृत कम हो गई है, देखिए—

१. श्री शारदा, सं० १९७७, भाग १, सं० ४
२. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० ५
३. विद्यार्थी, सं० १९७४, भाग ४, सं० ११
४. सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, सं० २

क्यों वेदान्ती लोग कुछ दृगों में हैं गड़ते।[1] (आँखों में गड़ना)
—'वेद है'

विष खाऊँगी, प्राण तजूँगी, कर न मलूँगी।[2] (हाथ मलना)
—'रुक्मिणी सन्देश'

राजश्री ने फेर जब उनसे वदन अपना लिया।[3] (मुख फेर लेना)
—'सती सीता'

किन्तु साहित्यिक भाषा में ऐसे प्रयोग अनेक नहीं हैं। क्योंकि ऐसे स्थलों पर कवि ने बोलचाल के इन अलंकारों से बचने का जागरूक प्रयत्न किया है।

अलंकार-योजना—फुटकर काव्य में अप्रस्तुत-विधान की दृष्टि से कवि की दो प्रकार की रुचि दृष्टिगत होती है। पौराणिक प्रसंग अथवा परिचयात्मक रचनाओं पर रीतिकालीन आलंकारिक प्रवृत्ति का प्रभाव है। 'जीवन-मुक्त', 'सती सीता', 'विद्या', 'मनोव्यथा', 'वेद हैं', 'कुलीनता', 'आर्य बाला', 'सुतवती सीता', 'शिशु-स्नेह' आदि पद्य अनुप्रासाडम्बर संयुत हैं। उनमें सादृश्य-विधायक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकार परम्परागत एवं रूढ़ है; अतएव भावाभिव्यक्ति में उनसे विशेष प्रकर्षता नहीं आई है। कतिपय प्रयोग द्रष्टव्य हैं :—

अनुप्रास

सद्गुणों का प्रदीप्त भूषण था,
वह विबुद्ध-मंडली-विभूषण था।
शक्ति है अति अपूर्व विद्या की,
धूम सी है विचित्र क्षमता की॥[4]
—'विद्या'

कालिमा की कलिन्द-नन्दिनी है,
पाप के पुंज की निकन्दिनी है।
है कलित कंठ-कोकिला ऐसी,
गुणमयी है मरालिका जैसी॥[5]
—'विद्या'

विघातिनी है गुरुता स्वदेश की,
विलोपिनी है कुल-वन्दनीयता।
विनाशिनी है सुख-शान्ति जाति की,
अपूज्यता पूज्य-अपूज्य-पूज्यता॥[6]
—'कुलीनता'

---

१. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ४
२. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० ४
३. मर्यादा, सन् १९१३, मई-अक्तूबर, भाग ६, सं० ६
४-५. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ६
६. सरस्वती, सन् १९१५, भाग १६, सं० १

यमक-वृत्यनुप्रास

हे प्रेम के पयोनिधि भवरुज, प्रियूष-प्याले,
उपताप-ताप-पातक परिताप-तम-उजाले ॥[१]

—'मनोव्यथा'

उपमा

कामधेनु सी कामद उनकी रुचिर-ऋचा है,
उनका पूत प्रसंग निराली सुधा-सिंचा है।
वे हैं चिन्तामणि-समान चिन्तित फलदाता,
उनसे सब कुछ जगत कल्पतरु-लौं है पाता ॥[२]

—'वेद हैं'

कर विलोप साधन नभ-तारक-पुंज सा,
दिन-नायक सा नहिं होता उसका उदय।
समुदित होता है वह कुमुदिनि-कान्त सा,
सप्रभ, अविकलित-रंजित रख तारक-निचय ॥[३]

—'जीवनमुक्त'

मालोपमा

या होता है वह उस बाल-पतंग सा,
जो समुदित हो देता है तम-तोम-दल।
उस आतप सा भी कह सकते हैं उसे,
जिसके पीछे सुखद-सलिल है बरसाता।
वह सुतप्त जल भी उसका उपमान है,
तन जिससे पाता है अनुपम निरुजता।[४]

—'जीवनमुक्त'

रूपक

जहाँ परस्पर प्रेम-पताका नहिं लहराती,
वहाँ ध्वजा है कलह-कपट की नित फहराती।
प्रणय-कुसुम में कीट स्वार्थ का जहाँ समाया,
वहाँ हुई सुख और शान्ति की कलुषित काया।[५]

—'रुक्मिणी सन्देश'

१. प्रभा, सं० १९७७, भाग २, सं० ५
२. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ४
३. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० २
४. सरस्वती, सन् १९६१, भाग १७, सं० २
५. मर्यादा, सन १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० ४

जग-जनित ताप उपशमन के लिये त्याग निजता-गिला,
सौमित्र आत्मरति-नीर था राम-प्रीति-पय में मिला ॥[1]
—'वीरवर सौमित्र'

उत्प्रेक्षा

प्रिय सुमन तोड़ने के समय जो सुषमा मुख पर लसी।
वह अति अनुपम है प्रात रवि-प्रभा कमल पर आ बसी ॥[2]
—'सुतवती सीता'

व्यतिरेक

है समानता तुझ में और सुमन में इतनी,
किन्तु तात ! इसमें गुरु गरिमायें हैं कितनी।
बहुत प्यार कर सुर-शिर पर सानन्द चढ़ावें,
या पावों से मसल धूल में इसे मिलावें।
पर यह सुवास तजता नहीं, यों रहता है एक रस,
कैसे ही उनमें विरसा नहिं होती जो है सरस ॥[3]
—'सुतवती सीता'

सन्देह

प्रबल नवल उत्साह-अंक में शक्ति बसी है ?
या साहस की गोद-मध्य-धीरता लसी है ?
परम ओज के संग विलसती तत्परता है,
या पौरुष के सहित राजती पीवरता है।
चपल तुरग की पीठ पर चाव चढ़ी चित-मोहती,
या दिलीश-उत्संग में है संयुक्ता सोहती।[4]
—'वीर वधू संयुक्ता'

दृष्टान्त

किन्तु पति को छोड़कर वे रह सकीं गृह में नहीं।
क्या कलाधर त्याग कर है कौमुदी रहती कहीं ॥[5]
—'सती सीता'

उदाहरण

आँख में आँसू नहीं था पर विहरता था हृदय,
क्षोभ औ सन्ताप से थी बन गई धरती निरय।
किन्तु ऐसे काल में भी वे नहीं विचली तनक,
है निखरती और भी पड़ आँच में आभा कनक ॥[6]
—'सती सीता'

---

१. मर्यादा, सन् १९१४, मई-अक्तूबर, भाग ८, सं० १
२-३. मर्यादा, सन् १९१५, जुलाई-दिसम्बर, भाग १०
४. मर्यादा, सन् १९१३, मई-अक्तूबर, भाग ६, सं० ६
५-६. मर्यादा, सन् १९१३, मई-अक्तूबर, भाग ६, सं० ६

अर्थान्तरन्यास

क्या अजब है जो हमें गाने सुयश आता नहीं,
व्योम-तल पर चींटियों का जी कभी जाता नहीं ॥[1]

—'प्रभु प्रताप'

विभावना-वाक्योपमा

जैसे देखे बिना रूप भी सौरभ का जन,
हो जाता है सानुराग सब काल सुखित बन ।
वैसे ही प्रभु-रूप-विभा देखे अति प्यारा,
हुई हृदय से सानुराग हूँ तज भ्रम सारा ॥[2]

—'रुक्मिणी सन्देश'

वर्ण्य-विषय के अन्तर्गत बताया जा चुका है कि हरिऔध ने फुटकर काव्य में अधिकांशत: देश की वर्तमान दयनीय दशा का जीता-जागता चित्र अंकित किया है । उनकी चोखी-चुभती उक्तियाँ, देशभक्ति, समाजोन्नति तथा जाति-सेवा की भावना से ओत-प्रोत हैं । कवि ने अपनी उक्तियों को जनता का उद्गार बनाने के लिए ही बोलचाल की खड़ीबोली को माध्यम बनाया और उन्हें मुहावरों से अलंकृत कर सजीव एवं आकर्षक रूप प्रदान किया । वस्तुत: इन जीवन्त उक्तियों का प्राण उनकी विदग्धता एवं प्रगल्भता ही है । तदनुसार रचनाओं में अलंकारों की उपयोगिता भी उस वाग्वैदग्ध्य तथा अर्थ-गांभीर्य को बनाये रखने तक सीमित है । सादृश्यमूलक उपमान सुन्दर हों अथवा असुन्दर, प्रभावोत्पादकता ही उनका विशेष गुण माना गया है । कवि ने पाठक की चित्तवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए विरोधमूलक अलंकारों का, तथा अपने तर्क के समर्थन में लोक-प्रसिद्ध उदाहरण, दृष्टान्त आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है । इन प्रयोगों से उक्तियों में इतना प्रखर दंश आ गया है कि पाठक इन्हें पढ़ते ही एक साथ तड़प उठता है । उदाहरणार्थ निम्न अवतरण देखिए—

उपमा-श्लेष

जो बहक बेवा निकलने लग गई,
पड़ गया तो बढ़लियों का काल भी ।
आबरू जैसा रतन जाता रहा,
खो गये कितने निराले लाल भी ॥[3] ('लाल'=रत्न, पुत्र)

—'बेवायें'

फूल जैसी के लिये भी काठ बन,
कब सके हम धूल में रस्सी न बट ।[4]

—'बेटियाँ'

---

१. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ५
२. मर्यादा, सन् १९११, मई-अक्तूबर, भाग २, सं० ४
३. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० ४
४. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० ३

विरोधाभास

हिन्दुश्रो ! जैसी तुमारी है बनी,
बेबसी ऐसी बनी किसकी सगी।
जागने पर जो लगी हो सी रही,
कब किसी की श्राँख है ऐसी लगी॥[1]

—'चेतावनी'

प्यास थी इस श्राँख को जिसकी बनी,
वही नहीं इसको सका कोई मिला।
प्यास जिससे हो गई है सौगुनी,
वाह ! क्या श्रच्छा इसे पानी मिला॥[2]

'श्राँख का श्राँसू'

विभावना

देख करके श्रौर का होते भला,
श्राँख जो बिन श्राग ही यों जल मरे।
दूर से श्राँसू उमड़ कर तो चला,
पर उसे कैसे भला ठंडा करे॥[3]

—'श्राँख का श्राँसू'

व्याजस्तुति

थे उपज पाये दया-सागर जहाँ,
श्रब निरे पत्थर उपजते हैं वहाँ,
है कलेजा तो हमारे पास ही,
पास बेवों के कलेजा है कहाँ॥[4]

—'बेवायें'

प्रभावोत्पादकता का सन्निवेश करने के लिए कवि ने श्रमूर्त्त भावों को मूर्त्तता प्रदान की है। 'मानवीकरण' की इस रीति से उक्ति में भी सौन्दर्य श्रा गया है, यथा—

बार बार श्रपने उर को मथ कर श्रकुलाती,
श्रमित तापःपरिताप भरी होठों पर श्राती।
फिर सहती श्रपमान शून्य में लय होती है,
दीन जनों की श्राह नहीं कुछ भी कर पाती॥[5]

—'दीन की श्राह'

---

१. श्री शारदा, सं० १९७७, भाग १, सं ४
२. मर्यादा, सन् १९१२, नवम्बर-श्रप्रैल, भाग ५, सं० ३
३. मर्यादा, सन् १९१२, नवम्बर-श्रप्रैल, भाग ५, सं० ३
४. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० ४
५. मर्यादा, सन् १९१५, जून-जुलाई, भाग ९, सं० ३

दिल टटोल उदारता का लिया,
रंगतें सारी दया की देख लीं।
साधुता के पेट की बातें सुनीं,
मतलबों की साथ लेकर सब चली ॥[१]

—'मतलब की दुनियाँ'

देख कुल की देवियाँ कँपने लगीं,
रो उठी मरजाद बेवों के छले।[२]

—'नापाकपन'

प्यास सुख की बेतरह है बढ़ गई,
श्रास का है सूखता जाता गला।[३]

—'चेतावनी'

इस प्रकार की कथन-शैली में कवि की काव्य-कौशल क्षमता एवं रचना-चातुर्य, देश की सामाजिक और आर्थिक दशा का सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन आभासित होता है। प्राचीन एवं नूतन उपमानों पर आधृत वाणी का यह विलास इस काल के अनेक कवियों में नहीं मिलेगा।

शब्द-शक्ति—हरिऔध के काव्य में मुहावरेदार भाषा का अधिक उपयोग होने के कारण लक्षणा-व्यंजना शक्तियों का वैचित्र्य सब जगह दृष्टिगत होता है। रात-दिन बोलचाल में आने वाले मुहावरों से रूढ़ि लक्षणा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य बनाये रखने के कारण कवि ने चेष्टापूर्वक विलक्षण रीति से भाव-नियोजन किया है। अतः लक्षणा के बहुत से प्रकार उपलब्ध हो जाते हैं। कुछ सफल प्रयोगों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जायगा। उद्यमी एवं पुरुषार्थी मनुष्य की परिभाषा करते हुए हरिऔधजी कहते हैं—

जो सदुद्यम का मरम हैं जानते, टूटता जिनका नहीं साहस कभी,
जो न इतना भाग को हैं मानते, कर दिखाते हैं वही कारज सभी।
ऊसरों में वह खिलाते हैं कमल, फूल होता है कुलिस उनके लिये,
आपदा उनकी सभी जाती है टल, कितने ही उनके जिलाये हैं जिये॥[४]

—'प्रेम पुष्पोपहार'

'ऊसरों में कमल' नहीं खिल सकते इसी प्रकार 'कुलिस को भी फूल' नहीं समझा जा सकता। यहाँ मुख्यार्थ की बाधा है। कवि का प्रयोजन उनमें असम्भव कार्य को भी सिद्ध करने की शक्ति बताना है। पद अपना वाच्यार्थ त्याग कर अन्य अर्थ-ग्रहण करता है। इसलिए

१. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० २
२. प्रतिभा, सं० १९७७, भाग ४, सं० १
३. श्री शारदा, सं० १९७७, सं० ४
४. प्रेम-पुष्पोपहार—नागरी प्रचारिणी सभा

(जहत्स्वार्था) लक्षण लक्षणा है। लगभग ऐसी ही कार्य-क्षमता-शक्ति कवि ने 'धर्म्मवीर' में भी देखी है—

ए चुड़ैलें चाह की उसको नहीं सकतीं सता,
प्यार वह निज वासनाओं से नहीं सकता जता।
मोह को जी में नहीं उसके उलहती है लता,
है कलेज में न कोने का कहीं मिलता पता।
रोस की जी में कभी उठती नहीं उसके लपट,
छल नहीं करता किसी से वह नहीं करता कपट।[1]

—'धर्म्मवीर'

'चाह' पर 'चुड़ैलों' का तथा 'मोह' पर 'लता' के आरोप में गुण-धर्म साम्य में उपमेय और उपमान का पृथक्-पृथक् कथन होने से गौणी है। 'चुड़ैल' एवं 'लता' के मुख्यार्थ की बाधा होने पर भी तत्सम्बद्ध 'दुष्टा' तथा 'सर्वत्र छा जाना' दोनों अर्थ निकलते हैं, अतः उपादानमूला है। कवि का प्रयोजन दोनों की अनिष्टकारिणी शक्तियाँ बताना है इसलिये प्रयोजनवती है।

मुहावरों के चमत्कार में लक्षणा का ही अधिवास रहता है। हाँ, परम्परागत होने के कारण वे लक्षित अर्थ रूढ़ अवश्य हो जाते हैं। कवि के लेखनी-कौशल का अनुमान लगाने के लिये निम्न पद देखिए—

आप ही जब कि तन गये मुझ से,
तब भला किस तरह भवें न तनें,
जब हुई लाल लाल आँखें तब,
गाल कैसे न लाल लाल बने॥[2]

—'नोंकझोंक'

'तन जाना', 'भवें तनना', 'आँखें लाल होना', और 'गाल लाल होना', क्रम से 'ऐंठ जाना', 'क्रुद्ध होना' तथा 'लज्जित होना' अर्थ देते हैं। ऐसी अनेक उक्तियों में मीठी चुटकी के साथ-साथ भाषा का चमत्कार भी पर्याप्त मात्रा में भरा हुआ है। कवि की यह चमत्कारक वाणी लक्षणा की सहायता से अन्तर्गूढ़ भाव की सरसता से पाठक का हृदय आह्लादित करती है।

काव्य-गुण—इन प्रकीर्णक रचनाओं का सबसे बड़ा गुण उनका प्रसादत्व है क्योंकि वही कवि का ध्येय भी था। दुरूह से दुरूह विचार जन-सामान्य के बोध के लिये सरल एवं सजीव भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। कदाचित् इसीलिये कवि द्विवेदीकालीन उपदेशात्मक प्रवृत्ति को इतने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त कर पाया। उसने सामाजिक दुर्दशा को प्रकट करने वाली करारी से करारी और तीखी से तीखी उक्ति को ग्राह्य बनाने के लिए अन्योक्ति का सहारा

---

१. मर्यादा, सं० १९६८, भाग १, सं० ३
२. प्रतिभा, सं० १९७७, भाग ४, सं० १

लेकर उसमें माधुर्य सन्निविष्ट करने का सफल प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप मार्मिक आघात करके भी ये उक्तियाँ वाह्य रूप में सरस एवं मधुर ही बनी रहती हैं और काव्य के सभी गुण इनमें मिल जाते हैं, यथा—

प्रसादगुण

वह भला है, यह बुरा है, वह समझता है सभी,
भूसियों में, छोड़कर चावल नहीं फँसता कभी।
जब ठिकाना है पहुँचता मोद पाता है तभी,
बात थोथी है नहीं मुँह से निकलती एक भी।
है जहाँ पर चूक उसकी आँख पड़ती है वहीं,
जड़ पकड़ता है उलझता पत्तियों में वह नहीं ॥[1]

—'धर्मवीर'

माधुर्यगुण

न तब भी किसी ने गले आ लगाया,
न पोंछा सलिल जो दृगों ने बहाया।
न कर तक उसे बोधने को बढ़ाया,
दिखाई पड़ी तक किसी की न छाया।
न सोचा किसी ने कभी आँख भर कर,
गई बीत क्या इस सरल बालिका पर ॥[2]

—'उर्मिला'

ओजगुण

तोपों का लख अग्निकाण्ड आकुल न दिखाना,
न काँपना लख शिर पर से गोलों का जाना।
भिड़ना मत्त गयंद संग केहरि से लड़ना,
कर द्वारा अति क्रुद्ध व्याल को दौड़ पकड़ना।
लख काल-वदन विकराल भी त्याग न देना धीरता,
अकेले भिड़ना भट विपुल से यद्यपि है बड़ी वीरता ॥[3]

—'वीरवर सौमित्र'

संक्षेप में, प्रस्तुत काव्य का सिंहावलोकन करने से ज्ञात हो जाता है कि हरिऔध वास्तव में खड़ीबोली भाषा के पोषक, संरक्षक एवं संवर्द्धक के रूप में आये। जिस समय खड़ीबोली में सरसता के अभाव की दुहाई देकर उसके विरोधी फिर से ब्रजभाषा को सिंहासनासीन करना चाहते थे उस समय हरिऔध एक सफल भाषाविद्-कवि के रूप में खड़ीबोली की

---

१. मर्यादा, सं० १९६८, भाग १, सं० ३
२. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, सं० ६
३. मर्यादा, सन् १९१४, मई-अक्तूबर, भाग ८, सं० १

पैरवी के लिए उपस्थित हुए। उन्होंने कवित्व-प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं अपितु अभावों की पूर्ति के हेतु खड़ीबोली में काव्य-प्रणयन किया था। उनसे पूर्व खड़ीबोली में कोई महाकाव्य न था इसलिये उन्होंने 'प्रिय प्रवास' लिखा। ब्रजभाषा की तुलना में उसे शुष्क एवं कर्कश बताया जाता था, इसलिये संस्कृत-शब्दों द्वारा उसमें कोमलता और माधुर्य सन्निविष्ट करके दिखाया। खड़ीबोली के समर्थकों के सामने उर्दू की सादगी और ज़िन्दादिली की तारीफ़ की जाती थी, अतः बोलचाल की भाषा द्वारा सरलता और मुहावरों द्वारा सजीवता भरने का प्रयत्न किया। हरिऔधजी को सर्वजन-सुलभ साहित्य-निर्माण करना हुआ तो खड़ीबोली तद्भव रूपों और सरल मुहावरों का अक्षय भांडार लेकर उपस्थित हो गई, और यदि उन्हें विद्वज्जन के लिये गम्भीर काव्य-प्रणयन की इच्छा हुई तो क्लिष्ट संस्कृत-पदावली से आच्छन्न खड़ीबोली अनेकानेक समासों और अलंकारों का परिधान धारणकर आ खड़ी हुई। इस प्रकार उन्होंने अनेक प्रकार के प्रयोग करके तत्कालीन कवियों के समक्ष खड़ीबोली के विविध रूप उपस्थित किये। सम्भवतः इसीलिये उनके समस्त काव्य में अप्रस्तुत-विधान की दृष्टि से कोई उल्लेख्य नूतनता नहीं मिलती। लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार भी प्रायः मुहावरों तक सीमित है। खड़ीबोली के इस महारथी का प्रमुख उद्देश्य साहित्य-गगन में खड़ीबोली की पताका ऊँची रखना था। निस्सन्देह इस ध्येय में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। हिन्दी भाषा पर उनके इस अधिकार को देखकर 'निराला' जी ने उस काल के कवियों में उन्हें अग्रगण्य बतलाया है।[1] हिन्दी-साहित्य में हरिऔधजी का स्थान निश्चित करते हुए हमें भी सबके साथ स्वर मिलाकर यही कहना होगा कि, "खड़ीबोली कविता की रूपरेखा को परिष्कृत, परिवर्द्धित और प्रशस्त करने वालों में हरिऔध का ही नाम प्रथम लिखा जायेगा।"[2]

राय देवीप्रसाद पूर्ण (सं० १९२५-१९७२)

राय देवीप्रसाद पूर्ण ब्रजभाषा के प्रौढ़ कवि थे। वे जब तक जीवित रहे, रसिक समाज द्वारा ब्रजभाषा की परम्परा का यथाशक्ति निर्वाह करते रहे। प्रारम्भ में पूर्णजी खड़ीबोली को काव्य का उपयुक्त माध्यम न मानते थे।[3] किन्तु जैसे-जैसे खड़ीबोली की कविता का प्रचार बढ़ने लगा, इनके विचारों में भी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ[4], जिससे खड़ीबोली के प्रति इनकी असहिष्णुता कम हो गई। उन्होंने अपने सामयिक विचारों के व्यापक

१. महाकवि हरिऔध—पृ० ३६१

२. हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ—पृ० ४६७

३. "जब तक हिन्दी में श्री तुलसी, सूर, केशव इत्यादि कवियों की कविता का आदर है, तब तक, और जब तक खड़ीबोली में उनकी कविता के समान सरस, सुन्दर और सर्वमान्य बृहत्काव्य-कलाप प्रस्तुत होकर जगत् प्रचलित नहीं होता, तब तक पद्यभाषा का न मान घटेगा और न खड़ीबोली पद्य में बैठने को जगह पावेगी।"

—द्र० पूर्ण-संग्रह, भूमिका—पृ० ३४ पर उद्धृत, 'चन्द्रकला भानुकुमार' (नाटक की भूमिका)

४. "मेरा अभिप्राय कदापि नहीं है कि खड़ीबोली में कोई कविता न करे वा यह कि खड़ीबोली में कविता हो ही नहीं सकती। जब अंग्रेज़ी, फ़ारसी इत्यादि संसार भर की भाषाओं में कवि की शक्ति के अनुसार उत्तम कविता हो सकती है तो खड़ीबोली में भी हो सकती है।" —द्र० पूर्ण संग्रह, भूमिका—पृ० ५४

प्रसार के लिए १९०६ ई० में 'स्वदेशी कुण्डल' शीर्षक रचना खड़ीबोली में ही की[1]। और जीवन के अन्तिम वर्षों में तो पूर्णजी ने खड़ीबोली में प्रचुर मात्रा में काव्य-सृजन किया।

विषय-वस्तु—पूर्णजी की खड़ीबोली की कविताओं का विषय प्रधानतया देशभक्ति अथवा राजभक्ति रहा। 'स्वदेशी कुण्डल,' 'स्वदेशी बारामासी,' 'जागिए,' 'हिन्दू विश्वविद्यालय', 'नए सन् का स्वागत', 'नवीन संवत्सर (सं० १९६७) का स्वागत,' 'प्रदर्शनी स्वागत', 'ग़ज़ल' आदि रचनाओं पर समय के प्रवाह की स्पष्ट छाप है। इनमें एक ओर स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का आग्रह, पारस्परिक ऐक्य का उपदेश, विदेशी व्यापारियों द्वारा धन का अपहरण तथा भारतीय समाज की दुर्दशा का प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है तो दूसरी ओर दिल्ली-दरबार के ठाठ-बाट का भी रोचक वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि इनके राजनीतिक विचार नरम दल के थे। 'मन वन्दर', 'विश्व वैचित्र्य' तथा 'आनन्द का गीत' शीर्षक रचनाएँ भक्ति और वेदान्त सम्बन्धी हैं। 'चेतावनी' में सत्य-धर्म की खोज करने वालों के समक्ष आर्यसमाजी विचारों को संकुचित एवं अनुदार ठहराकर कवि ने अपने कट्टर सनातनधर्मी होने का प्रमाण दिया है। उल्लिखित कविताओं में प्रायः प्रचार एवं उपदेश की भावना का प्राधान्य है, इसलिए ये विषय-प्रधान हैं। भावानुभूति की कोमलता तथा कल्पना की समृद्धि की दृष्टि से 'अमलतास' तथा 'वसन्त वियोग' शीर्षक रचनाएँ प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं। दोनों कविताओं में कवि के व्यापक प्रकृति-निरीक्षण का परिचय मिलता है। 'वसन्त वियोग' दो भागों में छह अध्याय की लम्बी कविता है। वाह्य रूप से प्रकृति-प्रधान-कविता होने पर भी इसमें एक शृंखलाबद्ध कथानक अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित है जो यत्र-तत्र पाठक को अपना आभास भी देता चलता है। आद्योपान्त रूपक शैली (ऍलेगरी) का निर्वाह होने से इसकी अभिव्यंजना-शैली भी विशिष्ट पद्धति की हो गई है। अतः प्रस्तुत रचना के काव्य-सौष्ठव का अनुशीलन करते समय इसके रूपक तत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें भारतभूमि की कल्पना एक मनोहारी एवं अद्वितीय वाटिका के रूप में की गई है जो सत्वगुण प्रधान है। यहाँ किसी समय बारह मास वसन्त (समृद्धि) का अखण्ड साम्राज्य रहता था। अयोध्या, मथुरा, चित्रकूट, आदि इसकी क्यारियाँ हरी-भरी और दिव्य पुष्पों से सम्पन्न थीं; ये मंदाकिनी, यमुना नाम्नी नालियों द्वारा सींची जाती थीं। इसके रखने वाले माली (सम्राट्) देवतुल्य थे। बाद में मंत्रियों के प्रमाद और अनैक्य के कारण उद्यान (भारत) उजड़ने लगा। यद्यपि विक्रमादित्य और पृथ्वीराज जैसे यशस्वी मालियों ने इसे सँभालने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इसकी दशा बिगड़ती ही गई। अन्त में उद्यान के माली साधना और तपस्या के लिए कैलास (मानसरोवर) की ओर चल देते हैं। कवि घोर आशावादी है इसलिए उसने आकाशवाणी द्वारा घोषित किया है कि विक्रम की बीसवीं शती में जब पश्चिमी शासन होगा तब भारत में उन्नति का आयोजन होगा। रचना में प्रसंगवश

१. "ये कुंडलियाँ खड़ीबोली में हैं और कई जगह उर्दू के शब्द प्रयुक्त किए गये हैं। हमारा अभिप्राय शुद्ध हिन्दी में कविता लिखने का नहीं था किन्तु अभिप्राय यह था कि एक उपयोगी विषय ऐसी भाषा में जिसे थोड़ा-बहुत हिन्दू-मुसलमान दोनों समझें, बाँधा जाय।"

—द्र० पूर्ण संग्रह, भूमिका—पृ० ३५ पर उद्धृत 'स्वदेशी कुण्डल' की भूमिका, पृ० (ग)

देवनिष्ठा, कर्मयोग, देशभक्ति आदि सम्बन्धित भाव भी बीच-बीच में प्रतिध्वनित होते रहते हैं। आध्यात्मिक प्रसंगों में ईश्वर, देवी-देवताओं आदि के नाम, रूप, गुण-कीर्तन के लिए तद्नुकूल पदावली प्रयुक्त हुई है।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—प्रस्तुत काव्य की भाषा का समीक्षात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कवि ने रचना-प्रयोजन और भाव-वस्तु के अनुसार खड़ीबोली के विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं। उदाहरणार्थ भक्ति-वेदान्त सम्बन्धी रचनाओं में कबीर, रैदास आदि संत कवियों की शैली पर बोलचाल की सधुक्कड़ी खड़ीबोली का दर्शन होता है ; सामयिक विषयों के प्रतिपादनार्थ उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेजी तथा ब्रज-अवधी आदि विदेशी एवं देशी भाषा-मिश्रित बोलचाल की खड़ीबोली का उपयोग किया गया है। जहाँ कल्पना अधिक भावमयी है काव्य-भाषा का अत्यन्त संस्कृत-निष्ठ शुद्ध एवं कमनीय रूप दृष्टिगत होता है। इन भाषा-स्वरूपों में इतना वैविध्य एवं वैचित्र्य है कि वे एक ही कवि द्वारा प्रयुक्त नहीं जान पड़ती। इनमें कहीं दरसै, इक, ह्याँ, ह्वाँ, पै, लसी, झुकै, लै, अरु, यौं, आपुस, नहिं आदि प्रान्तीय शब्द तथा दरसाना, मान, जभी, छीर, कीजे, बैराग, जाइयो, सुखमा, जस, लेखना (देखना) जैसे तद्भव शब्दों का प्राचुर्य है तो कहीं प्रलीन, प्रशिष्य, तरलित, हिमवलित, धवलित, वासित, चलित, तदीय, मदीय, तव आदि तत्सम शब्दावली उपलब्ध होती है; और कहीं लता, सोग, खूँथखाँथ कर, तलक आदि ग्राम्य शब्द मिल जाते हैं। मुसलमानों के प्रसंग में यदि एक रचना में वाजिब, नाचाकी, अशराफ़, औसाफ़, मुतलाशी, अखलाक, मुफ़लिसी, बेक़सी, किरदार, तुहमत, वाहमी, क़ुदरत, मक़ूला जैसे ठेठ अरबी-फ़ारसी के शब्द हैं तो दूसरी व्यंग्य-प्रधान रचना में मैप, चार्ज, क्रॉस, लव, फ़ाइनैन्स, कॉमनसेंस, एक्स्ट्रीमिस्ट, साउथ, एजुकेशन, रॉयल, कमीशन आदि अंग्रेज़ी शब्द चले आते हैं। निम्न अवतरणों में भाषा की बहुरूपता द्रष्टव्य है—

बोलचालप्रधान भाषा

> **है व्यापार विचित्र उसे धो, खूँथखाँथकर,**
> **सूत कात बुन थान, मढ़ें मूढ़ों के सर पर।**
> **खोया सब, हाँ रही, बुद्धि इतनी अलबत्ता,**
> **देकर चाँदी खरी, मोल लेते हो लत्ता॥**[1]
>
> —'स्वदेशी कुण्डल'

सधुक्कड़ी भाषा

> **कभी कुढ़ै राई से दबकर, कभी ठहावै मन्दर,**
> **जल में कभी आग में विचरे, मगरा कभी समन्दर।**
> **अरे अनारी तू मछली है, यह सब अगम समन्दर,**
> **उछल कूद निष्फल विचार निज 'पूरन' त्याग न कन्दर।**[2]
>
> —'मन बन्दर'

१—२. पूर्ण संग्रह—पृ० २१६, १७९

उर्दूप्रधान

अफ़सरान जीशान ! जमीदारान गिरामी,
पण्डित विद्यावान ! चतुर कारीगर नामी।
काश्तकार ! तज्जार ! मुबारक सबका आना,
है इज्जत का सबब ! कदम रंजा फ़र्माना।
हमदर्दी के इजहार का, बदिल मुबारकबाद है,
यह जहती के आसार का बदिल मुबारकबाद है।[1]

—'प्रदर्शिनी-स्वागत'

मुसलमान ! हिन्दुओ ! वही है कौमी दुश्मन,
जुदा-जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन।
बरस कई सौ पेश्तर की हक़ ने तहरीक,
दो भाई बिछुरे हुए हो जावें नजदीक।[2]

—'स्वदेशी कुण्डल'

अंग्रेज़ीप्रधान

मैं नेचर से बनी पली नेचरल नियम से,
संस्कृत का पीयूष पिया मैंने संयम से।[3]

—'क्या हिन्दी मुर्दा भाषा है' ?

मत समझो यह काम किसी डेप्यूटेशन का,
है यह अपना काम और प्यारी नेशन का।
हो यदि कुछ भी गर्व ओल्ड सिविलीजेशन का,
सुना दीजिए बड़ा हिन्दसा डोनेशन का ॥[4]

—'हिन्दू विश्वविद्यालय'

संस्कृत-प्रधान

हैं दो धारा यहाँ परम ओजस्विनी,
मंदाकिनी अमंद प्रसिद्ध पयस्विनी।
ऋषि विद्वद्वर भक्तराम अनुरक्त हृदय कंजावली,
उनसे सिंचित रहे, सुमोहित रहे मोद भृंगावली ॥[5]

—'वसन्त-वियोग'

आहा सुखद प्रभात प्रभंजन, ताप शमन तापस मनरंजन।
आहा मानस-ताल सुभग का तीर अधीर-हृदय धृतिकारी,

१—५ पूर्ण संग्रह—पृ० २३३, २१२, २११, २२४, १३७

आहा नीर-तरंग चपल ये चित्त चपलता हरने हारी।
असित मधुपगण-सहित मनोहर, स्वर्ण-सरोज समेत सरोवर।
देख तथा छविधर नव-दिनकर, कविवर को विचार है भाता।
अक्ष लक्ष प्रत्यक्ष वरुण के अरुण-मित्र-दर्शन सुखदाता ॥[1]

—'वसन्त वियोग'

शुद्ध खड़ीबोली

दिन चाँदनी के चार, फिर अंधकार-प्रसार,
फिर शुक्ल पक्ष प्रवेश, है यह प्रकृति-निर्देश।
है जन्म पाकर वृद्धि, अरु शक्तियों की सिद्धि,
फिर जरा फिर अवसान, फिर जन्म-चक्र महान ॥[2]

—'वसन्त वियोग'

उद्धृत पदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस बहुरूपिणी भाषा में कवि-व्यक्तित्व की अमिट छाप नहीं है। इसके अतिरिक्त इस रूप-वैविध्य में लगभग सभी प्रकार की शब्दावली सुचारु रूप में खप गई है। वश्यकरण (वशीकरण), अवतंश (अवतंस), स्पर्शन (स्पर्श), निर्द्धनता (निर्धनता), अधूड़ी (अधूरी), लोभा (लोभ), विशाला (विशाल) जैसी शब्द-विकृति गिने-चुने स्थलों पर ही मिलती है और इनके मूल में भी छन्द अथवा मात्रा का आग्रह अधिक दृष्टिगत होता है। किन्तु एक बात पूर्णजी की काव्य-भाषा में अवश्य खटकती है। उनकी शुद्ध संस्कृत-निष्ठ भाषा स्थल-स्थल पर वहक जाती है। उसमें बोलचाल के तद्भव शब्द, उर्दू के संज्ञा-अव्यय तथा व्रजभाषा के क्रियापद आदि बरबस आ जाते हैं, जिसका भाव और भाषा दोनों पर घातक प्रभाव पड़ा है, उदाहरणार्थ—

बोलचाल का पुट

छीर-सागर की छटा ही लोल, कर अवलोकना,
आप ही सम आप है बस अचल आभा शोभना ॥
शुद्ध मालाकार का कर्तव्य पालन कीजियो,
पूर्ण मालाकार-गण का मोद पूरा कीजियो।[3]

उर्दू का पुट

फूल फूले अमित रंगों के प्रभा-आगार हैं,
फ़र्श मखमल सब्ज़ के रंगीन बूटेदार हैं।[4]

व्रजभाषा का पुट

मिल शत्रुओं के साथ, दे बाग उनके हाथ,
ले मरा घोर कलंक, ह्याँ मिटा सुख का अंक।[5]
जो यों रह मुझसे युक्त सदा तनमन से,
सत्कर्म करै हैं वह सुभुक्त बन्धन से।[6]

१—६. पूर्ण संग्रह—पृ० १४५, १५१, १४१-१४३, १४०, १५८, १६५

दूसरी ओर कवि में तत्सम-प्रधान भाषा लिखने का आग्रह भी कुछ कम नहीं है जिसके निर्वाह के लिए निरर्थक ही उपसर्ग-प्रत्यय आदि जोड़कर शब्दों को बोझिल कर दिया गया है, यथा—

वे आदि मालाकार, हरिभक्त सौम्य उदार,
उद्योग-योग प्रलीन, शिष्य-प्रशिष्य कुलीन ।।[१]

जड़ता अभक्ति, अशान्ति, भय अदयता विभ्रान्ति ।[२]

यात्रा-विषय-विचार विसूचन-सार-रूप से कर दिया ।[३]

कर हृदय पेट पग आदि समस्त अरोगी ।[४]

भाषा की यह अनिश्चितता शब्द-प्रयोगों तक ही सीमित नहीं, कतिपय स्थलों पर तो वाक्य-रचना भी अव्यवस्थित है। शब्द-सन्धि, बहुवचनान्त प्रयोग तथा मात्राओं को दीर्घ या ह्रस्व करने आदि में भी कवि ने पर्याप्त स्वेच्छा से काम लिया है, उदाहरणार्थ—

पथिकों से उस समय न ऊपर रह गया ।
गगन-गमन का प्रेम बात में बह गया ।।[५] (रह गया)

सो सही—ज्योंही कहा यानेश ने,
यान उतरे त्वरित ओर नागेश के ।[६] (की ओर)

हिलिए मिलिए भाव बढ़ा कर मित्रों कैसे[७] (के जैसे)

थे निकट अथवा दूर, उन सबों में भरपूर[८] (सब में)

किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं समझना चाहिए कि पूर्णजी की काव्य-भाषा अनगढ़ और अपरिष्कृत है। कलेवर के अनुपात में ऐसे दोषों की संख्या अति न्यून है। अधिकांशतः भाषा का परिमार्जित, प्रौढ़ एवं समुज्ज्वल रूप ही देखने को मिलता है।

मुहावरे-लोकोक्तियाँ—यदि कोई कलाकार विशेष प्रयोजनवश भावाभिव्यंजन के लिए भाषा के जन-प्रचलित रूप को ग्रहण करता है तो उसके काव्य के भाषा-प्रवाह में कहावतें-मुहावरों का अनायास चले आना स्वाभाविक ही है। आश्चर्य नहीं कि राय देवीप्रसाद पूर्ण विरचित सामयिक काव्य में ये रूढ़-वाक्य-वाक्यांश इस प्रकार भाषा में गुँथे चले आते हों, मानो इसके अभाव में भाव ही नहीं अपितु वाक्य भी अपूर्ण रह जाएगा। नुक्ताचीनी करना, मुँह काला होना, बेडा पार होना, मैदान लेना, रंग जमाना, गुल खिलाना, झख मारना, धूल उड़ाना, बाल बाँका न होना, फसड्डी होना, नाक रहना, चित्त चुराना, मारे-मारे फिरना आदि मुहावरों का प्रचुर संख्या में उपयोग मिलता है। कतिपय स्थलों पर इनके प्रयोग से भाषा में सजावट के साथ कसावट भी आ गई है, जैसे—

लोकोक्तियाँ

समझ के हिलाओ हाथ और पैर,
पानी में रह के मगर से क्या बैर ।[९]

१—९. पूर्ण संग्रह—पृ० ५३, १५४, १३६, १६५, १३८, १३१, २१०, १५६, २०२

थाली हो जो सामने भोजन से सम्पन्न,
बिना हिलाए हाथ के जाए न मुख में अन्न ।[1]

ईसावादी, पारसी, सिक्ख यहूदी लोग,
मुसलमान, हिन्दी यहाँ है सबका संयोग।
है सबका संयोग नाव पानी का जैसे,
हिलिए मिलिए भाव बढ़ा कर मित्रों कैसे।[2]

मुहावरे

पुर्जे किसी मशीन के हों कहने को साठ,
बिगड़ें उनमें एक तो हों सब बारा बाट ।[3]

यदि न देह-हित किया, कहेंगे सब अभिमानी,
शुद्ध नहीं तव रक्त, नहीं तुझ में कुछ पानी ।[4]

गाढ़ा झीना जो मिले, उसकी ही पोशाक,
कीजै अंगीकार तो, रहै देश की नाक ।।[5]

पर हीरे की डींग बुरी है पाकर कौड़ी ।[6]

उपर्युक्त अवतरणों की भाषा में प्रेषणीयता के साथ भावोद्‌बोधन की भी पर्याप्त क्षमता आ गई है। कवि ने पद पदांशों अथवा शब्दों के क्रम में हेर-फेर करने की स्वच्छन्दता अवश्य बरती है किन्तु इनके प्रयोग में कवि-कौशल का विशेष परिचय नहीं मिलता। पूर्णजी के अभिव्यंजना-चातुर्य का दर्शन हमें वहाँ होता है जहाँ क व्य-भाषा के अत्यन्त शुद्ध एवं परिनिष्ठित रूप में भी उन्होंने इन रूढ़ पदों के आंशिक प्रयोग द्वारा प्रतिपाद्य विषय का इस प्रकार नियोजन किया है कि मुहावरे और भाव साथ-साथ पकड़ में आ जाएँ, जैसे—

ईश ध्यान के साथ बैठिए यान में,
पाते ही आदेश पथी सब आन में ।[7] (आन की आन में)

पथिकों से उस समय न ऊपर रह गया,
गगन-गमन का प्रेम बात में बह गया ।[8] (बात की बात में)

मशीन का युग है। भारत में कच्चे माल का उत्पादन अत्यधिक मात्रा में होता है। विदेशी शासकों ने उसका दिसावर किया और दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ बनाकर भारतीय कोष लूटने की नवीन रीति निकाली। कवि क़लों की उपयोगिता सिद्ध करता हुआ भारतवासी से उपालम्भपूर्ण स्वर में कहता है—

कल से सकल विदेश सबल, निष्कल निर्बल है,
भरत खण्ड ! कल बिना तुझे हा ! कैसे कल है ।[9]

'कल' शब्द का प्रयोग निस्सन्देह चमत्कारपूर्ण है। इसकी पुनरुक्ति में भिन्नार्थ (मशीन तथा चैन) होने से 'यमक' का आभास है तथा 'कल न पड़ने' मुहावरे का उपयुक्त प्रयोग भी। रूढ़ वाक्य अथवा वाक्यांशों का रूढ़ अर्थों में प्रयोग भाषा में लोकोक्ति या मुहावरे की

१—६. पूर्ण संग्रह—पृ० २०६, २१० २११, २१२, २१४, २१७, १३६, १३८, २१६

संज्ञा पाते हैं। वस्तुतः इन पद-पदांशों का रूढ़त्व ही उनकी सजीवता होती है इसलिए किसी भी भाषा-प्रयोक्ता को इनके मूल शब्दों में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। पूर्णजी की काव्य-भाषा इस दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखती है क्योंकि कवि ने कतिपय स्थलों पर लोकोक्ति का केवल भाव ही पकड़ा है मूल शब्दों या पदांशों को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु इससे अर्थ-बोध में बाधा उपस्थित न होकर अभिव्यंजना में नूतनता सन्निविष्ट हो गई है—

खारा अपना जल पियो, मधुर पराया त्याग,
सीठे को मीठा करें, पूर्ण देश-अनुराग ॥[१]

सहृदय पाठक को 'चिकनी-चुपड़ी देखकर मत ललचावे जी, रूखी सूखी खाय के ठंडा पानी पी' उक्ति का सहसा स्मरण हो आता है।

किन्तु भाषा में मुहावरों के असमर्थ प्रयोगों की भी कमी नहीं, देखिए—

वह पूर्व सुभग उद्यान ध्यान में लाके,
रह जाते थे असहाय हाय खा खा के ॥[२]

कवि का अभिप्राय है, 'विवशता के कारण संतप्त' रह जाते थे, किन्तु इसके लिए मुहावरा है, 'हाय करके रह जाना', 'हाय खा खा जाना' नहीं।

यान-दल को पुनः ऊँची पवन में जाना पड़ा,
बहुत ऊँचे शिखर पाकर, तदपि कतराना पड़ा ॥[३]

कवि ने केवल अभिधा से काम चलाना चाहा है। परम्परा-प्रचलित मुहावरे के अनुसार विशिष्ट कारणवश किसी व्यक्ति से 'कतराया' जाता है, जबकि यहाँ यान-दल जड़ पर्वतों से 'कतरा' कर उड़ना चाहता है। और देखिए—

करो स्वदेशी ग्रहण नहीं तो तोड़ो नाता।
नीची गर्दन करो, तान कर चलो न छाता ॥[४]

मुहावरा था 'छाती तान कर चलना' कवि महोदय ने तुक के आग्रह से 'छाती' का 'छाता' कर डाला। ऐसी भाषा भाव का भी गला रेत डालती है।

अप्रस्तुत विधान—ऊपर कहा जा चुका है कि राय देवीप्रसाद पूर्ण का काव्य अधिकांशतः सामयिक विचारों से अनुप्रेरित होता रहा जिसके प्रतिपादनार्थ तथ्य-निरूपक शैली का उपयोग किया गया है। आश्चर्य नहीं कि इनमें काव्य के सौन्दर्य-विधायक-तत्वों का इसी कारण अभाव हो गया हो। हाँ, पूर्णजी ने अपने विचारों को प्रभावोत्पादक तथा उपदेशों को कान्ता-सम्मित बनाने के लिए कहीं-कहीं सादृश्य अथवा साधर्म्य-मूलक उपमानों का आश्रय लिया है। अप्रस्तुत-नियोजन का आधार मुख्यतः प्रकृति रहा। उपमाएँ सूक्ष्म एवं नवीन न होने पर भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं। निम्न अवतरणों में रूपक, उल्लेख, उदाहरण आदि के सहारे देश-दुर्दशा, अध्यात्म-तत्व, भारत-कल्याण की कामना आदि का निरूपण देखिए—

१—४. पूर्ण संग्रह—पृ० २१५, १५६, १४१, २१८

रूपक परम्परित

जेठ गए सुख-सरवर सूखे, रूखे तिजारत के हुए रुख,
गरीबी की लूकों से हिम्मतहार, हिम ने दुख से किया ललकार।[१]

रूपक (साँग)

बगुले देशभक्त सावन में जमी वृथा झख मारें,
लोग समझ पाखण्ड सफेदी पर न चित्त को वारें।
सदुपदेश के मोद, पपीहे पूरा आदर पावें,
सत्य-परिश्रम प्रेम-वृष्टि से प्रजा-भूप सुख पावें॥[२]

भो सन्-संत! वसन्त देश में ऐसा आवे,
सम्पत वन में सदा कोकिला सुख की गावे।
उद्यम द्रुम समुदाय मोदमय कुसुमित होवे,
दिव्य सफलता-सुमन देव-पद अर्पित होवे॥[३]

उल्लेख

मैं ही रंगीली साईं, मैं ही छबीली दारा,
होठों की लालिमा हूँ, केशों की कालिमा हूँ।
हूँ अंग अंग में ही शृंगार का सँवारा,
मुखचन्द्र की प्रभा हूँ लोचन-कमल की शोभा॥[४]

उदाहरण

पर्व पर चन्द्र-सूर्य को देख उमड़ता है ज्यों सिन्धु अपार,
राज-दम्पति-दर्शन से भक्त प्रजा का था अपार उत्साह॥[५]

इस प्रकार के अप्रस्तुत विधान में न कोई नवीनता है और न उससे भाषा में विशेष चमत्कार ही आया है। हाँ, विषय सुबोध एवं प्रभावोत्पादक अवश्य हो गया है। वस्तुतः यही कवि का अभीष्ट था। जहाँ पूर्णजी वक्ता अथवा उपदेशक न होकर कवि रूप में आये हैं वहाँ उनकी रचनाओं में उद्गारों की प्रबलता के कारण शब्द-लालित्य स्वतः आ गया है। उदाहरणार्थ, सन् १९११ के दिल्ली दरबार का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि किले की सड़क और चाँदनी चौक का समस्त मार्ग रंगीन पताकाओं, वन्दनवारों तथा राजा-रानी के चित्रों से सुसज्जित था। 'उत्प्रेक्षा' की सहायता से दिल्ली-भूमि का शब्द-चित्र देखिए—

भक्तिवश मानो दिल्ली-भूमि राज-दर्शन में जान विलम्ब,
हृदय के आश्वासन के हेतु लिया इन चित्रों का अवलम्ब।
तेल से सींची तैसे धूलि करै थी मानो यही बखान,
लोग सब देखें यह प्रत्यक्ष भूप से 'भू' का स्नेह महान॥[६]

अलंकार-प्रयोग की दृष्टि से 'नवीन संवत्सर का स्वागत (सं० १९६७)' शीर्षक रचना विशेष रूप में उल्लेखनीय है। विगत वर्ष (सं० १९६६) के शासन-प्रकोप, अन्नहानि, महामारी

१—६. पूर्ण संग्रह—पृ० २०१, २३०, २२५, १७१, २५०, २५६

पुच्छल तारा आदि का विशद वर्णन करते हुए कवि नवागत वर्ष का आह्वान करता है और प्रत्येक मास को सुख-समृद्धि का दाता कल्पित करता है—

भादों में अति दुःख-कंस के जीवन खण्डनकारी,
'परमानन्द' कृष्ण जग-जन के सकल अमंगलहारी।
संयम जमुना नीर मंजु सत्संग-कुंज मन भावै,
ज्ञान-प्रसंग मधुर-बंसी-धुनि सुन सुन श्रुति सुख पावै॥[1]

उक्त पद परम्परित रूपक का सुन्दर उदाहरण है। दुःखरूपी कंस के परमानन्द रूपी कृष्ण का जन्म भाद्रपद में ही कल्पित किया गया है। कवि ने रूपक का अन्त तक निर्वाह करने के लिए संयम पर यमुना तीर का, सत्संग पर कुंजों का तथा ज्ञान-प्रसंगों पर मधुर वंशी का आरोप किया है।

विक्रमी संवत् का प्रारम्भ वसन्तऋतु से होता है। चैत्र में प्रकृति-सौन्दर्य अपनी चरम सीमा पर रहता है। सरसों की पीतप्रभा, पुष्पों पर भ्रमरों का गुंजार, वनों में कोकिल गान, सुरभित वायु-मण्डल आदि प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के मनोहारी वर्णन द्वारा कवि ने अपने सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण का परिचय दिया है और 'अपह्नुति' द्वारा उनके प्रकृत-सौन्दर्य के कारण का निषेध कर, सबको नववर्ष का अभिनन्दन करते देखा है, जिससे भाव में भी चमत्कार आ गया है—

चलती नहीं सुगन्धि समीरन मृदु ऋतु के हरकाले,
चले चतुर्दिश मित्र तुम्हारे आगम की चर्चा ले।
फूली सरसों नहीं महीतल पीत पाँवड़े डाले,
नहीं रंगीले फूल पताके, नाना रंग सँभाले।
नहीं भ्रमर गुंजार, करें झनकार बीत के झाले,
पिक की नहीं पुकार, वचन हैं रोचक स्वागत वाले।
नहीं कमल-दल कलित ताल पे ललित भृंग मतवाले,
फूलदार पट पे 'अभिनन्दन' लेख सुनहले वाले॥[2]

वस्तुतः प्रकृति निरीक्षण करते समय पूर्णजी की भावमयी कल्पना अधिक मुखर हो उठती थी। कदाचित् इसीलिए 'वसन्त वियोग' तथा 'अमलतास' में आलंकारिक योजना भी अपेक्षाकृत सुन्दर है। 'वसन्त वियोग' में भारतवर्ष रूपी उद्यान, वसन्त के स्थायी निवास के कारण पृथ्वी-तल के अन्य सब उद्यानों से सर्वथा भिन्न एवं विशिष्ट है। उसकी इस अनुपम एवं अद्वितीय विलक्षणता का परिचय उसके अंग-प्रत्यंग से आभासित होता है जिसका चित्रण कवि ने उपमा, रूपक, प्रतीप, उदाहरण, दृष्टान्त तथा विरोधमूलक अलंकारों के आश्रित किया है, यथा—

१-२. पूर्ण संग्रह—पृ० २३१, १३९

वाक्योपमा

रवि प्रकाशित हिमवलित शिखरावली
दूर से इस भाँति लगती थी भली।
चारु चाँदी के कंगूरों पै चढ़ा जल स्वर्ण का,
श्वेत में किंवा हुआ आभास पीले वर्ण का ॥[1]

इस वाटिका के जड़ उपकरण ही नहीं अपितु प्राणवान जीव-जन्तु भी अत्यन्त उदार, सहृदय एवं दयालु हैं। उनमें भक्ष्य-भक्षक भाव नहीं है। गज-वृन्द वृक्षों का इसलिए उन्मूलन नहीं करते क्योंकि उनके निवासी पक्षियों के नीड़ों के नष्ट होने का भय है। भृंग-हिंसा की आशंका से हंस मुकुलित पंकज को नहीं खाता। क्योंकि भारत अपने आतिथ्य के लिए सदा से प्रसिद्ध चला आता है अतः प्रत्येक साधन अतिथि-सत्कार के लिए प्रस्तुत है। कवि ने वृक्ष-पल्लवों के नैसर्गिक हिलने में श्रान्त पथिक को सुखद-समीर देना उत्प्रेक्षित किया है—

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत शरीर में सुखद-समीर।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग,
व्यंजन क्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग।[2]

उपर्युक्त पद में 'र' 'तुर', 'त', 'न' आदि वर्णावृत्ति में अनुप्रास है। पल्लवों के हिलने में चातुर-आतुर हाथों द्वारा व्यंजन करने की सम्भावना में उत्प्रेक्षा है। ऋतु वर्णन में भी कवि ने विशिष्टता वर्णित की है। निम्न पद में हिम होने पर भी हेमन्त न होने और मेघ घिरे रहने पर भी बरसात न होने में (कारण के रहते कार्य न होना) विशेषोक्ति अलंकार की छटा द्रष्टव्य है—

वाह वा! अब क्या धरा द्युतिवन्त है,
हिम सही है पर नहीं हेमन्त है।
मेघ है पर कोई भी बाधा नहीं बरसात की।[3]

इसी कविता में प्रयुक्त अन्य अलंकारों के उदाहरण देखिए—

अर्थान्तरन्यास

एक तान से गायक के गुण का हो जाता है अनुमान,
एक कला से पूर्णचन्द्र का मन को हो सकता है भान।
पाक-स्वाद-सूचक होता है केवल ग्रास,
विन्दु-पान है क्षीर-सिंधु-रस का प्रतिभास ॥[4]

उल्लेख

पावस में प्यारी घनमाला।
इन्द्र शरासन सहित रसाला ॥
चपला चमक, मोर चातक ध्वनि, पवन झकोर नीर का झाला।
हरियाली सरितादि धनी में तू है प्यारापना निराला ॥[5]

१—५. पूर्ण संग्रह—पृ० २३१, १२७, १४२, १२६, १४८

दृष्टान्त

छोड़ यानों को सिधारे हंस मानस-ताल को,
जीव हों ज्यों ब्रह्मगामी, त्याग साधन-जाल को ।[१]

उदाहरण

जल-कल्लोल-निरत हैं देखो उज्ज्वल राजहंस-गण ऐसे,
परम हंस संसार-विरत हो मग्न प्रमोद-सिन्धु में जैसे ।।[२]

विरोधाभास

है प्रणाली ऐसि ही इस बाग की,
रीति है अनुराग की वैराग की ।
पुण्य का सम्बन्ध लाया है तुम्हें हल बाग में,
ले समस्त प्रबन्ध-बन्धन मस्त रहता त्याग में ।।[३]

प्रतीप-अनन्वय (संसृष्टि)

धूल से कर्पूर की भी श्वेतिमा,
पूर्ण चन्द्र प्रकाश में हो पीतिमा ।
छीर-सागर की छटा हो लोल, कर अवलोकना,
आप ही सम आप है बस अचल आभा शोभना ।।[४]

इसी कविता में आगे चलकर कवि कहता है कि उद्यान की यह समृद्धि प्रमादी मालियों के स्वार्थ के कारण लुप्त होने लगी । कालान्तर में उदार एवं प्रतापी मालियों का आगमन हुआ । उन्होंने शिव की आराधना की । घोर तपस्या के उपरान्त आकाश के बीच गिरा, कमला, गिरिजा तीनों देवियों के गुणों से समन्वित एक कष्टनाशिनी अष्टभुजा देवी मणि-सिंहासनारूढ़ आकाश में दर्शन देती है । प्रकृति की सब वस्तुएँ और व्यापार उस अलौकिक-आनन्ददायिनी-देवी का किस प्रकार स्वागत करते हैं, इसका 'हेतूत्प्रेक्षा' द्वारा प्रस्तुत भव्य वर्णन पठनीय है—

उठती थी जल में लहर चरण धोने को,
चलती थी उपवन-पवन व्यजन होने को ।
जलधर-दल सेवाशील-छत्र बनता था,
कर कर वितान का भाव गगन तनता था ।
तत्पर थी मानो प्रकृति पूज्य पूजा को,
कर लिया आरती-हेतु दिया सविता को ।।[५]

पूर्णजी की स्फीत वाग्धारा में एक उल्लेखनीय विशिष्टता और है । उसमें स्थल-स्थल पर आनुप्रासिक शब्दावली और यमक की मोहक छटा विद्यमान है जिससे भाषा में गति, गेयता एवं कमनीयता आ गई है, उदाहरणार्थ—

१—५. पूर्ण संग्रह—पृ० १४२, १४६, १३१, १४४, १६२

अनुप्रास

ललित लहर लेती थी तरलित उनके तीर,
लता वल्लिकावली मल्लिका मृदु वानीर ॥[1]

अन्त्यानुप्रास

अंगोज्ज्वलता, केश-कालिमा,
वचन-मधुरिमा, अधर-लालिमा।
हाव-भाव में प्रिय-स्वभाव में, छवि-प्रभाव में प्रियता तू है,
अलंकार, शृंगार, भामिनी के सजाव में प्रियता तू है ॥[2]

अनुप्रास

है उत्तर में कोट शैल-सम तुंग विशाल,
विमल सघन हिमवलित ललित धवलित सब काल ॥[3]

यमक

पुण्य छीन होते ही छिन में, छिन जाता है स्वर्ग विलास।[4]
(क्षण, छिनना)

हे नर दक्षिण ! इसके दक्षिण-पश्चिम-पूर्व,
है अपार जल से परिपूरित कोश अपूर्व ॥[5]
(चतुर, दिशा विशेष)

प्रसंगानुकूल श्रुति-मधुर शब्दों के सुप्रयोग से भाषा में कहीं संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली जैसी कमनीयता मिलती है और कहीं परुष वर्ण-योजना से ओज-गुण का विधान हो गया है, जैसे—

आहा सुखद प्रभात-प्रभंजन,
ताप-शमन तापस-मन-रंजन,
आहा मानस-ताल-सुभग का तीर अधीर हृदय-धृतिकारी,
आहा नीर-तरंग चपल ये चित्त-चपलता हरने-हारी ॥[6]

ऋतु-वर्णन में ग्रीष्म के प्रचण्ड एवं दाहक स्वरूप का ओजमयी भाषा में चित्रण देखिए—

नभ चंडकर उद्दंड, उद्दाम घोर प्रचंड,
भ्रम वात दाहक वात, निर्जल जले जलजात।
शुभ चन्द मंद मयूख, वन-मध्य रूखे-रूख,
ये ग्रीष्म भीष्म दिगन्त, पावस-समय पर्यन्त।[7]

रचनाओं में शब्दों की ऐसी स्वर-मैत्री, व्यंजनों का ऐसा समाहरण तथा पदों की ऐसी आवृत्ति कवि के भाषाधिकार का द्योतन करती है।

१—७. पूर्ण संग्रह—पृ० १२७, १४६; १३१, १३०, १३२, १४५, १५२

शब्द-शक्ति—यह निर्विवाद है कि राय देवीप्रसाद पूर्ण ने जन-साधारण तक पहुँचने के लिए खड़ीबोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भाषा की प्रसादता एवं प्रेषणीयता को यथाशक्ति बनाए रखा। अतएव रचनाओं में अधिकतर वाच्यार्थ का ही आधिपत्य मिलता है। कवि ने भावोद्बोधन के लिए मुहावरेदार भाषा का उपयोग अवश्य किया है जिसके कारण कहीं-कहीं मुख्यार्थ बाधित रहता है अथवा शब्द की लक्षणाशक्ति ही अर्थ प्रेषित करने में सहायक होती है, किन्तु कवि ने इनका प्रयोग काव्य के सौन्दर्य-विधायक अंग मानकर नहीं किया है। इसलिए यह कहना अत्युक्ति न होगी कि शब्दशक्ति की दृष्टि से आलोच्य काव्य में न उल्लेखनीय लाक्षणिक-वैचित्र्य मिलता है और न व्यंजना का चमत्कार। कतिपय उद्धरण हमारे कथन का समर्थन करेंगे, देखिए—

प्रयोजनवती, उपादानमूला, गौणी सारोपा, अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा

हो गया तू सूर्य मेरा अस्त हाय,
हो गया उत्साह मेरा ध्वस्त हाय।
मुझ पै टूटा हाय शोक-पहाड़ है,
हो गया एक आन में पतझाड़ है॥
पीट लूँ छाती व्यथा से शिर धुनूँ,
क्या कथा धीरज धराने की सुनूँ॥[1]

हृदय-स्थल में खाद-भक्ति जो नौधा,
श्रद्धा से सींचे धर्म-मर्म का पौधा।
संयम-खुरपी से मद के कुश खन डाले,
विस्मृति-पाला से रक्षा करके पाले॥[2]

प्रयोजनवती, जहत्स्वार्था शुद्धा लक्षणा

पेट देश का भरो पेट का काट कलेवा।
यथा भक्ति दो दान बने तब धन की सेवा॥[3]

लक्षण लक्षणा

जिस पक्षी को मृदुल शब्द-दानों से पाला,
रक्षा की, व्याकरण-रूप-पिंजड़े में डाला।
सुर्ख, जर्द की जगह लाल-पीला सिखलाया,
नवों रसों का सरस जिसे जल-पान कराया।
मुझपर ही ग्रीवा की मटक, अरी कपोती वाह वा।[4]

—'क्या हिन्दी मुर्दा भाषा है ?'

बन्धु तुम्हारे दुर्मति जी वे मृगवाहन पै चढ़के,
सार्थक नाम किया दुर्मति ने ली छलांग बढ़ बढ़ के।
बम की बमचख रही मची ही शासन-कोप बढ़ाया,
न्याय-धाम में भी हत्या का अत्याचार दिखाया॥[5]

१—५. पूर्ण संग्रह—पृ० ३१२, १०६, २०६, २६८, २२८

संक्षेप में, पूर्णजी के काव्य की खड़ीबोली, स्वरूप की दृष्टि से परिनिष्ठित है। देशी-विदेशी शब्दों के सम्मिश्रण से पद्य-भाषा समृद्ध तथा वाक्य-योजना व्याकरण-सम्मत एवं सुव्यवस्थित है। रचनाओं में उपदेश की अतिशयता एवं अर्थ की प्रधानता के कारण जिस वस्तु का अभाव रहा, वह है कला। शैली सीधी-सादी और स्वच्छ है। काव्य के वर्णन-प्रवाह में पाठक के मन में उत्साह-संचार करने की क्षमता तो निहित है किन्तु अभिव्यंजना के सौन्दर्य-विधायक-तत्वों की झाँकी नहीं मिलती। अतः काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से पूर्णजी की रचनाएँ विशेष महत्व नहीं रखतीं।

पं० रामचरित उपाध्याय (सं० १९२९)

पं० रामचरित उपाध्याय की द्विवेदी-युग से पहले की कविताओं को देखते हुए उनकी गणना ब्रजभाषा-प्रेमियों में की जा सकती है क्योंकि सन् १९०५ तक वे 'विजयी वसन्त', 'श्रावण-शृंगार', 'सुधा शतक', 'बरवा', 'चौपाई' आदि पुरानी चाल की कविताएँ लिखने में ही लीन रहे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्न से जब 'सरस्वती' में खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा और उनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से अनेक नये-पुराने लेखक खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में आये तब उपाध्यायजी ने भी 'सरस्वती' में (जुलाई, १९०६ ई०) 'पवनदूत' शीर्षक रचना भेजी। उसके बाद तो 'इन्दु', 'मर्यादा', 'प्रभा', 'श्री शारदा', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में इनकी कविताओं की बाढ़ सी आ गई। फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त सन् १९१४-१५ की 'सरस्वती' में उनके प्रसिद्ध काव्य 'रामचरित चिन्तामणि' के कुछ अंश भी प्रकाशित हुए। उनकी रचनाओं के संकलन स्वतंत्र ग्रंथ रूप में सूक्ति मुक्तावली (१९१५ ई०), 'देवदूत' (१९१८ ई०), 'भारत भक्ति' (१९१९ ई०), 'रामचरित चन्द्रिका' (१९१९ ई०) तथा 'रामचरित चिन्तामणि' (१९२० ई०) नाम से भी निकले। 'राष्ट्र भारती' (१९२२ ई०) में भी सन् १९२० से पूर्व की कुछ कविताएँ संगृहीत हैं!

विषय-वस्तु—उपाध्याय जी के विशालकाय काव्य में प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि ग्रंथों के नाम से ही स्पष्ट है अधिकांश फुटकर कविताओं का विषय देशोद्धार, समाज-सुधार अथवा आचार-नीति है। 'सूक्ति मुक्तावली' में मुख्यतः सूक्तियाँ या अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें नीति और उपदेश का प्राधान्य है। 'भारत भक्ति' तथा 'राष्ट्र भारती' राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। इनमें देश का अतीत गौरव, देशभक्ति और वर्तमान दुर्दशा का विशद वर्णन हुआ है। 'भव्य भारत', 'भारत का भविष्य', 'जन्मभूमि', 'जातीय गीत', 'आश्वासन' आदि रचनाओं में भारत के उज्ज्वल भविष्य का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'अतिथि अनादर' में विदेशी राज्याधिकारियों के नृशंसतापूर्ण शासन की झाँकी है। कतिपय पद्य-प्रबन्धों में एक ओर भारतीय समाज की शिराओं में व्याप्त अनाचार, दम्भ, पाखण्ड आदि दुर्गुणों का वर्णन है तो दूसरी ओर बाल-वृद्ध-विवाह, स्त्री-शिक्षा, जाति-वैमनस्य, कर्ज की प्रथा, पीड़ित कृषक की दयनीय दशा तथा अनेक धार्मिक रूढ़ियों का जीवन्त चित्रण है। देश और समाज को जागृत करने के लिए कवि ने 'अद्भुत आक्षेप', 'नीचता के मनोमोदक', 'हमीहम', 'धिग्जीवन', 'हमारा परिचय', 'माता का मूल्य',

'जागृति', 'हीरे का हृदय', 'माता का पुत्र को उपदेश', 'परोपकार' आदि अनेक कविताएँ लिखीं। इनमें कहीं तो सीधी-सादी भाषा में ही उपदेश पद्यबद्ध मिलते हैं और कहीं भारतीयों की प्रसुप्त चेतना को व्यंग्य के कशाघात से जगाने का प्रयत्न किया गया है। वीरता की भावना को उत्तेजित करने के लिए 'वीर वचनावली' जैसी रचनाएँ पठनीय हैं। 'शून्य हृदय' में कवि की कृषक-वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट होती है। 'चन्द्रिका', 'शरत् शोभा', 'अन्धकार' आदि में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है; किन्तु 'मेघागम', 'वनस्थली', 'सन्ध्या का समय' आदि में प्रकृति का नीतिपरक रूप दृष्टिगत होता है। 'कवि और काव्य', 'नागरी की नालिश', 'ब्रजभाषा की विदाई', 'सभ्य समालोचक', 'निर्जीव और सजीव कविता', आदि कविताएँ साहित्य से सम्बन्धित हैं।

आख्यानक रचनाओं में 'देवदूत' आदर्शमूलक लघुकाव्य है। इसका विषय देश-प्रेम है। स्वर्ग लोक में बैठे हुए एक भारतीय के मुख से देश के गौरवपूर्ण अतीत, विक्षोभपूर्ण वर्तमान तथा आशापूर्ण अनागत की कथा कहलाई है। 'पवन दूत', एक प्रेमी का पवन के द्वारा प्रेमिका को सन्देश है। इस रचना पर 'मेघदूत' का स्पष्ट प्रभाव है। 'रामचरित चन्द्रिका' में रामायण के पच्चीस प्रधान पात्रों के चरित्रों की मनोवैज्ञानिक विवेचना का प्रयत्न किया गया है। कवि को इसकी प्रेरणा बंगला से अनूदित 'रामायण की कथा' और 'रामायण रहस्य' नामक गद्य-पुस्तकों से मिली थी।[1] रामचरित चिन्तामणि नामक प्रवन्ध काव्य पर तुलसी कृत रामचरितमानस की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण का अधिक प्रभाव है। किन्तु केशव कृत 'रामचन्द्रिका' की भाँति इसमें भी कई उल्लेख्य मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की गई है ; उदाहरणार्थ कथा में लाघव लाने के लिए चित्रकूट प्रसंग जैसे मार्मिक स्थल को छोड़ दिया गया है और सुग्रीव और राम-मिलन की कथा को संक्षिप्त कर दिया है। अभिव्यक्ति के कहीं-कहीं अमर्यादित हो जाने से सामान्यतया पात्रों का चरित्र उदात्त नहीं रह पाया जैसे कैकेयी-दशरथ-कथन-प्रसंग में कैकेयी का 'शठ', 'निलज', 'मत बको', लबार' आदि कहना रानी की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। चित्रकूट पर राम-भरत मिलन में एक ओर तो राम 'भरत में लोभ हो ही नहीं सकता' उक्ति द्वारा अनुज में असीम श्रद्धा व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर भरत के 'पदगर्वित', 'प्रजापीड़न रत', 'मदव्यसनी', 'कामिनी-प्रेमी' आदि होने की सम्भावना दिखाकर भरत के चरित्र में मर्यादा-स्खलन दिखाते हैं। काव्य में कतिपय नवीन प्रसंगों की उद्भावना भी की गई है, जैसे रावण को मारीच का उपदेश देना, हनुमान का अशोक वाटिका में राम की अँगूठी देने से पूर्व सीता की हृदय-परीक्षा करना आदि। वन-गमन के समय राम-सीता-संवाद, बाली-वध के समय बाली-राम-संवाद, लक्ष्मण-मूर्च्छना पर राम-मिलाप, सीता-निर्वासन के समय लक्ष्मण-सीता-संवाद आदि स्थल भावपूर्ण एवं मार्मिक बन पड़े हैं। प्रकृति-वर्णन के स्थलों में गोदावरी-तट, ग्रीष्मऋतु तथा वर्षाऋतु वर्णन सुन्दर हैं। उपाध्यायजी के अन्तर में देशभक्ति की भावना इतनी प्रबल है कि उसके दर्शन रामकाव्य में भी हो जाते हैं। देश की वर्तमान-कालिक पराधीनता, समाजोन्नति की भावना तथा काल्पनिक अनागत के भव्य रूप का प्रसंग

१. रामचरित चन्द्रिका—द्र० भूमिका

न होने पर भी उसका स्थल-स्थल पर वर्णन किया गया है।

उपाध्यायजी के खड़ीबोली-काव्य की एक उल्लेखनीय विशेषता और है। कवि ने कुछ रचनाओं द्वारा खड़ीबोली-कविता की आदि परम्परा का भी निर्वाह किया है; उदाहरणार्थ अमीर खुसरो की कहमुकरियों की चाल पर 'पहेली' और रहीम के पदों के अनुकरण पर 'पूर्व स्मृति' की रचना की गई है। यहाँ तक कि उसने भारतेन्दु युगीन 'जातीय गीत' और लावनी-परम्परा की भी उपेक्षा नहीं की है। इस प्रकार विषय की उपयोगिता, विविधता एवं परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से पं० रामचरित उपाध्याय की रचनाओं का द्विवेदी-युगीन खड़ीबोली-काव्य में विशेष महत्व है।

अभिव्यंजना-पक्ष

भाषा (शब्द-चयन, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—उपाध्याय जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, इसलिए उनकी काव्य-भाषा पर उनके संस्कृत-ज्ञान का प्रभाव कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। कदाचित् तत्सम शब्दावली के विशेष आग्रह तथा प्रान्तीय भाषा-शब्दों के अत्यल्प मिश्रण के कारण ही उनके भाषा-प्रांजल्य की प्रशंसा की जाती है। इन तत्सम रूपों के कारण उनका खड़ीबोली-शब्द-भंडार समृद्ध तो दृग्गित होता है किन्तु कतिपय अव्यवहार्य प्रयोगों के कारण कहीं-कहीं उसमें दुर्बोधता आ गई है। सौख्य, शौच्य, स्वीय, वेत्रा, प्राक्तन, कूर्दन, और्व, आस्य, अनिश, निर्वेल, क्षाम, वृजिन, निर्भिन्न, निशित, सन्था जैसे शब्दों ने भाषा को कैसे कृत्रिम बना दिया है, देखिए—

ब्रह्मचर्य का हो विनिद्र पालन करते थे।[१]
हमें सुधा सी यह दाख है प्रिया,
वही द्विकों की सहती तिरस्क्रिया।[२]
धिक्कृति है मम देह को यदि जीवन-धारण।[३]

जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, क्लिष्ट सन्धियाँ एवं समस्त पदावली खड़ीबोली के प्रकृत एवं शुद्ध स्वरूप के लिए घातक होती है। किन्तु कवि ने क्लिष्ट सन्धिज पदों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करके भाषा को बहुत दुरूह एवं भाराक्रान्त कर दिया है, जैसे—

दशरथ! क्यों गिर गये आप बालाऽविवेक में।[४]
राम! चरित ज्यों विमल आपका अत्युन्नत था।
उसी भाँति वह गुणगरिमा से अत्यवनत था॥[५]
रामाऽऽगमन भरत से तुमने कहा दौड़ कर आगे।[६]
सागरान्त तक फैल गया था राज तुम्हारा।[७]
धर्माऽधर्म विचार तुम्हें क्या ज्ञान नहीं था।[८]

---

१. रामचरित चन्द्रिका—पृ० २८
२-३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ३१, ३४
४—८. रामचरित चन्द्रिका—पृ० २, २२, ६४, ६७, ६७,

'जागृति', 'हीरे का हृदय', 'माता का पुत्र को उपदेश', 'परोपकार' आदि अनेक कविताएँ लिखीं। इनमें कहीं तो सीधी-सादी भाषा में ही उपदेश पद्यबद्ध मिलते हैं और कहीं भारतीयों की प्रसुप्त चेतना को व्यंग्य के कशाघात से जगाने का प्रयत्न किया गया है। वीरता की भावना को उत्तेजित करने के लिए 'वीर वचनावली' जैसी रचनाएँ पठनीय हैं। 'शून्य हृदय' में कवि की कृषक-वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट होती है। 'चन्द्रिका', 'शरत् शोभा', 'अन्धकार' आदि में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है; किन्तु 'मेघागम', 'वनस्थली', 'सन्ध्या का समय' आदि में प्रकृति का नीतिपरक रूप दृष्टिगत होता है। 'कवि और काव्य', 'नागरी की नालिश', 'व्रजभाषा की विदाई', 'सभ्य समालोचक', 'निर्जीव और सजीव कविता', आदि कविताएँ साहित्य से सम्बन्धित हैं।

आख्यानक रचनाओं में 'देवदूत' आदर्शमूलक लघुकाव्य है। इसका विषय देश-प्रेम है। स्वर्ग लोक में बैठे हुए एक भारतीय के मुख से देश के गौरवपूर्ण अतीत, विक्षोभपूर्ण वर्तमान तथा आशापूर्ण अनागत की कथा कहलाई है। 'पवन दूत', एक प्रेमी का पवन के द्वारा प्रेमिका को सन्देश है। इस रचना पर 'मेघदूत' का स्पष्ट प्रभाव है। 'रामचरित चन्द्रिका' में रामायण के पच्चीस प्रधान पात्रों के चरित्रों की मनोवैज्ञानिक विवेचना का प्रयत्न किया गया है। कवि को इसकी प्रेरणा बंगला से अनूदित 'रामायण की कथा' और 'रामायण रहस्य' नामक गद्य-पुस्तकों से मिली थी।[1] रामचरित चिन्तामणि नामक प्रवन्ध काव्य पर तुलसी कृत रामचरितमानस की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण का अधिक प्रभाव है। किन्तु केशव कृत 'रामचन्द्रिका' की भाँति इसमें भी कई उल्लेख्य मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की गई है; उदाहरणार्थ कथा में लाघव लाने के लिए चित्रकूट प्रसंग जैसे मार्मिक स्थल को छोड़ दिया गया है और सुग्रीव और राम-मिलन की कथा को संक्षिप्त कर दिया है। अभिव्यक्ति के कहीं-कहीं अमर्यादित हो जाने से सामान्यतया पात्रों का चरित्र उदात्त नहीं रह पाया जैसे कैकेयी-दशरथ-कथन-प्रसंग में कैकेयी का 'शठ', 'निलज', 'मत बको', लबार' आदि कहना रानी की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। चित्रकूट पर राम-भरत मिलन में एक ओर तो राम 'भरत में लोभ हो ही नहीं सकता' उक्ति द्वारा अनुज में असीम श्रद्धा व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर भरत के 'पदगर्वित', 'प्रजापीड़न रत', 'मदव्यसनी', 'कामिनी-प्रेमी' आदि होने की सम्भावना दिखाकर भरत के चरित्र में मर्यादा-स्खलन दिखाते हैं। काव्य में कतिपय नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना भी की गई है, जैसे रावण को मारीच का उपदेश देना, हनुमान का अशोक वाटिका में राम की अँगूठी देने से पूर्व सीता की हृदय-परीक्षा करना आदि। वन-गमन के समय राम-सीता-संवाद, बाली-वध के समय बाली-राम-संवाद, लक्ष्मण-मूर्च्छना पर राम-मिलाप, सीता-निर्वासन के समय लक्ष्मण-सीता-संवाद आदि स्थल भावपूर्ण एवं मार्मिक बन पड़े हैं। प्रकृति-वर्णन के स्थलों में गोदावरी-तट, ग्रीष्मऋतु तथा वर्षाऋतु वर्णन सुन्दर हैं। उपाध्यायजी के अन्तर में देशभक्ति की भावना इतनी प्रबल है कि उसके दर्शन रामकाव्य में भी हो जाते हैं। देश की वर्तमान-कालिक पराधीनता, समाजोन्नति की भावना तथा काल्पनिक अनागत के भव्य रूप का प्रसंग

१. रामचरित चन्द्रिका—द्र० भूमिका

न होने पर भी उसका स्थल-स्थल पर वर्णन किया गया है।

उपाध्यायजी के खड़ीबोली-काव्य की एक उल्लेखनीय विशेषता और है। कवि ने कुछ रचनाओं द्वारा खड़ीबोली-कविता की आदि परम्परा का भी निर्वाह किया है; उदाहरणार्थ अमीर खुसरो की कहमुकरियों की चाल पर 'पहेली' और रहीम के पदों के अनुकरण पर 'पूर्व स्मृति' की रचना की गई है। यहाँ तक कि उसने भारतेन्दु युगीन 'जातीय गीत' और लावनी-परम्परा की भी उपेक्षा नहीं की है। इस प्रकार विषय की उपयोगिता, विविधता एवं परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से पं० रामचरित उपाध्याय की रचनाओं का द्विवेदी-युगीन खड़ीबोली-काव्य में विशेष महत्व है।

अभिव्यंजना-पक्ष

भाषा (शब्द-चयन, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—उपाध्याय जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, इसलिए उनकी काव्य-भाषा पर उनके संस्कृत-ज्ञान का प्रभाव कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। कदाचित् तत्सम शब्दावली के विशेष आग्रह तथा प्रान्तीय भाषा-शब्दों के अत्यल्प मिश्रण के कारण ही उनके भाषा-प्रांजल्य की प्रशंसा की जाती है। इन तत्सम रूपों के कारण उनका खड़ीबोली-शब्द-भंडार समृद्ध तो दृष्टिगत होता है किन्तु कतिपय अव्यवहार्य प्रयोगों के कारण कहीं-कहीं उसमें दुर्बोधता आ गई है। सौख्य, शौच्य, स्वीय, वेत्रा, प्राक्तन, कूर्दन, और्व, आस्य, अनिश, निर्वेल, क्षाम, वृजिन, निर्भिन्न, निशित, सन्था जैसे शब्दों ने भाषा को कैसे कृत्रिम बना दिया है, देखिए—

ब्रह्मचर्य का हो विनिद्र पालन करते थे।[1]
हमें सुधा सी यह दाख है प्रिया,
वही द्विकों की सहती तिरस्क्रिया।[2]
धिक्कृति है मम देह को यदि जीवन-धारण।[3]

जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, क्लिष्ट सन्धियाँ एवं समस्त पदावली खड़ीबोली के प्रकृत एवं शुद्ध स्वरूप के लिए घातक होती है। किन्तु कवि ने क्लिष्ट सन्धिज पदों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करके भाषा को बहुत दुरूह एवं भाराक्रान्त कर दिया है, जैसे—

दशरथ ! क्यों गिर गये आप बालाऽविवेक में।[4]
राम ! चरित ज्यों विमल आपका अत्युन्नत था।
उसी भाँति वह गुणगरिमा से अत्यवनत था॥[5]
रामाऽऽगमन भरत से तुमने कहा दौड़ कर आगे।[6]
सागरान्त तक फैल गया था राज तुम्हारा।[7]
धर्माऽधर्म विचार तुम्हें क्या ज्ञान नहीं था।[8]

---

१. रामचरित चन्द्रिका—पृ० २८
२-३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ३१, ३४
४—८. रामचरित चन्द्रिका—पृ० २, २२, ६४, ६७, ६७,

निजालस की नहीं थी लाज तुझको।[१]

इसका सुठि स्वर्ण समाऽऽनन है।[२]

धर्म्म रक्षा थी हुई जिसके महद्व्यापार से।[३]

इनके अतिरिक्त अभिषेकोत्सव, कपटारम्भ, पतितोद्धारक, भवत्कृपा, देशोपकृति, अर्थार्थियो, अनंगासक्त, तमोऽवसान, झंझानिल, परीक्षोत्तीर्ण, सुमित्राऽऽनन्द, प्रणयातिरेक, लज्जावन्त, निजाग्रज, शुभाशा, सीमोल्लंघन, यशस्तिलक, शिरच्छेद, पुरुषोधम, वीराम्बा आदि अनेक सन्धिज शब्द इनकी रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं। काव्य-भाषा के ऐसे आकार में जहाँ सरवस, लबार, तई, लाग (प्रेम), भीजिये, गारत, पैठि, नहिं, झरी (झड़ी), निधरक, धूर, पौन आदि प्रान्तीय शब्द अथवा मंजूर, अजगैबी, बेहाल जैसे उर्दू-शब्द या कडुई, इकला, महातम, अधकचड़ा, झँखना, निवसना जैसे बोलचाल के शब्दों का नियोजन किया गया है, वहाँ खड़ीबोली पाठक के समक्ष कुछ विचित्र बाने में आती है, उदाहरणार्थ—

हाँ जब तुमने अपने गृह में नृप को इकला पाया।[४]

लल्लो चप्पो की बातें भी तुम्हें नहीं आती थीं।[५]

सावधान हो रहौ, खलों का कौन ठेकाना।[६]

विरहाग्नि से ताई हुई जनि दूसरी पाई हुई।[७]

कुछ विषाद नहीं करना सती, निवसती बहु तापसियाँ यहाँ।[८]

झँखने लगे दोनों मनीमन, मौन हो निज भूल पर।[९]

कवि ने कविता में अन्त्यानुप्रास का निर्वाह करने के लिए शब्दों की मात्राओं को दीर्घ अथवा लघु तो कर ही दिया साथ ही अप्रयुक्त एवं शिथिल शब्दों का भी प्रयोग कर डाला है। इस प्रकार के कुछ प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

यदपि मिलती यहाँ मुझको सुधा है।
तदपि तव वारि आगे वह मुधा है॥[१०]

यम के भी भय जनक आपको वरसायक थे।
सदा राम के आप बने तो भी पायक थे॥[११]

भरी सभा में शंभु चाप उनसे तोड़वाया।
सीता का सम्बन्ध विमल उनसे जोड़वाया॥[१२]

---

१. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ७३
२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ३०
३. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ५०
४-५. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ८, ११
६—९. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २४, ३२०, ३५२, ३२९
१०. देवदूत—पृ० ६९
११-१२. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ३८, ४५

लक्ष्मण ने रघुनायक को ज्यों बन में दिया सहारा।
भरत-साथ में रह कर तुमने क्यों घरबार सम्हारा ॥[१]

रिपु-सूदन के हाथ पिटी जो कुब्जा दासी।
उसे आपने कहा वचन तक नहीं उदासी ॥[२]
कौशल्ये ! तुम अवध-भूप की यदपि रहीं पटरानी।
तो भी सदा तुम्हारे मन में चिन्ता रही समानी ॥[३]

'सूक्ति मुक्तावली' में केवल सन् १९१५ तक की फुटकर रचनाएँ संगृहीत हैं। कवि का प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण उनमें कुछ अशुद्ध प्रयोग भी मिल जाते हैं, यथा:—

जैसे वेश्या आज कहीं है, कल्ह विश्राम कहीं करती है।[४]

कवि ने भाषा में कसावट लाने के प्रयत्न में अथवा वृत्त-निर्वाह के लिए अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग भी किया है, देखिए:—

जिस श्याम सुन्दर राम को लख ईश होते मोद में,
वह है मचल कर रो रहा, विश्वेश दशरथ-गोद में ॥[५]
विजन कानन में किस भाँति हा ! निलज होकर जीवित मैं रहूँ।
यदि चहे मुझसे जग जानना, निज निवासन कारण क्या हूँ ॥[६]
किन्तु आपके कोप रोक सकते थे कैसे।
रवि को कन्दुक-तुल्य लोक सकते थे कैसे ॥[७]

उपर्युक्त अवतरण देखिए। शास्त्रीय दृष्टि से 'श्यामसुन्दर' साभिप्राय है जो अभिधेयार्थ को छोड़कर अब केवल रूढ़ अर्थ में 'कृष्ण' व्यंजित करता है। अतएव पाठक श्याम वर्ण वाले सुन्दर राम का अर्थ सहसा ग्रहण नहीं कर पाता। दूसरे पद में सीता लक्ष्मण से पूछती है कि यदि संसार जानना चाहे कि राम ने मेरा त्याग क्यों किया तो मैं क्या कारण बताऊँ। वहाँ निर्वासन के स्थान पर 'निवासन' शब्द अभिप्रेत अर्थ से कुछ दूर जा पड़ता है। इसी प्रकार अन्तिम पद 'लोक' अवलोक के स्थान पर संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त हुआ है जो विकृति के कारण अर्थवाहक नहीं रहा।

अशोक वाटिका में सीता से मिलने के उपरान्त हनुमान लौटकर मिलन-कथा सुना रहे हैं:—

बोला पवन-सुत जानकी को साथ में आने कहा,
मेरे विषय में सुन उसे होने लगी शंका महा।
वह युक्ति से बोली—"न चलने में मुझे सन्देह है
पर स्वप्न में भी पर पुरुष की मैं न छूती देह है ॥"

१—३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ४०, ३८, ६
४. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ८
५-६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १०, ३५३
७. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ४४

बरबस मुझे दशकण्ठ ने जो छू दिया तो क्या करूँ,
परवश पड़ी हूँ, आज तक, सरबस गया, कैसे मरूँ ॥[१]

सीता के युक्तिपूर्वक बोलने में अर्थ का अनर्थ हो गया है। वह कहना तो यह चाहती है कि आपके साथ चलने में मुझे कोई आपत्ति नहीं पर कह बैठती है 'मुझे न चलने में सन्देह' है।

रिपुसूदन के हाथ पिटी जो कुब्जा दासी।
उसे आपने कहा वचन तक नहीं उदासी ॥[२]

शत्रुघ्न के लिए तो 'रिपुसूदन' फिर भी समझ में आता है किन्तु कृष्ण की कुब्जा सुन्दरी को 'मन्थरा' दासी से सम्बद्ध करना बुद्धि की कसरत ही है।

व्याकरण के नियमों का पालन किये विना भाषा में कसावट नहीं आती। वाक्य की शुद्धता सर्वनाम, विभक्ति, लिंग, वचन और क्रिया के आश्रित रहती है। इस दृष्टि से पं० रामचरित उपाध्याय की काव्य-भाषा में पर्याप्त अराजकता दिखलाई पड़ती है। एक ही वाक्य में एक ही व्यक्ति को कभी तुम और कभी आप कह देना उनके लिए साधारण बात है। बहुवचनान्त संज्ञा के साथ एकवचनमूलक क्रिया, अकर्मक क्रिया भूतकालिक संज्ञा के साथ 'ने' का प्रयोग, समास के लिए आवश्यक कारक-चिह्नों को उड़ा देना, अथवा कारक-चिह्नों का मनमाना प्रयोग आदि दोषों के कारण इनकी काव्यभाषा रचनाकाल से बीस वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। कुछ उदाहरण हमारे कथन का समर्थन करेंगे—

सर्वनाम

इसलिये वरदान आपने माँगे वैसे।
और तुम्हें क्या राम कभी अप्रिय थे ऐसे ॥[३]

कौन की थी वह अरे इसका न क्या तुमको पता ?[४]

वचन-दोष

अन्यायी को दण्ड नहीं, यदि ईश्वर देता।
तो फिर डरता कौन, पाप को सब कर लेता ॥[५]

दशकन्धर के वाक्य सुना असुरों ने ज्योंही,
शस्त्र सुसज्जित हुए चले प्रमदावन त्योंही ॥[६]

गुरु वशिष्ट ने कहा सबों से रोकर क्या फल पावोगे ॥

---

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २४८
२-३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ३८, १३
४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ७६
५. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ३
६-७. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २१२, १०३

क्रिया-दोष

वृद्ध भूप मर गये हानि कुछ हुई न भारी ।
हानि रही यदि राम नहीं बनते बनचारी ॥[१] (रही=रहती)

मनो आपको किसी वस्तु की चाह नहीं थी ।
राज्य छुटे की, अतः हुई परवाह नहीं थी ॥[२] ('हुई' निरर्थक है)

विना भरत के आप न रहते रहे कहीं पल भर भी ।[३] ('रहते' व्यर्थ है)

सुख करते थे सभी, एक भी दुख नहीं रोता था ।[४] (सुख से रहते थे)

लखकर इनके ढंग इन्हें सम्माने कैसे ।[५] (सम्मान करें)

अब कुछ करिये काम हमारा, जिससे रहे तुम्हारा नाम ॥[६] (करो)

वह युक्ति से बोली—"न चलने में मुझे सन्देह है ।
पर स्वप्न में भी पर पुरुष को मैं न छूती देह है ॥"[७]

कारक-चिह्न-दोष

रावण तुम्हें बलात उठा, रथ पर बैठाया ।
इससे क्यों अपवित्र आपकी होगी काया ॥[८] ('रावण ने')

न कैकयी को तुमने बुरा कहा,
न अश्रु प्रत्यक्ष दृगों कभी बहा ॥[९] ('दृगों से')

सीता-पता लगा लोगे तुम कैसे लंका में जाकर ।[१०] ('सीता का')

सुख करते थे सभी, एक भी दुख नहीं रोता था ।[११] ('दुख से')

वरदान दो नृप ने मुझे देने कहा था, दे दिया । (देने के लिये)
चिरकाल से मैंने उन्हें लेने कहा था, ले लिया ॥[१२] (लेने के लिये)

कभी भरत को मार राज लेने न कहूँगा ॥[१३] (लेने के लिये)

बोला पवन-सुत 'जानकी को साथ में आने कहा ।'[१४] (आने के लिये)

१—३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० १३, २०, ४०
४-५. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६४, ११४
६. देवदूत—पृ० ३२
७. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २४८
८—११. रामचरित चन्द्रिका—पृ० २०, २६, ३४, ६४
१२—१४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ७१, ११६, २४८

एक दिवस सहदेव निकट में जाकर मैंने प्रश्न किया ।[१]

(सहदेव के निकट, 'में' व्यर्थ है)

पुनरुक्ति दोष

देवि ! मान का नाम न ? तुमने न कभी लिया था ।

वश करने के लिये न पति को यत्न किया था ।।[२]

सपने में भी तुम्हें भीति भी थी न किसी की ।।[३]

लिंग दोष

तृणों से ढका कूप जैसे खड़ा हो ।
छिपा भस्म में अग्नि जैसे पड़ा हो ।।[४]

व्याकरण में 'ही' क्रिया-विशेषण है, जो किसी शब्द के साथ, अवधारण के लिए जोड़ दिया जाता है । इसे 'अनुबद्ध क्रिया-विशेषण' भी कहते हैं। कुछ सर्वनामों में यह प्रत्यय के समान जोड़ दिया जाता है जैसे यही, सभी, तभी, यहीं, वहीं, कभी आदि । किन्तु संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि में इसका अस्तित्व सर्वथा पृथक् रहता है । उपाध्यायजी ने ऐसे स्थलों पर भी इसे संयुक्त कर दिया है, देखिए—

चन्द्र सूर्य यमदेव ईश भी सुनी रहे हैं ।[५]

एकी क्षुधित मृगेन्द्र मृगों का वध करता है ।

एकी काल कराल सकल संसृति हरता है ।।[६]

कुछी दिनों में उसके तन में, रक्त मास कुछ रहा नहीं ।[७]

पछताते भी रहे मनीमन में सिर धुनकर ।[८]

उपाध्यायजी की काव्यभाषा के वाक्यों की योग्यता, एवं आसत्ति पर इन व्याकरण-दोषों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । वाक्यों में प्रायः अधिकपदत्व, पुनरुक्ति, न्यूनपदत्व, दूरान्वय, संकीर्णत्व अथवा सन्धि-कष्टत्व दोष आ गये हैं ।

---

१. देवदूत—पृ० ४३
२-३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ११, ११
४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ११६
५-६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६४, २६६
७. देवदूत—पृ० ३
८. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ५२

दूरपदान्वय-दोष

स्व कर से करना वध राम ने तव किया सिर है मम सामने
इसलिये बच तू मुझ से गया विनय से न रहा तुझ से गया ॥[1]
(स्वकर से तव वध करना राम ने स्थिर किया है मम सामने)
बन जाने के समय राम के जैसे नृप घबराये ।[2]
(राम के वन जाने के समय)

न्यूनपदत्व-दोष

जीवन ठेकाना भूप के, पल भर नहीं है सोच लो ।[3]
(जीवन का ठेकाना भूप के)

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उपाध्यायजी के काव्य में इस प्रकार की संक्षिप्तता से सौन्दर्य का विधान नहीं हुआ है। प्रवाहमयी भाषा में क्रिया-पदों का लोप कभी-कभी अत्यावश्यक हो जाता है। इसके सुप्रयोग से भाषा में कसावट के साथ सजावट भी आती है, जैसे अनेक उद्देश्यों को एक विधेय से जोड़ना। इस प्रकार की वाक्य-रचना को अलंकार-शास्त्र में 'देहली-दीपक' नाम से भी अभिहित किया जाता है, जैसे—

स्वपति को, पुरु को, निज तात को,
तनय को, अपने प्रिय गात को,
समय पा न हने, कब कामिनी,
गिर पड़ें सहसा जिमी दामिनी ॥[4]
कहीं मृगाजिन कहीं कुशासन,
बिछे हुए हैं, सुन्दर भू पर।
कहीं गुफायें, कहीं लतायें,
कहीं महा निर्मल जल के झर ॥[5]

किन्तु इन प्रयोगों के अत्यधिक आग्रह से कभी-कभी भाव अस्पष्ट भी हो गये हैं। उदाहरणार्थ—

मिला आपको नहीं, राम ने की जाने क्यों ?
या पितरों की भूल, भूल कर सुत माने क्यों ?[6]

उल्लिखित पंक्तियों में कवि का तात्पर्य एकदम अस्पष्ट है। वास्तव में 'रामचरित चिन्तामणि' तथा 'रामचरित चन्द्रिका' में व्याकरण की दृष्टि से घोर अराजकता है। इनकी वाक्य-रचना इतनी दूषित एवं पदावली इतनी गद्यात्मक है कि भाषा का स्वरूप बिलकुल अनिश्चित हो गया है। खड़ीबोली कहीं तत्सम-प्रधान है, तो कहीं बोलचाल की। और भाषा

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २३६
२. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ८
३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ८६
४-५. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६६, १०१
६. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ५

के ऐसे अनिश्चित स्वरूप में जहाँ गद्यात्मकता अधिक आ गई है, वहाँ रचनाएँ और भी भदेस एवं अनगढ़ दृष्टिगत होती हैं; उदाहरणार्थ निम्न उद्धरण देखिए :—

गद्यात्मकता

क्यों चुप है ? तू नहीं बोलती बाले ! बाल-यती से ।
कभी भूल कर बात नहीं मैं करता हूँ असती से ।
बतला दे निज धाम-नाम सदा लाज न तू कर मुझ से,
दुःसह मेरा शापानल है, सच कहता हूँ तुझसे ।।[1]

मेरे हित के लिये आपने जो कुछ कहा सही है,
साधो ! पर उपदेश आपका, मुझे पसन्द नहीं है ।
अन्य पुरुष के साथ सती का अति अनुचित है रहना,
कृपा कीजिये ! बैठ जाइये, करिये मेरा कहना ।।[2]

बोलचाल का प्रभाव

समय को अपने अवलोकिये, नृप ! बड़े मन को अब रोकिये ।
मनुज राघव को मत जानिये, विभु अनादि उन्हें अनुमानिये ।।[3]

और कहीं 'प्रिय प्रवास' की तत्सम शैली का प्रभाव स्पष्ट है, देखिए—

आशीर्युक्ता मम बस यही आप से प्रार्थना है,
जो दीनों के हित निरत हैं लोक में धन्य वे हैं ।
अधिग्रस्ता यदपि अबला दुःखिता क्षीण-पुण्या,
मैं हूँ विद्या-विभव-विकला, अस्मि-प्राणावशिष्टा ।।[4]

हाँ, फुटकर रचनाओं की भाषा अपेक्षाकृत प्रवाहमयी और प्रांजल है और भाषा का स्वरूप भी परिनिष्ठित, यथा :—

निज चित मन्दिर में निरुद्यमता नहीं लाना कभी,
मायावियों की बात में मत भूल कर आना कभी ।
जावे भले ही प्राण पर पीछे चरण धरना नहीं,
वरवीर भारत ! स्वप्न में भी विघ्न से डरना नहीं ।।[5]

—'आश्वासन'

हीरक तेरा नाम वज्र है, तू कैसे पिस जावेगा ?
तुझे पीसने वाला जग में स्वयं कभी पिस जावेगा ।
मर्यादा रत कभी नीर-निधि नीर-हीन क्या होता है ।
विविध यत्न करिये पर दिनकर तमोलीन होता है ?[6]

—'हीरे का हृदय'

१-२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६६, १५१
३-४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १५२, २३६
५. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, खण्ड २, सं० ५
६. मर्यादा, सन् १९१६, सं० ५, पृ० २४५

मम वियोग से मूर्छित जो वह होगी पड़ी विकल अबला,
तेरा स्पर्श अमित सुखदायक उसे लगेगा बहुत भला,
नेत्र सफल तेरे भी होंगे इसमें शंका नहीं समीर,
बिखरे केश वदन पर देखे, कंचन सा अधखुला शरीर ॥
लिखती हो जो मुझे पत्र तो वहीं पास में जाना बैठ
देख-देख कर सुख पावेगा वदन-भाव भौंहों की ऐंठ।
सात्विक भाव उसे जब होगा, वदन स्वेद से छावेगा,
उसे पोंछने को तब मेरा चंचल चित्त चल जावेगा॥[1]

—'पवन दूत'

उपर्युक्त अवतरणों से ही देखा जा सकता है कि फुटकर काव्य की भाषा में एक प्रकार की स्वाभाविकता है। उसके प्रकृत प्रवाह में न तत्सम शब्दों का विशेष आग्रह है और न अलंकारों का चमत्कार दिखाने की आकांक्षा। सामान्य अर्द्ध शिक्षित वर्ग के लिए प्रणीत यह प्रकीर्णक काव्य मात्र लोकोक्ति और मुहावरे से अलंकृत होकर स्पष्ट भावाभिव्यंजन करता चलता है। दाल में काला, रंग चढ़ाना, हाथ लगना, आड़े हाथों लेना, बाल बाँका न होना, सिर धुनना, नाम कमाना, रंग में रंगना, फूले न समाना, निहाल होना, मुँह फीका पड़ना, काठ मार जाना, काया पलट होना, डंका बजाना, छाती फटना, जड़ काटना, आँखें धोना आदि अनेकानेक मुहावरे इन कविताओं से उद्धृत किये जा सकते हैं:—

कलेजा छेदते हैं हम किसी का,
गला भी रेतते हैं हम किसी का।[2]

—'पापी पेट'

तुझ से कभी न होगा उर्दू को धंर दबाना।[3]

—'ब्रजभाषा की बिदाई'

होगी काया-पलट तुम्हारी विद्युत गति से।[4]

—'भारत का भविष्य'

देश भर में वेद का डंका अहो बजने लगा।[5]

—'शिवराज स्तोत्र'

एक एक ग्यारह हुए हम दोनों मिल कर अभी।
हो सकते हैं फिर कभी तेरह नौ बाईस भी॥[6]

—'सभ्य समालोचक'

सुनो सत्य के साथियो वीर प्यारे,
न जूँ क्यों चली कान अब भी तुम्हारे?
रहे कौन हम, और क्या हो गये हैं,
समा क्या बँधा है, खिले गुल नये हैं।[7]

—'जागृति'

१–७. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ७२, २४, ३६, ४६, ५४, ६१, २०

शीघ्र फिरोगे मारे मारे, फिर फाँकोगे धूल ।[१]

—'अतिथि अनादर'

लोकोक्ति

युक्ति से रोका हुआ है सिंह ! तू यद्यपि अभी,
शौर्य तेरा याद करके काँप जाते हैं सभी ।
दूध से जो जल चुका है भूलकर के ही सही,
छाँछ को भी फूँक करके पान करता है वही ।।[२]

—'पराधीन सिंह'

फुटकर कविताओं के अतिरिक्त 'रामचरित चिन्तामणि', 'रामचरित चन्द्रिका', 'देवदूत' आदि रचनाओं में भी कवि ने कहीं मुहावरों का यथावत् उपयोग किया है और कहीं रूढ़ शब्द के लिए पयार्यवाची शब्द प्रयुक्त कर दिये हैं, किन्तु उनसे भाव अथवा भाषा को विशेष ठेस नहीं पहुँची है—

युक्तियुक्त मुँह तोड़ आपसे उत्तर पाकर
मौन हुआ दशशीश, दाँत से जीभ दबाकर[३]

उसी समय हो गए खड़े तुम हनुमन ! कटि-कस करके ।[४]

खुली है पोल आने पर यहाँ की ।[५]

मेरे साथ तुझे जैसे हो, तैसे चलना होगा,
तेरे बिना राम को वन में कर को मलना होगा ।।[६]

उग्रता की नीति से खल मानते हैं शीघ्र ही,
तात ! सीधी अँगुली से घी निकलता है कहीं ?[७]

फिर अलका को देख तुम्हारे छक्के छूटेंगे तत्काल,
इन्द्रपुरी की वह भगिनी है, हो जावेंगे नेत्र निहाल ।[८]

पर उपकारी होने का भी मुख से तुम दम भरते हो ।[९]

देव वहाँ से दिल्ली जाना चाल बढ़ाकर तावड़-तोड़ ।[१०]

इस प्रकार के सरल एवं मुहावरेदार पद-विन्यास में जीवन है, ताज़गी है, चुटीलापन है और वाक्-वैदग्ध्य भी है । 'दूर के ढोल सुहावने और पास से फूटे कान' लोकोक्ति के आंशिक प्रयोग से सार्थक भावाभिव्यंजन द्रष्टव्य है—

१. श्री शारदा, सं० १९७७, भाग २, सं० ४—पृ० २५५
२. श्री शारदा, सं० १९७७, भाग २, सं० ११—पृ० २६७
३. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ६७
४–५. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ५७, ६३
६–७. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १५३, २६६
८—१०. देवदूत—पृ० १०, १५, २७

परों में प्रीति होती कूर की है, सुहावन ढ़ोल लगती दूर की है।[1]

हाँ, कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्द देने से मुहावरे के साथ भाषा भी उस पदांश के कारण विकृत सी हो गई है, जैसे—

ईंट का तो उपल जग में एक ही है जवाब,
अर्थी होना अहित जन से काम है कायरों का।[2]
उनकी सेवा से न वदन को कभी आपने मोड़ा।[3]

यहाँ पत्थर के लिए 'उपल' तथा मुँह के स्थान पर 'वदन' शब्दों के प्रयोग से मुहावरे का रूप ही बिगड़ गया है। और देखिए—

हा ! मम कर के लकुट ! **मुकुट छात्रों के सिर के।**[4]
रघुनाथ भी पानी पिघल कर हो गये उस गान से।[5]

उपर्युक्त पदांशों में कवि ने 'अंधे की लकड़ी' और 'पानी-पानी होना' जैसे मुहावरों के मनमाने प्रयोग कर डाले हैं। 'पिघल कर पानी हो गये' से यदि अभिधेयार्थ लिया जाय तो उससे राम के हृदय की कठोरता व्यंजित होती है और यदि 'पानी होना' अर्थ लें तो मुहावरे का प्रयोग ही अशुद्ध है। साथ ही, कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठ तत्सम-प्रधान भाषा-प्रवाह में उर्दू का मुहावरा भी खटकता है, जैसे—

शोभा-सर जो नन्दन-वन सा खिला हुआ था कानन,
किया शोकमय उसे सिया ने रोकर आनन-फानन।।[6]

अलंकार—अलंकार-विधान की दृष्टि से उपाध्यायजी का समस्त काव्य सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। देश, समाज तथा अन्य उपयोगी विषयों पर रचित फुटकर कविताएँ प्रायः सीधी-सादी अलंकार विहीन वर्णनात्मक शैली में लिखी मिलती हैं। दूसरी श्रेणी में संस्कृत सूक्तियों से टक्कर लेने वाली इनकी सूक्तियाँ तथा अन्योक्तियाँ आती हैं जो दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों से सज्जित हैं। प्रकृति, जगत् और जीवन के सूक्ष्मतम व्यापारों से चयित उपमान वाक्य कवि की उक्ति का विशेष अथवा सामान्य रूप में चमत्कारपूर्ण समर्थन मात्र नहीं करते अपितु इस विषय में रचयिता के व्यापक ज्ञान का द्योतन भी करते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ सूक्तियाँ देखिए—

दृष्टान्त

सज्जन जो कहता है, चाहे कुछ हो, न फिर पलटता है।
दाँत निकल करिवर के, भीतर क्या फिर कभी जाते ?[7]

—'सज्जन'

---

१. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ७०
२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २४५
३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ४०
४—६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ३६२, ३७१, ३५५
७. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ५

करता हुआ शत्रु-सम्मानित, सुख से हा सज्जन मरता है,
करता हुआ धूम-आमोदित, पावक का चन्दन जलता है ॥[१]

—'चन्दन और सज्जन की समता'

अर्थान्तरन्यास

जन्म भर उपकार करना ज्ञानियों का धर्म्म है,
कर्म्म से पीछे न हटना, मानियों का मर्म्म है।
सूर्य्य जब तक है उदित, तम का पता लगता नहीं,
खर समीरण-सामने क्या मेघ टिक सकता कहीं॥[२]

—'परोपकार'

उदाहरण

ऊँचा पद पाकर भी खल नर,
कभी न हो सकता वह गुणिवर,
जैसे ताल वृक्ष पर रह कर,
काक न होता हंस-बराबर ॥[३]

सभी अवस्थाओं-वर्णों में, सदा गुणी आदृत होता है,
शिर में उर में या कर्णों में, जैसे मणि शोभित होता है ॥[४]

—'गुण गौरव'

अवज्ञा

यद्यपि दुर्जन दुख देता है, तो भी उसे साधु लेता है,
चन्दन को विष देता विषधर, वह उसको रखता है उर पर ॥[५]

—'चन्दन और सज्जन की समता'

अनन्वय

पारस सम पारस है, कल्पद्रुम के समान कल्पद्रुम।
सुरभी सम सुरभी है, सज्जन ही तुल्य सज्जन है ॥[६]

—'सज्जन'

'विधि विडम्बना' शीर्षक कविता यमक और अनुप्रास के चमत्कार से परिपूर्ण है। इस रचना में कवि संसार के अनियमित घटना-व्यापारों की ओर संकेत करते हुए 'मन' से कहता है—

दुखित है धनहीन, धनी सुखी,
यह विचार परिष्कृत है यदि।
मन ! युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई,
विभवता भव-ताप-विधायिनी ॥[७]

१—७. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ८, ४६, ७, ७, ८, ५, ७४

यहाँ ध, न, भ, व आदि वर्णों की आवृत्ति में अनुप्रास है। 'भवता' की पुनरुक्ति में यमक का चमत्कार है और मन का मानवीकरण भी।

तीसरी श्रेणी में 'रामचरित चन्द्रिका', 'रामचरित चिन्तामणि', 'देवदूत', 'पवन दूत', आदि छोटे-बड़े वे काव्य हैं जिनमें अलंकारों की छटा विविध रूप में दृष्टिगत होती है। कवि ने अधिकांशतः रूप-साम्य के आधार पर परम्पराभुक्त रूढ़ उपमानों की सहायता से भावाभिव्यंजन किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वाक्योपमा

जैसे ताराओं में विधु है, वैसे त्रिभुवन में वह लोक।
चकाचौंध दृग में होती है, लख करके उसके आलोक ॥[1]

मालोपमा

कुसुमाकर वसन्त में मानो आम्र वृक्ष भी बौरे,
बहुविधि जलजों में ज्यों आए श्वेत कृष्ण दो भौंरे।
युगपत ऊगे सूर्य-निशाकर मानो नक्षत्रों में,
वैसे ही प्रकटे रघुनन्दन युगल-नृपति-पुत्रों में ॥[2]

उत्प्रेक्षा

कौशल्या थी स्वार्थहीन, कैकेयी स्वार्थरता थी।
सुधा-सरित के निकट मनो लहराती गरल-लता थी ॥[3]
राक्षसियों के बीच मौन हो बैठी थी सुकुमारी।
बाघिनियों के बीच पड़ी हो मानो मृगी बेचारी ॥[4]

तुल्ययोगिता

इसी बीच में नृप-आज्ञा से सीता गयी बुलायी,
सखियों-सहित लिये जयमाला तुरत वहाँ पर आई।
रति, रम्भा, भारती, भवानी उसके तुल्य नहीं है,
शकुनि-सुता त्रिभुवन में कोई हंसी-तुल्य नहीं है ॥[5]

प्रतीप

मृगियों ने दृग मूँद लिये, दृग देख सिया के बाँके,
गमन देख हंसी ने छोड़ा, चलना चाल बना के।
जातरूप सा रूप देखकर, चम्पक भी कुम्हलाये,
देख सिया को गर्वीले वनवासी सभी लजाये ॥[6]

---

१. देवदूत—पृ० २
२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ४०
३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० १०
४—६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २१०, ४०, ३५६

उल्लेख

यशस्विनी की कुक्षि-शुक्ति के मौक्तिक अनुपम,
जय ऋचीक के कृपापात्र द्विज-दूषक के यम।
जयवर विद्रुम, सकल शस्त्र-शास्त्रों के ज्ञाता,
भूसुर-त्राता, विविध सृष्टि के स्वयं विधाता ॥[1]

इन्द्र-तुल्य प्रभुता में, पावक-सम प्रताप में,
धन में धनद-समान यमोपम क्रुध-कलाप में।
विक्रम में भृगुनाथ, बुद्धि में वाचस्पति-सम
बैठा था लंकेश, वहाँ बल में मृगपति-सम ॥[2]

सन्देह-उत्प्रेक्षा

रघुनाथ-शोभा जानकी के साथ में यों खिल गयी,
चन्दन महीरुह से मनो आ कल्प-लतिका मिल गयी।
या ब्रह्म के पीछे तमोगुणहीन हो माया लगी,
या देहधारी ईश के पीछे मनो छाया लगी ॥[3]

व्यतिरेक

शुष्क करीर कुंज भी ब्रज का, नन्दन वन से अधिक कहीं।
यमुना-कूल कदम्ब वृक्ष के, कभी कल्पतरु तुल्य नहीं ॥[4]

विकस्वर

गुण-देह नृप में एक दुर्गुण आ गया तो क्या हुआ,
जैसे सुरों संग राहु पूजा पा गया तो क्या हुआ।
रत्नाब्धि खारा है तदपि सम्मान मिलता है उसे,
संसार में आकर भला लांछन न लगता है किसे ॥[5]

प्रत्यनीक

शान्त हुआ लंकेश अनुज की सुनकर बातें,
जब-तब खल भी साम पेंच में हैं आ जाते।
सस्मित बोला असुर पुच्छ प्रिय है वानर को,
उसे जला दो, अभी दिखावें जाकर नर को।
तब लज्जित हो तपसी स्वयं, या डर कर भग जायगा,
या वह मेरे कर निधन हो, यम के कर लग जायगा ॥[6]

विभावना

किया धनुष टंकार वहाँ लक्ष्मण ने कैसे,
बिना मेघ की कड़क उठे बिजली नभ जैसे ॥[7]

१. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ४३
२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २३५
३. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ५१
४. देवदूत—पृ० २०
५—७. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ७, २४१, १६६

विशेषोक्ति

भारत, यदपि पुराना तू है, किन्तु हुआ है वृद्ध नहीं,
कौन कार्य है कठिन जिसे तू, कर सकता है सिद्ध नहीं ॥[1]

असम्बन्धातिशयोक्ति

औषधालय भी अयोध्या में बने तो थे सही,
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं ॥[2]

पर्यस्तापह्नुति

राम-विरह से सीता का मुख महा म्लान हो आया,
क्षाम कपोलों पर नेत्रों ने अश्रु-बिन्दु टपकाया।
उसी अनुक्रम से लतिकाओं ने भी शोक मनाया,
पीली पड़ीं, मनो पत्तों के मिस से अश्रु गिराया ॥[3]

विनोक्ति

बिना तिलक का भाल, बिना पुतली का ज्यों दृग,
बिना कमल का ताल, बिना मृगमद का ज्यों मृग।
उत्तरदिक् त्यों बिना सूर्य, हतकान्ति हुई है,
दक्षिण दिक् के हृदय अमित सुख-शान्ति हुई है ॥[4]

उदाहरण

स्वर्ण रत्न के गेह पिघल गिरते थे कैसे,
नभ से तारे टूट-टूट गिरते हों जैसे ॥[5]

कंचुक छोड़ दिव्य तन विषधर श्वास छोड़ता है जैसे,
बन्धन-मुक्त सिंह हो गज के शीश तोड़ता है जैसे।
वैसे ही निज प्रतिबन्धक को तू भी दूर भगावेगा,
मत हताश हो भारत, तेरा फिर पहला दिन आवेगा ॥[6]

दृष्टान्त

अहोरात्र के बीच, शान्तिमय सन्ध्या ज्यों रहती है,
ज्यों दाँतों के मध्य जीभ दबकर बातें कहती है।
कौशल्या के कैकेयी के बीच तुम्हारा रहना,
उसी भाँति था, तुम्हें पड़ा था उनका सब कुछ सहना ॥[7]

---

१. देवदूत—पृ० ५६
२. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ५
३—५. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ३५६, १३४, २४३
६. देवदूत—पृ० ३५
७. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ६

अर्थान्तरन्यास

चम्पक बन में युक्ति भ्रमर की कभी नहीं चल सकती है,
यत्न वृथा है कभी तुहिन से नहीं आग जल सकती है।
मेरी दृढ़ मति को तिल भर भी कौन हटाने वाला ?
वज्र शैल पर कौन नखों से कूप बनाने वाला है ॥[१]

उद्धृत अलंकारों में उपमान प्राय: व्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त परम्पराभुक्त एवं रूढ़िग्रस्त हैं। इस प्राचीनता के कारण उनका अभिव्यंजन-सौष्ठव इतना नगण्य हो गया है कि इनसे पाठक के मन में भावोद्वोधन मात्र होता है, कलात्मक सौन्दर्य-बोध नहीं। इस प्रकार के प्रयोगों से न तो पाठक का कुतूहल जागृत होता है और न उसका मनोरंजन ही हो पाता है।

किन्तु उपाध्यायजी के काव्य में ऐसे मार्मिक स्थलों की भी कमी नहीं, जहाँ भावोद्बोधन के लिये नवीन एवं शक्तिशाली अप्रस्तुत चयित हुए हैं जिनसे भाव संश्लिष्ट एवं भाषा चित्रमयी हो गई है। कैकेयी-दशरथ प्रसंग में देखिए—कैकेयी दो वर माँग चुकी है, वह अपनी सफलता पर प्रसन्न है और राजा दशरथ संज्ञाहीन, विक्षिप्त एवं उद्भ्रान्त से पड़े हैं—

मानो पुराने हंस को है श्येनिका घेरे हुए,
मानो जरठ गजराज को है सिंहिका घेरे हुए।
इस भाँति भूपति थे पड़े, हिलता न उनका अंग था,
पर कैकेयी के हर्ष का कुछ रंग ही बेढंग था ॥[२]

'श्येनिका' का धर्म है अवसर मिलते ही झपट्टा मारना और 'सिंहिका' अपने शक्ति-पराक्रम के लिये प्रसिद्ध है। कैकेयी ने अपने क्रिया-व्यापार द्वारा अपने में इन दोनों धर्मों का अस्तित्व दिखा दिया। उसने अवसर पाते ही दोनों वर माँग लिये क्योंकि वह पति पर अपनी असीम शक्ति-प्रभाव से पर्याप्त परिचित थी। वृद्धावस्था में शत्रु से अपने प्राण बचाना भी असम्भव है तथा मूर्ख हाथी ही सिंहनी के पाश में फँस सकता है। अतएव कैकेयी की 'श्येनिका' तथा 'सिंहिका' से और दशरथ की 'पुराने हंस' और 'जरठ गजराज' से उपमा सर्वथा उपयुक्त है। और देखिए—

कैकय सुता की बात उनके हृदय में कैसे लगी,
जैसे कनक की छूरिका, उर में लगे विष में पगी।[३]

'विष में पगी कनक छूरिका' और 'कैकय सुता की बात' में क्रिया-साम्य है। क्योंकि दोनों हत्या करने में समर्थ हैं।

तपस्वी एवं नीतिपरायण धर्मात्मा होकर भी राम ने बाली-वध के समय अस्त्र उठाया और उसे छिपकर मारा। ऐसे मर्यादा पुषोत्तम राम कदाचित् ऊपर से देखने में ही सरल, शान्त और सौम्य थे। उनका हृदय वास्तव में वक्र, कुटिल एवं कुत्सित था।

१—३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १४८, ६८, १०४

वाली के मुख से इस भावना से परिपूर्ण राम की भर्त्सना सुनिये। अंकित भावों में चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता भी है—

तृणों से ढका कूप जैसे खड़ा है।
छिपा भस्म में अग्नि जैसे पड़ा है॥
उसी भाँति क्यों राम झूठे बने हो।
छली हो, तपस्वी अनूठे बने हो॥[1]

'अनूठे तस्पवी' में 'व्याजस्तुति' व्यंग्य है।

'देवदूत' में वर्णित संबोध शैली में भारत का मानवीकरण देखिये—चित्र गतिशील है; चलचित्र के पट की तरह रेखाएँ उभरती-मिटती चलती हैं—

एक दिवस तू देश, मुकुट धर किसी सोच में पड़ा रहा,
तेरे सिर पर छत्र लगा कर, मैं भी चुपके खड़ा रहा।
इसी बीच में किसी विप्र ने आकर तुझको तिलक किया,
माला गले डाल कर तेरे, हाथ उठा आशीस दिया,
भारत, मैंने यह भी देखा, तू था सिंहासन-आसीन,
बीत चली थी रात अँधेरी, समय रहा प्रातःकालीन,
शारद घन पश्चिम जाते थे, चलती पूर्वी वायु रही,
सूर्य उदित होता आता था, मनो हँसती रही मही॥[2]

विरह की ज्वाला से दग्ध एवं सन्तप्त राम को सीता-वियोग से विक्षिप्त वनों में विलाप करते देख लक्ष्मण की प्रभावशाली उक्ति है—

पुरुषोत्तम! पुरुषार्थ कीजिये दैन्य दूर कर,
स्मर का क्रूर प्रभाव पड़े चाहे कायर पर।
मर्यादा स रहित नहीं नीरधि होता है,
अपनी दाहक शक्ति नहीं पावक खोता है।
जल-छींटों के पड़े नहीं होता रवि शीतल,
हरिण-चौकड़ी से न काँप उठता अवनीतल।
वशीभत क्या वीर इन्द्रियों के होते हैं,
राजपूत भी राम! कहीं दुखड़े रोते हैं?[3]

'पुरुषोत्तम' साभिप्राय है। राम जैसे श्रेष्ठ पुरुष को मानवोचित दुर्बलताएँ धैर्य से सहन करनी चाहिएँ। नीरधि का मर्यादा रहित न होना, पावक का दाहक शक्ति न खोना, जल के छींटें पड़ने से रवि का शीतल न होना, पृथ्वी का हरिण के चौकड़ी भरने से ही न काँपना आदि विशेष वाक्यों द्वारा तथा अन्त में सामान्य वाक्य से समर्थन किया गया है। यहाँ

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १७३
२. देवदूत—पृ० ५२
३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १६६

राजपूत शब्द लक्षणाशक्ति से 'अत्यन्त वीर क्षत्रिय' अर्थ देता है। 'प्रतिवस्तूपमा' का एक उदाहरण और देखिए—

मानस ही में हंस-किशोरी सुख पाती है,
नहीं चन्द्र के बिना चकोरी सुख पाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्रेम करेगी ?
क्या पर नर का हाथ कुल स्त्री कभी धरेगी ?[1]

यहाँ चौथी पंक्ति उपमेय वाक्य और तीसरी पंक्ति उपमान वाक्य है। प्यार करना और नर का हाथ धरना, दोनों शब्द-भेदों से एक ही धर्म—कुलीन स्त्री अन्य पुरुष से कभी प्रेम नहीं कर सकती—कहा गया है।

सीता तपोवन दर्शन की उत्कट लालसा लिये लक्ष्मण के साथ जाती है। उसके आनन्द का पारावार नहीं है, किन्तु लक्ष्मण बीच ही में कह उठते हैं—

निकट में अपने रखना तुम्हें—दुखद है समझा रघुनाथ ने,
जनकजे ! निज नाथ-दिनेश से, अब रहो बन के वनचारिणी,
नृपति का अनुशासन मान्य है, इसलिये इस निर्जन ठौर में,
तुम विसर्जित हो मुझ से हुई, विवश हूँ वश है चलता नहीं ॥[2]

अतः लक्ष्मण के मुख से वनवास की राम-आज्ञा सुनकर सीता पर वज्रपात सा हो गया। इच्छित अर्थ के विपरीत कार्य होने में 'विषादन' अलंकार का सुन्दर प्रयोग है। किन्तु अप्रस्तुत योजनाओं में रूप, गुण, क्रिया, प्रभाव किसी भी प्रकार के आधारविहीन उपमान का उपयोग कर बैठना कवि-कौशल के अभाव का द्योतन करता है। निम्न पंक्तियों में प्रसंग के सर्वथा प्रतिकूल 'उत्प्रेक्षित' उपमान देखिए—

गत चेत थे भूपति पड़े, हँसती खड़ी थी कैकयी,
मानो करुण के संग रति, पाती रही सुषमा नयी ॥[3]

यहाँ 'भूपति' से 'करुण' तथा 'कैकेयी' से 'रति' का साम्य उत्प्रेक्षित है। कैकेयी का हँसना उसकी नृशंसता और कुटिलता का सूचक है। 'रति' सौन्दर्य एवं प्रेम की प्रतीक है। अतएव स्नेह-विहीन कैकेयी और 'रति' दोनों में रूप, गुण, क्रिया आदि किसी भी प्रकार की समता नहीं।

सीता अशोक वाटिका में दुख से अभिभूत हो आत्महत्या करने को उद्यत हुई। ठीक अवसर पर हनुमान दूत बनकर पहुँच गए और राम-गुण-गान करने लगे। सीता ने आश्चर्य-चकित हो नेत्र ऊपर उठाये तो—

उसने देखा कीश वृक्ष पर बैठा कैसे।
बालसूर्य घन-जाल-बीच ऊगा हो जैसे ॥[4]

बन्दर की बालसूर्य से उपमा रूढ़ होने पर भी असुन्दर एवं सदोष है; उपमान-उपमेय के आकार-प्रकार, रंग-रूप, स्वभाव-सम्बन्ध, गुण-धर्म सभी तो धारणा के विपरीत हैं।

१-४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २१६, ३५२, ६८, २१८

रहा गया अब नहीं, अक्ष ने बाण चलाये।
उनके प्रबल प्रहार शीश में कपि ने खाये॥
रक्त-युक्त कपि शीश देख पड़ता था कैसे,
किंशुक का कमनीय कुसुम गुच्छक हो जैसे।[1]

केवल रक्त बहने के कारण ही बन्दर 'किंशुक के कमनीय कुसुम-गुच्छक के समान' हो गया! कल्पना के साथ ऐसा अतिचार केशवदास की रामचन्द्रिका का स्मरण करा देता है। और देखिए—

कौरव-पाण्डव लड़े परस्पर, कृष्णचन्द्र सा पंच मिला,
मानो कुमुद-कुंज में आकर, गुड़हर का भी फूल खिला॥[2]

कपि कैसा संकुचित कमल सा काँप रहा है,
अंगों ही में अंग कूर्म सा छिपा रहा है॥[3]

उपमित एवं उपमान वस्तुओं में न सादृश्य है और न साधर्म्य। कल्पना का भी विशेष चमत्कार नहीं है। इस प्रकार के उच्छृंखल नवीन प्रयोग प्रशंसनीय नहीं। उपमान-चयन के सम्बन्ध में शुक्लजी का कथन स्मरणीय है कि "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"[4]

शब्दालंकार—प्रायः ध्वनि को लेकर ही शब्दालंकार की सृष्टि की जाती है क्योंकि यह काव्य का संगीत धर्म है। उपाध्यायजी का काव्य अनुप्रास और यमक के चमत्कार से भरा पड़ा है। 'रामचरित चिन्तामणि' के उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग के अधिकांश पद यमक की छटा से आलोकित हैं। बाइसवें सर्ग के पदों में यमक के साथ वर्णावृत्ति के कारण अनुप्रास का भी विलक्षण चमत्कार दृष्टिगत होता है। उदाहरण स्वरूप कतिपय पद द्रष्टव्य हैं—

यमक

दुखद है तुम को जनकात्मजा, तुरत दूर उसे कर दीजिये।
सुखद हो सकती न उलूक को, नय-विशारद! शारद चन्द्रिका।[5]

तुम बिना करतूत बका करो, वचन वीर! सुनो हम वीर हैं।
रिपु-विनाशक यज्ञ किये बिना, समर पावक पा बकते नहीं॥[6]

वृत्यनुप्रास

विचित्र ही चित्रित चित्रकूट है,
प्रिये! यहाँ की सुखमा अटूट है।

---

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २२६
२. देवदूत—पृ० २७
३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १३५
४. काव्य में अप्रस्तुत योजना—पृ० ११७
५-६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २७३, २८७

राजपूत शब्द लक्षणाशक्ति से 'अत्यन्त वीर क्षत्रिय' अर्थ देता है। 'प्रतिवस्तूपमा' का एक उदाहरण और देखिए—

मानस ही में हंस-किशोरी सुख पाती है,
नहीं चन्द्र के बिना चकोरी सुख पाती है।
सिंह-सुता क्या कभी स्यार से प्रेम करेगी ?
क्या पर नर का हाथ कुल स्त्री कभी धरेगी ?[1]

यहाँ चौथी पंक्ति उपमेय वाक्य और तीसरी पंक्ति उपमान वाक्य है। प्यार करना और नर का हाथ धरना, दोनों शब्द-भेदों से एक ही धर्म—कुलीन स्त्री अन्य पुरुष से कभी प्रेम नहीं कर सकती—कहा गया है।

सीता तपोवन दर्शन की उत्कट लालसा लिये लक्ष्मण के साथ जाती है। उसके आनन्द का पारावार नहीं है, किन्तु लक्ष्मण बीच ही में कह उठते हैं—

निकट में अपने रखना तुम्हें—दुखद है समझा रघुनाथ ने,
जनकजे ! निज नाथ-दिनेश से, अब रहो बन के वनचारिणी,
नृपति का अनुशासन मान्य है, इसलिये इस निर्जन ठौर में,
तुम विसर्जित हो मुझ से हुई, विवश हूँ वश है चलता नहीं ॥[2]

अतः लक्ष्मण के मुख से वनवास की राम-आज्ञा सुनकर सीता पर वज्रपात सा हो गया। इच्छित अर्थ के विपरीत कार्य होने में 'विषादन' अलंकार का सुन्दर प्रयोग है। किन्तु अप्रस्तुत योजनाओं में रूप, गुण, क्रिया, प्रभाव किसी भी प्रकार के आधारविहीन उपमान का उपयोग कर बैठना कवि-कौशल के अभाव का द्योतन करता है। निम्न पंक्तियों में प्रसंग के सर्वथा प्रतिकूल 'उत्प्रेक्षित' उपमान देखिए—

गत चेत थे भूपति पड़े, हँसती खड़ी थी कैकयी,
मानो करुण के संग रति, पाती रही सुषमा नयी ॥[3]

यहाँ 'भूपति' से 'करुण' तथा 'कैकेयी' से 'रति' का साम्य उत्प्रेक्षित है। कैकेयी का हँसना उसकी नृशंसता और कुटिलता का सूचक है। 'रति' सौन्दर्य एवं प्रेम की प्रतीक है। अतएव स्नेह-विहीन कैकेयी और 'रति' दोनों में रूप, गुण, क्रिया आदि किसी भी प्रकार की समता नहीं।

सीता अशोक वाटिका में दुख से अभिभूत हो आत्महत्या करने को उद्यत हुई। ठीक अवसर पर हनुमान दूत बनकर पहुँच गए और राम-गुण-गान करने लगे। सीता ने आश्चर्य-चकित हो नेत्र ऊपर उठाये तो—

उसने देखा कीश वृक्ष पर बैठा कैसे।
बालसूर्य घन-जाल-बीच ऊगा हो जैसे ॥[4]

बन्दर की बालसूर्य से उपमा रूढ़ होने पर भी असुन्दर एवं सदोष है; उपमान-उपमेय के आकार-प्रकार, रंग-रूप, स्वभाव-सम्बन्ध, गुण-धर्म सभी तो धारणा के विपरीत हैं।

१–४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २१६, ३५२, ६८, २१८

रहा गया अब नहीं, अक्ष ने बाण चलाये।
उनके प्रबल प्रहार शीश में कपि ने खाये॥
रक्त-युक्त कपि शीश देख पड़ता था कैसे,
किंशुक का कमनीय कुसुम गुच्छक हो जैसे।[1]

केवल रक्त वहने के कारण ही बन्दर 'किंशुक के कमनीय कुसुम-गुच्छक के समान' हो गया ! कल्पना के साथ ऐसा अतिचार केशवदास की रामचन्द्रिका का स्मरण करा देता है। और देखिए—

कौरव-पाण्डव लड़े परस्पर, कृष्णचन्द्र सा पंच मिला,
मानो कुमुद-कुंज में आकर, गुड़हर का भी फूल खिला॥[2]

कपि कैसा संकुचित कमल सा काँप रहा है,
अंगों ही में अंग कूर्म सा छिपा रहा है॥[3]

उपमित एवं उपमान वस्तुओं में न सादृश्य है और न साधर्म्य। कल्पना का भी विशेष चमत्कार नहीं है। इस प्रकार के उच्छृंखल नवीन प्रयोग प्रशंसनीय नहीं। उपमान-चयन के सम्बन्ध में शुक्लजी का कथन स्मरणीय है कि "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"[4]

शब्दालंकार—प्राय: ध्वनि को लेकर ही शब्दालंकार की सृष्टि की जाती है क्योंकि यह काव्य का संगीत धर्म है। उपाध्यायजी का काव्य अनुप्रास और यमक के चमत्कार से भरा पड़ा है। 'रामचरित चिन्तामणि' के उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग के अधिकांश पद यमक की छटा से आलोकित हैं। बाइसवें सर्ग के पदों में यमक के साथ वर्णावृत्ति के कारण अनुप्रास का भी विलक्षण चमत्कार दृष्टिगत होता है। उदाहरण स्वरूप कतिपय पद द्रष्टव्य हैं—

यमक

दुखद है तुम को जनकात्मजा, तुरत दूर उसे कर दीजिये।
सुखद हो सकती न उलूक को, नय-विशारद ! शारद चन्द्रिका।[5]

तुम बिना करतूत बका करो, वचन वीर ! सुनो हम वीर हैं।
रिपु-विनाशक यज्ञ किये बिना, समर पावक पा वकते नहीं॥[6]

वृत्यनुप्रास

विचित्र ही चित्रित चित्रकूट है,
प्रिये ! यहाँ की सुखमा अटूट है।

---

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २२६
२. देवदूत—पृ० २७
३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १३५
४. काव्य में अप्रस्तुत योजना—पृ० ११७
५-६. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २७३, २८७

कहीं हरी घास हरी दरी समा,
कहीं दरी है गृह सी अनूपमा ।।
प्रभा यहाँ है प्रखरा दिनेश की,
न है यहाँ स्त्री मुखरा मृगेश की :
प्रिये ! यहाँ के मृग क्या अभीत हैं,
सभी यहाँ के सबके सुमीत हैं ।।[१]

छेकानुप्रास

सकल सम्पत्ति है मम हाथ में, सुख-सुधानिधि हैं तव हाथ में ।
जलधि में मणि, माणिक शुक्ति है, सुर-धुनी कर में पर मुक्ति है ।।[२]

किन्तु पिछले तीन-चार सर्गों में इनके आधिक्य से मन ऊबने लगता है । हाँ, जहाँ उनका विधान भावों को रुचिर बनाने के लिए हुआ है भावों के साथ भाषा सुन्दर बन पड़ी है और काव्योचित गुण भी सन्निविष्ट हो गए हैं । उदाहरणार्थ भावों को रुचिर बनाने के लिए एक ही बात बार-बार कहकर 'पुनरुक्ति' की सहायता से भाषा-चमत्कार और भाव की प्रकर्षता देखिए—

विप्र-कोप है और्व, जलनिधि का जल है,
विप्र-कोप है गरल वृक्ष, क्षय उसका फल है ।
विप्र-कोप है अनल, जगत यह तृण-समूह है,
विप्र-कोप है सूर्य, जगत यह धूक व्यूह है ।
द्विजवर ! मुझ पर करिये दया, विप्र दया के धाम हैं,
बस केवल विप्र-प्रसाद से, राम हमारा नाम है ।।[३]

रावण की सभा में अंगद रघुनाथ का दूत बनकर आया । लंकेश को अंगद के मुख से जनकजा को रघुनाथ के हाथों सौंप देने का सत्परामर्श रुचिकर न हुआ; अतः वह कहता है—

जलधि बाँध न गर्वित राम हो,
चणक सा मन चर्वित राम हो,
कह उसे भग जा वन में कहीं,
सहज है मुझ से लड़ना नहीं ।
हर .जिसे दशकन्धर ने लिया,
कब भला फिर फेर उसे लिया,
खल ! किसे न हुआ मम त्रास है,
निडर हो। करता परिहास है ।[४]

काकु-उक्ति से आक्षिप्त व्यंग्य है कि 'मेरा डर सब किसीको है । अतः अंगद ! तू मुझसे ठिठोली मत कर' । डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ने कदाचित् ऐसे प्रयोग देखकर ही

१—४. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६६, ६२, ५०, २७८

लिखा है कि, "रामचरित उपाध्याय के ग्रंथों में हिन्दी भाषा की अपनी शक्ति और मधुरता के दर्शन होते हैं।......प्रभाव-वृद्धि के लिए अलंकृत शैली का उपयोग हुआ है। उनकी उपमाएँ प्राचीन और परम्परागत हैं। कवि में यमक के प्रति विशेष प्रेम है जो छोटी-बड़ी सभी रचनाओं में मिलता है।"[1]

शब्द-शक्ति—काव्य-वस्तु को सजीव एवं प्रभावोत्पादक बनाने में लक्षणा-व्यंजना शक्तियों का बड़ा हाथ रहता है। आलोच्य काव्य इस दृष्टि से प्रायः निर्धन है। सूक्तियों-अन्योक्तियों तथा देश-समाज आदि से सम्बद्ध फुटकर कविताओं में तो इनके लिए अवकाश ही न था। अतः बोलचाल-प्रधान भाषा होने से मुहावरे-लोकोक्तियों के उपयोग में रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण भले ही ढूँढ़ निकाले जाएँ किन्तु उनसे भाषा-सौष्ठव में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। 'रामचरित चिन्तामणि', 'देवदूत', 'पवन दूत' आदि काव्यों में भी इनकी मात्रा न्यून है। इसका एक कारण है, उपाध्यायजी वस्तुतः अलंकार-प्रेमी थे। काव्य में विविध अलंकारों की भरती के कारण सर्वत्र अभिधा का साम्राज्य ही दृष्टिगत होता है। हाँ, संवाद-प्रसंगों में वाक्-वैदग्ध्य आ जाने से यत्र-तत्र लक्षणा-व्यंजना आदि भी उपलब्ध हो जाती हैं।

काव्य-भाषा का सबसे बड़ा धर्म उसकी चित्रमयता है और उसमें प्रायः वाच्यार्थ ही सहायक होता है। 'पवन-दूत' के नायक के मुख से उसकी प्रिया का वर्णन सुनिये—

सम वियोग से मूर्छित जो वह होगी पड़ी विकल अबला,
तेरा स्पर्श अमित सुखदायक उसे लगेगा बहुत भला।
नेत्र सफल तेरे भी होंगे, इसमें शंका नहीं समीर,
बिखरे केश बदन पर देखे, कंचन-सा अधखुला शरीर।
लिखती हो जो मुझे पत्र तो वहीं पास में जाना बैठ,
देख-देखकर सुख पावेगा वदन-भाव भौंहों की ऐंठ।
सात्विक भाव उसे जब होगा, बदन स्वेद से छावेगा,
उसे पोंछने को तब तेरा चंचल चित चल जावेगा।[2]

कहीं-कहीं मुहावरों और कहावतों के सुप्रयोग से उक्ति में सजीवता आ गई है। अर्थ-प्रतीति में रूढ़ि लक्षणा भी सहायक हुई है—

स्वप्न हुआ घी-दूध, कहीं पर रही न परती,
काँप उठी असुरेश! तुम्हारे अघ से धरती॥[3]

वेद-पाठ रुक गया, रुका यज्ञों का होना,
घर-घर में छा गया भयंकर दुख का रोना।
उठे नीच, गिर गये उच्च, कुल के अभिमानी,
पीतल पर फिर गया क्षणिक सोना का पानी॥[4]

---

१. आधुनिक काव्यधारा—पृ० १४२—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल
२. सूक्ति मुक्तावली—पृ० ७२
३-४. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ६६, ६६

'सपना होना' तथा 'पीतल पर सोने का पानी फिरना' मुहावरे क्रम से अप्राप्य होना और 'कृत्रिम सत्य से कपट को छिपाने' का अर्थ देते हैं। दोनों मुहावरों में यद्यपि लक्षणा ही अर्थ का स्पष्टीकरण करती है किन्तु वाच्यार्थ के चमत्कार के सामने गौण रह जाती है।

कवि ने कहीं-कहीं वर्णनीय को गोचर रूप देने के लिए प्रयोजनवती लक्षणा का उपयोग भी किया है, यथा—

कुछी दिनों में उसके तन में, रक्त माँस कुछ रहा नहीं।
आधिग्रस्त रहा पर दुख को, कभी किसी से कहा नहीं॥[1]

'रक्त माँस न रहना' पदांश उपादान लक्षणा की सहायता से कृश-कलेवर-व्यक्ति का चित्र उपस्थित करता है—

लौटा ले तू शीघ्र नृशंसे ! दूजे वर को,
मरघट मत तू बना स्वर्ग से अपने घर को।
कह तो पग पर गिरूँ, भोग वैधव्य नहीं तू,
अरे गोद में कहाँ व्यालिनी छिपी रही तू॥[2]

कैकेयी 'व्यालिनी' नहीं हो सकती अतएव मुख्यार्थ की बाधा है। उसे दुष्टा, निष्ठुर एवं भयंकर कहना अभीष्ट है इसलिए लक्षणा 'प्रयोजनवती' है। 'व्यालिनी' अपने अर्थ का त्याग कर अर्थान्तर में संक्रमण कर जाती है अतएव 'उपादानमूला' है। केवल आरोप्यमाण का कथन होने से 'साध्यवसाना' है। गुणों की एकता का ज्ञान कराने से 'गौणी' है। और देखिए—

कल्ही सवेरे राज्य राम को होवेगा सुन रखिये,
फिर रोवोगी, फूट-फूटकर, मत अपनी धुन रखिये।
हंस जिसे समझा था तुमने, वह बगला निकलेगा,
कल जो मृग था वही सिंह हो, तुम्हें पकड़ निगलेगा॥[3]

मंथरा कहती है कि जो राम कल तक मृग अर्थात् अत्यन्त सरल चित्त एवं निश्छल था अब (राज्याधिकारी एवं शक्ति-सम्पन्न होने से) 'सिंह' अर्थात् महापराक्रमी होकर तेरे सुख-चैन को खा जायगा। हे कैकेयी ! जिसे तू 'हंस' अर्थात् अलौकिक गुणों से सम्पन्न समझती है वह वास्तव में 'बगला' यानी पाखण्डी निकलेगा, फिर तू अपनी सरलता पर पश्चात्ताप करेगी और फूट-फूटकर रोयेगी। उपर्युक्त अवतरण 'प्रयोजनवती लक्षणा' का उदाहरण है। राम का 'बगले' और 'सिंह' में सादृश्य-सम्बन्ध अर्थात् समान गुण-धर्म लक्ष्यार्थ से ग्रहण किया जाता है अतः 'गौणी' है। राम पर 'बगला' और 'सिंह' का आरोप है इसलिए 'सारोपा' है; 'बगला' और 'सिंह' अर्थ-त्याग नहीं करते अतः 'उपादानमूला' है। निम्न पद देखिए—

---

१. देवदूत—पृ० ३
२-३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ६५, ५३

कल्प वृक्ष में क्यों बबूल का भ्रम तेरे मन आया ?
गंगा के जल में खारापन कैसे तूने पाया ?
कभी राम से नीच काम क्या हो सकता है जग में ?
तो भी क्यों काँटे बोती हे कुब्जे ! उनके मग में ।[1]

यहाँ अमुख्यार्थ को अन्वित करने के लिए मुख्यार्थ अपना अर्थ सर्वथा त्याग देता है। इसलिए इसे 'जहत्स्वार्था' या 'लक्षण-लक्षणा' कह सकते हैं। 'कल्प वृक्ष में बबूल का भ्रम नहीं हो सकता है' और 'गंगा में खारा जल' नहीं मिल सकता, मुख्यार्थ एकदम छूट कर 'राम का अनय करना असंभव है' अर्थ देता है। एक और देखिए—

रावण ने यदि दिवस बनाया कभी निशा को,
तो तुमने रवि-सहित दिखाया पूर्व दिशा को।
रावण का यदि स्वेद-बिन्दु गिरता था रण में,
तुरत वहाँ निज रक्त गिराते थे तुम क्षण में।
सदा पिता का वदन ताकते तुम रहते थे,
उसके मन का भाव भाँपते तुम रहते थे।
यदि रावण को भूल किसी ने दे दी गाली,
तुमने उसकी जीभ तुरत तो खींच निकाली।।[2]

रावण का पुत्र मेघनाद बड़ा आज्ञाकारी था। उपर्युक्त पद में 'पूर्व दिशा को रवि-सहित' दिखाने में उसकी आज्ञाकारिता, 'स्वेद-बिन्दु के लिए रक्त गिराने में' पितृ-भक्ति, 'वदन ताकने' में आस लगाए बैठे रहना, 'जीभ खींचने' में कड़ा दण्ड देना आदि अर्थ लक्षणा से ही विवक्षित होते हैं। इसमें आज्ञाकारिता की अतिशयता व्यंग्य है अतः 'लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना' है। उपाध्यायजी के काव्य में इस प्रकार के वाक्-वैदग्ध्य के तो अनेक उदाहरण मिल जाते हैं किन्तु किसी नूतन काव्य-शैली का वैचित्र्य दृष्टिगत नहीं होता। सम्भवतः इसीलिए इनके काव्य में लक्षणा का अभाव बताया जाता है।[3]

काव्य-गुण—उपाध्यायजी के काव्य में रसानुकूल सभी काव्य-गुण प्रयुक्त हुए हैं। अलंकार-बहुल होने पर भी समस्त काव्य प्रसादगुण-सम्पन्न है। प्रबन्ध काव्य में वीर, वीभत्स और रौद्र रस के वर्णन में ओजगुण-विधायक पदावली का उपयोग कर कवि ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। करुणापूर्ण स्थलों पर काव्य-शास्त्र के अनुसार केवल माधुर्य-व्यंजक-वर्णों का ही विधान न होने पर भी माधुर्यगुण आ गया है। सीधी, सरल एवं प्रसाद-मयी भाषा में 'भारत' का वर्णन देखिए—

चल कर आप यहाँ से नीचे, तुरत पहुँच जाना कैलास,
मन में अति आनन्द मिलेगा, तम में करते हुए प्रकाश।

---

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० ५५
२. रामचरित चन्द्रिका—पृ० ७६
३. आधुनिक काव्यधारा, पृ० १४२—डा० केसरीनारायण शुक्ल

वासुदेव ने व्रज में देखा, नारद को आते जैसे,
प्रेम-चकित सानन्द लखेंगे, तुमको भी गिरीश वैसे।
आर्यभूमि भी तुम्हें देववर, अचल दृष्टि से देखेगी,
मंगल मिलने आता है क्या ? ऐसे मन में लेखेगी।
सजल नेत्र वह भुजा बढ़ा कर, तुमको भर लेगी निज गोद,
पुत्र-भाव से द्रवित तुम्हें भी, रोना होगा सहित प्रमोद ॥[1]

जहाँ भाव-वर्णन में उत्साह, क्रोध, उद्विग्नता, तेज आदि का समावेश हैं वहाँ ओज-गुण स्वतः आ गया है। रावण-सीता संवाद में सीता का रौद्र रूप द्रष्टव्य है—

काल-विवश हो नीच ! न मुझसे कर तू व्यर्थ ठठोली,
व्याली के मुख को मूषक-शिशु नहीं चूम सकता है।
अग्नि-राशि में तृण का पुतला नहीं घूम सकता है,
भूगोलक का गेंद बना कर क्रीड़ा करे भले ही।
चाहे तू विष भी फैला दे, कभी सुधा के रस में,
पर तू मुझको कभी नहीं कर सकता है वश में ॥[2]

लंका-दहन के समय का ओजपूर्ण वर्णन देखिए—

कपि-केहरि को घेर लिया असुरों ने जाकर,
जैसे शलभ-समूह गिरे पावक को पाकर।
ताराओं के मध्य शशि-सम, कपि शोभित थे,
गज-युवकों के बीच मनो मृगपति शोभित थे।
विविध वाद्य को असुर समर में लगे बजाने,
अस्त्रों को भी कीश सिंह पर लगे चलाने।
कपि होकर के क्रुद्ध, किलक कर पुच्छ पटक कर,
लड़ने उनसे लगा, झपटकर और डपट कर।
जय जय सानुज राम, कीश-नायक की जय हो,
मैं हूँ रघुपति-दास शीघ्र असुरों का क्षय हो।[3]

काव्य के वियोग एवं करुणापूर्ण स्थलों पर माधुर्य भाव सहज ही उभर आता है। कुछ ऐसे वर्ण हैं जो पदों में गूँथे जाकर मधुर भाव की सृष्टि करते हैं। ये वर्ण यद्यपि काव्य के शरीर पर टिके रहते हैं किन्तु इनसे उपकार आत्मा का ही होता है। इसके लिए संस्कृत एवं व्रजभाषा-काव्य में मधुर वर्ण-योजना का उपयोग ही प्रशंसनीय माना गया है। किन्तु उपाध्यायजी ने अपने खड़ीबोली-काव्य में वर्ण-योजना के आश्रित नहीं अपितु कोमल भावनाओं के आधार पर माधुर्यगुण का आधान किया है—

१. देवदूत—पृ० ६
२-३. रामचरित चिन्तामणि—पृ० २२३, ७८

हे वल्लभे ! सुकुमारता से हो भरी, रोवो नहीं,
प्रण में हमारे प्रणय-वश हो विघ्न तुम होवो नहीं।
जिन पाद-पद्मों में सुमन की पाँखुड़ी गड़ती रही,
कैसे चलेंगे वे ? वहाँ जो कण्टकावृत्त है मही।
जो चन्द्रमुख ठण्डी हवा से सूखता है गेह में,
वह धाम में लू से झुलस कर हा ! मिलेगा खेह में।
चम्पाकली सी देह वह क्यों खुरखुरी भू पर कभी,
कब सो सकेगी, सो रही है फूल ऊपर जो अभी।।[1]

संक्षेप में, पं० रामचरित उपाध्याय के काव्य का समीक्षात्मक अनुशीलन, परम्परा के प्रति उनके प्रगाढ़ प्रेम का परिचय देता है। जैसा पहले भी कह आये हैं उन्होंने अमीर खुसरो की चाल पर पहेलियाँ रचीं। 'पूर्व-स्मृति' शीर्षक रचना पर रहीम के पदों की स्पष्ट छाप है। यही नहीं उन्होंने भारतेन्दु काल में रचित लावनी और जातीय गीतों की परम्परा का भी सक्षम निर्वाह किया है। द्विवेदी युग में पौराणिक आख्यानों के पुनराख्यान की पद्धति से 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' जैसे प्रबन्ध काव्य लिखे गये थे किन्तु उपाध्यायजी ने उस युग में भी राम-कथा के पुरातन रूप की रक्षा की। मुक्तक काव्य में कवि रवीन्द्र की गीतांजलि से प्रभावित होकर जब तत्कालीन कवि अन्तर्मुखी चेतना से प्रबुद्ध गीत-प्रगीत रच रहे थे तब उपाध्यायजी नीति, उपदेश, समाज-दुर्दशा, राष्ट्र आदि बाह्यार्थ-निरूपक-विषयों को ही पद्यबद्ध करते रहे।

अभिव्यंजना के क्षेत्र में भी उनकी यही दशा बनी रही। द्विवेदी युग के दूसरे चरण तक खड़ीबोली व्याकरण-सम्मत एवं परिनिष्ठित हो चुकी थी। उसके बोलचाल तथा साहित्यिक दोनों रूप प्रायः स्थिर हो गये थे। उसमें चमत्कारपूर्ण ऊहात्मक उक्तियों से लेकर गंभीरतम प्रौढ़ भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता आ चुकी थी। ऐसे युग में भी उपाध्यायजी भाषा के परिनिष्ठित रूप को भली-भाँति ग्रहण न कर सके। एक ही प्रसंग में वे कहीं क्लिष्ट तत्सम-पदावली का प्रयोग करते, तो कहीं उर्दू-मिश्रित-बोलचाल की पदावली की ओर झुक जाते। व्याकरण की दृष्टि से भी उनकी भाषा सदोष बनी रही। इस भाषा-शैथिल्य के साथ रीति-कालीन रूढ़ उपमानों के प्रयोग से एक ओर उनके काव्य में चित्रमयता, लाक्षणिक वैचित्र्य एवं सूक्ष्म व्यंजना का अभाव बना रहा तो दूसरी ओर भावाभिव्यंजन का सौष्ठव भी न आ सका। कदाचित् इसीलिए अपने युग में भी उपाध्यायजी को पर्याप्त प्रसिद्ध नहीं मिली।

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय (सं० १९४३—२०१६)

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने १८-२० वर्ष की अवस्था से ही खड़ीबोली में काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी। सं० १९६२ से 'आनन्द कादम्बिनी', 'सरस्वती', 'हिन्दी प्रदीप', 'इन्दु', 'मर्यादा', 'प्रभा', 'सम्मेलन पत्रिका' आदि साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। इनके काव्य-संग्रह 'नीति कविता' (१९०९ ई०), 'मेवाड़ गाथा' (१९१४ ई०) तथा 'पद्य-पुष्पांजलि' (१९१५ ई०) आदि नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में भी प्रकाशित हुए। विषय की दृष्टि से पाण्डेयजी की रचनाओं में वैविध्य है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है,

---

१. रामचरित चिन्तामणि—पृ० १५३

'नीति कविता' का प्रमुख विषय 'नीति' है। 'मेवाड़ गाथा', चित्तौड़ के राणा भीमसिंह के अपूर्व त्याग की कथा है और 'पद्य पुष्पांजलि' की अधिकांश रचनाओं में देशभक्ति का स्वर प्रखर है। इनके अतिरिक्त 'नदीकूल में सायंकाल' (१६०६ ई०), 'ग्रीष्म' (१६०७ ई०), 'वर्षा', (१६०७), 'हेमन्त' (१६०६), 'गरमी' (१६११ ई०), 'मंदाकिनी गंगा' (१६१७ ई०), 'जीर्णपल्लव का आशीर्वाद' (१६१४ ई०), 'धुआँधार' (१६१८ ई०), आदि कविताओं में प्रकृति का आलम्बन-रूप में चित्रण हुआ है। 'शिक्षा', 'हिन्दू विश्वविद्यालय' 'हिन्दी राष्ट्रभाषा' 'ग्राम गौरव', 'बालकाल', 'ताजमहल' आदि फुटकर कविताएँ हैं। 'तम्बाकू और मदिरा' (१६०७ ई०), 'श्री रवीन्द्र दर्शन' (१६१३ ई०), 'श्री राजापुर' (१६१७ ई०) सदृश कुछ रचनाएँ परिचयात्मक तथा कुछ मनोरंजनार्थ रची गई हैं। पाण्डेयजी ने खड़ीबोली में उड़िया काव्य तथा बंगला के कुछ अनुवाद भी किये। 'केदार-गौरी'(१६१२ ई०) राय राधानाथ के उड़िया काव्य का और 'नवाब सिराजुद्दौला की पदच्युति की मन्त्रणा' तथा 'नीलध्वज के प्रति जना' शीर्षक रचनाएँ, क्रम से बंग कवि नवीन चन्द्रसेन के 'प्लासीर युद्ध' 'एवं माइकेल मधुसूदन कृत 'वीरांगना' काव्य के (जनापत्र सर्ग) भाषान्तर हैं।[1]

अभिव्यंजना सौष्ठव

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—पाण्डेयजी की रचनाएँ द्विवेदी युगीन खड़ीबोली के क्रमिक विकास का परिचय मात्र देती हैं। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में खड़ीबोली ब्रजभाषा के सम्मोहन में फँसी प्रतीत होती है। अतः उसमें मारग, रार, हिया, तटन, आरत, परतीत, जुड़ाना, स्नान, सूल, परोसी, जरै, उज्जल, दारिद, बाँधन, धूर, सुयस, चहुँ, नहिं, जहै, तहै, नीकी, तौ, अब लौं, लै, जाकै, पै, कै, राखी, करि, बाजता, इक, लखो आदि शब्दों की भरमार मिलती है। खड़ीबोली में काव्य रचते हुए कवि बहक जाता है, देखिए—

आओ आओ विलम तजि **सभी जोहते राह तेरी,**
देखो कैसी जयध्वनि करते आरती हाथ लैके ।
आओ कीजै **सुखद तव प्रजा, राज्य भोगो अनन्त,**
पीछे प्यारी ! अवसर न तुझे और ऐसा मिलेगा।
अहो ! आओ प्यारी रुदन **इमि माता** जरति **है,**
दया कीजै, दीजै, **बल-सुयश** छाति जरति है।
प्रजा देखै **तो** मुख, **विपति भारी** सहति है,
उबारो उद्धारो दुख **विपति टारो रटति** है।[2]

मनोहारी शोभा सुखद सरिता के तटन **में,**
लगै **होने सन्ध्या तब चित्त चुरावै नरन के।**
सुहाने डोले **हैं पवन** लखिये **सौरभ युत,**
नसावै रोगादि तप त्रिविध देवै सुख महा।।[3]

---

१. पाण्डेयजी सन् १६२० के बाद भी प्रचुर मात्रा में काव्य-सृजन करते रहे।

२ पद्य पुष्पांजलि—पृ० ४८

३. आनन्द कादम्बिनी, माघ-फाल्गुन, सं० १६६३—पृ० २१०

पाण्डेयजी की सन् १९१०-१५ तक की रचनाओं में भाषा-स्वरूप की दृष्टि से घोर अनिश्चितता दृष्टिगत होती है। एक ओर तो कवि ब्रजभाषा के चंगुल से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया है, इसलिए स्थल-स्थल पर देशज प्रयोग मिलते हैं:—

जो कुछ पाते उसको झट मुंह में डारै।[१]
गुरु ब्राह्मण को भी देते अब ये गारी॥[२]
अतिसार हिन्द को पैशाचिक जु लगा है।[३]
ढूंढे तुझे कायर जीव सारे, पाते न पै वे नित मूंड मारे।[४]
कृषि कौशल वाणिज्य सभी में आगी लागी।[५]
रक्तमयी है पीठ फूट की लागी गाली।[६]
सजला, सुफला देव दुर्लभा दारिद दरनी।[७]
तौ भी परों के मुख को निहारै।
हा भूल के भी न दशा सुधारै।[८]

और दूसरी ओर शब्द-सन्धियाँ, सर्वनाम, अव्यय आदि संस्कृत-व्याकरण के अनुसार हैं, जैसे:—

अतः ध्यान दे सर्वप्रथम स्वास्थ्योन्नति में हम भाई।[९]
आयुर्वेदोद्धार कार्य की ले वे उत्तम दीक्षा।[१०]
होती सदा तू उन पेऽनुरुक्त,
पाती जहाँ है हृद उष्ण रक्त।[११]
कहाँ गये वे सकल हमारे अत्युन्नत स्वतंत्र व्यवसाय।[१२]
न्यायी, भी अवसर पड़े न्यायान्याय विसार।[१३]
कष्टोपार्जित प्रजा ग्रास हरने से उत्तम है उपवास।[१४]
आँखों से छूटने त्यों अहह! फिर लगी रक्तपूर्णाश्रुधार।[१५]
त्यागेंगे आप यों जो कुसमय उसको हो विपत्यास्त्रविघ्न।[१६]
पर कह रही कृष्णा धराते धैर्य माँ को स्वीय।
यह मरण है जननी! कदापि न सोचनीय मदीय॥[१७]

१—१२. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ३३, ४०, ४४, ४७, ३९, ६९, ७१, ४७, ३४, ३५, ४७, ५९
१३—१७. मेवाड़ गाथा—पृ० ७, ७३, ५३, ५४, ६७

निज उदर में असि भार उसको उदर से खींच यदा ।
हो रक्तमय, काटे हुए तरु-सम गिरे भू पर तदा ।।[1]

—केदार गौरी

पर भाग्य वशतः तीर राणा को लगे रिपु के नहीं ।[2]
बोले वे एकदा यों वचन दुख-पगे चित्त में खेद पाके ।[3]

साथ ही संस्कृत शब्दों के अशुद्ध प्रयोगों की भी कमी नहीं है, यथा—

हीन से हीन नर अस्पर्ष्य अपने मित्र हों ।[4] (अस्पृश्य)
देश के हित के लिये निज प्राण-पन से रक्त थे ।[5] (अनुरक्त)
वह तप बल सारी शृष्टि सन्तापहारी ।[6] (सृष्टि)
जैसे गई तू तज देवि जेष्टा,
भग्नी सभी छोड़ मुझे सिधारी ।[7] (ज्येष्ठा, भगिनी)
शोकित सबका मन है, सबका अति मलीन मुख है ।[8] (शोकयुक्त)
अन्याय कैसा करके अपार, उन्हें विनाशा यह पार्थ छार ।[9] (विनाश)

इनके अतिरिक्त शष्य (शस्य), पूरण (पूर्ण), स्वान (श्वान). राज्याशन (राज्य शासन), दारिद्य (दारिद्रय), सुयस (सुयश), मनोहरा (मनोहर), उदारा (उदार), द्वारा (द्वार) आदि शब्दों की विकृति का कारण मात्रा अथवा तुक के आग्रह के अलावा श्रुति-माधुर्य लाने का प्रयास भी लक्षित होता है। भाषा की यह अव्यवस्था यहीं तक रहती तो भी गनीमत थी किन्तु इसमें कहीं बोलचाल की भाषा के आइयो, जाइयो, इनने, जिनने, उनने आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं और कहीं शब्द-चयन पर उर्दू का प्रभाव दिखाई देता है, देखिए—

व छोड़ा चहो माँगना भीख दरदर,
करो तो सदा वस्तु देशी का आदर ।।[10]

प भाई तुम्हारे इसी देश वाले,
कहाते हैं काहिल कुली और काले ।[11]

अपार शोभा समुद्र में है,
निमग्न माना य भूमिधारी ।[12] मदाकिनी गंगा'

---

१. सरस्वती, सन् १९१२, भाग १३, सं० ५—पृ० २५६
२-३. मेवाड़ गाथा—पृ० ३०, ४६
४—९. पद्य पुष्पांजलि—पृ० १८, ४७, ७८, ६६, ५२, ५२
१०. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ५—पृ० २५८
११. मेवाड़ गाथा—पृ० २८
१२. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ६

त्रय बार उनने काट मुगलों को प्रखर तरवार से ।[1]

हरा इन्द्र का जिनने गर्व है वे सुत तेरे ही सर्व ।[2]

उचित अपने कर्म का पालन करो हे भाइयो ।
यातना कट जायगी तज धैर्य मत घबड़ाइयो ।
दुख के संगीत को बस आज से बिसराइयो ।
सुख तथा स्वाधीनता का गान सुख से गाइयो ॥[3]

करो चेत भारत य आरत बहुत है,
न देरी किये देश की खैरियत है ।
न बिगड़ा अभी तक है कुछ देखा भाई ।
अगर तुम में हो धर्म औ धीरताई ॥[4]

काव्य में श्रुति-कटुत्व, अप्रयुक्तत्व, अप्रतीतार्थ-दोष आदि के अतिरिक्त व्याकरण-दोष भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

वचन-दोष

भूख से मरता हुआ करता नहीं है पाप क्या ?
पाप में फँस लोग हा ! पाता नहीं है ताप क्या ।[5]

लिंग-दोष

ध्येय उनकी मुख्य होती देश की स्वाधीनता ।[6]

कारक-दोष

नहिं कान-सुनाई देता लाख पुकारे,
है कण्ठ सूख हा ! गया भूख के मारे ।[7] (कान से सुनाई)

व्याघ्र भेड़िये आदि हिंस्र पशुओं से रक्षित रखने-काज ।[8] (के काज)

कहाँ आज सोते हो राजे हमारे ।[9] (हे राजा !)

वाक्य-रचना में न्यूनपदत्व-दोष, अधिकपदत्व-दोष, तथा अर्थान्तरैकवाचक दोष इतने हैं कि अभीष्ट अर्थ का अपकर्ष हो गया है । निम्न अवतरणों में कारक-चिह्न एवं वाक्य-विन्यास के दुष्प्रयोग के कारण अर्थ का अनर्थ देखिए—

१—५. पद्य पुष्पांजलि—पृ० १५, ४२, १५, ४२, १२
६. मेवाड़ गाथा—पृ० ३
७. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ३२
८-९. मेवाड़ गाथा—पृ० ४०, ४३

निर्भीक नंगे सिर बादशाह को,
दरबार में जा मुजरा किया अहा !
प्रताप सम्मानित भाट ने जहाँ,
लगे उसे कारण पूछने सभी ॥[1]

कवि का तात्पर्य है कि 'निर्भीक नंगे सिर से बादशाह के दरबार में जाकर मुजरा किया अहा ! (उस) भाट ने जहाँ वह कभी प्रताप (द्वारा सम्मानित हुआ था) (इसलिए उसके नंगे सिर का) कारण उससे सभी पूछने लगे ।'

कुछ स्थलों पर छन्द की मात्राओं को पूरा करने के लिये अनावश्यक ही शब्द प्रयुक्त कर दिये हैं जिससे 'अधिकपदत्वदोष' आ गया है—

कर लेने पर भाग, मिली जो सबको केवल ही एकेक,
आधी खाने लगे, छोड़ आधी, आधी फिर को प्रत्येक ।[2]

काव्य में वाक्य-विन्यास भी विचित्र है । कहीं एक ही क्रिया से दो वाक्य अन्वित किये गये हैं और कहीं अनावश्यक ही क्रियाओं का बाहुल्य दृष्टिगत होता है, जैसे—

विषम भय मेरा सदा मम शत्रुओं को है विशेष,
लेश न कि उनका मुझे, इसमें नहीं गर्वोक्ति लेश ।[3]

दिन भर थका था अश्व चेतक, फिर हुआ घायल रहा,
तो भी रुका न कहीं रहा यों पराक्रमशाली महा ॥[4]

एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में आ जाना 'संकीर्णपदत्व दोष' कहलाता है । पाण्डेयजी की रचनाओं में इसकी भी कमी नहीं, देखिए—

मेरा सर्वस्व ही है तन सहित प्रभो भूपते ! आपका ही,
भागी हूँगा न दूँ जो तन-धन नृप के हेतु, मैं पाप का ही ।[5]

मंत्री पा हो गया मैं सुचतुर तुम सा आज मामा ! कृतार्थ ।[6]

इसके अतिरिक्त बीच-बीच में भाषा गद्यवत्, शिथिल एवं प्रवाहहीन हो गई है, देखिए—

है और तो क्या वर भाट एक था,
दी थी जिसे ही पगड़ी प्रताप ने,
दिल्ली गया सो मुजरा निमित्त तो,
ले हाथ में ली पगड़ी उतार के ।[7]

माता पिता कहाँ कर रहा, औरत बच्चे भाई कहाँ,
कहाँ अकेले घन जंगल में फिरते दुख से दिन जाते ।

१. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ५१
२—७. मेवाड़ गाथा—४०, २०, २१, ५७, ६०, ४०

बुरी कहीं की है जलवायु, जिससे पल-पल घटती आयु,
रोगाक्रान्त पुनः हो सके हीन वीर्य हो पछताते ।[1]

हाँ, प्रकृति-वर्णन में कवि का भावुक हृदय अधिक रमा है, अतः 'ग्रीष्म', 'वर्षा', 'हेमन्त', 'कृषक' आदि रचनाओं की भाषा अपेक्षाकृत सुगठित एवं सुव्यवस्थित है। सन् १६१५ के पश्चात् पाण्डेयजी के काव्य में भाषा निश्चित रूप से प्रवाहमयी, संस्कृतनिष्ठ एवं परिनिष्ठित मिलती है। 'धुआँधार' (१६१८) की प्रवाहपूर्ण भाषा में सुन्दर वर्ण-योजना का योगदान द्रष्टव्य है :—

नहीं वीर-गति रोक सकें बाधायें शतशत,
जल-प्रवाह प्राखर्यपूर्ण धारा अप्रतिहत।
रव झरझर सुखकर सुभग धारा दुग्ध-समान,
प्रखर प्रवाह प्रताप-युग, नीर पतन-उत्थान।
नीर पतन-उत्थान, शैल-सुषमा से शोभित,
उत्थित घूमाकार जहाँ है जलकण अगणित।
करते रविकर इन्द्रधनुषमय जिसका अवयव,
धुआँधार का दृश्य नर्मदा ताण्डव भैरव ॥[2]

लोकोक्ति-मुहावरे :—पाण्डेयजी के प्रारम्भिक काव्य में मुहावरेदार भाषा का उपयोग अधिक हुआ है। समय का पलटा खाना, काया पलट होना, बोलबाला, बीड़ा उठाना, खून ठंडा होना, होश-हवास न रहना, सिर झुकाना, छाती फटना, स्वाहा होना, मुख मोड़ना, मुँह काला करना, गला काटना, दम फूलना, पीठ दिखलाना, कमर कसना, सोलह आना, दिन दूनी रात चौगुनी आदि मुहावरों से भाषा में चलतापन आ गया है, यथा—

हिन्दी भाषा का उद्धार, कर उसका सब करो प्रचार,
जिससे सरल नागरी लिपि का घर-घर होय बोलबाला।
सुन्दर सुखद सनातन धर्म, भिन्न-भिन्न वर्णाश्रम कर्म,
पालो, तुम सब पाखण्डों का कर दो झटपट मुँह काला।[3]

एक विद्या बिना हम हो रहे तेरह तीन।[4]

किन्तु कहीं-कहीं कवि ने पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर लिया है जिससे मुहावरे सर्वथा विकृत एवं अशक्त हो गए हैं—

कर्तव्य से आनन को न मोड़ो।[5]

भाषा का अपमान कुटिलता का है टीका।[6]

---

१. इन्दु, सन् १६१३, कला ४, किरण १—पृ० ६१
२. सरस्वती, सन् १६१८, भाग १६, सं० ५—पृ० २४८
३. इन्दु, सन् १६१३, कला ४, किरण १—पृ० ६१
४-६. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ७६, ५५, ८६

अलंकार, शब्दशक्ति आदि :—पाण्डेयजी की कविताओं को काव्य-शास्त्र की कसौटियों पर परखने पर भी निराश होना पड़ता है। क्योंकि यों तो अनुप्रास-यमक आदि शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार अभिव्यक्ति में अनायास आ जाने स्वाभाविक होते हैं, किन्तु जब तक वे कवि के भावों अथवा उद्वेगों को चमत्कृत कर पाठक तक उन्हें यथावत् प्रेषित करने में सहायक न हों, उनका उपयोग महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से पाण्डेयजी की कविताओं में जो अलंकार उपलब्ध होते हैं उनमें कोई उल्लेखनीय विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती, देखिए—

उपमा

तेरे गुण गण भू-कण'सम अगणित जननी।[1]

है विकट अस्त्र विनिमय प्रकट, कवच सत्य व्यवहार है।[2]

कवच है दृढ़ भारतवर्ष का सरल शान्त किसान समूह ये,
कृषि सुधामय जीवन प्राण है, कृषक का बल पा हम धन्य हैं।[3]

वीर तुम मेरी प्रजा, मेरा किला हो एक मात्र,
कवच है मेरा सुदृढ़ बस यह तुम्हारा विमल गात्र।[4]

हिम ग्रसित निष्प्रभ कंज-सम अति मलिन मुख का रंग है।[5]

—'केदार-गौरी'

रूपक

करो न कलह कलंक पंक से अंक विलेपन।[6]

उत्प्रेक्षा

बड़े काले काले सिखर चहुँ घेरे सरित को,
मनो माया लेती लपटि जग को घोर तम से।
नदी काटै उसको जिस तरह माया जगत को,
तजे ब्रह्म-ज्ञानी, उदधि महँ जावे मगन हो।[7]

—'नदी-कूल में सायंकाल'

व्यतिरेक

स्वर्ग-सुख थे तुच्छ गिनते देवगण लख कर जिसे,
प्राप्त था सौभाग्य ऐसा और भूतल पर किसे ?
देव-दुर्लभ इस मही में जन्म-धारण के लिए,
हो रहे सब काल थे सुर-वृन्द लालायित हिए।[8]

१—३. पद्य पुष्पांजलि—पृ० २, ५३, २८
४. मेवाड़ गाथा—पृ० २०
५. सरस्वती, सन् १९१२, भाग १३, सं० ५—पृ० २५६
६. मेवाड़ गाथा—पृ० १७
७. आनन्द कादम्बिनी, सं० १९६३, माघ-फाल्गुन—पृ० २१०
८. पद्य पुष्पांजलि—पृ० ८

विशेषोक्ति

श्रवण हैं पर ये सुनते नहीं, व्यथित बान्धव आरत-नाद को।
नयन हैं पर ये लखते नहीं, स्वजन के दुख-दारिद-दुर्दशा ॥[1]

दृष्टान्त

जननी अभागिन देखकर निज सुता का यह हाल,
वात्सल्य वशतः रो रही है हो विकल-बेहाल।
निज अंग से कोमल कमल को देख होता छिन्न,
उसके विरह से क्या न मंजु मृणाल होता खिन्न।[2]

उदाहरण

हा, अन्त में दल मुगलगण का अधिक ही बढ़ता चला,
यों फिर गए राणा वहाँ, घन से यथा शशि की कला।[3]

'मेवाड़-गाथा' में यद्यपि भाषा गद्यवत् सरल एवं सीधी है, तथापि उसमें अर्थान्तरन्यास के सहारे कहीं-कहीं सुन्दर चित्र खड़े किये गये हैं, देखिए—

काट कर योद्धा अनेकों शाहजादे के निकट,
पहुँच ही राणा गए रण-दृश्य को करते विकट।
वीर अपने मार्ग में लख विघ्न रुकते हैं नहीं,
वज्र जो गिरता गगन में वह न रुकता है कहीं।[4]

धन-पाश से हो बद्ध जोधपुरेश द्वारा हाय,
यह क्रूर यवन अमीर खाँ रच रहा घृणित उपाय।
बलहीन लख मेवाड़-पति को है दिखाता त्रास,
हैं स्वान भी पा समय करते सिंह से परिहास।[5]

'केदार-गौरी' में भी एकाध स्थल पर उपमा, अपह्नुति आदि अलंकारों के सहारे सुन्दर भावाभिव्यंजन हुआ है, किन्तु है वह मूल काव्य की प्रतिच्छाया ही, जैसे—

देखा, युगल युवती-युवक हैं सर्वदा को सो रहे,
शोभित सुमुख-मण्डल विमल मुकुलित कमल सम हो रहे।
वन-देवियाँ हो मुग्ध उनके इस अलौकिक काज से,
बरसा गई हैं फूल मानो उडुगणों के व्याज से।[6]

—'केदार-गौरी'

कवि ने शब्दालंकारों के प्रयोग में विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की है। यत्र-तत्र यमक, अनुप्रास, आदि मिलते तो हैं किन्तु उनसे काव्य में विशेष चमत्कार नहीं आया है, उदाहरणार्थ—

---

१. पद्य पुष्पांजलि—पृ० २६
२—५. मेवाड़ गाथा—पृ० ६७, २८, २७, ६४
६. सरस्वती, सन १९१२, भाग १३, सं० ५

यमक

देव को हम दे रहे बदनाम आठों याम हैं,
कर रहे कर से सदा पर पतन के ही काम हैं।[1]

प्रताप है आकर स्वाभिमान का, महोच्च अहा ! उसका प्रताप है।[2]

वृत्यनुप्रास

नय-नीति-निपुणता-निधि नव-नागर तू है,
स्वातंत्र्य-शान्ति, सुख-शासन, सागर तू है।
साहित्य, शिल्प, समुदाय, शिक्षा-सर तू है,
शुचि सृष्टि-सार सौरभ-शोभाकर तू है।[3]

देशभक्ति का प्रजा-शक्ति का निलय-न्याय-अवतार,
अघ-अनीति का ईति-भीति का नाशक, विगत-विकार।[4]

—'हमारा प्यारा भारतवर्ष'

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय की रचनाओं में कवि-प्रतिभा तथा प्रौढ़ता का विशेष परिचय नहीं मिलता। कविताएँ अधिकांशतः विषय-प्रधान हैं और भाषा अपरिष्कृत, व्याकरणहीन और स्वच्छन्द। वाक्य-विन्यास के दोषों के कारण उसमें प्रवाह भी नहीं रहा। साथ ही अलंकारहीनता तथा शब्दों में व्यंजक शक्ति के अभाव से कविता निष्प्राण एवं निस्तेज सी हो गई है। काव्य में सौन्दर्य-विधायक-उपादानों के ऐसे घोर अभाव के कारण ही कदाचित् पाण्डेय-काव्य अमर न हो पाया। और रचनाओं की इस इतिवृत्तात्मकता को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि, "(पाण्डेयजी की) भाषा की गद्यवत् सरल-सीधी गति उस रचना-प्रवृत्ति का पता देती है जो द्विवेदीजी के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी।"[5]

मैथिलीशरण गुप्त (सं० १९४३–वर्त्तमान)

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की छत्रच्छाया में जिन तरुण कवियों की काव्य-प्रतिभा को प्रोत्साहन एवं विकास के लिए अवसर मिला उनमें मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे प्रमुख है। कहा जाता है कि गुप्तजी नें सन् १९०३-४ में 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ एक छोटी-सी खड़ीबोली कविता भेजी थी; सम्पादक ने वह कविता कुछ निर्देशों-सहित लेखक के पास वापिस भेज दी। यही संशोधित कविता 'हेमन्त' नाम से 'सरस्वती', सन् १९०५ के जनवरी अंक में प्रकाशित हुई जो गुप्तजी की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना मानी जाती है।[6] इसके बाद

१. पद्य पुष्पांजलि—पृ० १२
२. मेवाड़ गाथा—पृ० ३९
३. पद्य पुष्पांजलि—पृ० १
४. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ३—पृ० ११३
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२१—पं० रामचन्द्र शुक्ल
६. द्र०—मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन—डॉ० रामरतन भटनागर

'सरस्वती' के सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और कवि मैथिलीशरण गुप्त में वर्षों तक पत्र-व्यवहार होता रहा। द्विवेदीजी को जब किसी विशेष विषय पर खड़ीबोली में कविता लिखवानी होती तब गुप्तजी ही आगे आते और उनकी भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं को ध्यान में रखकर उस विषय को पद्यबद्ध कर देते। इस प्रकार द्विवेदीजी की प्रेरणा के फलस्वरूप गुप्तजी ने पाँच-छह वर्ष में ही पौराणिक एवं ऐतिहासिक चित्रों तथा देश-समाज आदि सामयिक विषयों पर विपुल पद्य-रचना कर डाली। 'सरस्वती' के पाठकों द्वारा समादृत होकर कवि 'मर्यादा', 'प्रभा', 'विद्यार्थी', 'प्रतिभा', 'श्री शारदा' आदि सभी पत्रिकाओं में अपना स्थान बनाता चला गया। इस प्रकार सन् १९२० तक, काल-क्रमानुसार गुप्तजी के 'रंग में भंग' (१९०९ ई०), 'जयद्रथ वध' (१९१० ई०), 'पद्य प्रबन्ध' (१९१२ ई०), 'भारत भारती' (१९१४ ई०), 'विरहिणी ब्रजांगना' (१९१४ ई०), 'किसान' (१९१७ ई०), 'विकट भट' (१९१८ ई०), 'वैतालिक' (१९१९ ई०), 'पत्रावली' (१९१९ ई०), 'शकुन्तला' (१९२० ई०), 'पलासी का युद्ध' (१९२० ई०), 'साकेत'[१] (प्रथम पाँच सर्ग) तथा 'वीरांगना' (दो पत्र)[२] आदि अनेक छोटे-बड़े काव्य पत्रिकाओं में अथवा स्वतन्त्र ग्रंथ-रूप में प्रकाशित हुए। इनमें से 'पद्य प्रबन्ध' गुप्तजी के सन् १९१० तक के प्रारम्भिक प्रयासों का संकलन है। शेष दस वर्ष का प्रकाशित मुक्तक काव्य द्विवेदीजी के 'कविता कलाप' तथा स्वयं कवि-संकलित 'मंगल घट', 'झंकार' तथा 'स्वदेश-संगीत' शीर्षक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। उल्लिखित रचनाओं में से 'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना' तथा 'पलासी का युद्ध' क्रम से माइकेल मधुसूदन विरचित बंगला-काव्य 'ब्रजांगना', और 'वीरांगना' तथा नवीन चन्द्रसेन के 'पलाशीर युद्ध' के अनुवाद हैं। इनके अतिरिक्त महाकवि कालिदास विरचित 'रघुवंश' के नवम सर्ग के २५—६८ श्लोक, (४६, ४७ श्लोक अनूदित नहीं हैं) 'महाकवि कालिदास का वसन्त वर्णन' (१९०७ ई०) और 'महाराज दशरथ का आखेट' (१९०७ ई०) शीर्षक रचनाओं के नाम से अनूदित हैं। साथ ही, शिशुपाल वध से 'सन्ध्या वर्णन' (१९१०) तथा संस्कृत की सात अन्योक्तियों का 'अन्योक्ति सप्तक' नाम से अनुवाद विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

मौलिक काव्य—(विषय-वस्तु)—गुप्तजी का मौलिक काव्य विषय एवं काव्य-रूप की दृष्टि से स्थूलतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रबन्ध काव्य एवं मुक्तक काव्य।

प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत कवि के 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'शकुन्तला'[३] शीर्षक खण्ड-काव्यों के अतिरिक्त 'साकेत' भी उल्लेखनीय है। क्योंकि 'साकेत' का पूर्वार्द्ध भाग (प्रथम पाँच सर्ग) आलोच्य काल में ही प्रकाशित हो चुका था और सन् १९२० तक उसकी एक

---

१. साकेत—प्रथम सर्ग (जून १९१६ ई०), द्वितीय सर्ग (जुलाई १९१६ ई०), तृतीय सर्ग (जनवरी १९१७ ई०), चतुर्थ सर्ग (मई १९१७ ई०), पंचम सर्ग (जुलाई १९१८ ई०)।

२. वीरांगना—दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला (मई १९१८ ई०), अर्जुन के प्रति द्रौपदी (फरवरी १९१९ ई०)

३. डॉ० उमाकान्त ने अपने शोध-प्रबन्ध में 'शकुन्तला' के अनेक छन्दों का कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् की छाप देखकर उसे मौलिक ग्रन्थ मानने से इंकार किया है किन्तु अनूदित ग्रन्थों में फिर भी उसे स्थान नहीं दिया। अतएव यहाँ भी इसको मौलिक काव्य के अन्तर्गत ले लिया गया है।

निश्चित रूपरेखा भी बन गई थी। गुप्तजी की काव्य-रचना प्रारम्भ से ही सोद्देश्य थी।[1] कदाचित् 'कान्ता सम्मित उपदेश' देने के आग्रह से उन्होंने इतिहास और पुराणों से मार्मिक कथांश ग्रहण कर उनके पुनराख्यान का प्रयत्न किया था। 'रंग में भंग' गैनौली-नरेश लालसिंह की मिथ्या अपमान-भावना से प्रेरित लाखों जीवनों के बलिदान की कथा है। प्रतिशोध की भावना ने भारतीय राष्ट्र और समाज को कितना दूषित एवं जर्जर कर दिया है तथा उससे मानव-जाति का कितना ह्रास होता जा रहा है इस ओर कवि ने संकेत किया है। 'जयद्रथ वध' का आधार महाभारत है। भाव की दृष्टि से इसमें असत् शक्ति से संग्राम करने वाले सत् के प्रतीक वीर एवं आत्मोत्सर्गी युवा अभिमन्यु का चरित्र अंकित है। 'शकुन्तला' दुष्यन्त-शकुन्तला के गन्धर्व-विवाह, त्याग तथा मिलन की कथा है। 'शकुन्तला' विषयक तीन रचनाएँ—'शकुन्तला को दुर्वासा का अभिशाप' (१९०९ ई०) 'शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद' (१९११ ई०), 'शकुन्तला' (१९१४ ई०)—सरस्वती के चित्र-परिचय के रूप में प्रकाशित हो चुकी थीं जो इस काव्य में संगृहीत हैं। द्विवेदीजी का 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख 'साकेत' के रूप में प्रतिफलित हुआ है। पाँचवाँ सर्ग रामवनवास के उपरान्त राम, लक्ष्मण और सीता के चित्रकूट पर निवास करने की कथा तक आकर समाप्त हो जाता है।

(२) मुक्तक काव्य में भी दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ आख्यानात्मक हैं और कुछ फुटकर। 'किसान' में कवि ने तत्कालीन भारतीय किसानों की करुणाजनक अवस्था का दिग्दर्शन कराया है। काव्य का कथानक सर्वथा काल्पनिक है। एक भारतीय किसान-दम्पति ऋणग्रस्त पिता की मृत्यु के उपरान्त साहु, महाजन एवं ज़मींदार द्वारा पीड़ित होकर कुली-प्रथा के शिकार हो जाते हैं और अन्त में टिगरिस नदी के तट पर ही प्राण त्याग कर देते हैं। 'विकट भट' अतुकान्त काव्य है जिसका प्रतिपाद्य राजपूत-इतिहास की एक अप्रसिद्ध किन्तु शिक्षाप्रद कथा है। 'पत्रावली' ऐतिहासिक आधार पर लिखित सात पद्यात्मक पत्रों का संग्रह है जिनमें से अधिकांश 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। इन पत्रों में असाधारण शक्ति-सम्पन्न मानवों के चरित्र-स्खलन पर इष्टजनों का क्षोभ तथा उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित करना वर्णित है। चित्रों पर रचित कविताएँ भी पौराणिक या ऐतिहासिक लघु आख्यान ही हैं यथा 'उत्तरा का उत्ताप', 'कीचक की नीचता', 'कुन्ती और कर्ण', 'गर्विता', 'रत्नावली', 'रण-निमंत्रण', 'सलज्जा', 'सीताजी का पृथ्वी-प्रवेश', 'मुनि का मोह', 'गोवर्द्धन-धारण', 'धृतराष्ट्र और संजय', 'प्रह्लाद', 'वनवास', 'सुलोचना का चितारोहण', 'केशों की कथा', 'विरहिणी सीता', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', 'द्रौपदी-हरण' आदि। 'मक्खीचूस', 'निन्यानवे का फेर', 'न्यायादर्श', 'वीररत्न बाजी प्रभु देशपाण्डे' आदि में लौकिक कथाएँ पद्यबद्ध हैं। शेष फुटकर काव्य का विषय राष्ट्र और समाज है। 'भारत भारती' राष्ट्रीय चेतना एवं जागृति उत्पन्न करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। गुप्तजी ने लिखा है कि कुर्रीसुदौली के अधिपति रामपालसिंह ने मौलाना हाली के मुसद्दस को लक्ष्य करके इस ढंग

१. द्र० "हिन्दी कविता किस ढंग की हो"—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६७७, सरस्वती, भाग १५, सन् १९१४, सं० ६

की एक कविता-पुस्तक हिन्दुओं के लिए लिखने का उनसे अनुग्रहपूर्वक अनुरोध किया था।[1] इसलिए 'भारत भारती' पर 'मुसद्दसे हाली' और 'मुसद्दसे कैफ़ी' का बहुत प्रभाव है। 'वैतालिक' का प्रणयन भी भारतीयों के उद्बोधनार्थ हुआ है। इनके अतिरिक्त 'शिक्षा', 'मातृभूमि', 'ब्रह्मचर्य का अभाव', 'स्वर्गीय संगीत', 'उद्बोधन', 'पंजरबद्ध कीर', 'महाराजा राजसिंह का पत्र', 'जय जय भारत माता', 'स्वर्ग-सहोदर', 'प्राचीन भारत', 'गांधीगीत', 'विजय भेरी', 'स्वदेश संगीत', 'जगौरी प्रेरणा', 'कर्मवीर बनो', 'स्वराज्य की अभिलाषा' आदि में भी भारत के गौरवपूर्ण अतीत एवं दुःखद वर्तमान का ही स्वर प्रतिध्वनित होता है। 'राघवेन्द्र स्तव', 'विनय', 'रामनवमी' आदि में ईश्वर-प्रशस्ति है। 'अनुरोध', 'यात्री', 'खेल', 'स्वयमागत', 'हाट', 'मोह', 'प्रभु की प्राप्ति', 'आश्वासन' आदि पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों की प्रतिच्छाया है जो रहस्यवाद के विकास का संकेत देते हैं। निरालाजी ने 'गीतिका' में कहा है कि गीति-प्रतिभा का प्रथम परिचय उन्हें गुप्तजी के 'प्रणाम' (१९२० ई०) से ही मिला था। 'हेमन्त', 'निदाघ-वर्णन', 'वर्षा-वर्णन', 'होली में हर्ष' आदि में शुद्ध प्रकृति वर्णन है जिनपर कालिदास के 'ऋतुसंहार' की छाया दृष्टिगत होती है। शेष फुटकर विषयों अथवा सामयिक घटनाओं पर विरचित 'ग्रंथ-गुणगान', 'सुकवि-संकीर्त्तन', 'नागरी और हिन्दी', 'कुकवि-संकीर्त्तन', 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 'प्रयाग की प्रदर्शनी', 'प्रणय की महिमा', 'क्रोधाष्टक', 'ग्राम्य जीवन', 'हिन्दू विश्वविद्यालय', 'राज्याभिषेक', 'टाइटानिक की सिन्धु समाधि', 'संसार', 'मृत्यु', 'सम्बोधन', 'अन्योक्ति पुष्पावली' आदि उल्लेखनीय हैं।

अभिव्यंजना पक्ष

मैथिलीशरण गुप्त का अधिकांश प्रौढ़ काव्य द्विवेदी-युग के बाद आता है परन्तु उसमें जो प्रवृत्तियाँ विकसित हुई उनका सूत्रपात द्विवेदी-युग में ही हो चुका था। कला, भाषा, शैली आदि की दृष्टि से समस्त गुप्त-काव्य, द्विवेदी-युग में रचित काव्य की परिणति ही है। उसके पश्चात् कवि ने कोई नई साहित्यिक शैली नहीं अपनाई। कदाचित् इसीलिए 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'नहुष' आदि में से कोई भी काव्य छायावाद काव्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि गुप्तजी के इन बीस वर्षों के काव्य के अध्ययन से उनकी अभिव्यंजना-कला का सम्यक् बोध हो जाता है।

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—भाषा की दृष्टि से गुप्तजी का प्रारंभिक काव्य प्रयोगात्मक कहा जा सकता है। क्योंकि इन रचनाओं की खड़ीबोली इस युग की अन्य काव्य-कृतियों की तुलना में अधिक परिमार्जित एवं व्याकरण-सम्मत होते हुए भी कुछ अनिश्चित स्थिति में दिखलाई पड़ती है। उसमें कहीं तो तत्सम और अप्रचलित सन्धिज शब्द या समस्त पदावली की प्रवृत्ति मिलती है, जैसे त्वदीय, उद्वाह, तिरस्क्रिया, त्वेष, औदास्य, सौख्य, हृद्रोध, असद्वस्तु, जनकात्मजाया, अनिलानल, करुणैकधाम, चंचलालोक, शुद्ध्यर्थ, तच्चिह्न, स्वाश्रयानन्दकारी, सद्भावांकुर, यथोर्थ, मृदुलालाप, धनदोपम, नभोपमान, दशग्रीवाराति, कारुण्यार्द्र, वीरवर्योचित वत्सलांछन, अन्नोत्पन्न, तत्पूत्यर्थ, मृत्युकालावसन्न, तद्याहृष्टि,

---

१. भारत भारती, प्रस्तावना, पृ० २-३—मैथिलीशरण गुप्त

पुण्याश्रमोद्यान, स्वजनोपाय, मिथ्याऽलीक, मृगयाऽभिनय, प्रथमापराध, श्रीमद्रामचन्द्र आदि; और कहीं जौ, लौं, तौ, पै, दीखना, करियो, हरियो, लीजो, दीजो, बैठाल, जानियो आदि प्रान्तीय और पंडिताऊ प्रयोग मिल जाते हैं। चारु-चित्र-विचित्र, भव्य-भाव-प्रभाव, कमलदल के तरलतर, चरण-करुण-आभरण, फूल-फल-पल्लव, कलित अति ललित विटपावली, सुजन-संयुत, परमार्थ यथार्थ-सार्थ आदि में कवि पर शब्द-मैत्री का नहीं अपितु अनुप्रास का मोह ही हावी लगता है। इससे भाषा में कृत्रिमता के साथ प्रवाह-हीनता का दोष भी सन्निविष्ट हो गया है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों में देखिए, संस्कृत के सम्मोहन में गुप्तजी ने ऐसे तत्सम एवं समस्त शब्दों का उपयोग किया है जो व्याकरण-सम्मत होते हुए भी भाषा-सौन्दर्य के अपकर्षक हैं :—

> सहस्र विद्युद्द्युति से विशेष, हे देवि ! तेरा दृगसह्य वेश।
> सर्वान्तकारी बल है त्वदीय, संसार-लीला स्थल है त्वदीय॥[1]
>
> —'मृत्यु'

> पश्वादि भी निज स्वामियों के भाव को पहचानते,
> सब निज जनों के दुख में दुख, सौख्य में सुख मानते॥[2]
>
> —'जयद्रथ वध'

> राज-सभा में नृप-सुता आई लज्जाऽसक्त॥[3]
>
> —'मुनि का मोह'

> तो द्वार बन्द कर ओष्ठ-कपाट से यों,
> तद्दन्त दाड़िम मुखालय में छिपे क्यों॥[4]
>
> —'मालती-महिमा'

> कुमुद्वती का दिवस हास्य ही हर लेता है।[5]
>
> —'शकुन्तला'

> सिंहासनस्थ रमा-सहित शोभित वहाँ भगवान थे।[6]
>
> —'जयद्रथ वध'

परिनिष्ठित खड़ीबोली में इस प्रकार की पद-योजना ग्राह्य नहीं होती। इनके अतिरिक्त संस्कृत शब्दों के कुछ ऐसे अस्वाभाविक प्रयोग भी मिल जाते हैं जो खड़ीबोली की सहजता में खप नहीं पाये, यथा—

> अतएव उनके स्कन्ध पर हरि ने करारोपण किया।[7]
>
> —'जयद्रथ वध'

---

१. पद्य प्रबन्ध—पृ० १४८
२. जयद्रथ वध—पृ० ८९
३. पद्य प्रबन्ध—पृ० २०
४. कविता कलाप—पृ० ३१
५. शकुन्तला—पृ० १६
६–७. जयद्रथ वध—पृ० ५३, ५०

वहाँ उन्होंने अति ही विचित्र, आघ्राण की एक सुगन्ध-मित्र।[1]

—'भीष्म-प्रतिज्ञा'

रहिए रहिए, उचित नहीं उत्थान यह,
देते हैं श्रीमान किसे बहुमान यह।[2]

—'साकेत' (पंचम सर्ग)

यहाँ 'हाथ रखने', 'सूँघने' और 'उठने' के स्थान पर क्रम से 'करारोपण', 'आघ्राण की', 'उत्थान' जैसे दुष्पाच्य संस्कृत-शब्दों के साथ प्रान्तीय अथवा बोलचाल के शब्द भी सम्मिश्रित हो गये हैं। परिणामतः कवि की भाषा और भी अस्थिर एवं अनिश्चित दृष्टिगत होती है, जैसे—

प्रान्तीय शब्द-सम्मिश्रण

किसकी इतनी महिमा वर है?
इस पै सब विश्व निछावर है।[3]

—'स्वर्ग सहोदर'

रहेगी इसी भाँति तू रंग जौ लौं,
न होगी कभी बुद्धि की वृद्धि तौ लौं।[4]

—'हिन्दी की वर्तमान दशा'

होते हमें स्मरण हैं जब लौं न नीके,
भ्रू-चाप में युगल मंजुल मालती के।[5]

—'मालती-महिमा'

बोलचाल का शब्द-सम्मिश्रण

त्योंही अपना हित मुने! लीजो मुझ से जान।[6]

—'मुनि का मोह'

बढ़ने अगाड़ी ही लगे वे शीघ्र तिरछी चाल से।[7]

—'जयद्रथ वध'

तनिक कनोखी अँखियों से, अजब अनोखी अँखियों से।
प्रभु ने उधर दृष्टि डाली, दीख पड़ी दृढ़ हृदयाली॥[8]

—'साकेत' (चतुर्थ सर्ग)

हैं करों में भूरि-भूरि भराइयाँ,
लचक जातीं अन्यथा न कलाइयाँ।[9]

—'साकेत' (पंचम सर्ग)

१. कविता कलाप—पृ० ३३
२. साकेत—पृ० ६६
३-४. पद्य प्रबन्ध—पृ० ३५, ६७
५. कविता कलाप—पृ० २३
६. पद्य प्रबन्ध—पृ० १६
७. जयद्रथ वध—पृ० ७५
८-९. साकेत—पृ० ७७, २०

भाषा की इसी अस्थिरता के कारण प्रारम्भिक काव्य में कहीं खड़ीबोली अत्यन्त तत्सम-प्रधान एवं क्लिष्ट-पदावली-संयुत, कहीं उर्दू की रवानगी लिए ठेठ बोलचाल की छटा में और कहीं प्रांजल व्यास-प्रधान शैली में दिखाई पड़ती है। तीनों प्रकार के एक-एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा—

तत्सम-प्रधान क्लिष्ट भाषा

सिंहासनस्थित प्रिया युग सौख्यकारी,
सौदामिनी-सहित नीरद-कान्तिहारी।
त्रैलोक्यनाथ सुर-पूजित पाद-पद्म,
श्रीराघवेन्द्र भज रे मन! छोड़ छद्म॥
सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी आदि माया,
हैं वाम भाग जिनके जनकात्मजाया।
वे रामचन्द्र भगवान दयानिधान,
देवें हमें नित कृपा कर दिव्य ज्ञान॥[1]

—'श्रीराघवेन्द्र-स्तव'

बोलचाल-प्रधान भाषा

व्यवहार रोटी और बेटी का हुए पर भी अहो।
क्या एक भाषा के बिना हम एक हो सकते कहो॥
अफ़सोस! जो कुछ कार्य है हम उसे तो करते नहीं।
है जो अकार्य वृथा उसे करते हुए डरते नहीं॥[2]

—'नागरी और हिन्दी'

ज़रा जाति को देखिए तो सही,
कि विद्या बिना डूबती जा रही।
अभी क्या हुआ जो यही हाल है,
नहीं दूर तो पास पाताल है॥[3]

—'हिन्दू विश्वविद्यालय'

प्रांजल भाषा

निशि का सारा शान्त भाव हत हो गया,
नभ के उर का एक रत्न सा खो गया॥
आभा उसके अमल अन्तिमालोक की,
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की॥
सारे तारे उसे देखते ही रहे,
हिमकणरूपी कोटि कोटि आँसू बहे॥

१—३. पद्य प्रबन्ध—पृ० १, ६५, १३६

किन्तु न उसको बचा सका फिर इन्दु भी,
काम न कुछ भी कर सके अमृत के बिन्दु भी ॥[1]

—'नक्षत्र निपात'

हाँ, एक गुण गुप्तजी की काव्य-भाषा में आद्योपान्त पाया जाता है। वह है उनकी खड़ीबोली का व्याकरण-सम्मत एवं निखरा हुआ रूप। किसी भी रचना में संज्ञा, सर्वनाम, वचन, क्रियापद, कारक-चिह्न आदि की अव्यवस्था नहीं मिलती। व्याकरण की दृष्टि से भाषा में कोई व्यतिक्रम न मिलना इस तथ्य का परिचायक है कि कवि को खड़ीबोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान था। डॉ० नगेन्द्र ने इसका समस्त श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को दिया है। वे कहते हैं कि, "द्विवेदीजी के चरणों में दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना (गुप्तजी के लिए) सम्भव नहीं था।"[2] यही नहीं वाक्यों में कहीं अन्वय-दोष तक नहीं मिलता। वाक्य छोटे हों अथवा बड़े, कवि का ध्यान शब्द की योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति आदि की अन्विति पर बराबर बना रहा है। इस प्रकार की सुष्ठु पद-योजना से भाषा में स्वतः कसावट और सौंदर्य सन्निविष्ट हो गया है। निम्न अवतरण में देखिए, कवि ने दो विरोधी भावों को विभिन्न किन्तु संतुलित वाक्यों में इस प्रकार गूँथ दिया है कि उससे कथन में चमत्कार के साथ प्रभावोत्पादकता की भी अभिवृद्धि हो गई है :—

एक वे हैं कर रहे जो अद्भुताविष्कार,
एक हम हैं खोल बैठे मूर्खता का द्वार।
वीर्य्य-बल-सम्पन्न हैं वे हम विपन्न अशक्त ?
भेद हममें और उनमें हो न क्यों फिर व्यक्त ?[3]

—'ब्रह्मचर्य का अभाव'

इस प्रकार के वाक्य-संतुलन को पाश्चात्य साहित्य में 'एन्टीथीसिस' भी कहा जाता है। एक 'पीरियड' का उदाहरण भी देखिए जिसमें अवान्तर वाक्यों को केवल इसलिए पहले नियोजित कर दिया गया है जिससे पाठक का कुतूहल पूर्णतया जागृत हो जाय और अन्त में मूल वाक्य द्वारा भाव का रहस्योद्घाटन हो—

पाती हैं दुख जहाँ राजगृह में ही नारी,
करते हैं अत्याचार अधम जनता पर भारी।
सब प्रकार विपरीत जहाँ की रीति निराली,
अधिकारी हो स्वयं जहाँ हैं पापाचारी,
है लज्जा रहनी अति कठिन, भले मानसों की जहाँ,
हे मत्स्यराज ! किस भाँति तुम बने प्रजा-पालक वहाँ ?[4]

—'कीचक की नीचता'

---

१. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड १, सं० ६—पृ० ३०४
२. साकेत : एक अध्ययन—पृ० २३६, डॉ० नगेन्द्र
३. पद्य प्रबन्ध—पृ० ४६
४. कविता कलाप—पृ० ४८

कहीं गुप्तजी ने अनेक उद्देश्यों को एक ही 'विधेय' से अन्वित कर दिया है जिससे काव्य-भाषा में प्रवाह के साथ गुम्फन भी आ गया है, यथा—

जो शरण-अशरण के सदा अवलम्ब जो गति हीन के,
जो सुखी-दुखी जन के तथा, जो बन्धु-दुर्विध दीन के।
चिर शान्तिदायक देव, हे यम ! आज तुम ही हो कहाँ ?
लोगे न क्या, हा हन्त ! तुम भी सुध स्वयं मेरी यहाँ ॥[१]

—'जयद्रथ वध'

कवि के पास आवश्यक स्थलों पर भाषा में अर्थवहन की क्षमता उत्पन्न करने का एक और साधन—वाक्यांशों की आवृत्ति—है जिसे संस्कृत-साहित्याचार्यों ने 'पुनरुक्ति' नाम से शब्दालंकारों में परिगणित किया है। 'जयद्रथ-वध' में अभिमन्यु की मृत्यु पर 'उत्तरा का विलाप' इस प्रसंग का सुन्दर उदाहरण है। उत्तरा 'मैं हूँ वही' वाक्यांश की पुनरुक्ति द्वारा मानो अभिमन्यु से सब सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कारिक बन्धनों की दुहाई देकर कह रही है—

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थि बन्धन साथ में,
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में।
मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी ॥[२]

—'जयद्रथ वध'

कहीं वाक्य-योजना सरल एवं संक्षिप्त है। लघु वाक्य-खण्डों—केवल क्रियाओं अथवा मात्र संज्ञाओं—के द्वारा काव्य का भाव द्रुतगति से परिवर्त्तित होता चलता है, जैसे—

गायाएँ सुन, सीख, गाकर अहा ! मैं मग्न होती कभी,
साके, जौहर सोच गद्गद् हुई आँखें भिगोती कभी।
आता था मन में, क्षमा करो ऐसी बड़ी धृष्टता,
लावें खींच कहीं वही दिन यहाँ मेरी शुभाकृष्टता।
जैसे पूर्वज थे, तुम्हें जब सुना मैंने व्रती साहसी,
आई बाहर एक साथ उर से आवेग की आह सी ॥[३]

—'रूपवती का पत्र'

मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में खड़ीबोली का ऐसा सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित वाक्य-विन्यास देखकर ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि, "बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरण सिंह ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ीबोली को मँजते देखकर आशा का पूर्ण संचार होता है।"[४] और डॉ० सत्येन्द्र ने कहा है कि "गुप्तजी ने भाषा को सबसे बड़ी

१-२. जयद्रथ वध—पृ० २६, ४६

३. पत्रावली—पृ० ३१

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४०—पं० रामचन्द्र शुक्ल

देन यह दी कि उसका ठीक-ठीक रूप रख दिया, खड़ीबोली को अपने पैरों खड़ा कर दिया। उसकी अनिश्चितता दूर कर दी, उसमें व्यवस्था ला दी।.......उनके 'जयद्रथ' ने ब्रजभाषा के मोह का 'वध' कर दिया और 'भारत भारती' ने तो जैसे सुनिश्चित भारतीय भाषा का सतेज रूप ही खड़ा कर दिया।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुप्तजी के काव्य की भाषा जहाँ बोलचाल के अधिक निकट आ गई है वहाँ कविता के निमित्त शब्दों के क्रम में बहुत ही कम हेर-फेर किया गया है। वाक्य-विन्यास में बहुधा गद्य की निश्चित विधि का परिपालन मिलता है जिससे कहीं-कहीं पद्य भी गद्यवत् पढ़ा जा सकता है, यथा—

देखो कि सबके साथ सबका निष्कपट बर्ताव है,
सबमें परस्पर दीख पड़ता प्रेम का सद्भाव है।
कैसे फलें-फूलें भला वे जो न हिलमिल कर रहें,
वे आर्य ही क्या यदि कभी परिवाद निज मुख से कहें॥[2]

—'भारत भारती'

हिन्दू समाज सभी गुणों से आज कैसा हीन है,
वह क्षीण और मलीन है, आलस्य में ही लीन है।
परतन्त्र पद-पद पर विपद में पड़ रहा वह दीन है,
जीवन-मरण उसका यहाँ अब एक दैवाधीन है॥[3]

—'भारत भारती'

इस प्रकार की गद्यात्मक वाक्य-योजना 'किसान' और 'विकट भट' में सबसे अधिक मिलती है। भाषा के उपर्युक्त अनुशीलन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी ने खड़ीबोली को प्रसादमयी एवं शक्तिसम्पन्न बनाकर उसके प्रवाह और प्रभाव की दिशा दिखा दी जो उस काल के बहुत से दूसरे कवि नहीं कर सके।

मुहावरे-लोकोक्तियाँ—काव्य के अनुरूप, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग में गुप्तजी की दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। मुक्तक काव्य की चलती हुई भाषा में मुहावरों का उपयोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। किन्तु प्रबन्ध काव्यों की भाषा अधिक संयत और गम्भीर है, अतः कवि को यहाँ मुहावरों के प्रयोग के लिये वैसा अवकाश नहीं मिल सका। देश, समाज तथा अन्य सामयिक विषयों के प्रतिपादन में मुहावरों के कुशल प्रयोग द्वारा कवि ने भाव को किस प्रकार चमत्कृत कर दिया है यह निम्न उद्धरणों में देखा जा सकता है—

हाय! क्यों गिरती न हम पर लाज रूपी गाज?[4]

—'ब्रह्मचर्य का अभाव'

---

१. गुप्तजी की कला, पृ० ६-७—डॉ० सत्येन्द्र
२-३. भारत भारती—पृ० ६४, १५१
४. पद्य प्रबन्ध—पृ० ४७

हो क्यों न अन्य कवि-गिरा सर्व गुणधारी,
भद्दी लगती है किन्तु आपको सारी।
दाखें कितनी ही मधुर न हों बेचारी,
है ऊँटों को बस ऊँट-कटहली प्यारी।[1]

—'कुकवि-संकीर्त्तन'

पड़े सभ्य सम्पूर्ण सोते जहाँ हैं ज़बानी जमा खर्च होते जहाँ हैं।[2]

—'हिन्दी की वर्तमान दशा'

एक पन्थ दो काज सिद्धि का देश सुअवसर आया हाथ।[3]

—'प्रयाग की प्रदर्शिनी'

किन्तु पीछे याद होगा भाव आटे-दाल का,
जब अबल होकर बनेगा कवल-काल-कराल का॥[4]

—'निन्यानवे का फेर'

सत्य है सौन्दर्य की जो नाक तू विख्यात है।[5]

—'पंजर-बद्ध कीर'

तो क्यों स्वयं सरुचि इन्द्रिय-दास होते ?
क्यों आप ही स्वहित से तुम हाथ धोते ![6]

—'सम्बोधन'

जहाँ कवि ने भाषा को संस्कृतनिष्ठ रखने के आग्रह में शब्दों का हेर-फेर किया भी है, वहाँ अर्थ-बोध में बाधा नहीं आती; साथ ही मुहावरा भी एकदम पकड़ में आ जाता है, जैसे—

जो कुछ कराओगे करेंगे कर कलेजे पर धरे।[7]

—'कारुण्य भारती'

एक ओर से सभी पत्र काले कर डाले,
खींच खींच कर हाल बाल की खाल निकाले।[8]

—'हिन्दी साहित्य सम्मेलन'

इस तरह की समझ उलटी हो रही इसकी अभी।[9]

—'निन्यानवे का फेर'

इसी प्रकार हृदय दग्ध होना, मति मारी जाना, बाल बाँका न होना, होश में आना, गीत गाना, हृदय खिलना, दंग रह जाना, जल भुन कर रह जाना, फफोले फोड़ना, जड़ काटना, माथा ठनकना, मुँह मोड़ना, आँसू पीना आदि अनेक मुहावरे इन फुटकर रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं।

किन्तु इन प्रारम्भिक कविताओं में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं जहाँ एक ही कविता अथवा एक ही पद में कहीं उर्दू के मुहावरे यथावत् और कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दों में प्रयुक्त हुए हों, यथा—

---

१ –९. पद्य प्रबन्ध—पृ० ५९, ६८, ७५, १०१, १२०, १५२, ६, ७२, १०९

यदि कोई कुछ प्रतिकूल कहे, छल पाके,
करता दृग लोहित यथा प्रसून जपा के,
चोरी शहज़ोरी साथ आप अपनाते,
कविराज ! आपके चरित न जाने जाते।[1]

—'कुकवि-संकीर्त्तन

मुहावरा है 'आँखें लाल करना' अर्थात् क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखना—कवि महोदय ने उसका 'दृग लोहित करना' बना दिया और भाव को स्पष्ट करने के लिए दृगों की जपा के प्रसून से उपमा भी दे डाली। ऐसे संस्कृतनिष्ठ प्रयोग से पाठक दम नहीं ले पाया था कि अगली ही पंक्ति में 'चोरी शहज़ोरी' आ गया। एक और—

न देखने में वह व्यक्ति आया—तूने जिसे हो न कभी रुलाया।
तुझे कभी भी करुणा न आती, देखी न ऐसी दृढ़ और छाती॥[2]

—'मृत्यु'

'कलेजा पत्थर का होना' मुहावरे की कैसी घोर विकृति है। निम्न पद में देखिए, 'उड़ती चिड़िया पहिचानना' और 'चिड़िया फँसाना' दो मुहावरों का गुप्तजी ने एकत्र समाहार कर दिया है—

उड़ती चिड़िया भी आप तुरन्त फँसाते।
कविराज आपके चरित न जाने जाते॥[3]

—'कुकवि-संकीर्त्तन'

प्रबन्ध काव्य तथा आख्यानक कविताओं में मुहावरे-लोकोक्तियाँ आदि मिलते तो हैं किन्तु इनका शुद्ध रूप बहुत ही कम दृष्टिगत होता है। गुप्तजी की प्रवृत्ति उन्हें प्रायः संस्कृतनिष्ठ कर देने की रही है। कतिपय स्थलों पर इससे कवि की कुशलता का परिचय भी मिलता है। दोनों प्रकार के उदाहरण देखिए—

शुद्ध रूप

हिल जाय पत्ता तो कहीं सत्ता बिना इस मूर्त्ति की।[4]

—'जयद्रथ वध

तीन बचे, पर बारह टूटे, तो भी हुए सनाथ,
लिखी कबूलात हुई निशानी, कटवा बैठे हाथ॥[5]

—'किसान'

सुध-बुध सब मेरी जी चुराने लगी है,
कमर झुक गई है, दृष्टि जाने लगी है।
बल-सहित सभी ने ले विदा पीठ फेरी,
अब तुम स्वजनों से भी विदा शेष मेरी॥[6]

—'पत्रावली'

१–३. पद्य प्रबन्ध—पृ० ५६, १४८, ५७
४. जयद्रथ वध—पृ० १०
५. किसान—पृ० २०
६. पत्रावली—पृ० १८

हो क्यों न अन्य कवि-गिरा सर्व गुणधारी,
भद्दी लगती है किन्तु आपको सारी।
दाखें कितनी ही मधुर न हों बेचारी,
है ऊँटों को बस ऊँट-कटहली प्यारी।[1]

—'कुकवि-संकीर्त्तन'

पड़े सभ्य सम्पूर्ण सोते जहाँ हैं ज़बानी जमा खर्च होते जहाँ हैं।[2]

—'हिन्दी की वर्तमान दशा'

एक पन्थ दो काज सिद्धि का देश सुअवसर आया हाथ।[3]

—'प्रयाग की प्रदर्शिनी'

किन्तु पीछे याद होगा भाव आटे-दाल का,
जब अबल होकर बनेगा कवल-काल-कराल का॥[4]

—'निन्यानवे का फेर'

सत्य है सौन्दर्य की जो नाक तू विख्यात है।[5]

—'पंजर-बद्ध कीर'

तो क्यों स्वयं सरुचि इन्द्रिय-दास होते ?
क्यों आप ही स्वहित से तुम हाथ धोते ![6]

—'सम्बोधन'

जहाँ कवि ने भाषा को संस्कृतनिष्ठ रखने के आग्रह में शब्दों का हेर-फेर किया भी है, वहाँ अर्थ-बोध में बाधा नहीं आती; साथ ही मुहावरा भी एकदम पकड़ में आ जाता है, जैसे—

जो कुछ कराओगे करेंगे कर कलेजे पर धरे।[7]

—'कारुण्य भारती'

एक ओर से सभी पत्र काले कर डाले,
खींच खींच कर हाल बाल की खाल निकाले।[8]

—'हिन्दी साहित्य सम्मेलन'

इस तरह की समझ उलटी हो रही इसकी अभी।[9]

—'निन्यानवे का फेर'

इसी प्रकार हृदय दग्ध होना, मति मारी जाना, बाल बाँका न होना, होश में आना, गीत गाना, हृदय खिलना, दंग रह जाना, जल भुन कर रह जाना, फफोले फोड़ना, जड़ काटना, माथा ठनकना, मुँह मोड़ना, आँसू पीना आदि अनेक मुहावरे इन फुटकर रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं।

किन्तु इन प्रारम्भिक कविताओं में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं जहाँ एक ही कविता अथवा एक ही पद में कहीं उर्दू के मुहावरे यथावत् और कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दों में प्रयुक्त हुए हों, यथा—

---

१ –९. पद्य प्रबन्ध—पृ० ५९, ६८, ७५, १०६, १२०, १५२, ६, ७२, १०८

यदि कोई कुछ प्रतिकूल कहे, छल पाके,
करता दृग लोहित यथा प्रसून जपा के,
चोरी शहज़ोरी साथ आप अपनाते,
कविराज ! आपके चरित न जाने जाते।[1]

—'कुकवि-संकीर्त्तन

मुहावरा है 'आँखें लाल करना' अर्थात् क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखना—कवि महोदय ने उसका 'दृग लोहित करना' बना दिया और भाव को स्पष्ट करने के लिए दृगों की जपा के प्रसून से उपमा भी दे डाली। ऐसे संस्कृतनिष्ठ प्रयोग से पाठक दम नहीं ले पाया था कि अगली ही पंक्ति में 'चोरी शहज़ोरी' आ गया। एक और—

न देखने में वह व्यक्ति आया—तूने जिसे हो न कभी रुलाया।
तुझे कभी भी करुणा न आती, देखी न ऐसी दृढ़ और छाती॥[2]

—'मृत्यु'

'कलेजा पत्थर का होना' मुहावरे की कैसी घोर विकृति है। निम्न पद में देखिए, 'उड़ती चिड़िया पहिचानना' और 'चिड़िया फँसाना' दो मुहावरों का गुप्तजी ने एकत्र समाहार कर दिया है—

उड़ती चिड़िया भी आप तुरन्त फँसाते।
कविराज आपके चरित न जाने जाते॥[3]

—'कुकवि-संकीर्त्तन'

प्रबन्ध काव्य तथा आख्यानक कविताओं में मुहावरे-लोकोक्तियाँ आदि मिलते तो हैं किन्तु इनका शुद्ध रूप बहुत ही कम दृष्टिगत होता है। गुप्तजी की प्रवृत्ति उन्हें प्रायः संस्कृतनिष्ठ कर देने की रही है। कतिपय स्थलों पर इससे कवि की कुशलता का परिचय भी मिलता है। दोनों प्रकार के उदाहरण देखिए—

शुद्ध रूप

हिल जाय पत्ता तो कहीं सत्ता बिना इस मूर्त्ति की।[4]

—'जयद्रथ वध

तीन बचे, पर बारह टूटे, तो भी हुए सनाथ,
लिखी कबूलात हुई निशानी, कटवा बैठे हाथ॥[5]

—'किसान'

सुध-बुध सब मेरी जी चुराने लगी है,
कमर झुक गई है, दृष्टि जाने लगी है।
बल-सहित सभी ने ले विदा पीठ फेरी,
अब तुम स्वजनों से भी विदा शेष मेरी॥[6]

—'पत्रावली'

१–३. पद्य प्रबन्ध—पृ० ५६, १४८, ५७
४. जयद्रथ वध—पृ० १०
५. किसान—पृ० २०
६. पत्रावली—पृ० १८

कहा दासी ने धीरज त्याग, लगे इस मेरे मुँह में आग।[१]

—'साकेत' (दूसरा सर्ग)

जब तक हमारे पक्ष का जन एक ही जीवन धरे,
है कौन ऐसा जो तुम्हारा बाल भी बाँका करे॥[२]

—'जयद्रथ वध'

जाने उन्होंने शत्रुगण कितने वहाँ मारे नहीं,
जाते किसी से हैं गिने आकाश के तारे नहीं॥[३]

—'जयद्रथ वध'

परिवर्त्तित रूप

अतएव यद्यपि चित्त में है पाण्डवों ने घर किया।[४] (दिल में घर करना)

—'जयद्रथ वध

जिसकी सिरोही सिर उसी का उक्ति यह कर दी सही।[५]

(मियाँ की जूती, मियाँ का सिर) —'जयद्रथ वध'

प्रत्यक्ष कौरव पक्ष की तब नासिका सी कट गई।[६]

—'जयद्रथ वध'

विवश थी वाक्य उनके सह गई वह,
अधर ही काट कर बस रह गई वह।[७] (होठ काटना)

—'साकेत' (तीसरा सर्ग)

विष-बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं।
विश्वेश की विधि पर किसी का वश कभी चलता नहीं॥[८]

(बोये पेड़ बबूल के फिर आम कहाँ से खाय;
विधि के लिखे को मेटन हारा।) —'जयद्रथ वध'

हाँ, गुप्तजी की प्रबन्धकाव्य-भाषा की एक विशिष्टता उल्लेखनीय है। कवि ने मुहावरे-लोकोक्तियों आदि के लिए बहुत अवकाश न पाकर, भावों को स्थल-स्थल पर सूक्ति-रूप में नियोजित कर दिया है। यही सूक्तियाँ लोकोक्तियों का काम देकर भाव के साथ भाषा को भी चमत्कृत करती हैं, यथा:—

अपना अहित जो चाहता हो, वह नहीं अपना कभी।[९]

—'केशों की कथा'

१. साकेत—पृ० ३४
२—६. जयद्रथ वध—पृ० ४२, ६५, ६८, ७९, ८७
७. साकेत—पृ० ६०
८. जयद्रथ वध—पृ० ६८
९. कविता कलाप—पृ० २६

वह्नि से भी विरह का होता अधिक उत्ताप है ।[1]

—'रंग में भंग'

ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में ।[2]

—'जयद्रथ वध'

हा ! स्वप्न के वैभव किसी के काम आते हैं नहीं ।[3]

—'जयद्रथ वध'

है वस्तु अप्रिय अन्य जग में मृत्यु से बढ़ कर नहीं ।[4]

—'जयद्रथ वध'

हा ! निज जनों का शोक सबको स्वप्न में भी सालता ।[5]

—'जयद्रथ वध'

सम्पूर्ण दुखों का जगत में मोह ही बस मूल है ।[6]

—'जयद्रथ वध'

गुण पर न रीझे वह मनुज है, तो भला पशु कौन है ।[7]

—'जयद्रथ वध'

मर जाओ पर प्रकृति नियम टलता नहीं ।[8]

—'किसान'

मुक्त है सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार ।[9]

—'शकुन्तला'

कहीं-कहीं गुप्तजी ने प्रसंग के प्रतिकूल ऐसे मुहावरे भी प्रयुक्त किये हैं जो अशोभन प्रतीत होते हैं । 'साकेत' के दशरथ कैकेयी से कहते हैं—

भूप ने कहा—'न मारो बोल',
दिखाऊँ कहो हृदय को खोल ?[10]

राजा दशरथ के मुख से इस प्रकार की उक्ति अमर्यादित प्रतीत होती है ।

अलंकार—शब्दालंकार—आलोच्य काव्य पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तजी को अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि चमत्कारमूलक अलंकारों के प्रयोग में विशेष रुचि नहीं थी । प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा में प्रयोग-वैविध्य होने के कारण समस्त पदावली, विशिष्ट छन्द-योजना (कवित्त-सवैये आदि) अथवा संस्कृत-शब्दों के आग्रह से काव्य-भाषा आनुप्रासिकता की ओर झुकती हुई दिखाई देती है, जैसे—

---

१. रंग में भंग—पृ० २२
२—७. जयद्रथ वध—पृ० ६, ३१, ४०, ५०, ५५, ६८
८. किसान—पृ० २८
९. शकुन्तला—पृ० ९
१०. साकेत—पृ० ४८

अनुप्रास

द्रवित हुए जो नन्दन वदन अमन्द मानो,
खोल दिया दिव्य दया-दान का सुसत्र सा।
करि-सम झूम झुक बाईं छिगुनी पे अहा।
गोवर्द्धन-गोत्र उठा रक्खा पद्म-पत्र सा,
अति वारि-वृष्टि व्योम से की दृष्टि यत्र-यत्र
तान दिया तत्र-तत्र एक सृष्टि-छत्र सा।[1] —'गोवर्द्धन धारण'

किये चित्त एकाग्र सूर्य्य में दृष्टि लगाये,
अस्फुट स्वर से वेद-मंत्र पढ़ता मन भाये।
सलिल-मग्न-आकण्ठ सुहाता था वह ऐसे,
अलि-कुल-कलकल-कलित-कमल-फूला हो जैसे।[2] —'कुन्ती और कर्ण'

किन्तु बाद के काव्यों में ऐसा नहीं हुआ है। भावों को मार्मिक बनाने के लिए जहाँ जैसे शब्द की आवश्यकता हुई वहाँ वैसा ही रख देने का प्रयत्न लक्षित होता है। हाँ, भाषा पर अधिकार होने के कारण कवि ने सामान्य शब्दों को भी भिन्नार्थक रूप में प्रयुक्त कर कहीं-कहीं 'यमक' का विधान कर दिया है, यथा—

वे जागते हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यों ?
है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों ?[3]
(भोग-विलास, कार्य) —'भारत भारती'

जग जान ले कि न आर्य्य केवल नाम के ही आर्य्य हैं।[4] (आर्य्य, श्रेष्ठ)
—'भारत भारती'

कथन यों करते निज लालसा,
मुख हुआ उनका कुछ लाल सा।[5]
(सभंग श्लेष—इच्छा, लाल (वर्ण) सा)
—'अर्जुन और उर्वशी'

तात्पर्य यह है कि गुप्तजी का समस्त शब्द-चमत्कार वर्ण अथवा शब्द की एक या अधिक से अधिक दो आवृत्तियों तक सीमित है, उसी से रसोचित गुण का भी सन्निवेश हो गया है। 'जयद्रथ वध' में रणभूमि का एक चित्र देखिए—

करने लगे फिर क्रुद्ध दोनों बाहु युद्ध विशुद्ध यों,
युग गिरि सपक्ष-समक्ष हो लड़ते विपक्ष-विरुद्ध ज्यों,

१. पद्य प्रबन्ध—पृ० २८
२. कविता कलाप—पृ० ६८
३-४. भारत भारती—पृ० ११३, १६४
५. कविता कलाप—पृ० २८

लड़ते हुए सात्यिक हुआ जब श्रमित शोणित से सना
तब खंग से भूरिश्रवा ने शीश चाहा काटना।[1]

हाँ, जहाँ गुप्तजी ने कविता में अन्त्यानुप्रास (तुक) के निर्वाह के लिए निरर्थक शब्दों का विधान किया है, वहाँ मूलभाव लुप्त हो गया है और भाषा निराधार होकर शब्दों से खिलवाड़ ही करती प्रतीत होती है—

साँप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छवि की छलकें।[2]
—'साकेत' (चतुर्थ सर्ग)

या अनुराग सदन सतियाँ, पुण्य श्लोक पंक्ति गतियाँ,
कर कर के नीरव बतियाँ, जगा रहीं मन की मतियाँ।
प्रेम शृंखला मालाएँ, बोधोदय की बालाएँ,
यद्यपि कुछ तरलाएँ हैं, पर कितनी सरलाएँ हैं।[3] —'वैतालिक'

सूत्रवृत्तियाँ हाटक की, नदियाँ नैतिक नाटक की।[4]

अर्थालंकार—कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में गुप्तजी का सारा ध्यान भाषा के परिष्कार तथा उसके रूप के स्थिरीकरण पर ही केन्द्रित रहा। इस काल में उन्होंने बोलचाल की खड़ीबोली से लेकर उसके अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ रूप तक का उपयोग करके देखा। कदाचित् इसीलिए लगभग आठ-दस वर्ष तक वे देश, राष्ट्र, समाज आदि विषयों पर अथवा 'सरस्वती' में प्रकाशित पौराणिक चित्रों पर ही कविता रचते रहे। राष्ट्र और समाज-विषयक रचनाएँ प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। कवि ने गिने-चुने स्थलों पर ही सादृश्य अथवा साधर्म्यमूलक उपमानों का उपयोग किया है। हाँ, चित्रों पर रचित आख्यानक कविताओं में अलंकारों की छटा दिखाने के लिए उन्हें पर्याप्त अवकाश था। अतः साधर्म्य, सादृश्य, विरोध आदि पर आश्रित अलंकारों का प्रचुर उपयोग मिलता है यद्यपि उनमें कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती। उपमान प्रायः परम्पराभुक्त हैं। भाव या वस्तु को मूर्तरूप देने के लिए कवि ने वही कमल, लता, तमाल, दामिनी, मधुप, दाड़िम, मराल, कीर, विधुवदनी आदि अप्रस्तुत रीतिकालीन-काव्य से चयित किये हैं। गुप्तजी की 'राधाकृष्ण की आँख-मिचौनी' शीर्षक रचना से तो रीतिकालीन सभी रूढ़ उपमान उद्धृत किये जा सकते हैं, देखिए—

उपमा

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चंचल तमाल से।[5] —'गोवर्द्धन धारण'

---

१. जयद्रथ वध—पृ० ७७
२. साकेत—पृ० ७२
३–४. वैतालिक—पृ० १४, १६
५. पद्य प्रबन्ध—पृ० २९

अनुप्रास

द्रवित हुए जो नन्दन वदन अमन्द मानो,
खोल दिया दिव्य दया-दान का सुसत्र सा।
करि-सम झूम झुक वाईं छिगुनी पे अहा।
गोवर्द्धन-गोत्र उठा रक्खा पद्म-पत्र सा,
अति वारि-वृष्टि व्योम से की दृष्टि यत्र-यत्र
तान दिया तत्र-तत्र एक सृष्टि-छत्र सा।[1] —'गोवर्द्धन धारण'

किये चित्त एकाग्र सूर्य्य में दृष्टि लगाये,
अस्फुट स्वर से वेद-मंत्र पढ़ता मन भाये।
सलिल-मग्न-आकण्ठ सुहाता था वह ऐसे,
अलि-कुल-कलकल-कलित-कमल-फूला हो जैसे।[2] —'कुन्ती और कर्ण'

किन्तु बाद के काव्यों में ऐसा नहीं हुआ है। भावों को मार्मिक बनाने के लिए जहाँ जैसे शब्द की आवश्यकता हुई वहाँ वैसा ही रख देने का प्रयत्न लक्षित होता है। हाँ, भाषा पर अधिकार होने के कारण कवि ने सामान्य शब्दों को भी भिन्नार्थक रूप में प्रयुक्त कर कहीं-कहीं 'यमक' का विधान कर दिया है, यथा—

वे जागते हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यों ?
है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों ?[3]
(भोग-विलास, कार्य) —'भारत भारती'

जग जान ले कि न आर्य्य केवल नाम के ही आर्य्य हैं।[4] (आर्य्य, श्रेष्ठ)
—'भारत भारती'

कथन यों करते निज लालसा,
मुख हुआ उनका कुछ लाल सा।[5]
(सभंग श्लेष—इच्छा, लाल (वर्ण) सा)
—'अर्जुन और उर्वशी'

तात्पर्य यह है कि गुप्तजी का समस्त शब्द-चमत्कार वर्ण अथवा शब्द की एक या अधिक से अधिक दो आवृत्तियों तक सीमित है, उसी से रसोचित गुण का भी सन्निवेश हो गया है। 'जयद्रथ वध' में रणभूमि का एक चित्र देखिए—

करने लगे फिर क्रुद्ध दोनों बाहु युद्ध विशुद्ध यों,
युग गिरि सपक्ष-समक्ष हो लड़ते विपक्ष-विरुद्ध ज्यों,

१. पद्य प्रबन्ध—पृ० २८
२. कविता कलाप—पृ० ६८
३-४. भारत भारती—पृ० ११३, १६४
५. कविता कलाप—पृ० २८

लड़ते हुए सात्यिक हुआ जब श्रमित शोणित से सना
तब खंग से भूरिश्रवा ने शीश चाहा काटना।[1]

हाँ, जहाँ गुप्तजी ने कविता में अन्त्यानुप्रास (तुक) के निर्वाह के लिए निरर्थक शब्दों का विधान किया है, वहाँ मूलभाव लुप्त हो गया है और भाषा निराधार होकर शब्दों से खिलवाड़ ही करती प्रतीत होती है—

साँप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छवि की छलकें।[2]
—'साकेत' (चतुर्थ सर्ग)

या अनुराग सदन सतियाँ, पुण्य श्लोक पंक्ति गतियाँ,
कर कर के नीरव बतियाँ, जगा रहीं मन की मतियाँ।
प्रेम शृंखला मालाएँ, बोधोदय की बालाएँ,
यद्यपि कुछ तरलाएँ हैं, पर कितनी सरलाएँ हैं।[3] —'वैतालिक'

सूत्रवृत्तियाँ हाटक की, नटियाँ नैतिक नाटक की।[4]

अर्थालंकार—कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में गुप्तजी का सारा ध्यान भाषा के परिष्कार तथा उसके रूप के स्थिरीकरण पर ही केन्द्रित रहा। इस काल में उन्होंने बोलचाल की खड़ीबोली से लेकर उसके अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ रूप तक का उपयोग करके देखा। कदाचित् इसीलिए लगभग आठ-दस वर्ष तक वे देश, राष्ट्र, समाज आदि विषयों पर अथवा 'सरस्वती' में प्रकाशित पौराणिक चित्रों पर ही कविता रचते रहे। राष्ट्र और समाज-विषयक रचनाएँ प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। कवि ने गिने-चुने स्थलों पर ही सादृश्य अथवा साधर्म्यमूलक उपमानों का उपयोग किया है। हाँ, चित्रों पर रचित आख्यानक कविताओं में अलंकारों की छटा दिखाने के लिए उन्हें पर्याप्त अवकाश था। अतः साधर्म्य, सादृश्य, विरोध आदि पर आश्रित अलंकारों का प्रचुर उपयोग मिलता है यद्यपि उनमें कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती। उपमान प्रायः परम्पराभुक्त हैं। भाव या वस्तु को मूर्तरूप देने के लिए कवि ने वही कमल, लता, तमाल, दामिनी, मधुप, दाड़िम, मराल, कीर, विधुवदनी आदि अप्रस्तुत रीतिकालीन-काव्य से चयित किये हैं। गुप्तजी की 'राधाकृष्ण की आँख-मिचौनी' शीर्षक रचना से तो रीतिकालीन सभी रूढ़ उपमान उद्धृत किये जा सकते हैं, देखिए—

उपमा

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चंचल तमाल से।[5] —'गोवर्द्धन धारण'

---

१. जयद्रथ वध—पृ० ७७
२. साकेत—पृ० ७२
३–४. वैतालिक—पृ० १४, १६
५. पद्य प्रबन्ध—पृ० २१

तव सहन करने से सदा मन की तथा तन की व्यथा,
जो क्षीण-दीन निदाघ-निशि सम हो रही थी सर्वथा।
सो याज्ञसेनी द्रौपदी अवलोक दृष्टि सतृष्ण से,
मलिन विधु-सम वदन से बोली वचन श्रीकृष्ण से।[1] —'केशों की कथा'

उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा

ज्यों इन्दीवर में वराटक तथा ज्यों मेघ में दामिनी,
रक्खे राघव-अंक में सिर तथा लेटी हुई भामिनी।
उत्फुल्लायत लोचनी विधुमुखी श्रीमैथिली ने कहा,
मानो पावन चित्रकट वन में पीयूष-सोता बहा॥[2] —'वनवास'

वाक्योपमा

कान्ता कपोलों पर स्वेद सीकर,
हैं यों सुहाते तप में मनोहर।
ज्यों ओस के बूँद प्रभात-काल में,
फूले हुए सुन्दर पद्म-जाल में॥[3] —'निदाघ वर्णन'

उसके विलभ करस्थ सोहते थे वे ऐसे।
खिले कमल पर टूट पड़े हों तारे जैसे॥[4] —'मक्खीचूस'

उत्प्रेक्षा

काले-काले वारि वाले मेघों में प्रकाश छिपा,
मानो ब्रज अन्धकार-सिन्धु में समा गया॥[5] —'गोवर्द्धन धारण'

काली घटा में उड़ती बकाली,
छटा दिखाती अपनी निराली,
मानो खुले केश नभस्थली के,
प्रसून हैं ये खिसके उसी के॥[6] —'वर्षा वर्णन'

सन्देह

त्याग पूर्ण चन्द्रमा से आज क्या विरोध-भाव,
मेल करते हैं कंज संयुत मृणाल ये।
फूली हुई किंवा कल्प वृक्ष की लताएँ युग,
लिपट रही हैं देख निकट तमाल ये।
किंवा रसराज के गले में प्रेम-पाश निज
हर्षित हो आज रही शोभा वधु डाल ये।

---

१. कविता कलाप—पृ० २६

२. पद्य प्रबन्ध—पृ० ११

३—६. पद्य प्रबन्ध—पृ० ८२, १०५, २६, ८३

किंवा हुए ऊँचे भेटने को नन्द-नन्दन को ।
भूषणों से भूषित प्रिया के बाहु-जाल से ।।[1]

—'राधाकृष्ण की आँख-मिचौनी'

अपह्नुति

यह न मारुत है, बरव्याल है,
न यह आतप है, करवाल है,
न यह भूमि चिता सुविशाल है,
तप नहीं यह काल-कराल है ।।[2]

—'निदाघ वर्णन

छेकापह्नुति-स्मरण

शस्य-श्यामल भूमि है यह नदी कैसी बही जा रही,
स्वर्गंगा छवि, देख देख इसको ध्यान में आ रही ।
पानी के पट में तरंग-मिस से भ्रू-भंग होने लगा,
देखो किन्तु न भूलना तुम मुझे, हे नारि सी निम्नगा ।।[3]

—'वनवास'

छेकापह्नुति

ये केश देख इसके मृदु माँगदार,
हे विज्ञ दर्शक ! कहो तुम ही विचार,
सिन्दूर-रेख-मिस क्या चिकुरान्धकार,
जिह्वा-ललाट-विधु पै न रहा पसार ।[4]

—'मालती महिमा'

प्रतीप

निष्कम्प दीपक-शिखा-सम दीप्तिमान,
है नाक जो न यह कीर मुखोपमान,
तो द्वार बन्द कर ओष्ठ-कपाट से यों,
तद्दन्त दाड़िम मुखालय में छिपे क्यों ।[5]

—'मालती महिमा'

अर्थान्तरन्यास

भ्रू क्षेप से ही आपके हरि ! क्या न हो सकता कहो ?
पर हो रहा दुर्भाग्य से वह भी हमें दुर्लभ अहो ।
सुनकर तदपि गुण आपके होता न चित्त हताश है,
सबको बड़ों की बात का होता बड़ा विश्वास है ।।[6]

—'कारुण्य भारती'

---

१. कविता कलाप—पृ० ३७
२. पद्य प्रबन्ध—पृ० ६२
३. पद्य प्रबन्ध—पृ० १२
४–५. कविता कलाप—पृ० ३२, ३२
६. पद्य प्रबन्ध—पृ० ८

दृष्टान्त

कृष्णा ने इस भाँति उसे बहुविध समझाया,
किन्तु एक भी वचन न उसके हृदय समाया।
मंद मतों को यथा योग्य उपदेश सुनाना,
है ज्यों ऊसर-भूमि-मध्य पानी बरसाना ॥[1]

—'कीचक की नीचता'

भाषा और भाव सम्बन्धी आन्दोलन के युग में इस प्रकार की परम्पराभुक्त अलंकार प्रणाली जिसमें रसोद्‌वोधन अथवा भावोद्‌वोधन की क्षमता न रह गई थी, पाठक के लिए अरुचिकर थी। फुटकर रचनाओं में 'भारत भारती' भी विषय-प्रधान ग्रन्थ ही है। काव्यत्व की दृष्टि से उसमें भी सौन्दर्य-विधायक-तत्वों का प्रायः अभाव है। हाँ, कतिपय स्थलों पर अनुभूति की प्रखरता के साथ कवि की उक्ति में भी गांभीर्य आ गया है। अतः उसने विरोध, रूपक, मानवीकरण आदि की सहायता से अपनी अनुभूति को पाठक तक प्रेषित करने का यत्न किया है। ऐसे स्थलों पर अभिव्यक्ति की स्पष्टता के साथ उक्ति में सहज ही सौन्दर्य का भी विधान हो गया है। उदाहरणार्थ दुर्भिक्ष तथा भूख से पीड़ित कतिपय भारतीयों को देखिए—

है काँखता कोई कहीं, कोई कहीं रोता पड़ा,
कोई विलाप-प्रलाप करता, ताप है कैसा कड़ा
है मृत्यु-रमणी पर प्रणयि-सम वे अभागे मर रहे,
जब से बुभुक्षा-कुट्टनी ने उस प्रिया के गुण कहे ॥[2] (रूपक)

'भारत भारती' के अतीत खण्ड में भारतीयों की अतीत शक्ति, महत्ता एवं सामर्थ्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

हमने बिगड़ कर भी बनाये जन्म के बिगड़े हुए,
मरते हुए भी हैं जगाये मृतक-तुल्य पड़े हुए।
गिरते हुए भी दूसरों को हम चढ़ाते ही रहे,
घटते हुए भी दूसरों को हम बढ़ाते ही रहे ॥[3] (विरोधाभास)

कवि का अतीत के प्रति श्रद्धा-भाव अत्यन्त मुखर है। वर्तमान काल में देश की ऐसी दुर्दशा देखते हुए भी अनागत के प्रति कवि की आशावादी दृष्टि मन्द नहीं होती और वह भारत-निवासियों को जगाता हुआ कहता है—

विषपूर्ण ईर्ष्या-द्वेष पहले शीघ्रता से छोड़ दो,
घर फूँकने वाली फूटैली फूट का सिर फोड़ दो।
मालिन्य से मुँह मोड़कर मद-मोह के पद तोड़ दो,
टूटे हुए वे प्रेम-बन्धन फिर परस्पर जोड़ दो ॥[4]

१. कविता कलाप—पृ० ४७
२–४. भारत भारती—पृ० ८६, ६७, १५६

मद, मोह, फूट सब अमूर्त्त भावनाएँ हैं। उन पर पाँव, सिर आदि मानवीय गुणों का आरोप अभिव्यक्ति को कलापूर्ण बनाने की उत्तम रीति है। आरम्भिक रचनाओं में मानवीकरण का यह सौन्दर्य निश्चय ही कवि-प्रतिभा का परिचायक है। इसके अनन्तर गुप्तजी ने बंगभाषा की कविताओं का अध्ययन तथा मधुसूदन दत्त रचित 'व्रजांगना' का अनुवाद किया। इससे इनकी फुटकर रचनाओं में कुछ सरसता एवं कोमलता आई। 'अनुरोध', 'अधीर', 'हाट', 'खेल' आदि रचनाओं पर कवि रवीन्द्र की स्पष्ट छाप है। छोटे-छोटे रूपकों के सहारे कवि ने किस प्रकार रहस्यमयी परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी अनुभूति प्रकट की है, यह निम्नपदों में दर्शनीय है—

पींजड़े में बन्द कर भूलो न हाय!
रट रहा है यह तुम्हीं को कण्ठ-कीर,
द्रौपदी सी हो रही है बुद्धि दीन,
खींच ले हा! दुख-दुःशासन न चीर।
क्या कृपा होगी न अब भी हे कठोर!
हो गये हैं हाय! अब तो हम अधीर॥[1]

—'अधीर'

किस पाप-पंक से है मानस मलिन हमारा,
जिससे विहार उसमें होता नहीं तुम्हारा?
संकोच कर रहे हैं, पद-पद्म क्यों तुम्हारे?
क्या धो उन्हें न देगी अविराम अश्रुधारा,
यह दीन हंस कब तक पथ देखता रहेगा?
तुमने कि हाय! हमने किसने किया किनारा,
दृग भृंग जा पहुँचते उड़कर सुवास लेते,
पलकें न रोकतीं जो बन कर कठोर कारा।
सब अंग जलचरों से छटपट मचा रहे हैं,
होगा इसी तरह क्या जीवन विनष्ट सारा॥[2]

—'नाम का सहारा'

प्रथम पद में कवि ने कण्ठ को 'कीर', बुद्धि को 'द्रौपदी', दुःख को 'दुःशासन' से उपमित करके 'उपमा' और 'रूपक' की सहायता से भाव को अभिव्यक्त किया है। दूसरे पद में मानस (मन, तालाब), हंस (आत्मा, हंस) आदि श्लिष्ट पद हैं जो क्रम से प्रतीक का भी काम देते है। चरणों पर पद्म, दृग पर भृंग तथा अंगों पर जलचरों का आरोप प्रतीकों की सहायता से 'रूपक' को पूर्ण कर देता है। इससे परोक्ष सत्ता के प्रति साधक का उत्कट दैन्य भी व्यंजित होता है।

फुटकर काव्य की आलंकारिक योजना के उपर्युक्त अनुशीलन से स्पष्ट है कि बंगीय काव्यों के अध्ययन एवं अनुवादों के उपरान्त ही गुप्तजी की तूलिका नूतन अप्रस्तुत चित्रण

१-२. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, खण्ड २, सं० ३—पृ० ५०८

की ओर उन्मुख हुई थी। कदाचित् इन्हीं के प्रभाव से काव्य को अलंकारों से भाराक्रान्त करने की प्रवृत्ति कम हुई। अतः कवि के प्रबन्ध काव्यों में भाषा और भाव का ऐसा असंतुलन नहीं मिलता जैसा कि प्रारम्भिक काव्य में पाया जाता है। 'रंग में भंग' से प्रारम्भ करके 'शकुन्तला' तक कवि की प्रसाधन शैली स्थिर रूप से निश्चित् दिशा में विकसित होती गई है। पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी आख्यानक प्रबन्ध या खण्ड काव्यों में उपमान मौलिक कम और परम्पराभुक्त अधिक हैं यद्यपि वे साध्य नहीं अपितु साधन रूप में आए हैं। हाँ, उपमानों में व्यंजना तो है, किन्तु नवयुग के अनुकूल चित्रोपमता नहीं मिलती। कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

उपमा

पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की, इससे सुखी,
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके व्यग्र चिन्तायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय वे कुमुद-सम शोभित हुए॥[1]

—'जयद्रथ वध'

जब रक्त से भीगा हुआ वह गिर पड़ा पाकर व्यथा,
सन्ध्या समय पश्चिम जलधि में अरुण रवि गिरता यथा॥[2]

—'जयद्रथ वध'

वाक्योपमा

ज्यों भेद जाता भानु का कर अन्धकार-समूह को,
वह पार्थ-नन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को॥[3]

—'जयद्रथ वध'

विप्रवर पढ़ने लगे तब वेद मंत्र विधान से,
वर-वधू शोभित हुए एक रूप-विधान से।
पद्मयुत प्रकटित हुई हो पद्मिनी ज्यों अधखिली,
शौर्य्य से सम्पत्ति मानो नम्र होकर आ मिली॥[4]

—'रंग में भंग'

रूपक (उपमा)

भूषण-सदृश उडुगण हुए मुख-चन्द्र शोभा छा रही,
विमलाम्बरा रजनी-वधू अभिसारिका सी जा रही।
खगवृन्द सोता है अतः कलकल नहीं होता जहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ॥[5]

—'जयद्रथ वध'

१—३. जयद्रथ वध—पृ० ८१, १५, १३
४. रंग में भंग—पृ० ६
५. जयद्रथ वध—पृ० ४६

उत्प्रेक्षा

शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से,
मानो निदाघारम्भ में सन्तप्त आतप-जाल से।
छादित हुई विपिनस्थली नव पतित किंशुक-शाल से ॥[1]

—'जयद्रथ वध'

आकाश में चलते हुए यों छवि दिखाई दे रही,
मानो जगत को गोद लेकर मोद देती है मही।
उन्नत हिमाचल से धवल यह सुरसरी यों टूटती,
मानो पयोधर से धरा के दुग्धधारा छूटती ॥[2]

—'जयद्रथ वध'

उत्प्रेक्षा-रूपक

सचकित से—यह क्या रहस्य है ? यही वचन वे बोले,
शकुन्तला-नलिनी पर मानों पड़े अचानक ओले ॥[3]

—'शकुन्तला'

सन्देह

सौभद्र पर सौ बाण छोड़े जो अतीव कराल थे,
आः ! बाण थे वे या भयंकर पक्षधारी व्याल थे ॥[4]

—'जयद्रथ वध'

भ्रान्ति (सन्देह)

उर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की।
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता सा स्थित हुआ ॥[5]

—'साकेत' (प्रथम सर्ग)

पुष्प राशि-समान उसकी देख पावन कान्ति,
भूप को होने लगी जंगम लता की भ्रांति—
क्या मनोमिष से उन्हीं के जानकर अरविन्द—
घूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिन्द ।[6]

—'शकुन्तला'

१-२ जयद्रथ वध—पृ० २२, ४६
३. शकुन्तला—पृ० २६
४. जयद्रथ वध—पृ० १३
५. साकेत—पृ० २०
६. शकुन्तला—पृ० ११

उदाहरण

ग्रीष्मान्त में घननाद सुनकर भीत होता हंस ज्यों,
व्याकुल हुआ यह बात सुनकर सिन्धुराज नृशंस त्यों।[1]

—'जयद्रथ वध'

अर्थान्तरन्यास

पीछे युधिष्ठिर को किये आगे चले अर्जुन बली,
चलने लगे फल शेष के, मचने लगी अति खलबली।
अन्यत्र अनुगामी बड़ों के सुजन होते सर्वदा,
पर आपदा में दीखते हैं अग्रगामी ही सदा।[2]

—'जयद्रथ वध'

बोले नृप होता है यों ही विषयिजनों का मरना,
मुझे सवंश चाहती है क्यों तू यों दूषित करना।
मर्यादा को छोड़ नदी जो है तट-विटप गिराती,
वह अपना पानी बिगाड़ कर छवि हीना हो जाती।[3]

—'शकुन्तला'

विशेषोक्ति

हैं व्यग्र सुनने को श्रवण पर श्रव्य सुन पाते नहीं,
दृग दीन हैं पर दृश्य फिर भी दृष्टि में आते नहीं।[4]

—'जयद्रथ वध'

विभावना

सूना होकर भी शरीर उसका आभूषणों से अहा,
दूना दर्शन योग्य, दूषण बिना, सौन्दर्य था पा रहा।[5]

—'शकुन्तला'

यह शैली गतानुगतिक थी। जिस प्रकार बिहारी ने नायिका की कोमलता व्यंजित करने के लिए 'छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाई' अतिशयोक्ति की थी उसी प्रकार गुप्तजी ने अर्जुन की क्रोध-ज्वाला से उनके दृगों का जल शुष्क होना वर्णित किया है, यथा—

युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से,
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार से।

१-२. जयद्रथ वध—पृ० ४०, ६०
३. शकुन्तला—पृ० ३०
४. जयद्रथ वध—पृ० ७०
५. शकुन्तला—पृ० १६

निश्चय अरुणिमा मिस अनल की जल उठी वह ज्वाल ही,
तब तो दृगों का जल गया शोकाश्रु जल तत्काल ही।[1]

—'जयद्रथ वध'

इस प्रकार के निर्जीव साम्य का एक उदाहरण और देखिए—

चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे।

गुप्तजी को 'भाद्र' और 'आश्विन' से अच्छा उपमान और नहीं मिला! सत्य तो यह कि वस्तु-विन्यास में प्रायः पिष्ट-पेषित आधार-भूमि रहने से कवि की मौलिक प्रतिभा का उन्मेष नहीं हो पाया। किन्तु यह काव्य अधिकांशतः घटना-प्रधान है। अतः कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण, दृश्य-विधान, संवाद आदि नाटकीय तत्वों का सन्निवेश होने से कवि ने भावपूर्ण स्थलों का सक्षम निर्वाह किया है। 'विशेषोक्ति' चमत्कारमूलक अलंकार होता है जहाँ 'कारण' के विद्यमान होने पर भी 'कार्य' सम्पन्न नहीं होता। गुप्तजी ने अभिमन्यु की मृत्यु पर 'उत्तरा-विलाप' के प्रसंग में इसका कितना सार्थक उपयोग किया है—

हा नेत्र-युत भी अन्ध हूँ, वैभव-सहित भी दीन हूँ,
वाणी-विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गतिहीन हूँ।
हे नाथ! घोर विडम्बना है आज मेरी चातुरी,
जीती हुई भी तुम बिना, मैं हूँ मरी से भी बुरी।[2]

—'जयद्रथ वध'

यहाँ 'विशेषोक्ति' उत्तरा की असहायावस्था को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। कवि ने प्रसंगवश अतिशयोक्तिमूलक अलंकारों का इस प्रकार नियोजन किया है कि दृश्य चल-चित्रों की रील के समान क्षिप्र गति से मानस-चक्षुओं के सम्मुख उभरते-मिटते हैं—

वह शर इधर गाण्डीव-गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।[3]

—'जयद्रथ वध'

दोनों रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोड़ते,
जाना न जाता था कि वे कब थे धनुष पर जोड़ते।[4]

—'जयद्रथ वध'

गुप्तजी के काव्य में औपम्यमूलक अलंकार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं जो कहीं-कहीं प्रसंग की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ 'जयद्रथ वध' का प्रसंग देखिए। प्रतिज्ञानुसार अर्जुन को सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वध करना आवश्यक था। सन्ध्या हो चली थी; धर्मराज युधिष्ठिर को पूर्ण आशा थी कि पार्थ अपनी प्रतिज्ञा रखने में सफल होंगे किन्तु कोई विजयसूचक चिह्न न पाकर क्षुब्ध भी थे। गुप्तजी ने युधिष्ठिर की इस अनिश्चित मनःस्थिति से उत्पन्न विरोधी भाव के लिए सन्ध्या-कालीन अर्द्ध-विकसित कुमुद की उपमा उचित ही दी है—

१—४. जयद्रथ वध—पृ० ३७, २६, ८६, ६२

पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की, इससे सुखी,
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके व्यग्र चिन्तायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय वे कुमुद-सम शोभित हुए।[1]

—'जयद्रथ वध'

ऐसे भावपूर्ण स्थलों के लिए कवि ने अमूर्त अप्रस्तुत भी चुने हैं जिनमें सादृश्य नहीं अपितु प्रभाव-साम्य पर ही ध्यान रखा गया है, यथा—

उर्मिला कहने चली कुछ, पर रुकी,
और निज अंचल पकड़कर वह झुकी।
भक्ति सी प्रत्यक्ष भू-लग्ना हुई,
प्रिय कि प्रभु के प्रेम में मग्ना हुई।[2]

—'साकेत'

सजग रहे सौमित्र, बने प्रहरी वही,
निद्रा भी उर्मिला-सदृश घर ही रही।[3]

—'साकेत'

यहाँ 'उर्मिला' और 'भक्ति' में कोई सादृश्य नहीं; यदि कल्पना की सहायता ली जाय तो भक्ति का गुण उर्मिला में क्रियान्वित हो उठा है। जिस प्रकार भक्त प्रभु-चरणों में लीन हो जाता है उसी प्रकार उर्मिला भी प्रभु के चरणों में गिर पड़ी। दूसरे पद में भी 'निद्रा' तथा 'उर्मिला' में कोई साधर्म्य नहीं है। परन्तु 'लक्ष्मण का निद्रा-सुख उर्मिला के साथ ही रह गया' भाव व्यंग्य होने से 'उपमा' की भाव-प्रेषणीयता बढ़ गई है।

इसी प्रकार अमूर्त्त उपमानों के सहारे मूर्त्त उपमेय 'शकुन्तला' का भव्य वर्णन देखिए—

मुक्त नभोमण्डल सा अविचल निर्मल जीवन था उसका,
उषा के प्रकाश सा पावन निरालस्य तन था उसका।
उज्ज्वल उच्च हिमालय जैसा अति उन्नत मन था उसका,
प्रकट अधिष्ठात्री सी थी वह, धन्य तपोवन था उसका।[4]

—'शकुन्तला'

गुप्तजी के खण्ड काव्यों में पात्रों की भाव-भंगिमा, शारीरिक चेष्टा आदि का इस सजीवता से अंकन किया गया है कि पाठक के मानस-चक्षु के समक्ष चित्र साकार हो उठता है, यथा—

---

१. जयद्रथ वध—पृ० ८१
२-३. साकेत—पृ० ३१, ६६
४. शकुन्तला—पृ० ८

लज्जा की लाली फैली थी, भौहें तनिक चढ़ी थीं,
ग्रीवा नीची थी पर आँखें नृप की ओर बढ़ी थीं।
कहती थीं मानो वे उनसे क्या हमको छोड़ोगे ?
आर्यपुत्र ! दो दिन पीछे ही क्या यों मुँह मोड़ोगे ?[1]

—'शकुन्तला'

उठी तत्क्षण कैकेयी काँप
अधर-दंशन करके कर-चाप,
भूमि पर पटक-पटक कर पैर,
लगी प्रकटित करने निज वैर।
अन्त में सारे अंग समेट,
गई वह वहीं भूमि पर लेट।[2]

—'साकेत' (द्वितीय सर्ग)

निरखती कैकेयी थी भौंह ताने।
चढ़ाकर कोप से दो-दो कमानें।
पकड़ कर राम की ठोड़ी ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गत धैर्य होकर भूपवर ने,
"चली है देख, तू क्या आज करने,
अभागिनी देख कोई क्या कहेगा,
यही चौदह बरस वन में रहेगा ?"[3]

—'साकेत'

पड़ी थी बिजली सी विकराल,
लपेटे थे घन जैसे बाल,
कौन छेड़े ये काले साँप ?
अवनिपति उठे अचानक काँप।[4]

—'साकेत'

इनके अतिरिक्त इन काव्यों में कुछ प्राकृतिक दृश्य भी हैं जिनमें भाव और कल्पना का पर्याप्त योग है; कवि यद्यपि ऐसे स्थलों पर पाठक के मन पर सम्पूर्ण चित्र अंकित करने में प्रायः असमर्थ ही रहा है। प्रकृति को चेतन रूप में देखिए—

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल।
सजे बिधु की बेंदी से भाल, यामिनी आ पहुँची तत्काल॥[5]

—'साकेत'

---

१. शकुन्तला—पृ० २६
२—४. साकेत—पृ० ४१, ५६, ४६
५. साकेत—पृ० ४५

यह सोने की मूर्ति उषा, न स्फूर्ति की पूर्ति उषा,
जगा रही है जगो, जगो, कर्त्तव्यों में लगो लगो।
वह ललाट-सिन्दूर अहा! देखो कैसा दमक रहा।
नभस्थली, सौभाग्यवती, देख रही है बाट सती,
यह सोने का थाल लिये, उज्ज्वल उन्नत भाल किये॥
सृष्टि तुम्हारे लिये खड़ी, दृष्टि तुम्हारी किधर पड़ी?[1]

—'वैतालिक'

शब्द-शक्ति—गुप्तजी के काव्य का समग्र रूप में आकलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य रहता था, शिल्प-विधान नहीं। अतः अधिकांश स्थलों पर शब्द की अभिधाशक्ति का ही उपयोग उपलब्ध होता है। 'भारत भारती' जैसे विषय-प्रधान-काव्य में वाग्वैचित्र्य अथवा लाक्षणिक पदयोजना का विधान न होने पर भी, बड़ी सीधी-सादी एवं सरस भाषा में मार्मिक तथ्यों का वर्णन हुआ है जो 'अभिधा' के सुन्दर उदाहरण कहे जा सकते हैं। कवि की सशक्त लेखनी से अंकित 'दुर्भिक्ष' का एक सजीव चित्र देखिए—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों की टेक है॥
निकले हुए हैं दाँत बाहर नेत्र भीतर हैं धँसे,
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे।
अविराम आँखों से बरसता आँसुओं का मेह है,
है लटपटाती चाल उनकी, छटपटाती देह है।
गिरकर कभी उठते यहाँ, उठकर कभी गिरते वहाँ,
घायल हुए से घूमते हैं वे अनाथ जहाँ-तहाँ॥[2]

—'भारत भारती'

खण्ड काव्यों के संवादों में भी अभिधा का ही प्रयोग है। उर्मिला और लक्ष्मण का हास-परिहास देखिए, जहाँ मात्र अभिधा की सहायता से उर्मिला की उक्ति इतनी मनोहारी बन गई है—

"क्यों न अब मैं मत्त गज सा झूम लूँ,
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।"
कर बढ़ाकर जो कमल सा था खिला,
मुसकराई और बोली उर्मिला—
"मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना,
कर-कमल कह कर न मेरा तोड़ना।"[3]

—'साकेत'

१. वैतालिक—पृ० ६
२. भारत भारती—पृ० ८८
३. साकेत—पृ० २८

ऐसी ही सीधी-सादी निरलंकृत वाणी में कवि लक्षणा-व्यंजना की सहायता के बिना अपने विषय या कथानकों में रस-संचार करने में समर्थ हुआ है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गुप्तजी की कविताओं में लक्षणा-व्यंजना आदि शक्तियों का सर्वथा अभाव है। मुहावरों के व्याज से ही कहीं-कहीं लक्षणा शक्ति भाव को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आ पहुँचती है जिससे उक्ति में सौन्दर्य भले ही न आया हो, भाव में प्रभावोत्पादकता अवश्य सन्निविष्ट हो गई है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रयोजनवती, सारोपा, गौणी लक्षणा

प्राबल्य पापों का बड़ा है, पुण्य पंगु हुआ पड़ा,
दुष्काल दानव-सा अड़ा है, रोग राक्षस-सा खड़ा।[1]

—'श्री रामनवमी'

विषधर बनेगा रोष मेरा खल ! तुझे पाताल में,
दावाग्नि होगा विपिन में बाड़व जलधि जल-जाल में।
ज्यों व्योम में तू जायगा तो वज्र वह बन जायगा,
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा॥[2]

—'जयद्रथ वध

प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा

पानी बना कर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ,
फिर भी अभागे भूख से दिन-रात मरते हैं यहाँ॥[3]

—'भारत भारती'

यों फूट की जड़ जम गई, अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न-भिन्न समाज सारा, दीन-दुर्बल पड़ गया।[4]

—'भारत भारती'

शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है,
पूरी बस वह घास खोदने में होती है।
कहाँ यहाँ विज्ञान रसायन भी सोती है,
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है॥[5]

—'किसान'

समय के साथ, कवि की कुशल लेखनी में समृद्धि, वैदग्ध्य एवं वक्रता आती गई। अतः पिछली काव्य-कृतियों में लक्षणा-व्यंजना आदि शक्तियाँ सौन्दर्य के अंग बनकर सन्निविष्ट हो

१. पद्य प्रबन्ध—पृ० १०
२. जयद्रथ वध—पृ० ३६
३. भारत भारती—पृ० ६३
४. भारत भारती—पृ० १२५
५. किसान—पृ० ६

गई हैं। उदाहरणार्थ 'रूपवती के पत्र' में 'महाराजा राजसिंह के प्रति' एक उक्ति देखिए —

ऊँचा था अभिलाष हाय ! मन का,
मैं तुच्छा थी और हूँ,
कुल्या होकर सिन्धु ओर लपकूँ
भूली कहाँ ठौर हूँ ॥[1]

—'पत्रावली'

प्रस्तुत प्रसंग में रूपवती का अपने को 'कुल्या' तथा राजसिंह को 'सिन्धु' कहने में मुख्यार्थ की बाधा है अतः लक्षणा है। उसे अपनी 'तुच्छता' एवं राजसिंह की 'महत्ता' दिखाना अभीष्ट है अतः प्रयोजनवती है। रूपवती पर 'कुल्या' का तथा राजसिंह पर 'सिन्धु' का आरोप है। यहाँ रूपक का आभास लिए 'कुल्या' और 'सिन्धु' अपने अर्थ का सर्वथा त्याग कर देते हैं, अतः साध्यवसाना है।

बहू ! बहू ! माँ चिल्लाई, आँखें दूनी भर आई,
हाथ हटा, ये वल्कल हैं, मृदुतम तेरे करतल हैं।
यदि ये छू भी जावेंगे—तो छाले पड़ जावेंगे ॥[2]

—'साकेत'

राम-वन-गमन प्रसंग है, सुमन्त्र वल्कल वस्त्र लेकर आते हैं, कौशल्या एक बार सीता की ओर और फिर वल्कल वस्त्रों की ओर दृष्टिपात करती है। सीता जैसे ही उन्हें उठाने को उद्यत हुई कि कौशल्या अधीर होकर कह उठती हैं, "ये वल्कल हैं, इन्हें न छूना, हाथों में छाले पड़ जायेंगे।" किन्तु वल्कल वस्त्र छूने से छाले नहीं पड़ते, अतः मुख्यार्थ की बाधा है। कौशल्या की उक्ति का प्रयोजन सीता की शारीरिक कोमलता व्यक्त करना है अतः लक्षणा 'प्रयोजनवती' है। 'वल्कल' और 'अग्नि' के वर्ण-सादृश्य में रूपक व्यंग्य है अतः 'सारोपा' है।

शब्द की सबसे प्रौढ़ शक्ति व्यंजना है। अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहलाती है। कवि ने दो एक स्थलों पर इसका भी सुप्रयोग किया है।' 'जयद्रथ वध' में 'उत्तरा-विलाप' का प्रसंग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। उत्तरा की उक्ति है—

जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया।
पर जो तुम्हारी अनुचरी का पुण्य पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला ॥[3]

—'जयद्रथ वध'

१. पत्रावली—पृ० ३१
२. साकेत—पृ० ८१
३. जयद्रथ वध—पृ० २३

यहाँ उत्तरा ने 'सहचरी' और 'अनुचरी' दो शब्दों का प्रयोग किया है। 'सहचरी' का अर्थ 'साथी' और 'पत्नी' दोनों होता है किन्तु प्रसंग से केवल 'साथी' अर्थ ही सार्थक है। उत्तरा का कहना है कि यदि अभिमन्यु 'सहचरी' अर्थात् 'साथी' समझते तो साथ ही ले जाते। किन्तु वह हुआ नहीं, अतः उसके लिए अब "अनुचरी" का पद ही अनुकूल है। इसी प्रकार के कुछ और शब्द-प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

हे भक्त-वत्सल ईश ! तुमको बार-बार प्रणाम है,
सर्वेश ! मंगल कीजिए, शंकर तुम्हारा नाम है ॥[1]

निज स्वामियों के कार्य में समभाग जो लेती न वे,
अनुरागपूर्वक योग जो उसमें सदा देती न वे।
तो भी कहाती किस तरह अर्द्धांगिनी सुकुमारियाँ,
तात्पर्य यह अनुरूप ही थीं नरवरों के नारियाँ ॥[2]

जो हम कभी फूले फले थे, राम-राज्य-वसन्त में,
हा ! देखनी हमको पड़ी औरंगज़ेबी अन्त में ॥[3]

काव्य-गुण—यह तो ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्रारम्भिक बीस वर्षों में कवि का ध्यान भाषा को बोधगम्य एवं परिष्कृत करने पर ही केन्द्रित रहा था। अभिधाशक्ति का सर्वाधिक उपयोग सम्भवतः इसीका सुफल था। अतः गुप्तजी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रसादगुण सम्पन्नता है; साथ ही शृंगार एवं वीर रस के प्रसंग में माधुर्य एवं ओज गुण का भी सन्निवेश मिल जाता है, उदाहरणार्थ—

प्रसादगुण

क्या मर्द हैं हम वाह वा ! मुख-नेत्र पीले पड़ गये,
तन सूख कर काँटा हुआ, सब अंग ढीले पड़ गये।
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजे कम नहीं,
ये भिनभिनाती मक्खियाँ क्या मारते हैं हम नहीं ॥[4]

—'भारत भारती'

माधुर्यगुण

प्रियवर ! मैं तव हृदय की नहीं जानती बात,
सन्तापित करता मुझे कुसुमायुध दिन-रात।
कुसुमायुध दिन-रात घात करता रहता है,
तव मिलनातुर देह दाह दुस्सह सहता है ॥[5]

—'शकुन्तला'

---

१. जयद्रथ वध—पृ० २३, ५७
२-३. भारत भारती—पृ० ११, ७५
४. भारत भारती—पृ० १४४
५. शकुन्तला—पृ० १५

ओजगुण

तब निकल कर नासापुटों से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों,
जिस भाँति हरने पर किसी के प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर-फिर फणा फुंकार भरता है फणी ॥[1]

—'जयद्रथ वध'

अनूदित काव्य—पहले संकेत दिया जा चुका है कि गुप्तजी का ध्यान अनुवादों की ओर बहुत प्रारम्भ में ही चला गया था। सन् १९०७ में रघुवंश के नवम सर्ग के पच्चीसवें श्लोक से अड़सठवें श्लोक तक[2] के अविकल अनुवाद 'महाकवि कालिदास का वसन्त वर्णन' तथा 'महाराजा दशरथ का आखेट' शीर्षक रचनाओं के नाम से प्रकाशित हुए। सन् १९१० में 'शिशुपाल वध' के कुछ पद 'सन्ध्या वर्णन' नामक कविता में भाषान्तरित हुए। सन् १९११ में संस्कृत की सात अन्योक्तियाँ सानुवाद प्रकाशित हुईं। इसके उपरान्त 'यमुना तट पर राधिका' (१९१२ ई०), 'मयूरी' (१९१२ ई०), 'मलय-मारुत' (१९१२ ई०), 'ऊषा' (१९१३ ई०), 'भ्रमरी' (१९१४ ई०), आदि 'विरहिणी व्रजांगना' के संकेत-सूचक रूप में निकलीं जिनका संकलन सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ। सन् १९१९ में 'दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला' तथा 'अर्जुन के प्रति द्रौपदी' ने 'वीरांगना' के आगमन की सूचना दी। इस प्रकार १९२० ई० तक गुप्तजी के 'विरहिणी व्रजांगना' एवं 'पलासी का युद्ध' नामक दो पूर्णानुवाद तथा शेष रचनाएँ आंशिक रूप में प्रकाशित होकर उनकी भावी काव्य-प्रवृत्तियों का संकेत दे चुकी थीं।

अनूदित रचनाओं का मूल ग्रन्थों से तुलनात्मक परिशीलन करने से ज्ञात हो जाता है कि वे मूल के अविकल अनुवाद हैं। यों तो कवि ने 'विरहिणी व्रजांगना' को मधुसूदन कृत 'व्रजांगना' का भावानुवाद मात्र कहा है,[3] परन्तु तुलना करने पर पता चलता है कि यहाँ भी कवि ने यथाशक्ति मूल की सुरक्षा की है। कतिपय संस्कृत श्लोकों के अनुवाद देखिए जो भाव और भाषा दोनों ही दृष्टि से सुन्दर एवं व्यंजक बन पड़े हैं :—

श्रवण सुखद मधुपों के रवमय मधुर गीत गाने वाली,
कुसुम रूप कोमल दसनों से, हँसती हुई कान्तिशाली।
पवनाहत पल्लव हाथों से, भाव प्रकट करने वाली,
उपवन-पास वासिनी सुन्दर, शोभित हुई लता-जाली।[4]

श्रुति सुख भ्रमरस्वनगीतयः कुसुम कोमलदन्तरुचौ बभुः,
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥

—'रघुवंश' ॥९।३५

१. जयद्रथ वध—पृ० ३७
२. श्लोक सं० ४६ तथा ४७ का अनुवाद नहीं किया गया है
३. विरहिणी व्रजांगना—पृ० १
४. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ३—पृ० १००

भय से चकित और अति चंचल, सुन्दर नयन देख तत्काल,
याद आ गये प्रौढ़ प्रिया के, भाव भरे दृग युग्म विशाल।
इससे और मृगों पर भी शर, छोड़ नहीं वह सका नरेश,
पहुँच कान तक दृढ़ भी मुट्ठी, ढीली हो-हो गई विशेष।[1]

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तिमेत्य विभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढ़प्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥

—'रघुवंश' ॥९।५८

दिन में जिनके दर्शन न मिले, अब निशि में वे नक्षत्र खिले।
मलिनाश्रय से ही मलिन-निकट, देखो होते लघु लोग प्रकट॥[2]

दहशेऽपि भास्कररुचाऽह्नि न यः न तमीन्तमोभिरभिगम्य तताम्।
द्युतिमग्रहीद् ग्रहगणो लघवः प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः॥

—'शिशुपाल वध'

कस्तूरिका मृग! अरण्य तजो तुरन्त,
देखो सुगन्धित करो न सखे! दिगन्त।
है कीर्ति तो अलग, घातक तीव्र बाण से,
त्राण भी कठिन है भव रक्ष प्राण॥[3]

—'अन्योक्ति सप्तक'

कस्तूरिकां हरिण! मुंच वनोपकण्ठे,
मा सौरभेण ककुभः सुरभी कुरुष्व।
आस्तां यशो ननुकिरात शराभिघातात्,
त्रातापि हन्त! भविता भवतोदुरावः॥

इनके अतिरिक्त 'विरहिणी व्रजांगना', 'पलासी का युद्ध' तथा 'वीरांगना' (दो पत्र) आदि बंग-काव्य के अनुवाद हैं। इनमें भी अधिकांशतः मूल के भाव एवं विचार ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। यद्यपि गुप्तजी को बंगला के छोटे-बड़े छन्दों को हिन्दी में बढ़ाना-घटाना पड़ा है, किन्तु उससे कहीं मूल भाव को हानि नहीं पहुँची है; यथा मधुसूदन कृत 'व्रजांगना' के प्रथम छन्द का अनूदित काव्य से मिलान कीजिए—

नाचिछे कदम्बमूले, बाजाए मुरलि रे
राधिका रमन!
चल सखी त्वरा करि, देखिगे प्राणेर हरि,
व्रजेर रतन!

१. सरस्वती, सन् १९०७, भाग ८, सं० ७—पृ० २६९
२. सरस्वती, सन् १९१०, भाग ११, सं० २—पृ० ५८
३. सरस्वती, सन् १९११, भाग १२, सं० १—पृ० २३

चातकी आमि सजनि, शुनि जलधर-ध्वनि,
केमने धैरज धरि थाकिल एँर बन ?
जाक् मन जाक् कूल, मन तरी पावे कूल,
चल भाषि प्रेमनीरे, भेबे ओ चरन

—'ब्रजांगना' १।१

श्री ब्रजरत्न प्राणधन हरि को चल सखि ! चल देखें सत्वर,
हैं कदम्ब के तले नाचते, वेणु बजाते राधाबर,
घनश्याम की ध्वनि सुन क्यों कर मैं चातकी धैर्य्य धारूँ।
क्यों न प्राण-प्यारे के ऊपर अपना तन, मन, धन वारूँ।
मान जाय, कुल तजे भले ही, मानस-तरणी पावे कूल,
चल सखि ! डूब प्रेम जल-तल में सेवें वह पद-पंकज मूल ॥[1]

'पलासी के युद्ध' में कहीं-कहीं मूल के चतुर्दश वर्णिक पयार छन्द के चरणों का अनुवाद पन्द्रह वर्ण के गण-मुक्त छन्द के छह चरणों में मिलता है। परन्तु कवि की लेखनी की सबसे बड़ी कुशलता यह है कि मूल भाव का कोई अंश भी नहीं छूट पाया है, यथा :—

किं आश्चर्य !
बंगेर अदृष्ट न्यस्त जाहाँदेर करे,
उज्ज्वल बंगेर मुख जादेर गौरव
ताँरा केन आजि एत विषण्ण अन्तरे,
निशीथ निभृत स्थाने बसिया नीरवे ?
सहस्रे वेष्ठित हये स्वर्ण सिंहासने,
बसेन सतत जाँरा तारा केन हाय
निर्जन मलिन मुखे विषादित मने,
बसिया गंभीर भावे मजिया चिन्ताए ?

—'पलाशीर युद्ध' १।१०

विस्मय है बंग का अदृष्ट जिनके है हाथ,
जिनसे है बंग-शिर ऊँचा गुरुता के साथ।
सिंहासनासीन होते जो हजारों से घिरे,
बैठे आज क्यों हैं यों अकेले में वही निरे ?
मुख पर उदासी है, सोच है हृदय में,
चिंत्रित इकट्ठे हुए ये किस विषय में।[2]

'पलाशीर युद्ध' के प्रणेता नवीनचन्द्र सेन का स्वभाव है कि आवृत्ति द्वारा निरर्थक वाग्विस्तार करते हैं। गुप्तजी को ऐसे स्थलों पर संक्षेप से ही काम लेना पड़ा है, यथा :—

१. विरहिणी ब्रजांगना—पृ० ५
२. पलासी का युद्ध—पृ० ५–६

शार्दुल-कवल-गत, किंवा नागपाशे,
बद्ध येइ जन हाय ! भीषण वेष्टने,
निरापद, वसि जेन आपनार वासे,
भावे से यद्यपि मने तबे ए संसारे,
ततोधिक मूर्ख आर बलिब काहारे ?

—'पलाशीर युद्ध' १।३६

मूल की इन पाँच पंक्तियों को कवि दो में संक्षिप्त करके कहता है—

सोचे घर बैठा हूँ—जो व्याघ्र मुख में पड़ा,
होगा, कहाँ, कौन और मूढ़ उससे बड़ा ?[1]

कहीं-कहीं अनुवादक को छन्द के आग्रह से थाड़ा-बहुत विस्तार भी करना पड़ा है, यथा :—

अहिफेन-मुग्ध मिरजाफर पामर,
ढुलु ढुलु करितेछे आरक्त लोचन।

—'पलाशीर युद्ध' ५१

अधम मीरजाफ़र अफीम से झींम रहा है झूमकर,
झँपक लाल दृग झलक रहे हैं पलक-जाल में घूमकर॥[2]

यहाँ 'पलक जाल में घूम कर' तो कदाचित् पादपूर्ति के लिए ही किया गया है।

इस प्रकार मूल भाव की आद्योपान्त रक्षा करने पर भी कवि ने कहीं-कहीं अभिव्यंजना प्रणाली में हेर-फेर कर दिया है; उदाहरणार्थ 'रघुवंश' के नवम सर्ग के इकतीसवें श्लोक में 'बालचन्द्र की छटा छीन कर' सूचक कोई पद अथवा शब्द नहीं मिलता। श्लोक-संख्या बयालीस में अमदयत (मतवाला किया) को कवि ने 'मन मतवाला हुआ अपार' कर दिया है। इसी प्रकार बंगला काव्य के रूपान्तर में भी कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं, यथा मूल काव्य 'व्रजांगना' के 'मदन राजार विधि लाँघिब कैमने' (व्रजांगना १।२) का "मदन राज के विधि लंघन में कर सकता है कौन प्रयास" किया गया है। 'आमि रेखेछि इहारे' तथा 'तितिछे वसन भोर नयनेर जले' (व्रजांगना ३।५ तथा ३।३) का क्रम से "मैंने नहीं किया है उसको दूर" और "दृग-जल से भीगीं" मिलता है। किन्तु हम देखते हैं कि अधिकांश स्थलों पर इस प्रकार के शब्द-परिवर्तनों से उक्ति अधिक रमणीय हो गई है, अतः इन दोषों का परिहार स्वयं ही हो जाता है। 'पलासी के युद्ध' की कतिपय पंक्तियों की तुलना से स्पष्ट हो जाएगा। मूल पद था 'शाभिछे एकटि रवि पश्चिम गगने' (पलाशीर युद्ध २।१) कवि लिखता है, "शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में।" और देखिए, 'उन्मत्तता व्याघ्र रूपे करित निवासे' (पलाशीर युद्ध २।११) का······"उन्मत्तता दानवी घूम घहराती" अनुवाद अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

इस प्रकार गुप्तजी एक सफल अनुवादक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। खड़ीबोली

१–२. पलासी का युद्ध—पृ० १६, ११३

के समान बंगला-भाषा का वाग्वैभव भी संस्कृत-कोष से संचित है। अतः गुप्तजी को भाषा का प्रकृत एवं प्रांजल रूप बनाए रखने में विशेष कठिनाई नहीं हुई है। अनुवादों में ध्वनि, सुधांशु, रजनीघन, पाद्यरूप, कूल, रसरंगिनी, धरणि, गुणमणि, तन्द्रा, वामा, विसर्जन, स्फटिक, जाह्नवी, जीवन आदि अनेक शब्द ज्यों के त्यों अन्तर्भूत कर लिये गये हैं। हाँ, छन्द के आग्रह से कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्द भी गृहीत मिलते हैं जैसे ध्वनि के लिए निनाद, अश्रुधार के लिए दृगजल, तिमिर-यामिनी के लिए तमिस्रा आदि। हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल मुहावरे-लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। प्रसंग के अनुकूल भाषा ललित एवं माधुर्य-पूर्ण भी है और ओजयुक्त भी। अप्रस्तुत-विधान तथा प्रतीक आदि प्रायः वही हैं। इस प्रकार पढ़ते समय ये अनुवाद मूल की प्रतिच्छाया लिए हुए भी स्वतन्त्र से प्रतीत होते हैं। यही अनुवादक की सबसे बड़ी सफलता है।

संक्षेप में, गुप्तजी के मौलिक एवं अनूदित काव्य का समग्र रूप में अनुशीलन करने पर जो विशेषता उभरकर सबसे ऊपर आती है वह यह है कि गुप्तजी ने आद्योपान्त परिष्कृत एवं प्रांजल खड़ीबोली का ही प्रयोग किया है। प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित है और समस्त पदावली के प्रति विशेष आग्रह लक्षित होता है जो समय के साथ कम होता गया। अभिव्यंजना की दृष्टि से गुप्तजी की आरम्भिक रचनाएँ काव्यत्व से प्रायः शून्य हैं। जहाँ अलंकार आदि का उपयोग हुआ भी है उनमें अधिकांशतः परम्परा-पालन मात्र है। कदाचित् बंगभाषा के अनुशीलन एवं अनुवादों का ही प्रभाव था कि सन् १९१२-१३ के पश्चात् कवि की कल्पना में रंगीनी, भावों में दीप्ति और पदविन्यास में माधुर्य आने लगा। तदनुसार भाषा एवं काव्य-शैली भी सरल एवं रूढ़िमुक्त हो गई। फलतः कविताओं में लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता के भी शनैः शनैः दर्शन होने लगे। किन्तु कवि अन्त तक प्राचीन अलंकारों से पीछा नहीं छुड़ा पाया। अतः सन् १९२० तक गुप्तजी के काव्य में नवीन अभिव्यंजना प्रणाली एवं प्राचीन अप्रस्तुतों का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है। आलोच्य काल में कवि की अभिव्यंजना भाषा की दृष्टि से जितनी समृद्ध हुई उतनी शब्दशक्ति और अलंकार की दृष्टि से न हो सकी।

पं० रामनरेश त्रिपाठी (सं० १९४६—वर्त्तमान)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "स्वदेश भक्ति की जो भावना भारतेन्दु के समय से चली आती थी उसे सुन्दर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठीजी ने ही प्रदान किया।"[1] शुक्लजी का संकेत पं० रामनरेश त्रिपाठी विरचित 'मिलन' (सन् १९१७), 'पथिक' (सन् १९२०) तथा 'स्वप्न'[2] (सन् १९२८) नामक खण्ड काव्यों की ओर था। इन काव्यों में ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक नहीं है। कवि ने कल्पना-प्रसूत लौकिक आख्यानों द्वारा देशभक्ति जैसे विषय-प्रधान एवं शुष्क विषय को भावप्रधान तथा सरस बनाकर स्वच्छंद मार्ग की ओर पदन्यास की प्रवृत्ति सूचित की है। कदाचित् इसीलिए शुक्लजी ने इन्हें द्विवेदी-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२८—पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. 'स्वप्न' का रचनाकाल सन् १९२८ है। अतः यह हमारे आलोच्य काल की परिधि से बाहर है।

मण्डल के बाहर की काव्य-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। त्रिपाठीजी ने कल्पित कथानक के आधार पर 'मिलन' और 'पथिक' दोनों काव्यों में देश की वर्त्तमान दशा तथा समाज का चित्र अंकित किया है। 'मिलन' में प्रजा विदेशी राज्य से पीड़ित है और 'पथिक' में प्रजा के दुःख का कारण स्वदेशी आततायी राजा का अत्याचार है। 'मिलन' में नृशंस विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए तथा 'पथिक' में स्वदेशी एकतंत्रीय शासन से परित्राण पाने के लिए मानव को जीवन होम करने का आह्वान है। कवि के विचार में देश की राजनीतिक और सामाजिक दुर्दशा का मात्र उपचार निःस्वार्थ जनसेवा है। अतः उसके अनुसार जन-सेवा ही प्रत्येक युवक-युवती का आदर्श होना चाहिए। देशोद्धार की इस पुकार को 'मिलन' में आनन्द और विजया तथा 'पथिक' में पथिक एवं पथिक-प्रिया सुनते हैं। वे प्रणयी-प्रणयिनी तथा पति-पत्नी होकर भी देशयोगी बन जाते हैं। 'मिलन' में आनन्द और विजय एक दूसरे से स्वतन्त्र रहकर संगठित जनता की सहायता से देश को विदेशी शत्रु से मुक्त करते हैं। 'पथिक' में देशसेवी-पथिक सपरिवार बलि देकर जनता को चेतना प्रदान करता है। और जनता असहयोग द्वारा राजा को निकालकर जन-राज्य स्थापित करने में समर्थ होती है। इसमें कहीं-कहीं गाँधीजी के 'अहिंसा' और सत्याग्रह की क्षीण ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

उक्त खण्डकाव्यों के अतिरिक्त त्रिपाठीजी ने 'सरस्वती', 'विद्यार्थी' आदि मासिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए कुछ स्फुट कविताएँ भी रची थीं; इनमें देशभक्ति के अतिरिक्त अन्य विषय भी वर्णित हैं। 'जन्मभूमि भारत' 'हिन्दुओं की हीनता', 'स्वदेश गीत' आदि कविताओं में द्विवेदी-युग की प्रचलित परिपाटी पर राष्ट्रगान हुआ है। 'महापुरुष के लक्षण' और 'राम' जैसी रचनाएँ आदर्श मानव के रेखाचित्र हैं। 'लोभ से हानि', 'निर्बलों को न्यायालय में भी जगह नहीं', 'बाइसिकल', 'शारद तरंगिनी' जैसी रचनाओं में लघु-कथा, जगत या प्रकृति के वस्तु-व्यापारों द्वारा नीति-शिक्षा दी गई है। 'पुस्तक', 'प्रार्थना', 'अन्वेषण' आदि कविताओं का विषय फुटकर है। 'माता का उद्धार' 'विद्यार्थी' आदि रचनाएँ पत्रिका में प्रकाशित चित्रों का परिचय हैं।

अभिव्यंजना शैली—भाषा (शब्द-चयन, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—द्विवेदी-युग के प्रथम दशाब्द में कवियों की दृष्टि प्रायः खड़ीबोली को परिष्कृत, परिनिष्ठित एवं संस्कृत-गर्भित बनाने पर ही केन्द्रित रही। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रिय प्रवास' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भाषा-संस्कार की इस धुन के कारण खड़ीबोली में श्रुतिकटुत्व दोष आ गया था। पिछले खेवे के कवियों ने खड़ीबोली के इस अस्वाभाविक विकास को पहिचाना और उसकी 'खड़खड़ाहट' को दूर करने का जागरूक प्रयत्न किया। सन् १९१५ के आसपास त्रिपाठीजी जब काव्यक्षेत्र में आये तो उन्होंने भाषा की आत्मा को परखने की चेष्टा की। उन्होंने समझ लिया कि खड़ीबोली संस्कृत-तत्सम-प्रधान-भाषा की पर्यायवाची नहीं है; उसका अपना नैसर्गिक एवं स्वतन्त्र रूप है; उसकी अपनी प्रकृति और अपना व्याकरण है। अतएव तत्सम शब्दों के प्रयोग के प्रति उन्होंने पक्षपात तो किया किन्तु उसका अतिचार सतर्कता के साथ बचाया। हाँ, युग के प्रभाव से वे भी न बच पाये; इसलिए इन्होंने भी निरर्थक प्रत्यय लगाने का आग्रह दिखाया है, जैसे विचुम्बित, विनिद्रित, विताड़ित, प्रलम्ब, परिपोषक, विमोचन, विमोहित,

परिदर्शन, विभासित, प्रश्वसित, प्रकम्पित, विनिन्दित आदि। कविता में उच्चारण-सुकरता और श्रवण-सुखदता लाने के लिए वर्ण अथवा शब्द-मैत्री पर विशेष बल देना ही कदाचित् इसका कारण था; उदाहरणार्थ तरल-तरंगित, सरित-सलिल, स्वर्ण-सुमन, प्रकृति-प्रति, वेदना-व्यथित, विरह-विताड़ित, कुश-किसलय, कल्पना-कलाप, समुद्र-समीरण, सुषमा-सौन्दर्य, सौन्दर्य-स्रोत, वीचि-विचुम्बित, कोकिल-कंठी, स्वर्ण-कर्ण, विराव-विहीन, चन्द्र-चुम्बन, कुत्सित-कुरूप, साधु-संयमी, 'विरह-व्याधि, कीर्ति-कथन जैसे प्रयोगों द्वारा त्रिपाठीजी के खड़ीबोली काव्य में निश्चय ही मार्दव आ गया। कदाचित् इसी प्रयोजन से उन्होंने कहीं-कहीं संयुक्ताक्षरों को वियुक्त एवं परुष वर्णों को कोमल कर दिया है। अतः परमारथ, स्वारथ, सनेह, पूरण, सरबस, प्रान, प्रन, छीन, सद्गुन, थिर आदि अर्द्ध तत्सम अथवा तद्भव प्रयोग उपलब्ध होते हैं। दो-एक स्थलों पर कवि ने शब्द-निर्माण, शब्द-सन्धि आदि में स्वच्छन्द प्रवृत्ति का आभास दिया है जो भाषा की दृष्टि से असंयत प्रतीत होता है :—

पर प्रेम-पागलिनी विजया भरती आह उसास।[१]

—'मिलन'

कुछ कुछ होने लगी युवक की मूर्च्छा अन्तर्द्धान।[२]

—'मिलन'

क्षमा, शान्ति, करुणा, उदारता, श्रद्धा भक्ति विनयिता।[३]

—'पथिक'

बुराई जान कर यह तज कि वह निर्बुद्धिता है।[४]

—'भलाई और बुराई'

यह इच्छा है कुंज कुंज में वायु बना विचरूँगा।
कुम्हलाये पौधों में फिर से चेतनता वितरूँगा॥[५]

—'पथिक'

खड़े चतुर्दिक शान्त भाव से लतिकालिंगित द्रुम हैं।[६]

—'पथिक'

त्रिपाठीजी के काव्य में देशज शब्दों का प्रयोग बहुत खटकता है। मीच (मीचु), सेऊँगी, ठौर, तनक, अठिलाती, साथरी, पौढ़ाया, पौन, दुखारी आदि शब्द भाषा के अविरल प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। निम्न अवतरण द्रष्टव्य हैं :—

विजया आ बैठी ढिग उसके थर-थर कम्पित गात।[७]

—'मिलन'

१-२. मिलन—पृ० ६४, ८३

३. पथिक—पृ० ३२

४. विद्यार्थी, भाग ४, सं० २, सं० १९७४—पृ० ७९

५-६. पथिक—पृ० २४, ४१

७. मिलन—पृ० ६७

जाने को निज पुण्य भूमि पर लक्ष्मी की असवारी ॥[1]

—'पथिक'

आँखें विष में बूड़ रही सी थीं रसहीन सजल हो ।[2]

—'पथिक'

ताप-तप्त जन यहाँ क्यों न आकर क्षण एक जुड़ाते ॥[3]

—'पथिक'

गिरि मैदान, नगर निर्जन में एक भाव में भाती ।[4]

—'पथिक'

किससे पूछूँ कहूँ सन्देशा पाती कहाँ पठाऊँ ।[5]

—'पथिक'

ऊँचे स्वर से हुक्म निरंकुश उसने बाँच सुनाया ।[6]

—'पथिक'

फूट के पीछे महा आपत्ति में अरुझा रहे ।[7]

—'हिन्दुओं की हीनता'

ऐसी स्वच्छ भाषा में ढिग, असवारी, बूड़, जुड़ाते, भाती, पाती, पठाऊँ, बाँच, अरुझा आदि शब्द कितने अनुपयुक्त हैं यह पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं। निम्न पद में पंजाबी की ठेठ बोलचाल की भाषा का शब्द-प्रयोग देखिए :—

रही उड़ीक द्वार पर मैं हूँ अन्त घड़ी जीवन की ।[8] (उड़ीक—प्रतीक्षा)

—'पथिक'

इसमें सन्देह नहीं कि भाषा के शुद्ध एवं प्रकृत रूप को अनाविल रखने के लिए खड़ीबोली से उसकी आत्मजा उर्दू के आमफ़हम शब्दों को निकालना उसकी आत्मा का हनन है। किन्तु कुशल कलाकार के लिए यह अनिवार्य है कि वह उनका उपयोग शुद्ध तत्सम शब्दों के बीच यथासम्भव न करे, अन्यथा वे रचना में दोष की तरह उभर आते हैं। इस दृष्टि से त्रिपाठीजी की रचनाएँ पर्याप्त दोषपूर्ण हैं, देखिए :—

विजया का हिम से विलोक कर, करुणोत्पादक हाल ।[9]

—'मिलन'

द्रवीभूत हो गया दया से वह मानव कंकाल ॥
रत्नाकर गर्जन करता है मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये ! भरा रहता है ।[10]

—'पथिक'

१—६. पथिक—पृ० २०, ३६, ४१,४२, ५२, ५८
७. सरस्वती, सन् १९१२, भाग १३, सं० २—पृ० १११
८. पथिक—पृ० ५२
९. मिलन—पृ० ६७
१०. पथिक—पृ० २०

गुल को हँसा, रुला बुलबुल को, छेड़ लता-मण्डल को।
फिर सबको नहला दूँगा, मैं घेर-घेर बादल को।[१]

—'पथिक'

सुख-दुख से थोड़ी आमद में कट जाता था काल।[२]

—'मिलन'

ऊँचे स्वर से हुक्म निरंकुश उसने बाँच सुनाया।[३]

—'पथिक'

एकाध स्थल पर देशज शब्द भी दृष्टिगत होते हैं, जैसे :—

देखा उसने उसी भाँति के अगणित नर-कंकाल।
चिपके पेट-रीढ़ से जिनके चुचके-पुचके गाल।[४]

—'मिलन'

'चुचुकना' का अर्थ होता है 'सूख कर सिकुड़ना'। त्रिपाठीजी ने उसके वज़न पर 'पुचके' बना लिया। विजया का गाँव-गाँव भ्रमण कर ग्रामीणों की दीन-हीन दशा देखकर दयार्द्र होना वर्णित है, किन्तु इस 'चुचके-पुचके' पद से तो हँसी ही आती है, करुणा उत्पन्न नहीं होती। किन्तु इन दोषों के होते हुए भी त्रिपाठीजी की काव्य-भाषा सामान्यतया उत्कृष्ट, स्वच्छ एवं सुबोध है, उदाहरणार्थ :—

संस्कृत प्रधान

सिकुड़न-रहित ललाट-ललित अति उन्नत कला-निधान।
पौरुष-पूर्ण विशद वक्षस्थल वृषभ-कन्ध बलवान॥
परिध-समान प्रलम्ब-युगल-भुज पृथुल कठिन भुजदण्ड।
अंग अंग से छलक रही थी शोभा, शक्ति प्रचण्ड॥[५]

—'मिलन'

सरल भाषा

हम प्राण होम देंगे, हँसते हुये जलेंगे,
हर एक साँस पर हम आगे बढ़े चलेंगे।
जब तक पहुँच न लेंगे तब तक न साँस लेंगे,
वह लक्ष्य सामने है पीछे नहीं टलेंगे।[६]

—'स्वदेश गीत'

इन रचनाओं की वाक्य-योजना सरल, एवं प्रसादपूर्ण है। इनमें सामान्यतया लिंग, वचन, क्रिया, विभक्ति अथवा दूरान्वय, न्यूनपदत्व दोष आदि नहीं मिलते। क्योंकि त्रिपाठीजी

१. पथिक—पृ० २७
२. मिलन—पृ० ६८
३. पथिक—पृ० ५८
४-५. मिलन—पृ० ७१, ४५
६. विद्यार्थी, सं० १९७५, भाग ५, सं० १—पृ० १

काव्य-भाषा में लाघव लाने के लिए कारक-चिह्नों अथवा संयुक्त क्रियाओं के कुछ अन्तिम अवयवों तक को छोड़ना भी (जैसे 'कर रहा है' के स्थान पर 'कर रहा' या 'करते हुए' के स्थान पर 'करते') ठीक नहीं समझते थे।"[1] इसलिए भाषा की सफ़ाई के साथ कसावट और सुबोधता इन रचनाओं का गुण है, देखिए :—

शासक-दल असहाय प्रजा को घोर कष्ट देता है।
रक्षक से भक्षक बनता है, सरबस हर लेता है॥
अटल दीनता का चंगुल है, साथी कौन किधर है?
हरदम सिर पर मौत खड़ी है, ओठों पर ईश्वर है।[2]

—'पथिक'

अशनिपात, भयानक गर्जना,
विषम वात, झड़ी दिन-रात की।
मिट गई, दिन पावस के गये,
शरद है अब शान्त सुहावना॥[3]

—'शारद नदी'

वीर कर्म है खंग हस्त हो, जा डटना रण-बीच।
उसे न भीरु बना सकती है सखा-सहोदर मीच॥
प्रकृत लज्जिता कुछ सकुचा कर बोली—अच्छा नाथ।
नहीं रुकोगे, तो रख लो इस दासी को भी साथ॥[4]

कालान्तर में कवि की रुचि वाक्यों को गुम्फित करने की ओर झुकती दृष्टिगत होती है। निम्न अवतरणों में देखिए, वाक्यों में लाघव लाने के लिए एक ही सहायक क्रिया से अनेक क्रियार्थक संज्ञाओं को अन्वित किया गया है—

होता है सब साथ उसी के सोना, जगना मेरा।
रोना, हँसना और खेलना निशि-दिन साँझ-सवेरा॥[5]

अन्धे को दृग महारंक को विश्व सम्पदा सारी।
जेठ-दुपहरी में मरुथल के तृषित पथिक को वारी॥
मिलने से जो सुख होता है आत्म-रहस्य यती को।
उससे बढ़ सुख मिला अचानक विरह-विदग्ध सती को॥[6]

काव्य-शास्त्र में इस प्रकार की वाक्य-योजना आलंकारिक शैली के अन्तर्गत 'देहली-दीपक' कहलाती है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२८—पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. पथिक—पृ० ४५
३. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० ५,—पृ० ३३९
४. मिलन—पृ० १७
५. पथिक—पृ० २३
६. पथिक—पृ० १८

लोकोक्ति-मुहावरे—कहा जा चुका है कि त्रिपाठीजी के काव्य में भाषा साधारणतः शुद्ध एवं परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ती है। इन रचनाओं की स्फीत वाग्धारा संस्कृत शब्दों से अलंकृत होकर अबाध गति से प्रवाहित होती है। अतएव इनमें मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा बोलचाल के रूढ़ पदों का उपयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। हाँ, जहाँ भाषा अपेक्षाकृत सरल है कवि ने रचना में प्राण और स्फूर्ति लाने के लिए मुहावरों का भी उपयोग कर लिया है, जैसे—

हाय ! हाय ! इस अधम स्वार्थ पर पड़ी न अब तक गाज।[१]
सुन करके आहें भरते थे, कृषक कलेजा थाम।[२]
उखड़ रहे थे पैर प्रजा के छूट रहा था धीर।[३]
फूले नहीं समाते थे तुम, हे मेरे दुखहर्ता।[४]
हीरा सा जीवन ले क्यों कौड़ी के मोल बिकाऊँ।[५]
सुन कर पथिक प्रतीक्षक की द्रुत कली खिल उठी जी की।[६]
कुछ हैं वाह वाह के प्रेमी, निर्भय गाल बजाते।
हुल्लड़ का हुरदंग मचाते जी की जलन मिटाते।[७]
तो यह इसका पुत्र खंग के घाट अभी उतरेगा।[८]
किया जिन्होंने स्वर्ण भूमि को कौड़ी का मुहताज।[९]
जिससे फिर कोई भविष्य में सिर न विरुद्ध उठाये।[१०]

कुछ स्थलों पर मुहावरों के परिवर्तित रूप भी दृष्टिगत होते हैं, यथा :—

धोखे में पड़ना, अलभ्य अवसर से है कर धोना।[११]
पा सकते हैं शान्ति मिटा सकते हैं जी के ज्वर को।[१२]
बोली अतिशय कठिनाई से थाम हृदय के दुख को।[१३]

उक्त अवतरणों के प्रथम दो पदों में क्रम से 'हाथ' के लिए 'कर' 'जलन' के लिए 'ज्वर' के प्रयोग से मुहावरा अशक्त हो गया है। तीसरे पद के मुहावरे में 'दुःख' शब्द के प्रयोग से कवि ने अपना आशय इतना अधिक स्पष्ट कर दिया कि मुहावरे का लाक्षणिक चमत्कार व्यर्थ ही रहा है। रूढ़ प्रयोगों में कवि की ऐसी स्वच्छन्दता भाषा को ग्राह्य नहीं हो सकी है।

अप्रस्तुत विधान—द्विवेदी-युग के मध्यकाल तक खड़ीबोली काव्य का विषय स्थूल, वर्णन-प्रधान तथा उपदेशात्मक होने के कारण नीरस रहा। अधिकांश कवियों ने नयी भाषा

१—३. मिलन—पृ० ७१, ७२, ७७
४—८. पथिक—पृ० २२, २७, २८, ४७, ५६
९. मिलन—पृ० १४
१०—१३. पथिक—पृ० ५५, ३५, ४०, २१

को माँजने-सँवारने में ही अपना शक्ति-सामर्थ्य व्यय कर डाला। फलतः भाषा तो परिनिष्ठित एवं परिष्कृत हो गई किन्तु भावों की अभिव्यक्ति सीधी शैली में ही होती रही। इस युग के अन्तिम चरण में जिस प्रकार विषय में भावुकता एवं कल्पना का रंग चढ़ाने की चेष्टा हुई उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति के लिए कलात्मक चित्रण की विविध विधाओं का उपयोग भी प्रारम्भ हुआ। जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, त्रिपाठीजी ने 'मिलन' और 'पथिक' की सृष्टि करके स्वदेश-भक्ति की भावना को सरस एवं मधुर बनाया। साथ ही अप्रस्तुत योजना के समर्थ प्रयोगों द्वारा रंग-बिरंगे चित्र तथा शब्द की व्यंजक शक्ति को पहिचान उसकी शक्तियों का सुष्ठु उपयोग करके उन्होंने छायावाद की चित्रात्मक और लाक्षणिक शैली के आगमन की सूचना दी।

यों तो त्रिपाठीजी के काव्य में सादृश्य, साधर्म्य, प्रभावमूलक आदि सभी अलंकारों का प्रयोग मिलता है किन्तु उनमें 'उपमा', रूपक तथा 'उत्प्रेक्षा' मुख्य हैं। इन प्रयोगों की विशेषता यह है कि उपमान प्रायः नवीन हैं और उनके वाचक शब्द भी काव्य के संगीत और लय में योग देने वाले हैं। दूसरे, उपमेय के रूप, गुण, और क्रियासाम्य के अतिरिक्त उपमान के प्रभाव-साम्य पर भी विशिष्ट बल दिया गया है। इनके अतिरिक्त मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त उपमान और अमूर्त प्रस्तुतों के लिए मूर्त उपमानों का विधान भी बाहुल्य में हुआ है। इस प्रकार आलोच्य काव्य में प्राचीन उपमानों तथा नवीन उद्भावनाओं का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। उदाहरणार्थ निम्न पद द्रष्टव्य हैं—

रूपक-रूपकातिशयोक्ति (संसृष्टि)

> सुन प्रणयी के इन्द्र-वदन में, मृदुल कौमुदी-हास।
> विकसित हुआ झुकाया उसने, शशि को शशि के पास॥[1]

उपमा-रूपक (संसृष्टि)

> पंकज-माला सी, प्रणयी के मृदु गल-बहियाँ डाल।
> दृग-चकोर से देख चन्द्र-मुख, बोली विह्वल बाल॥[2]

उपमा-रूपक

> पुष्प-भार-अवनता लता सी, तज प्रियतम-तरु-अंग।[3]

उपमा

> वीर कर्म है खंग हस्त हो, जा डटना रण बीच।
> उसे न भीरु बना सकती है, सखा-सहोदर मीच॥[4]
> चन्द्र-कुण्डली सा वलयित कर रमणी-कण्ठ-ललाम।
> चिबुक प्रस्फुटोन्मुख गुलाब धर चूम भाल अभिराम॥[5]

उदाहरण

> गन्ध-विहीन फूल है जैसे, चन्द्र-चन्द्रिका-हीन।
> यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन॥[6]

१–६. मिलन—पृ० १३, १६, १८, १७, १३, ३२

तृषित नीर को, लहर तीर के लिए विकल हो जैसे।
राजपुरी के लिए मार्ग पर चली विरहिणी वैसे॥[1]

दृष्टान्त

पर तुम नहीं हिचकना बेटा ! करना मन न उदास।
रखना सदा आत्म-बल ऊपर अटल-अचल विश्वास॥
आते हैं विघ्नों के झोंके बारम्बार प्रचण्ड।
गिरते हैं, तरु पर रहता है गिरिवर अटल-अखण्ड॥[2]

रूपकातिशयोक्ति

गगन नीलिमा में हीरे का तेज पुंज अभिराम।
एक पुष्प आलोकित करता था जल, थल, नभ, धाम॥
बरछी सी उसकी किरनों से खाकर गहरी चोट।
अन्धकार हो क्षीण छिपा था तरु पत्तों की ओट॥[3]

मध्य निशा, निर्मल निरभ्र नभ, दिशा विराव विहीना।
विलसित था, अम्बर के उर पर अद्भुत एक नगीना॥
उसकी विशद प्रभा सर, निर्झर, तृण-लतिका द्रुम-दल में,
करती थी विश्राम, परम अभिराम निशीथ कमल में॥[4]

उत्प्रेक्षा

निकल रहा है जलनिधि-तल पर दिनकर-बिम्ब अधूरा।
कमला के कंचन-मन्दिर का मानो कान्त कंगूरा॥[5]

बार बार दृग पोंछ रही थीं, ललनाएँ अंचल से।
अंचल भी मानो रोते थे भीग-भीग दृग-जल से॥[6]

उपमेयोपमा

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक॥[7]

प्रतीप

तुम से हुआ यशस्वी यश भी देख विशुद्ध चरित्र।[8]

तुल्ययोगिता

शोकमान मेरी विपत्ति में, सबने तजा विलास।
खग ने गान, लता ने हिलना, मृग ने गमन-प्रयास॥[9]

निम्न अवतरण में मूर्त-अमूर्त उपमाओं की 'माला' द्वारा पथिक-प्रिया का रेखा-चित्र द्रष्टव्य है—

१. पथिक—पृ० ५५
२–३. मिलन—पृ० ६१, २४
४–६. पथिक—पृ० २८, २०, ५७
७–९. मिलन—पृ० ३२, ८०, ३७

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन सी वामा।
कवि के स्वप्न-समान, विश्व के विस्मय सी, अभिरामा॥
सिन्धु-गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता सी।
आकर चकित हुई तट पर प्रियतम-दर्शन की प्यासी॥[1]

उपमान बिल्कुल नए ढंग के हैं। नायिका के साम्य के लिए 'स्वर्गीय किरन', 'कवि-स्वप्न' 'विश्व का विस्मय', 'सिन्धु-लय से पूर्व तरंगिता सरिता' आदि उपमानों का प्रयोग करके कवि ने भाषा को चित्रमयी एवं भावों को संश्लिष्ट बना दिया है। भावना और कल्पना के सम्यक् योग से सहृदय पाठक के मन में चित्र तो आता है किन्तु उपमान अमूर्त होने से रेखाएँ केवल उभर कर रह जाती हैं। साथ ही 'सी' की आवृत्ति से छन्द में सरसता आ गई है।

संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिणाम है। 'रूपक' एवं 'उत्प्रेक्षा' के सहारे संश्लिष्ट चित्र-योजना देखिए—

था निर्भय कर्तव्य-परायण वीर-प्रभावित स्वर से,
सिन्धु-सन्तरी गरज रहा था अगणित ऊर्मि-अधर से।
चंचल वीचि मरीचि-वसन से सजकर नीले तन को,
होड़ लगी सी उछल रही थी चारु-चन्द्र-चुम्बन को॥[2]

सिन्धु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रतिक्षण में,
है निमग्न नित भूमि-अण्ड के सेवन में, रक्षण में।
कोमल मलय पवन घर-घर में सुरभि बाँट आता है,
शस्य सींचने घन-जीवन धारण कर नित जाता है॥[3]

भाव और उक्ति के चमत्कार के लिये विरोधमूलक-अलंकार-योजना भी उपलब्ध होती है। विरोधाभास के सहारे प्रस्तुत चित्र द्रष्टव्य है—

चली नदी तट पथ के चलते-चलते पश्चिम ओर।
ठौर मिला, जीवन-सन्ध्या का, जहाँ हुआ था भोर॥
कृषता तरणि-ताप, पथ-श्रम फिर विरहानल विकराल।
सुधि प्रभात की घृत-आहुति-सी, बाल न सकी सँभाल॥[4]

'मिलन' की नायिका 'विजया' चली जा रही है। 'जीवन-सन्ध्या को भोर के स्थान पर ठौर' मिलने में विरोध का आभास है। त्रिपाठी जी, कृशता, तरणि-ताप, पथ-श्रम, आदि कारण-मूलक शब्द-वाक्यों द्वारा नायिका की शारीरिक श्रान्ति-क्लान्ति का चित्र खींचने में व्यस्त हैं; उन्होंने मानसिक व्यथा का 'रूपक' 'विरह के विकराल अनल' बांधकर उस चित्र

---

१. पथिक—पृ० १७
२-३. पथिक—पृ० २८, ३१
४. मिलन—पृ० ३६

को पूर्ण कर दिया है। यहाँ 'विरह-वह्नि' को प्रज्वलित करने के लिये 'प्रभात की सुधि' ने 'घृत-आहुति' का काम किया है। 'उपमा' द्वारा कवि ने नायिका की विक्षिप्तावस्था को मानो साकार कर दिया है। इससे पाठक को भावी अनर्थ की सूचना भी एकदम मिल जाती है।

जड़ प्रकृति के वस्तु-व्यापारों में नायक-नायिका के आरोप द्वारा 'रूपक' और 'उत्प्रेक्षा' की सहायता से भी कवि ने भव्य चित्र उपस्थित किये हैं, यथा—

ठीक दोपहर व्योम-मध्य रवि प्रखर समुज्ज्वल धूप,
सरित-मुकुर में देख रहे थे दिन-नायक निज रूप।
रूप-गर्विता तरंगिणी का था सब सुन्दर अंग,
छवि छलकी पड़ती थी मानो तट पर चढ़ी तरंग।
पति-प्राणा-सम नदी मित्र की प्रतिच्छवि उर में धार,
गमनशील थी कलकलस्विनी, करती हुई विहार॥[1]

त्रिपाठीजी की आलंकारिक योजना की एक विशेषता उसके मूर्त और अमूर्त उपमान हैं। इस प्रसंग में कुछ 'उपमाएँ' द्रष्टव्य हैं जो आगामी छायावादी अभिव्यंजना शैली का आभास देती हैं—

मूर्त उपमेय के लिये अमूर्त उपमान

तीर पहुँच कर देखी उसने, सलिल राशि गम्भीर,
सतत प्रवाहित पूर्व दिशा में, समय समान अधीर॥[2]

सुन्दर सर है लहर मनोरथ सी उठ कर मिट जाती।[3]

सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल ऊँचाई,
एक घड़ी को भी न किसी के लिये हुई सुखदाई॥[4]

दो जन प्रणयी और प्रणयिनी का वह शान्ति-निकेत,
था निद्रा से रहित, विपिन के हृदय-समान सचेत॥[5]

गिरा गौरता सदृश सुमुख पर आई मृदु मुसकान।[6]

मुख ऊपर दुख की छाया थी सन्ध्या सी उपवन में।[7]
ईर्ष्यावान दुरात्म हृदय सा जेठ लगा अब जलने,
अगम धूलि-धूसरित दिशाएँ ज्वाला लगीं उगलने॥[8]

अमूर्त के लिये मूर्त उपमान

हुई निबिड़ तम में प्रभात-बेला-सी जागृत आशा।
देख पुण्य का उदय हुई बलवती उच्च अभिलाषा॥[9]

१-२. मिलन—पृ० ३६, ३६
३-४. पथिक—पृ० ४१, ४०
५-६. मिलन—पृ० ११, १६
७—९. पथिक—पृ० १८, ५४, ४८

त्रिपाठीजी ने निर्जीव प्राकृतिक वस्तुओं में चेतना का आरोप करके 'मानवीकरण' का भी विधान किया है—

देख सरित-शोभा विजया के लगी घाव में ठेस।
बोली ठगिनी सा है तेरा, सरिते ! मोहक भेस ॥[1]

अधिक दुर्बल देख प्रवाह को, रुक यकायक दृष्टि गई वहाँ।
सहित विस्मय मैं कहने लगा, अयि तरंगिणी ! है यह क्या दशा !
तरल तुंग तरंग उछालती, पुलिन के तरु-राशि उखाड़ती।
उलटती तरणी, तट तोड़ती, सभय नाविक को करती हुई।
अमित वेगवती अति गर्विता, गरजती तुम थीं बरसात में।
अब कहो वह गर्व कहाँ गया, अतुल यौवन का मद क्या हुआ ॥[2]
—'शारद नदी'

दो-एक स्थलों पर त्रिपाठीजी की शब्द-मैत्री, वर्णावृत्ति तथा लय में संस्कृत के कवि जयदेव की पदावली की सी कोमलता एवं कान्ति विद्यमान है। इन गुणों के कारण काव्य के वर्ण्य-विषय में भी समंजन, अन्विति और सौष्ठव का समावेश हो गया है। अनुप्रास जैसे शब्दालंकारों की छटा कहीं तो दो ही शब्दों तक सीमित है और कहीं वह पद के अन्त तक अनेक वाक्यों में प्रवहमान दृष्टिगत होती है, जैसे—

तरल तरंगित सरित-सलिल में, उसकी प्रभा ललाम।
लहक रही थी ज्यों झड़ते हों, स्वर्ण-सुमन अभिराम ॥[3]

मुझ से पाणिग्रहण कराया कन्या का सानन्द।
स्वर्ग सहर्ष सिधारे सत्तम-सुधी-साधु स्वच्छन्द ॥[4]

लुप्त मेल का मन्त्र भूल सी गई सुशिक्षा।
नित्य नया दुर्भिक्ष, रही भिक्षा न तितिक्षा ॥[5]
—'जन्मभूमि भारत'

मृग-माला विहरति कल कोकिल-कूजित कुसुमित-वन को।
ललित लहलही लता-लसित अलि-मुखरित कुंज-भवन को ॥
तृण-संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को।
देख हुआ कौतूहल अति आश्चर्य तुम्हारे मन को ॥[6]

निम्न पद में केवल वृत्यनुप्रास-अन्त्यानुप्रास के चमत्कार तथा शब्द-मैत्री के कौशल से खचित क्षुब्ध प्रकृति का एक संश्लिष्ट चित्र देखिए—

१. मिलन—पृ० ३७
२. सरस्वती, सन् १९१६, भाग १७, सं० ५—पृ० ३३९
३-४. मिलन—पृ० २८, ५६
५. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, सं० १—पृ० २७
६. पथिक—पृ० ३०

उसी समय हो गई प्रकृति अति क्षुब्ध नितान्त अशान्त।
दिशा भयानक हुई काँप उठा व्योम वारि-वन-प्रान्त।
क्षण में उमड़-घुमड़ गर्जन कर घिर आये घन घोर।
वहाँ विषम विक्षिप्त प्रभंजन वृक्षों की झकझोर।
होने लगी वृष्टि रिमझिमकर अविरत मूसलधार।
आन्दोलित लहरें तरणी पर करने लगीं प्रहार।।[१]

अशान्त प्रकृति के क्रुद्ध रूप के साथ भाषा में गति है और प्रवाह भी। इस प्रकार की शब्द-योजना लय और संगीत के साथ अर्थ को और प्रखर कर देती है। हाँ, जहाँ शब्द मात्र संगीत का पोषक है वहाँ कविता केवल संगीत बनकर रह गई है। अर्थ-गौरव का अभाव होने से उसमें बाह्य प्रसाधन मात्र दृष्टिगत होता है, यथा—

वंजुल-मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन विसर से,
अलिकुल आकुल बकुल मुकुल संकुल व्याकुल मम वर से।।[२]

शब्द-शक्ति—त्रिपाठीजी ने अपने काव्य में केवल मुख्यार्थ का बोध कराने वाले विविध प्रयोगों द्वारा सक्षम एवं प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर यह दिखा दिया कि रसात्मक काव्य के लिए लक्षणा-व्यंजना शक्तियाँ अनिवार्य नहीं हैं; अभिधाशक्ति द्वारा भी उत्तम काव्य-रचना की जा सकती है। कुछ उदाहरण देखिए—

तरी लगी उलटने-पलटने ग्रसित, विवश, निरुपाय।
अब डूबे, तब डूबे, तरणी, अनाधार असहाय।
खड़े अर्ध जल-मग्न तरी में दोनों प्रणयी धीर।
करना है जल-गर्भ-वास अब पहुँच न सकते तीर।
देख प्रकृति का कोप भयानक, बोला प्रणयी वीर।
प्रिये! हमें अब तजना होगा यह क्षणभंगु शरीर।
देह त्यागने का है मुझको, प्रिये! न तिल भर खेद।
जागृति और स्वप्न सा मरने-जीने में है भेद।।[३]

यह कह शान्त भाव से भूषित साधु सरल मृदु गति से।
वन में हुए विलीन पथिक को वंचित कर संगति से।
छिटक रही थी स्निग्ध चाँदनी, पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे, जल छप्-छप् करता था।।[४]

उपर्युक्त उद्धरणों में वाक्य-विन्यास सरल एवं भाव सीधा-सादा है। साधारण शब्द-योजना एवं अभिधेयार्थ से ही कवि ने मानस-चक्षुओं के समक्ष चित्र प्रस्तुत कर दिया है।

१. मिलन—पृ० २३
२. पथिक—पृ० ४१
३. मिलन—पृ० २४-२५
४. पथिक—पृ० ३७

इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस काव्य में लक्षणा-व्यंजना शक्तियों का उपयोग ही नहीं हुआ है। कहीं-कहीं इनके सुप्रयोग से भी भावाभिव्यक्ति स्पष्ट एवं सुन्दर बन पड़ी है—

प्रयोजनवती, जहत्स्वार्था, लक्षणलक्षणा

शिक्षा और सुशासन के उस विषम मरुस्थल में भी।
है कुछ विकसित सुमन किसी विधि जीवित निर्जल में भी।
देश-प्रेम से पूरण प्लावित उनका उच्च हृदय है।
देश-जाति-हित के सम्मुख उनको न मृत्यु का भय है॥[1]

यहाँ कवि का अभिप्राय 'विकसित सुमन' से 'सुशिक्षित विद्वान' है अतः 'प्रयोजनवती' है; 'विकसित सुमन' के मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग होने से 'लक्षणलक्षणा' (जहत्स्वार्था) है।

प्रयोजनवती, अजहत्स्वार्था, गौणी लक्षणा

चन्द्र चूम लूँ बोला मन में जैसे ही आनन्द।
आकर लगा तुरत ओठों से मधुर सुधाधर-चन्द्र॥[2]

'विजया' पर 'सुधाधर-चन्द्र' का आरोप है; सौन्दर्य में गुण समानता है अतः 'गौणी' है, उपमेय का सर्वथा निगरण हो जाने से 'साध्यवसाना' है; 'मधुर सुधाधर चन्द्र' में 'लक्षणा' होने से 'पदगता' है।

प्रयोजनवती, लक्षणलक्षणा

दिया निकाल देश-सीमा से बाहर बड़े जतन से।
उस बबूल तरु को उखाड़ कर फेंका नन्दन वन से॥[3]

'बबूल तरु' से कवि का तात्पर्य है नृशंस अत्याचारी राजा और 'नन्दन वन' भारत-भूमि का द्योतक है; मुख्यार्थ के त्याग में 'लक्षण लक्षणा' काम करती है। समस्त पद लाक्षणिक होने से वाक्यगत लक्षणा है। कुछ और उदाहरण देखिए—

प्रयोजनवती, उपादानमूला, शुद्धा लक्षणा

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर घर में।
माँस नहीं है निरी साँस है शेष अस्थि-पंजर में॥[4]

क्रोधित शासन की जोंकों ने विघ्न निरन्तर डाले।
पर उसके अदम्य साहस ने सब दुख-संकट टाले॥[5]

दुख से पका हृदय निशि-वासर, आश्रित चिन्ता पर था।
कहीं शब्द से छू न जाय, हर घड़ी उन्हें यह डर था॥[6]

१. पथिक—पृ० ४६
२. मिलन—पृ० ८४
३—६. पथिक—पृ० ७१, ४४, ४८, ६६

प्रयोजनवती, सारोपा, गौणी लक्षणा

मुनि के सच्चे वचन पथिक के प्रेम विशुद्ध हृदय में।
सपदि हुए अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित अल्प समय में ॥[1]

—(रूपक व्यंग्य है)

प्रयोजनवती, उपादानमूला, गौणी लक्षणा

जो स्वदेश के लिए अनल में सुख से जल सकता है।
वह निन्दा-स्तुति राग-रोष से पथ न विचल सकता है ॥[2]

काव्य-गुण—इन रचनाओं में रस और भाव के अनुरूप शब्द-चयन होने के कारण उचित स्थलों पर ओज और माधुर्यगुण का विधान हुआ है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है अतः रचनाएँ प्रसादगुण-पूर्ण हैं। संयोग शृंगार, करुण एवं विप्रलम्भ शृंगार सूचक भावों की अभिव्यक्ति के लिए कोमल-कान्त-पदावली का उपयोग हुआ है। जहाँ भावनाओं में संघर्ष, विद्रोह, उत्साह आदि का प्रतिपादन है, भाषा में स्वतः ही पौरुष की दीप्ति आ गई है, यथा—

माधुर्यगुण

स्नेह-मूर्ति पर-हित-रस सत्तम, करुणा के अवतार।
हाय! कहाँ है भँवर-ग्रसित, नैया के मुनि पतवार।
हाय! पूर्व कृत पापों का क्या हुआ समाप्त न भोग।
जो मैं जाग उठी सहने को विषवत् विषम वियोग।
विजया, प्रेम विनिद्रित विजया, विसुध चेतना-हीन।
प्रियतम! प्राणेश्वर! पुकारती, कुररी सी अति दीन ॥[3]

ओजगुण

'पथिक' नाम की सुधि आते ही परम क्रोध चढ़ आया।
दृग विस्फारित, नाक प्रस्वसित, हुई प्रकम्पित काया ॥
अक्षर लगे निकलने मुख से मानो ज्वलित अंगारे—
"देखे प्रजा पापिनी, क्रोधानल की भभक हमारे ॥
जनता ने अपमान हमारा किया आज मनमाना।
राजद्रोही पथिक दुष्ट को हमसे बढ़कर जाना" ॥[4]

प्रसादगुण

कामना और नहीं कुछ मेरी,
बहने दो प्रभु! इन आँखों से जल की अविरल धार।
सदा सींचने दो जीवन के तात, तप्त सब द्वार।

१-२. पथिक—पृ० ३८, ४६
३. मिलन—पृ० ३८-३६
४. पथिक—पृ० ६८

दीर्घ श्वास यह कठिन यातना का उच्छ्वास तरंग।
आने दो नित हृदय चीर कर दुख का छुटे न संग।
ध्वनित करे प्रतिपल भूतल को मेरा हाहाकार।
जिससे रहे दया के उर में जीवन का संचार॥[1]

संक्षेप में, पं० रामनरेश त्रिपाठी के खड़ीबोली-काव्य के परिशीलन से यह निश्चित हो जाता है कि स्फुट कविताओं की अपेक्षा कवि ने खण्ड काव्यों का प्रणयन अधिक मनोयोग से किया है। इसीलिए अभिव्यंजना-कला का सौष्ठव भी अधिकतर इन्हीं में देखने को मिलता है। प्रस्तुत खण्ड काव्यों की कल्पित कथा, घटना-वैचित्र्य, विविध नाटकीय प्रसंग, कथोपकथन (संवाद-शैली) आदि के विधान में कवि ने अपने काव्य-कौशल का सुन्दर परिचय दिया है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने प्रकृति-चित्रण, उक्ति-वैचित्र्य एवं चरित्र-गांभीर्य की दृष्टि से 'पथिक' की बड़ी सराहना की है।[2] कवि ने सुन्दर शब्द-प्रयोगों द्वारा लालित्य और सुगठित वाक्य-विन्यास की सहायता से भाषा में लाघव और कसावट का सन्निवेश किया है। अभिनव आलंकारिक योजना द्वारा भावों की विलक्षण मूर्तिमत्ता प्रस्तुत काव्य की उल्लेखनीय विशिष्टता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "सुन्दर आलंकारिक साम्य खड़ा करने में भी इनकी कल्पना प्रवृत्त होती है पर झूठे आरोपों द्वारा अपनी उड़ान दिखाने या वैचित्र्य खड़ा करने के लिए नहीं।[3]" हाँ, लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों की दृष्टि से उसमें कोई उल्लेखनीय सौष्ठव नहीं मिलता। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि छायावाद की समृद्ध काव्य-शैली के प्रारम्भिक विकास में त्रिपाठीजी की रचनाओं का पर्याप्त योगदान रहा।

सियारामशरण गुप्त (सं० १९५२—वर्तमान)

सियारामशरण गुप्त ने सन् १९१२-१३ में जब 'सरस्वती', 'प्रभा', 'श्रीशारदा' आदि पत्रिकाओं के लिए लिखना आरम्भ किया, उस समय भारतीय जनता दासत्व से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही थी। अतएव अपने समकालीन कवियों के स्वर में स्वर मिलाकर कहीं तो कवि ने देश-प्रशस्तियाँ गाईं और कहीं भारत की तत्कालीन अवनति की ओर संकेत कर भारतीय आत्मा को जागरित करना चाहा। व्यक्ति और वर्ग के मानसिक संघर्ष का यह स्वर 'हमारा देश' (१९१३ ई०), 'हमारा ह्रास' (१९१३ ई०), 'समय' (१९१४ ई०), आदि रचनाओं में मुखरित हुआ। इन भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए ही कवि ने ठाकुर रवीन्द्रनाथ की कुछ कविताएँ 'कर्त्तव्य' (१९१४ ई०), 'भारत लक्ष्मी' आदि नाम से भाषान्तरित की थीं। इनके अतिरिक्त उसने इतिहास का मन्थन कर जातीय बलवर्द्धक ख्यात वृत्त भी चुनकर पद्यबद्ध किए। 'वीर बालक' (१९१३ ई०), राणा प्रताप के अदम्य साहस तथा अजेय शक्ति की रोमांचक गाथा है। 'मौर्य विजय' (१९१४ ई०) तीन

१. पथिक—पृ० १९
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १०३—१०५—डॉ० श्रीकृष्णलाल
३. हिन्द साहित्य का इतिहास, पृ० ६२९—पं० रामचन्द्र शुक्ल

सर्गों में सिल्यूकस के भारत-आक्रमण की कहानी है। दोनों रचनाओं में क्रम से देश की तत्कालीन अधोगति और उसे विपज्जाल से मुक्त करने की बलवती इच्छा छायारूप में विद्यमान है। 'अनाथ' (१९१७ ई०) में एक दरिद्र किसान के करुण जीवन की झाँकी है जिसमें दरिद्रता, सामाजिक कुरीतियाँ, ज़मींदारी, बेगारी, पुलिस का अत्याचार आदि देशव्यापी अनाचार भी चित्रित किये गये हैं। फुटकर रचनाओं में 'श्रीराघव-विलाप' (१९१३ ई० चित्र-परिचय), 'जननी' (१९१६ ई०) तथा 'तिलक-वियोग' भी उल्लेखनीय हैं।

सन् १९१६-१७ के बाद कवि की काव्य-साधना अन्तर्मुखी हो गई। अतः इस काल (सन् १९१६-२०) की अधिकांश कविताओं में गुप्तजी वर्णन और उपदेश के सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण कर भाव-लोक में विचरण करते दृष्टिगत होते हैं। 'भेंट', 'विश्वास', 'सन्तोष', 'शरणागत,' 'सुजीवन,' 'गूढ़ाशय', 'माली', 'आह्वान' आदि कविताओं में कवि स्थूल से सूक्ष्म की ओर झुक रहा है। ईश्वर-भक्ति-विषयक रचनाओं में आत्म-निवेदन, दैन्य एवं चिन्तन का प्राधान्य है। इस प्रकार की अधिकांश कविताएँ 'दूर्वादल' में संकलित हैं। किन्तु इस चिन्तन-प्रधान काव्य के साथ कवि ऐतिहासिक ख्यातवृत्त भी निरन्तर छन्दोबद्ध करता रहा। 'विवाह' (१९२० ई०) में गन्नौर अधिपति की विधवा क्षत्राणी वीरांगना की और 'अविश्वास' (१९२० ई०) में चूड़ावत सरदार की नववधू हाड़ारानी की मुंडमाल-भेंट द्वारा पति को युद्धोत्साहित करने की रोमांचकारी घटनाएँ पद्यबद्ध हैं।

अभिव्यंजना पक्ष—भाषा (शब्द-चयन, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि) सियारामशरण के काव्य में खड़ीबोली विषयानुसार भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है। ऐतिहासिक पद्य-निबन्धों की भाषा द्विवेदी-युगीन तत्सम-प्रधान-शैली से पर्याप्त प्रभावित है। यहाँ संस्कृत के क्लिष्ट एवं अव्यवहार्य शब्द, निरर्थक उपसर्ग तथा दुरूह सन्धिज पदों ने खड़ीबोली के प्रकृत रूप को नष्ट सा कर दिया है। सुराजधानी, सुप्रसन्न, सुस्वर, सुनील, विलज्जित, सुपवित्र, सविशेष, सुहित, प्रपीड़ित, प्रपूर्ण, सुदुर्लभ, अविजय, अजय, विघात आदि शब्दों का प्रयोग अर्थों में सूक्ष्म अन्तर लाने की इच्छा से नहीं अपितु छन्द की मात्रा को पूर्ण करने के लिए ही किया गया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

इस बात का अभिमान हमको सर्वदा सविशेष है।[1]

—'हमारा देश'

यों ही उस सुवीर की माता, पत्नी भी हत हुई निदान।[2]

—'वीर बालक'

अब वह सुदुर्लभ विज्ञता हा हन्त! सारी खो गई।[3]

—'हमारा ह्रास'

---

१. प्रभा, सम्वत् १९७०, भाग १, सं० ७

२. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १

३. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० ४

भारत-भाग्याकाश स्वच्छ था, सुप्रसन्न था ।[1]

उनकी सु-राजधानी विदित पाटलिपुत्र मनोज्ञ थी ।[2]

धन्य वीर बालक प्रताप का सुनकर यह अत्युच्च विचार ।[3]

—'वीर बालक'

उस बालक का शौर्य देखकर करके अत्याश्चर्य प्रकाश ।[4]

—'वीर बालक'

लगा देखने आश्चर्यित हो गाकर उसकी कीर्ति प्रशस्त ।[5]

—'वीर बालक'

इस जगद्राज्य में भीमता क्या वे नहीं बढ़ायेंगी ।[6]

—'मौर्य्य विजय'

वह उल्लासच्छटा वहाँ अब दृष्टि न आती ।[7]

—'मौर्य्य विजय'

पूर्ण तुम्हारा मनोऽभीष्ट क्या अभी न होगा ।[8]

—'समय'

इस प्रकार की दुरूह सन्धियों के साथ स्वीकारा, अवलोकेंगे, सुखमा जैसे प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं। भाषा व्याकरण-दोषों से प्रायः मुक्त है किन्तु वाक्य-रचना में न्यूनपदत्व-दोष, दूरपदान्वय-दोष, अधिकपदत्व-दोष आदि आ जाने से कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है, यथा—

दूरपदान्वय दोष

उसकी भावी दशा सोचकर, थे परन्तु वे कम न विमर्ष ।[9]

—'वीर बालक'

अब देश और जाति की हाथ तुम्हारे लाज है।[10]

—'मौर्य्य विजय'

पुनरुक्ति दोष

हूँगा क्या मैं खिन्न भला इस भाग्योदय से ।
नहीं समझिए भीत मुझे कुछ भी इस भय से ।[11]

—'अविश्वास'

१–२. मौर्य्य विजय—पृ० ६, ५
३–५. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १
६–७. मौर्य्य विजय—पृ० २४, २८
८. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, सं० ३
९. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १
१०. मौर्य्य विजय—पृ० २०
११. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० ४

किन्तु वाक्य-रचना का यह शैथिल्य गिने-चुने स्थलों पर ही मिलता है। जहाँ सामाजिक यथार्थ का चित्रण हुआ है वहाँ भाषा सरल प्रवाहपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक है। उसमें कृत्रिमता और बौद्धिकता नहीं, स्वाभाविकता एवं हार्दिकता है। कथन की शैली में किसी प्रकार की वक्रता भी नहीं मिलती। कविता सर्वथा अनलंकृत और अति साधारण होते हुए भी मार्मिक है। ऐसे स्थलों पर गुप्तजी की खड़ीबोली गद्य-भाषा के अत्यन्त निकट आ जाती है, अनेक स्थलों पर अन्वय किये बिना ही काव्य-भाषा का गद्यान्तर किया जा सकता है जो खड़ीबोली की स्वच्छता और स्फीति का द्योतक भी है—

पथ नीचा-ऊँचा विषम और दुर्गम था,
मैला-गन्दा भी नहीं वहाँ कुछ कम था।
खण्डहर से दोनों ओर मकान खड़े थे,
कूड़े-कर्कट के ढेर अनेक पड़े थे॥
धीरे-धीरे चल रहा वहाँ मोहन था,
तनु-भार कर रहा किसी प्रकार वहन था।
वह आशापूर्वक कई जगह फिर आया,
पर हाय! कहीं साहाय्य न उसने पाया॥[1]

—'अनाथ'

"भैया को तो खिला अरी माँ, चाहे जैसे,
सह सकते हैं भूख, फूल से बच्चे ऐसे?
मुझे मिलेगी परम शान्ति, चिन्ता तज मेरी,
दे खाने को इसे, न कर अब कुछ भी देरी।"
"मेरे भैया, जरा इधर आ, तू भूखा है?
अहा! तभी तो आज फूल सा मुँह सूखा है।"
छोड़ दीर्घ निश्वास मर्म-भेदी दुख पाकर
फेरा उसने एक हाथ भाई के सिर पर।[2]

—'अनाथ'

'दूर्वादल' की रचनाओं में जहाँ गुप्तजी की दृष्टि अन्तर्मुखी और कल्पना-प्रवण है, भाषा का अत्यन्त निखरा हुआ एवं परिनिष्ठित रूप उपलब्ध होता है। व्याकरण-सम्मत होने के साथ वाक्य-रचना की शुद्धता इस तथ्य का द्योतक है कि गुप्तजी ने भाषा की प्रकृति को पहिचानकर गम्भीर विचारों का प्रतिपादन किया है, उदाहरणार्थ—

जिस दिन तुम इस हृदय-कुंज पर,
अकस्मात् छा जाओगे,
करुणा धाराएँ बरसा कर,
सब सन्ताप मिटाओगे।

१–२. अनाथ—पृ० १०, ६-७

कहीं शुष्कता नहीं रहेगी,
तृष्णानल बुझ जावेगी,
इसको हरा भरा करके तुम,
सौ सौ सुमन खिलाओगे।[1]

—'संतोष'

लोकोक्ति-मुहावरे

काव्य की विषय-वस्तु देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मुहावरेदार भाषा के प्रयोग के लिए अवकाश कम था। ऐतिहासिक आख्यान तथा देशभक्ति-विषयक रचनाओं में तो गए बीते, दिन गिनना, छक्के छुड़ाना, मुँह मोड़ना, कान देना, पीठ दिखाना जैसे गिने-चुने मुहावरे दिखाई दे जाते हैं किन्तु चिन्तन-प्रधान-काव्य में विषय की गम्भीरता के कारण उनका सर्वथा तिरस्कार कर दिया गया है। 'अनाथ' की भाषा बोलचाल-प्रधान होने के कारण सामान्य प्रचलित मुहावरों से अलंकृत मिलती है। ये मुहावरे अभिप्रेत भाव को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायक हुए हैं, यथा :—

मोहन भी है वहीं मौन बैठा मन मारे,
भीख माँगने जाय आज वह किसके द्वारे ?[2]

क्या कुछ घमण्ड हो गया तुझे रे साले !
छोडूँगा तुझको कसर बिना न निकाले॥[3]

उठी वह खोला उसने द्वार,
किन्तु बस गया काठ सा मार,
दिया था जिसने ऋण का दान,
खड़ा था वह काबुली पठान॥[4]

गिरी मानो यमुना पर गाज
बचे हा ! कैसे उसकी लाज।[5]

बस एक घर की आग से है गाँव जल जाता सभी।[6]

अलंकार योजना—सियारामशरण गुप्त के काव्य की आलोचना करते हुए 'दिनकर' जी लिखते हैं कि "सियारामशरणजी में कला की आराधना कम और विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है··· हिन्दी-संसार में उन्हें जो सुयश मिला है वह भी कला-निर्माण के लिए नहीं प्रत्युत् विचारों की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता के कारण ही।"[7] उद्धृत कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि गुप्तजी का काव्य भाषा की दृष्टि से स्वच्छ एवं परिनिष्ठित होकर भी कला की दृष्टि से

१. दूर्वादल—पृ० ३५
२–३. अनाथ—पृ० ४, १३
४–६. अनाथ—पृ० २५, २८, ३०
७. कवि सियारामशरण गुप्त, पृ० ८५—सं० डॉ० नगेन्द्र

समृद्ध नहीं है। आलोच्य काव्य की भाषा में व्याकरण की सम्मतता, स्वरूप की परिनिष्ठिति और शब्दों की समन्विति है किन्तु "रूप-रंग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नहीं है।"[1] देशभक्ति विषयक कविताओं तथा ऐतिहासिक आख्यान काव्य में भाव-व्यंजनार्थ कुछ प्रचलित अलंकार का प्रयोग मिलता है जिनमें साम्य के लिए प्रभावमूलक अप्रस्तुतों का चयन ही अधिक हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ तुलना और विरोधमूलक अप्रस्तुत भी उपलब्ध होते हैं, जैसे—

उपमा

झपटा झट गजराजों पर वह करने को उनका अभिघात।
प्रकट सिंह-शावक के सम वह हुआ उस समय सबको ज्ञात॥[2]

—'वीर बालक'

उनकी सुराजधानी विदित पाटलिपुत्र मनोज्ञ थी,
जिसकी उपमा के अर्थ बस अमरपुरी ही योग्य थी।[3]

—'मौर्य्य विजय'

हुए वहाँ रुधिराक्त बहुत से समर-सनेही।
होते थे प्रत्यक्ष ज्ञात वे पावक से ही॥[4]

—'मौर्य्य विजय'

उपमा-प्रतीप

चन्द्रकला के सदृश वहाँ पर किये उजाला,
छवि को ही कर रही विलज्जित थी वह बाला॥[5]

—'मौर्य्य विजय'

उपमा-रूपक

सज्जन-रूप चकोर-समूहों को सुखदायी,
उनकी उज्ज्वल कीर्ति चन्द्रिका सी थी छाई॥[6]

—'मौर्य्य विजय'

रूपक

इसके सदय रूप नीर-सिंचन के द्वारा।
हो सकता है सफल जन्म-तरु यहाँ तुम्हारा।[7]

—'समय'

पाप-कीट इस हृदय-सुमन में, जब कर जाय प्रवेश।
निर्दय बन कर विष की धारा, छोड़ो तब अखिलेश॥[8]

---

१. कवि सियारामशरण गुप्त, पृ० ८०—सं० डॉ० नगेन्द्र
२. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १—पृ० ३८२
३—६. मौर्य विजय—पृ० ५, २१, २३, ६
७. सरस्वती, सन् १९१४, भाग १५, सं० ३
८. दूर्वादल—पृ० १२

उत्प्रेक्षा

पृथ्वी मानो वसन चन्द्रिका का है पहने।
नभ के ग्रह नक्षत्र बने हैं उसके गहने॥[1]

—'मौर्य्य विजय'

थे मानो प्रत्यक्ष इन्द्र वे अवनीतल के,
थे उनके भुज यशः स्तम्भ से अतुलित बल के॥[2]

—'मौर्य्य विजय'

प्रतीप

तेरा सा सौन्दर्य सृष्टि में दृष्टि न आता।
तेरी शोभा देख स्वर्ग भी है सकुचाता॥[3]

—'मौर्य्य विजय'

उदाहरण

शुभ शुक्लपक्ष सुधांशु की शोभा बढ़ाता है यथा,
संसार की सुख-सम्पदा हमने बढ़ाई थी तथा॥[4]

—'हमारा ह्रास'

उसका अद्भुत कार्य देख कर आती थी मन में यह बात।
वीर षडानन कार्तिकेय ज्यों करते हों अरि-वृन्द-विघात॥[5]

—'वीर बालक'

दृष्टान्त

गिरि से टकरा कर ज्यों पीछे हट जाता है जल-प्रवाह।
पीछे हटने लगा उसी विध, रिपु-समूह हो मन्दोत्साह॥[5]

—'वीर बालक'

निज रुचिर गुणों से वे सुधी सबको प्रिय थे सर्वथा।
होता है प्यारा कुमुदपति कुमुद-समूहों को यथा।[7]

—'मौर्य्य विजय'

अर्थान्तरन्यास

सब भाँति यद्यपि लोक में अवनति हमारी हो रही।
पर यह नहीं उद्योग से हम हो न सकते हों वही।
पाकर सुसिंचन नीर का सूखे हुए भी तरु कभी।
हैं प्राप्त कर लेते पुनः निज पूर्व की शोभा सभी।[8]

—'हमारा ह्रास'

१—३. मौर्य विजय—पृ० ८, ८, ११
४. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० ४
५. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १
६. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० ४
७. मौर्य विजय—पृ० ६
८. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १५, सं० ४

विरोधाभास

कैसे कहें, होकर वही हम हाय ! अब वे हैं नहीं ।[1]

—'हमारा ह्रास'

हमें मृत्यु के बाद हमारे गीत जिलाते ।[2]

—'मौर्य्य विजय'

विषम-विरोधाभास

केवल काली स्याही पीकर, अमृत-वृष्टि करती है तू ।
स्वयं रीत कर और सूख कर, रस के घट भरती है तू ।[3]

—'लेखनी'

विशेषोक्ति

यद्यपि मन्द सुगन्ध पवन से शीतल वन है ।
चिन्तानल से किन्तु जल रहा उसका मन है ।[4]

—'मौर्य्य विजय'

विभावना

बिना तार झंकार दिये ही हृतंत्री पर गाती है ।
सम्मुख आकर रख देती है अन्तरतल अन्तस्तल से ।[5]

—'लेखनी'

उपर्युक्त अवतरणों में अर्थ-गौरव की प्रधानता है । कदाचित् विषय अथवा कथानक की प्रमुखता के कारण कवि को इन कविताओं में कल्पना की सूक्ष्मता एवं कला की पच्चीकारी के लिए अवकाश नहीं मिला । जहाँ अनायास ही भाव के साथ कल्पना का योग हो गया है, अभिव्यंजना के अपेक्षाकृत सुष्ठु होने पर भी उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती, यथा—

थी यद्यपि मुगलों की सेना अति विस्तृत घन-घटा-समान ।
थी यद्यपि वह उपकरणों से सभी भाँति अतिशय बलवान ।
पर उन वीर नारियों द्वारा पीड़ित होकर बारम्बार ।
विचलित वह हो उठी वहाँ फिर मानो मृत्यु समक्ष निहार ।[6]

—'वीर बालक'

मुगल सेना की संख्या और विस्तार की उपमा घन-घटा से दी गई है । राजपूत

---

१. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० ४
२. मौर्य विजय—पृ० १४
३. दूर्वादल—पृ० ३८
४. मौर्य विजय—पृ० २८
५. दूर्वादल—पृ० ३८
६. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १

वीरांगनाओं की मृत्यु से 'उत्प्रेक्षा' द्वारा कवि ने उनकी अमित शक्ति और असीम साहस का परिचय दिया है। परिणामस्वरूप समस्त उपकरणों से सुसज्जित होने पर भी मुगल सैन्य का भय से विचलित हो उठने में 'विशेषोक्ति' व्यंग्य है। एक उदाहरण और देखिए—

जब चन्द्र तुल्य नृप चन्द्र ने यहाँ सुधा की वृष्टि की।
तब सिल्यूकस ने राहु-सम उन पर अपनी दृष्टि की।।[1]

चन्द्र की आवृत्ति भिन्नार्थक (चन्द्रमा तथा नाम विशेष) होने से 'यमक' है, चन्द्रगुप्त की चन्द्रमा से तुलना में 'उपमा' भी है। सुधा की वृष्टि देश की सुख-समृद्धि की ओर संकेत करती है। सिल्यूकस की दृष्टि को राहु से उपमित करने में 'लक्षणा' का चमत्कार है। जैसे राहु ने चन्द्रमा का ग्रास कर लिया था सिल्यूकस ने भी भारत अधिपति चन्द्रगुप्त का विनाश करना चाहा। लक्षणा तात्कर्म्य-बोधक होने से 'शुद्धा' है, परन्तु 'राहु' अपने अर्थ का सर्वथा त्याग नहीं करता इसलिए लक्षणा 'अजहल्स्वार्था' है।

'दूर्वादल' की चिन्तन-प्रधान कविताओं का प्रयोजन आनन्द नहीं है क्योंकि यहाँ कवि काव्य-भूमि पर अन्तर्मुखी दृष्टि करके विचारक की भाँति उतरता है और गम्भीर सत्यान्वेषी के समान प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का तथा प्रत्येक क्रिया-व्यापार के कारण का विश्लेषण करता है। इन भावों को कहीं वह अभिधा द्वारा व्यक्त कर देता है और कहीं केवल संकेत करके छोड़ देता है। इन भाव-खण्डों को प्रकाशित करने में उसका एक सहायक साधन 'प्रतीक' भी है। राग, कल्पना तथा विचारों की इस समन्विति से अभिव्यंजना में पर्याप्त सौंदर्य आ गया है। इस प्रसंग में 'गूढ़ाशय' शीर्षक कविता उल्लेखनीय है—

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब तुमने उसको फेंक दिया,
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब मैंने तुमसे हटा लिया।
सोचा मैं उपवन में जाकर सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर,
मैंने सारी शक्ति लगाकर कण्टक वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब तुमने उसको फेंक दिया,
उपवन भर के श्रेष्ठ सुमन सब जाकर तोड़ लिये सहसा जब।
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब हुआ विशेष कृतज्ञ हिया।।[2]

उक्त अवतरण में कवि ईश्वर को सम्बोधित कर रहा है। संकेतात्मक शैली में स्वर्ण-सुमन = अखण्ड सुख-शान्ति, उपवन = संसार, कण्टक-वेष्टन = दुःख-विपत्ति आदि के प्रतीक हैं जिनसे भाव चमत्कृत हो गया है।

'गृह प्रदीप' कवि के 'आत्म विश्वास' का परिचायक है। विपत्ति के प्रभंजनों से मानव-विश्वास की नौका डगमगा जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं, वस्तुतः विपत्ति के क्षणों में वह निरीश्वरवादी भी हो जाता है जो उसके आत्मविश्वास को क्षीण करने में योग देता है। किन्तु कवि ईश्वर की सत्ता का पूर्णतया निषेध नहीं कर पाया। टूटे हुए हृदय और विश्वास की

---

१. मौर्य्य विजय—पृ० ७
२. दूर्वादल—पृ० २५

क्षीण दीपशिखा लेकर एक बार फिर आराधना में तल्लीन हो वह कह उठता है—

वैसे ही तो यहाँ तुम्हारे
योग्य नहीं था कोई साज,
अल्प स्नेह से हाय ! एक ही
दीप जला रक्खा था आज।
वह भी हा! बुझ गया अचानक,
चिन्ता है अब यही विशेष।
बाहर से ही लौट न जाओ
घर में कहीं अँधेरा देख।
पर यह चिंता व्यर्थ, तुम्हें जब
आना है तो आओगे।
मन्द दीप को ही न देखकर,
लौट नहीं तुम जाओगे।
पहुँचेगा तब एक चरण ही
द्वार देहली तक जब तक।
सौ-सौ दीपावलियाँ गृह को
सुप्रभ कर देंगी तब तक।[1]

'अभागा फूल' यौवन में ही मृत्यु को प्राप्त नवयुवक पर अन्योक्ति है। यहाँ सौरभ=सद्गुण, सुवसन्त=सुख, आतप=दुख, मध्याह्न=युवावस्था और सन्ध्या=बुढ़ापे के प्रतीक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीक-योजना को समृद्ध बनाने की दिशा में गुप्तजी का योगदान उल्लेख्य है।

शब्द-शक्ति—सियारामशरणजी की पद्यात्मक कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चित्रमयता एवं करुणा है। ये चित्र सामान्यतया अभिधा के सहारे ही निर्मित किये गए हैं। सीधे-सादे वाक्यों में बाँकापन है जो कम आकर्षक नहीं, देखिए—

हुआ हो यदि हम से कुछ दोष,
करो तो प्रभो, हमीं पर रोष।
किन्तु जो बालक हैं निर्बोध,
उचित है क्या उन पर भी क्रोध ?
आ रहा है जब मेरा अन्त,
मृत्यु क्यों आती नहीं तुरन्त ?
नहीं देखा जाता अब कष्ट,
नहीं होता क्यों जीवन नष्ट ?

---

१. दूर्वादल—पृ० २०-२१

विपुल इस भव में हे भगवान,
नहीं क्या हमें कहीं भी स्थान ?
मृत्यु को तो देने दो ठौर,
कहा क्या जाय दयामय श्रौर।[1]

—'अनाथ'

'अनाथ' का दुख, दैन्य तथा निराशा का भाव, अपनी समस्त शक्तियाँ संचित करके व्यंग्य हो उठा है जो करुणा से पाठक की दृष्टि को धुँधला कर देता है और समाज पर बड़ा प्रखर और कठोर कशाघात करता है।

यह कहना अत्युक्ति नहीं कि गुप्त-काव्य की प्रवल संचालिका शक्ति वास्तव में अभिधा ही है। लक्षणा शक्ति के जो गिने-चुने उदाहरण मिलते भी हैं उनमें कथन का विशेष सौष्ठव अथवा वैचित्र्य नहीं है। कुछ निदर्शन देखिए—

प्रयोजनवती, शुद्धा, उपादानमूला लक्षणा

हड्डी-हड्डी निकल रही है सारे तन की,
है नितान्त ही क्षीण ज्योति उसके जीवन की।
मच्छर भी जो उसे काटते हैं आ आकर,
जाते वे भी नहीं उड़ाये हाथ उठा कर॥[2]

—'अनाथ'

बच्चों को उसने मुदित वहाँ पर देखा,
खिंच गई हृदय में एक हर्ष की रेखा,
गृहिणी को भी सानन्द वहाँ पर पाया,
आशा ने अपना कुहुक जाल फैलाया॥[3]

—'अनाथ'

प्रयोजनवती, गौणी, सारोपा लक्षणा

हे वीरो! अब जरा और आगे बढ़ जाओ,
रख रिपु-दल पर पैर यशो-गिरि पर चढ़ जाओ।[4]

पाप-कीट इस हृदय-सुमन में जब कर जाय प्रवेश,
निर्दय बन कर विष की धारा छोड़ो तब अखिलेश!
मलिन हृदय हाटक हो जावे, कारणवश जिस काल,
निर्दय बन कर कड़ी आँच में दो तब उसको डाल॥[5]

—'विश्वास'

१—३. अनाथ—पृ० २०-२१, ५, ११
४. मौर्य्य विजय—पृ० २०
५. दूर्वादल—पृ० १२

प्रयोजनवती, लक्षण लक्षणा

जो जल स्वच्छ और निर्मल था, पंकिल होता जाता है,
घटता ही जाता है प्रतिपल, उसका वह गांभीर्य अपार ।
छिपा हुआ है पद्मासन जो यही तुम्हारे लिए कहीं,
उसके ऊपर चोट न आवे, यही विनय है करुणागार ।[1]

—'कामना'

इन उद्धरणों से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि सियारामशरणजी ने प्रारम्भ में द्विवेदी-युग की तथ्य-निरूपक अभिधा-प्रधान एवं उपदेशात्मक शैली को अपनाया था। बाद में छायावादी शैली का आभास देने वाले कुछ गीत रचे, पर अपनी मूल शैली का उन्होंने सर्वथा त्याग नहीं किया। अन्तर्मुख एवं कल्पना-प्रवण होने पर गुप्तजी गम्भीर एवं गुम्फित शैली का उपयोग करते हैं, जबकि सामाजिक-राजनीतिक प्रसंग में भाषा सामान्यतया सरल, प्रवाहपूर्ण एवं व्यंग्यात्मक है। शैली की इस विविधता से कविता का सौन्दर्य बढ़ गया है। वक्रता न होने से प्रसादगुण तो उनकी सभी रचनाओं में उपलब्ध है। जहाँ कवि ने करुण भावों की अभिव्यक्ति की है रचना में अन्तःकरण को द्रवीभूत करने की पर्याप्त शक्ति विद्यमान है। ऐसे स्थलों पर यद्यपि काव्यशास्त्र में निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार कोमल-कान्त-पदावली तक ही वर्ण-योजना सीमित नहीं रखी गई है, किन्तु विषय और भाव के अनुसार उसमें माधुर्यगुण की कुछ विशेषताएँ स्वतः आ गई हैं, यथा—

क्या कोई भी नहीं हमें दो दाने देगा ?
क्या यों ही भगवान इन्हें मर जाने देगा ?
क्या बालक भी बच न सकेंगे जठरानल से ?
दया बिदा हो गई हाय ! क्या अब भूतल से !
प्रभुवर, ऐसी कड़ी तुम्हारी जो छाती है—
तो हमको क्यों नहीं मौत ही आ जाती है।
प्रिय पुत्रों का तड़प तड़प करके मर जाना—
हा भगवान ! क्या हमें यही है और दिखाना।[2]

वीररस-प्रधान कविताओं में तथा रौद्र भाव की व्यंजना में रसोचित ओजगुण भी मिलता है, देखिए—

परिपूर्ण दिशाएँ हो गई शस्त्रों की झंकार से,
रिपु कट-कट कर गिरने लगे बाणों की बौछार से।
शस्त्र चमकने लगे भयंकर समर-स्थल में,
मरने लगे अनेक वीर गिर कर पल-पल में।
उड़-उड़ कर बहु धूल व्योम-मण्डल में छाई—
इस प्रकार हो उठी वहाँ पर घोर लड़ाई।

१. दूर्वादल—पृ० ३१
२. अनाथ—पृ० ७

वीरों के हृदयों में विपुल बिजली सी भरने लगी,
जो उन्हें शत्रु-संहार-हित उत्तेजित करने लगी।
कहीं किसी की टूक-टूक हो गई सिरोही,
खो बैठे निज अश्व अनेकों अश्वारोही।[1]

इन गुणों का आधान कवि ने जान-बूझ कर नहीं किया है, क्योंकि कदाचित् वह सचेष्ट होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हुआ था। भाव, भाषा और अभिव्यक्ति के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही अभिव्यक्ति में भावानुरूप गुण आ गये हैं, देखिए—

इसी समय उस दिव्य दुर्ग में आग धधकने लगी कराल,
हँसती हुई सैंकड़ों वधुएँ उसमें कूद पड़ीं तत्काल।
'धन्य धन्य' धकधक के मिष से कह कर अग्नि-प्रकाश-निधान,
उसी जगह को नहीं, जगत को आलोकित कर उठी महान।[2]

अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि सियारामशरणजी की प्रारम्भिक रचनाएँ विषय-वस्तु के प्राधान्य के कारण तथ्य-निरूपक शैली में ही लिखी गईं। इसलिए काव्य-कला की दृष्टि से उनमें विशेष सौष्ठव का समावेश नहीं हो सका। समय के साथ ज्यों-ज्यों भावों में गंभीरता और प्रौढ़ता आई त्यों-त्यों कविता में अर्थ-गांभीर्य एवं दीप्ति भी बढ़ती गई। 'दूर्वादल' की कविताओं में एक प्रकार की शान्तिदायिनी सात्विकता मिलती है। कवि का आत्म-पीड़न तथा अपने जीवन को सदुद्देश्य बनाने की सदभिलाषा अनेक रचनाओं में व्यक्त हुई है। प्रस्तुत कविताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि इन वर्षों तक कवि की शैली परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी थी। उसकी वाक्य-रचना में कसावट है। अप्रस्तुत-योजना संकेतात्मक है, किन्तु लाक्षणिक वक्रता उसकी भाषा-शैली में अभी पूर्ण रूप से नहीं पनप सकी थी। कला की दृष्टि से गुप्तजी के काव्य की शिल्प-सीमाओं को देखकर ही कदाचित् 'दिनकर' ने कहा था कि, "रसिक कवि, सौन्दर्य-प्रियता एवं प्रेम तथा आसक्ति के भाव उनमें कहीं भी प्रकट नहीं हुए हैं। उनकी कविताओं में से रंगीनियों की एक पूरी दुनिया ही गायब है।"[3]

पं० मुकुटधर शर्मा पाण्डेय (सं० १९५२)

पं० मुकुटधर शर्मा पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय के अनुज हैं। प्रारम्भ से ही आप प्रकृति के बड़े उपासक और दीन-दुखियों के प्रति सदय रहे हैं। बंगला भाषाविद् होने के कारण उसकी भावुकता भी आप में आ गई है। कवि के भावुक व्यक्तित्व की ये सब विशेषताएँ उसके काव्य की वस्तु तथा शैली दोनों में प्रतिबिम्बित हुई हैं। पाण्डेयजी ने जिन दिनों (सन् १९११-१२ ई० के आसपास) खड़ीबोली में काव्य-रचना प्रारम्भ की, द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों का विकास चरमसीमा तक पहुँच चुका था। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर'

---

१. मौर्य विजय—पृ० २१
२. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १४, सं० १
३. कवि श्री सियारामशरण गुप्त—पृ० ८५

अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि इस युग के प्रमुख कवि वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक काव्य-रचना में संलग्न थे। अतः पाण्डेयजी ने भी 'सरस्वती', 'इन्दु', 'प्रभा' आदि पत्रिकाओं के लिए 'काल की कुटिलता' (१९१३ ई०), 'जीवन साफल्य' (१९१२ ई०), 'रत्नाकर' (१९१३ ई०), 'संकेत सप्तक' (१९१३ ई०), 'सिंहोपालम्भ' (१९१३ ई०), 'एक शुभ समय' (१९१३ ई०), 'कैकेयी का पट्य' (१९१३ ई०) आदि विषय-प्रधान कविताएँ लिखने का प्रयास किया। 'काल की कुटिलता'[1] तथा 'जीवन साफल्य' में क्रम से संसार की असारता, परिवर्तनशीलता एवं आदर्श मानव का चित्रण है। 'रत्नाकर' में पं० रामचरित उपाध्याय लिखित 'रत्नाकर' कविता के आधाराधेय विपरीत भाव हैं।[2] 'संकेत सप्तक' में सत्कवि के मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। 'सिंहोपालम्भ' धनी, शक्ति-सम्पन्न एवं समर्थ व्यक्ति की नृशंसताओं पर अन्योक्ति के मिस गहरा व्यंग्य है। 'एक शुभ समय' में ज्योतिष्मती शारदा की प्रशस्ति है। कवि ने शिक्षा की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हुए शारदा (सरस्वती) से भारतीयों की जड़ता, अज्ञानान्धकार आदि को हटाने की प्रार्थना की है। १९१३ ई० की 'इन्दु' के जनवरी अंक में प्रकाशित 'कैकेयी पट्य' बहत्तर पदों का लम्बा आख्यानक काव्य है। जैसा कि कविता के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें राम-वन-गमन के अवसर पर दशरथ-विलाप का, (प्रलाप की अवस्था में आखेट, श्रवण-मृत्यु और अन्त में दशरथ की मृत्यु हो जाना) कथांश लिया गया है।

इसके बाद की रचनाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डेयजी के भावुक हृदय ने करवट बदल ली। कवि वर्ण्य-वस्तु से अधिक वर्ण्य-वस्तु द्वारा जागरित आन्तरिक अनुभूतियों को प्रधानता देने लगा। स्वभावतः उसके काव्य में वस्तु-चित्रण गौण हो गया। अब पौराणिक आख्यान, देश तथा समाज उसके काव्य के उपजीव्य न रहे अपितु ओस और कुररी जैसे प्राकृतिक उपकरण तथा प्रेम, आशा, निराशा जैसी हृद्गत अमूर्त भावनाएँ भी अभिव्यक्ति का विषय बनीं। इस प्रकार पाण्डेयजी की कविता बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी होती चली गई। सन् १९१४ की 'इन्दु' के फरवरी अंक में प्रकाशित 'पंथी' शीर्षक अतुकान्त कविता में कवि की आत्मानुभूत व्यक्तिगत कुंठा स्पष्ट लक्षित होती है। कवि को अपना भविष्य धूमिल एवं नैराश्य के गर्त्त में निमज्जित प्रतीत होता है। अतः वह कह उठता है कि 'यह भावी जीवन का प्रवाह क्या ताण्डव नृत्य के अभिनय को प्रस्तुत है जहाँ स्वार्थ रूपी मकर और कपट रूपी कच्छ घात लगाये बैठे हैं ?' परन्तु फिर कर्म्मवीर की भाँति जीवन से जूझने को सन्नद्ध हो जाता है। 'प्रेम बन्धन'[3] (१९१३ ई०) तथा 'आँसू' (१९१६ ई०) में प्रेम तथा प्रेमी का आदर्शवादी दृष्टिकोण कवि की रचनाओं में और अधिक जीवन्त होकर आया। यहाँ कवि ने प्रकृति के समस्त उपकरण—उसके जड़-चेतन रूप—एवं सामाजिक सम्बन्धों आदि में उत्सर्ग अथवा आत्मसमर्पण की उदात्त भावना को प्रेम की सफलता का मूलमंत्र घोषित किया। उसके विचार में भ्रमर का गुंजार, नदियों का कलरव,

१. 'काल की कुटिलता' की अठारह पंक्तियाँ 'कैकेयी पट्य'—६५-६६ पद में—ज्यों की त्यों संगृहीत हैं।
२. द्र० पाद-टिप्पणी—इन्दु, सन् १९१३ (जुलाई) कला ४, खंड २, किरण १
३. 'प्रेम बन्धन' शीर्षक रचना में कवि केशवानन्द ने भी सहयोग दिया था।

गिरिमाला का नभ से परिरंभण आदि सब केवल एक दिशा की ओर संकेत करते हैं; उनमें एक ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है—'प्रेम'। शिल्प-विधान की दृष्टि से 'उद्गार' (१९१८ ई०) शीर्षक रचना प्रगीत की कोटि में आती है; क्योंकि प्रगीत की प्रमुख विशेषता आत्माभिव्यंजन है। 'उद्गार' भी आत्माभिव्यंजन-प्रधान है। यहाँ कवि इस भौतिक जगत् में अपने स्वप्नों को साकार न पाकर नयनों में परिव्याप्त चिर आशा को निश्वासों (आहों) में भरने के लिए प्रस्तुत है। 'ओस की निर्वाण प्राप्ति' (१९१७ ई०), 'कृतज्ञ हृदय' (१९१८ ई०), 'कुररी के प्रति' (१९२० ई०) आदि में प्रकृति का नीतिपरक चित्रण मिलता है।

पाण्डेयजी ने अपनी रचनाओं में 'प्रेम' को जीवन का सर्वोपरि तत्व स्वीकार किया है। 'प्रेम' को वे चराचर जगत् में व्याप्त विभु मानते हैं। प्रेम के इसी उदात्तीकरण के कारण उनका व्यक्तिगत प्रेम, प्रकृति और विश्व-प्रेम से आगे बढ़कर संसार के कण-कण में प्रतिभासित परोक्ष सत्ता की ओर झुकता हुआ लक्षित होता है। 'विश्व-बोध' (१९१७ ई०) में वह जिज्ञासु होकर 'अव्यक्त' और 'अरूप' को ज्ञान, योग, पूजा, पाठ आदि में खोजता है और अन्त में उसका अस्तित्व दीन-हीन के अश्रुनीर में, पतितों की पीर में, कृषक के हल में, दम्पति के मधुमय विलास में, शिशु के स्वप्निल हास में, कुसुम के शुचि सुवास में तथा वाद-विहीन उदार धर्म में पाता है। अव्यक्त सत्ता के परिचय के बाद आत्मा के एकाकार हो जाने की कहानी 'नमक की डली' (१९१७ ई०) प्रतीक के आवरण में कही गई है। इस भावना पर रहस्यात्मक छाया भी है और आध्यात्मिक उपासना का नूतन रूप भी। ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न मानकर कवि ने अद्वैत का संकेत दिया है। कवि ने 'रूप का जादू' (१९१८ ई०) में उसके भव्य रूप का वर्णन करते हुए कहा कि "हुआ प्रथम जब उसका दर्शन, गया हाथ से निकल तभी मन; सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात"। अतएव वह अनेक सांसारिक कष्टों एवं दुखों से व्यथित होकर 'क्षमा प्रार्थना' (१९१८ ई०) में आत्म-समर्पण की अभिलाषा लेकर उन्मुख होता है। पाण्डेयजी के आध्यात्मिक प्रेम में भी परवर्ती रहस्यवादी भावधारा की तरह, विरह-जनित-वेदना अधिक दिखलाई पड़ती है। उनका साधक मन भी ससीम होने के कारण असीम से मिल नहीं पाता। 'मर्दित मान' (१९१८ ई०) तथा 'अधीरा आँखें' आदि रचनाओं में कुछ ऐसे ही भाव व्यक्त किये गये हैं। कवि कहता है कि—"तुम बिन जीवन भार हुआ जाता है" अतः जब तक उस श्री के दर्शन न हो जाएँगे, जिसका मनमोहक वेश देखकर सहस्रों चन्द्र फीके पड़ जाते हैं, तब तक अधीरा आँखें पुतलियों का आसन डाले बैठी रहेंगी। पाण्डेयजी का हृदय अपने प्रियतम को समर्पित है। वे मन्दिर के कोने में नहीं अपितु शून्य कक्ष में उसका नीरव अभिषेक करना चाहते हैं। अतः वे भी गीतांजलि के निभृत प्रेमपूर्ण गीतों को अपने स्वर में प्रतिध्वनित कर गा उठे, "पा जाऊँ मैं तुमको जो फिर नाथ, रक्खूँ उर में छिपा यत्न के साथ।"[1]

पाण्डेयजी की रचनाओं के उपर्युक्त विषयगत विश्लेषण से स्पष्ट है कि उनकी कवि-प्रतिभा बड़ी द्रुतगति से प्रस्फुटित हुई थी। उनकी कविताओं में एकान्त आन्तरिक-अनुभूति-

---

१. 'मर्दितमान'—द्र० सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, सं० ५, खं० २—पृ० २२५

प्रधान भावाभिव्यक्ति मिलती है। ये रचनाएँ कभी प्रेमी कवि के अन्तस् की मर्म-वेदना और कभी आध्यात्मिक प्रेमचर्या द्वारा मिलन का आनन्द और उत्कण्ठा व्यक्त करती हैं। कवि का यह अन्तर्मुखी-दृष्टि-निक्षेप वास्तव में छायावाद का प्रोद्भास कहा जा सकता है जो जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानन्दन पन्त को छोड़कर इस युग के अन्य किसी कवि में इतने प्रखर रूप में प्रदीप्त नहीं हुआ।

अभिव्यंजना पक्ष

भाषा (शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि)—पाण्डेयजी ने अपने मुक्तक काव्य के लिए खड़ीबोली का तत्सम किन्तु व्यास-प्रधान रूप ग्रहण किया था। अतः उनकी रचनाओं में आद्योपान्त भाषा का अत्यन्त संयत, निखरा हुआ एवं संतुलित रूप दृष्टिगत होता है। न उसमें तत्सम शब्दों के आधिक्य से समस्त पदावली के प्रति विशेष आग्रह है और न उपसर्ग-प्रत्ययों की भरमार। कवि ब्रजभाषा के शब्दों द्वारा भाषा में मार्दव लाने का भी पक्षपाती न था। अतः कढ़ै, मीचु, मींज, अनाड़ी, पैं आदि प्रान्तीय या देशज शब्द उसकी भाषा में गिने-चुने स्थलों पर ही दिखाई पड़ते हैं। द्विवेदी-युग की तत्कालीन प्रकृति के अनुसार शोकित होना, विलपना, विचरना, अवलोकना जैसे संज्ञा से निर्मित क्रिया-रूप भी अत्यन्त न्यून मात्रा में उपलब्ध होते हैं। भाषा में इस प्रकार की कृत्रिमता केवल प्रारम्भिक विषय-प्रधान-काव्य तक सीमित है, यथा :—

> विविध लघु गुरु जन्तुएँ, सुविशाल तेरी गोद में,
> अहह ! पालित हो विचरते, नित्य कैसे मोद में ॥[1]
>
> —'रत्नाकर'
>
> हा ! इधर दशरथ नृपति भी थे भू-पतित होकर पड़े,
> जल अश्रु दृग से ढालते थे, हो रहे व्याकुल बड़े ॥[2]
>
> कुछ कुछ पसरने थी लगी सर्वत्र निशि की कालिमा ।[3]
>
> —'कैकेयी का पट्य'

आत्मानुभूति-प्रधान रचनाओं की भाषा तत्सम-बहुला किन्तु सरल एवं प्रवाहमयी है, यथा :—

> मैंने उसको हृदय दिया था,
> रुचिर रूप रस-पान किया था,
> था न स्वप्न में मुझको उसकी निष्ठुरता का ध्यान ।
> मन तो मेरा और कहीं था,
> मुझको इसका ज्ञान नहीं था,
> छिपा हुआ शीतल किरणों में है मरु-भूमि महान ॥[4]
>
> —'रूप का जादू'

---

१. इन्दु, १९१३ ई०, जुलाई, कला ४, खं० २, किरण १
२-३ इन्दु, १९१३ ई०, (जनवरी) कला ४, किरण १—पृ० १-१३
४. सरस्वती, सन् १९१८, (मई) भाग १९, खण्ड १, सं० ५

मानस-भवन पड़ा है सूना,
तपोधाम का बना नमूना,
कर उसमें प्रकाश अब दूना,
मेरी उग्र वेदना हर जा।
मोहित तुझको करने वाली,
नहीं आज मुख की वह लाली,
हृदय-यंत्र यह रक्खा खाली,
अब नूतन सुर उसमें भर जा ॥[1]

—'उद्गार'

हाँ, इस काव्य-भाषा में एक उल्लेखनीय विशेषता अवश्य मिलती है। वह यह कि कवि ने ज़िन्दगी, लापता, चालबाज़ी, मुफ्त, खज़ाना, दिवाना, तमाशा, खासी, ज़बर्दस्त, मज़ा, नाराज़, नाहक, जैसे उर्दू के शब्द, सौख्य, औदार्य, अजरामर, न्यायान्याय, तव, स्वीय जैसे ठेठ तत्सम शब्दों के बीच में ही प्रयुक्त किए हैं। इसका एक कारण है। पं० मुकुटधर पाण्डेय कविता में ऐसी खिचड़ी शैली के समर्थ थे। उनका विचार था कि, "उक्त खिचड़ी शैली के प्रचार से हिन्दी के समानार्थ सूचक शब्दों की संख्या बढ़ाने में अच्छी सहायता मिल सकती है...... बिना संस्कृत-शब्दों की सहायता के हिन्दी का चलन मुश्किल है पर उसे जहाँ तक बने संस्कृत के उन बड़े-बड़े शब्दों से जिनका कि मतलब समझने में जन-साधारण को कठिनता हो, बचाना चाहिए। साथ ही वह उर्दू, फ़ारसी और अँगरेज़ी के प्रचलित शब्दों से काम लें तो अच्छा।"[2] उर्दू के ऐसे आमफ़हम शब्द आते रहने पर भी पाण्डेयजी की भाषा-प्रवाह में न तो कहीं रुकावट आई है और न किसी प्रकार की दुरूहता ही प्रतीत होती है। जहाँ कहीं ये शब्द प्रयुक्त हैं उनके लिए वातावरण इतना उपयुक्त बना दिया गया है कि वे सहज ही में खप गये हैं, उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों में सहृदय 'हृदय' का वर्णन देखिए :—

देख यह झट हाथ उसका खींच कर,
स्वार्थ उसको चाहता देना बिठा,
पर कुचल पावों तले उसको वही,
मोह का परदा हृदय देता उठा।
धर्म रक्षा से विमुख हों अन्य जब,
शक्तिशाली के पदों को चूमता,
स्वीय प्राणों को हथेली पर लिए,
वह सरे बाज़ार है तब घूमता ॥[3]

—'हृदय'

---

१. सरस्वती, सन १९१८, भाग १९, खण्ड १, सं० ४—पृ० २१२
२. द्र० 'भविष्य में हिन्दी का रूप क्या हो ?'—ले० पं० मुकुटधर पाण्डेय
—पृ० ३३, सरस्वती, सन १९१९, भाग २०, सं० १, खं० १
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग, १८, सं० ३—पृ० १५१

और प्रसंग एवं विषय-विचार के कारण ही पाण्डेयजी ने आध्यात्मिक विषयों एवं 'कैकेयी का पट्य' जैसे पौराणिक आख्यान-निरूपण में 'उर्दू' का एक भी शब्द नहीं आने दिया है।

मुहावरे-लोकोक्तियाँ—भाषा में बोलचाल का रूप ग्राह्य न होने के कारण मुहावरे-लोकोक्तियों के उपयोग का कवि को अवसर कम मिला है। प्रसंगवश उसने जहाँ इन्हें लिया भी है, प्रायः उस पदांश की आत्मा को पकड़कर पर्यायवाची शब्दों में नियोजित कर दिया है। इसमें भी कवि को पर्याप्त सफलता मिली है, कारण यह कि परिवर्तित पदांशों के आवरण में प्रच्छन्न मुहावरे एकदम पकड़ में आ जाते हैं और लोकोक्तियाँ अधिकांशतः सूक्तियों का रूप धारण कर गई हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

बाँह ऐसे दीन की गहता हृदय,
और उसके आँसुओं को पोंछता ॥[१]

—'हृदय'

देख किसी की व्याकुलता क्या,
पत्थर होगा कभी विदीर्ण ?
हृदयहीन जो वज्र हुआ तो,
वह है केवल भू का भार ॥[२]

—'महत्ता और क्षुद्रता'

फटती नहीं क्यों ? हाय ! मेरी वज्र सी छाती कड़ी ।[३]

—'कैकेयी का पट्य'

पड़ता जो मैं हाय ! भीषण कैकेयी के गाल में,
विधि डालता मुझको न तो दुर्गम्य इस दुख-जाल में ॥[४]

—'कैकेयी का पट्य'

मिलो कहीं जो रोष हृदय का त्याग,
तुम्हें दिखाऊँ अपने जी की आग ॥[५]

—'मर्दित मान'

ज़बर्दस्त का ठेंगा सिर पर नहीं चलाने पावेगा ।[६]

—'सिंहोपालम्भ'

मिटता नहीं विधि का लिखा, टलती नहीं भावी कभी ॥[७]

—'कैकेयी का पट्य'

१-२. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ६—पृ० ३०९
३-४. इन्दु, १९१३ ई० (जनवरी), कला ४, किरण १
५. सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, सं० ५, खं० २—पृ० २२५
६. इन्दु, सन् १९१३ (अक्तूबर) कला ४, सं० २, किरण ४
७. इन्दु, सन् १९१३ (जनवरी) कला ४, किरण १

अलंकार—ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि पाण्डेयजी की अधिकांश रचनाओं में मानसिक कुण्ठा से उद्भूत भावना अथवा आध्यात्मिक रति का चित्रण मिलता है। अतएव विषय की विभिन्नता के कारण काव्य-शैली में भी अन्तर आ गया है। विषय-प्रधान कविताएँ अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी गई हैं। स्वानुभूति के व्यक्तीकरण के लिए कवि ने प्राचीन काव्य-परम्परा में पाये जाने वाले बँधे-बँधाये उपमान नहीं लिये हैं। यों तो उसने इस वैयक्तिक भावना को यथाशक्ति सरल भाषा में ही प्रकट किया है, किन्तु जहाँ रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा, विरोध आदि अलंकारों का विधान हुआ भी है, सामान्यतया प्रभाव-साम्य पर ही अधिक बल मिलता है, यथा—

रूपक

सुख-कौमुदी छिटकी अभी, दुख-मेघ वह अब घिर रहा।
यों नित्य सुख के संग ही दुख भी सदा ही फिर रहा॥[1]

—'काल की कुटिलता'

सांसारीय विपत्ति-पवन अति वेग से,
चलता है! चिन्ता की ये लहरें उठी
कहीं विषम तो कहीं कल्पना-भँवर ही,
रह रह पड़तीं होती फिर-फिर लीन-हैं।
मुँह फैलाये स्वार्थ-मकर चुपचाप है,
कहीं-कहीं पर कपट-कच्छ देखो लगा,
दाव-घात में हिंसा का साम्राज्य ही,
यहाँ! कहो तो कैसा विकट स्वरूप है॥[2]

—'पंथी'

उल्लेख

हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में।
तेरा हुआ बोध पग-पग में,
खुला रहस्य महान्।
दीन-हीन के अश्रु-नीर में,
पतितों की परिताप पीर में।
सन्ध्या के चंचल समीर में,
करता था तू गान।[3]

—'विश्वबोध'

---

१. सरस्वती, सन् १९१२, भाग १३, सं० ९—पृ० ४८६
२. इन्दु, सन् १९१४ (फरवरी) कला ५, किरण २—पृ० १४७-१४८
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ६—पृ० ३२६

विरोधाभास

है उदय से ही अस्त, जीवन से मरण प्रत्यक्ष है।
संयोग से समझो सदा, दुःसह वियोग समक्ष है ॥[1]

—'काल की कुटिलता'

अर्थान्तरन्यास

क्षुद्र वस्तु को पाकर के ही सहृदय जन हो जाते तुष्ट,
बड़ी वस्तु को पाकर के असन्तुष्ट रहते हैं दुष्ट।
तुझे न थोड़ी तुष्टि हिंस पशु! करके भी गज का आहार,
ऐसे असंतोषियों से क्या हो सकता जग का उपकार ?[2]

—'सिंहोपालम्भ'

उपमान चाहे मूर्त्त हों अथवा अमूर्त्त, प्रस्तुत हों या अप्रस्तुत, वे कवि के व्यक्तिगत हर्ष-विषाद, सुख-दुख सब में उसके साझी दिखाई देते हैं। निम्न पंक्तियों में देखिए कवि ने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति न होते देख चिर अतृप्त आशा की वेदना का स्वर किस प्रकार प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में ध्वनित होते देखा है—

जब मध्याह्न-पवन ने आकर, तप्त किया जल, थल, आकाश,
पाया मैंने उसमें तेरे, व्यथित हृदय का खर विश्वास।
कल-निनादिनी-तटिनी ने भी, सन्ध्या को हो भ्रान्त महान्,
पहुँचाया मेरे कानों तक, विरह-वेदना का तव गान ॥[3]

—'भीषण हत्या'

प्रकृति पर अपनी अनुभूति का आरोप कर कवि ने 'उत्प्रेक्षा' अलंकार को व्यंग्य ही रखा है।

'कुररी के प्रति' शीर्षक रचना दिन भर सुदूर खेतों में चुगने के पश्चात् बड़ी रात गये महानदी के गर्भ में विश्राम करने को लौटती हुई कुररियों के प्रति सम्बोधन है। किन्तु वास्तव में यह एक 'अन्योक्ति' है जो परदेश में आये हुए पथिक को स्वदेश लौटने के लिए व्याकुल देखकर लिखी गयी है। कवि ने रूपकातिशयोक्ति के सहारे आकाश-मार्ग (परदेश) का कितना भावाभिव्यंजक रूप चित्रित किया है—

विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप,
इन्द्रजाल तू उन्हें समझकर जाता है न समीप।
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू, आई क्या तुझे गेह की याद ?[4]

—'कुररी के प्रति'

---

१. सरस्वती, सन् १९१३, भाग १३, सं० ९—पृ० ४८६
२. इन्दु, सन् १९१३ (अक्तूबर) कला ४, सं० २, किरण ४
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ४—पृ० २०५
४. सरस्वती, सन् १९२०, भाग २१, सं० १—पृ० २७

कहीं-कहीं भावों को मूर्त्तरूप देने के प्रयत्न में मानवीकरण का भी स्वतः विधान हो गया है। 'भीषण हत्या' में हृदय की 'आशा' जैसी अमूर्त भावना का मूर्तिकरण इसका सुन्दर उदाहरण है—

सुनकर के पद-शब्द मार्ग में, चौंक पड़ा था मैं बहु बार,
तुझको आई समझ दौड़ कर नाहक मैंने खोला द्वार।
हुआ प्राप्त जब निकला घर से, मैं अति व्याकुलता के साथ,
देखा सम्मुख दृश्य भयानक, रख करके छाती पर हाथ।
उदयाचल पर निर्दयता से, किया गया था तेरा घात,
तेरे उर के रक्तपात से, रंजित था प्राची का गात।[1]

—'भीषण हत्या'

उपर्युक्त पद में कवि ने 'आशा' को अपनी प्रेयसी के रूप में देखा है। सूर्य से रक्तिम आकाश को इसके रक्त से रंगा हुआ बताकर 'अपह्नुति' को व्यंग्य ही रखा गया है जिससे उक्ति में पर्याप्त चमत्कार भी आ गया है। अब एक करुणापूर्ण एवं सदय 'हृदय' को देखिए जो—

धर्म-रक्षा से विमुख हो अन्य जब,
शक्तिशाली के पदों को चूमता।
स्वीय प्राणों को हथेली पर लिए,
वह सरे बाजार है तब घूमता।[2]

—'हृदय'

मनोवृत्तियों के अतिरिक्त कवि ने प्राकृतिक निर्जीव वस्तुओं को भी मूर्त एवं सजीव रूप प्रदान किया है, यथा—

अस्ताचल पर हँस कर थोड़ा,
दिनकर ने अपना मुख मोड़ा।
विहगों ने भी मुझ पर छोड़ा,
व्यंग्य-वचन का बाण।
विधु ने नभ से किया इशारा,
अधोदृष्टि करके ध्रुव तारा।
तेरा विश्व-रूप-रस सारा,
करता था नित पान॥[3]

—'विश्व-बोध'

पाण्डेयजी ने जहाँ अध्यात्म-रति, विरह, उत्कंठा आदि असामान्य भावनाओं को व्यक्त किया है वहाँ आध्यात्मिक साधना के सूक्ष्म मार्गों का उद्घाटन और अनुभूतियों को सामान्य

१. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ४—पृ० २०५
२. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ३—पृ० १५१
३. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ६—पृ० ३२६

पाठक तक प्रेषित करने के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया है। किन्तु कवि के प्रतीक दुर्बोध्य, अस्पष्ट अथवा जटिल कहीं नहीं हुए हैं। कारण कि वे सामान्य सत्य पर आधारित हैं। 'नमक की डली' और 'सिन्धु के जल' के आवरण में 'ब्रह्म' और 'जीव' का अद्वैत रूप देखिए—

एक दिन की बात है हे पाठको,
नोन की जब एक छोटी सी डली,
सिन्धु के जल-पूर्ण दुर्गम गर्भ की,
थाह लेने के लिए घर से चली।
किन्तु थोड़ी दूर भी पहुँची न थी,
और उसमें वह स्वयं ही घुल गई।
रंग से मद के अहो पूरी रंगी,
वे महाभ्रम पूर्ण आँखें खुल गईं।
कर बड़ा साहस चली थी वह झपट,
सिन्धु के तल का लगाने को पता।
खो सकल निज रूप-गुण को ही हरे,
हो गई उसमें स्वयं ही लापता।[1]

इसी प्रकार 'ओस की निर्वाण प्राप्ति' शीर्षक रचना आद्योपान्त प्रतीकों के आश्रय में लिखी गई है जहाँ 'ओस' मानव का, 'गुलाब-कोष' सम्पन्न परिवार का, 'सूर्योदय' आशा का 'रजनी' काँटे का, तथा 'कृष्ण-पट', 'समीर', 'जन्तु' आदि क्रम से दुख, अवसादपूर्ण जोवन और सांसारिक ठोकरों के प्रतीक हैं। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र के सहारे कवि ने मानव का कष्टमय सांसारिक जीवन चित्रित किया है, देखिए—

आ पड़ा हाय! संसार कूप में,
भाग्य-दोष से गिर कर ओस।
पर हर्षित होकर किया सुशोभित,
उसने स्फुट गुलाब का कोष।
उस ओर व्योम पर तारादल ने,
किया बड़ा उसका उपहास।
इस ओर घेर कर काँटों ने भी,
दिया व्यर्थ ही उसको त्रास।
उस पर रजनी ने डाल कृष्ण-पट,
उसके यश को किया मन्द।
पर इन कुटिलों के कुटिल कृत्य पर,
जरा न उसने ध्यान दिया।[2] —'ओस की निर्वाण प्राप्ति'

१. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० १—पृ० ४१
२. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० २-३—पृ० १२५

और कहीं अज्ञात प्रियतम की प्रतीक्षा में पाण्डेयजी की 'अधीरा आँखें' कबीर के समान पुतलियों का आसन बिछाये आँसुओं की माला लिये पलकों के दरवाजे से देखती हैं—

हमारी आँखें बैठी हैं,
अधीरा बन करके अनिमेष।
पुतलियों का आसन है डाला,
छिपाकर रक्खी मुक्ता-माला।
खुले दरवाजे पलकों के,
पधारोगे कब हे प्राणेश।[1]

—'अधीरा आँखें'

अर्थालंकारों के समान शब्दालंकारों के चमत्कार-विधान की ओर भी कवि की विशेष प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। अनुप्रास केवल दो अथवा अधिक से अधिक तीन वर्णों की आवृत्ति तक सीमित है, यथा—

दीन-हीन के अश्रु-नीर में,
पतितों के परिताप पीर में।
सन्ध्या के चंचल समीर में,
करता था तू गान।[2]

—'विश्व-बोध'

निशिकर ने आ शरद निशा में,
बरसाया मधु दशों दिशा में।
विचरण करके नभोदेश में,
गमन किया निज धाम।[3]

—'रूप का जादू'

पं० मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं में लक्षणा अथवा व्यंजना शक्ति का वह काव्य-वैभव नहीं मिलता जो बाद में छायावाद के लब्धप्रतिष्ठ कवियों में उपलब्ध होता है। कवि ने प्रायः सरल शब्द-विधान एवं उसके वाच्यार्थ की सहायता से अपनी आत्मगत अनुभूतियों का प्रसादपूर्ण अंकन किया है। रचनाओं में अधिकांशतः प्रेम, विरह आदि कोमल भावनाओं का चित्रण होने के कारण सर्वत्र माधुर्यगुण की छटा भी विद्यमान मिलती है, उदाहरण देखिए—

प्रसादगुण

देकर के निज उर में पृथ्वी मुझको आश्रय-दान,
करती है चुपचाप सह्य यह मेरा भार महान।
यह विचार, देकर सब पत्ते उसे सहित अनुराग,
रिक्त हस्त होकर के तरु ने प्रकट किया निज त्याग।

---

१. श्री शारदा, सन् १९१७, भाग २, सं० ५—पृ० २९०
२. सरस्वती, सन् १९१७, भाग १८, सं० ६—पृ० ३२६
३. सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, सं० ५—पृ० २२५

किन्तु शीघ्र ही पहना करके उसे हरित परिधान,
किया प्रकृति ने उसको सुन्दर पुष्पाभूषण दान।
उधर भूमि ने उसके पत्तों का करके स्वीकार,
खाद्य रूप में लाकर उसका किया विविध सत्कार॥[1]

—'कृतज्ञ'

माधुर्यगुण

मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना।
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त स्वेद बूँदों में ढर जा।
मेरे नयनों की चिर आशा,
प्रेमपूर्ण सौन्दर्य-पिपासा।
मत कर नाहक और तमाशा,
आ मेरी आहों में भर जा।[2]

—'उद्गार'

संक्षेप में, पाण्डेयजी की रचनाओं में कवि-मानस के हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, संयोग-वियोग, नैराश्य एवं कुंठा से उद्भूत वेदनाओं का बड़ा प्रखर चित्रण हुआ है। कवि ने इस अन्तर्मुखी सूक्ष्म चेतना की अभिव्यक्ति के लिए नूतन अप्रस्तुत और प्रतीकों की योजना का भी प्रयास किया है। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि पाण्डेयजी की कविता में छायावाद के अंकुर जितने स्पष्ट रूप में प्रस्फुटित हुए उतने उस युग के किसी अन्य कवि की रचना में नहीं मिलते। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ीबोली-काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अन्तर्भाव-व्यंजक बनाने वालों में पं० मुकुटधर पाण्डेय को प्रमुख स्थान दिया है।[3] और सम्भवतः ऐसी ही आत्माभिव्यंजन-प्रधान रचनाओं को देखकर छायावाद के सहृदय समालोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कहा है कि, "द्विवेदी युग के सीनियर कवियों के बाद जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने बाह्य चेतना को गौणरूप दिया...... अपनी-अपनी अनुभूति से उन्होंने अन्तश्चेतना को मध्य युग की अपेक्षा एक भिन्न रूप और एक भिन्न ज्योति से कवित्व-मण्डित किया।"[4]

उपर्युक्त पृष्ठों में द्विवेदी-युग के प्रमुख कवियों के खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना का अध्ययन किया गया है। इस युग के समस्त काव्य का सिंहावलोकन करने से हम सहज ही

१. सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, सं० ३, खं० १
२. सरस्वती, सन् १९१८, भाग १९, खण्ड १, सं० ४—पृ० २१२
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४८—पं० रामचन्द्र शुक्ल
४. संचारिणी, पृ० १७९—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ईसा की बीसवीं सदी के ये प्रथम दो दशाब्द (सन् १९००-१९२० ई०) खड़ीबोली-काव्य में भाव, भाषा और शैली—तीनों ही दृष्टि से युगान्तर उत्पन्न करने वाले थे। इस काल में, कवि ने सामयिक विषयों को ही पद्यबद्ध नहीं किया अपितु पुराण और इतिहास का मन्थन कर पुनराख्यान की प्रवृत्ति से पुरातन कथाओं को भी नवीन रूप प्रदान किया। काव्य के विविध रूपों की दृष्टि से मुक्तक काव्य के अतिरिक्त प्रबन्ध और खण्ड काव्य भी लिखे गये। यह अवश्य है कि युग के प्रारम्भिक चरण तक भाषा की असमर्थता के कारण अधिकांश कवि उच्चकोटि की काव्य-रचना में सफल न हो सके; क्योंकि उनकी समस्त कवित्व शक्ति भाषा के परिमार्जन एवं स्थिरीकरण में ही व्यय हो गई। अतः अभिव्यंजना-पक्ष की ओर उनका ध्यान ही न गया। लक्षणा-व्यंजना के सौन्दर्य से श्रीहीन खड़ीबोली केवल अप्रस्तुत योजना के आश्रय में पनपती रही। अतएव युग के प्रारम्भिक वर्षों में प्रौढ़ विचार और भावों से परिपूर्ण वास्तविक सत्कविता के दर्शन हमें गिने-चुने स्थलों पर ही होते हैं।

द्विवेदी-युग का द्वितीय चरण (सन् १९१०-१९२० ई०) साहित्य में केवल भाव और भाषा का ही नहीं अपितु कलात्मक आन्दोलन का समय भी था। जैसा कि दिखाया जा चुका है, प्रथम चरण की अधिकांश कविता वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक रही। काव्य में विषय की अनेकरूपता होने पर भी काव्य-शिल्प का प्रायः अभाव रहा। परन्तु देश की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की विषमता ने कवि की बहिर्मुखी भावधारा को अन्तर्मुखी कर दिया। साथ ही प्राचीन भारतीय दर्शन, वड्र्सवर्थ, कोलरिज, कीट्स, स्विनबर्न आदि पाश्चात्य रोमांटिक कवियों की काव्यधारा और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य बंगला कवियों की भावना-प्रधान कविताओं के अध्ययन का भी उसके मानस पर प्रभूत प्रभाव पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में कवि का ध्यान दर्शन, प्रेम, अध्यात्म और प्रकृति की ओर जाना स्वाभाविक था। कदाचित् इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, बद्रीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त तथा मुकुटधर पाण्डेय आदि कवियों की रचनाओं में विश्व-वेदना, सृष्टि-रहस्य, उदात्त-प्रेम, मानसिक वेदना और अनन्त निराशा केन्द्रीभूत होकर प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप से प्रस्फुटित हो चली। महायुद्ध के निराशाजनक प्रभाव से यांत्रिकता का विरोध प्रकृति की ओर लौटने की प्रवृत्ति लेकर आया। इन्होंने अन्तर्मुखी होकर अपने प्रातिभ ज्ञान के सहारे सत्य का साक्षात्कार करने की चेष्टा की। फलतः कवि अब वस्तु के बाह्य को नहीं बल्कि आन्तरिक अनुभूति तथा सौन्दर्य को वाणी देने लगा। इस प्रकार पाँच-छः वर्षों में ही विषय-प्रधान कविता भाव एवं कल्पना-प्रवण हो गई।

अभिव्यंजना में समृद्धि के लक्षण

अभिव्यंजना की दृष्टि से द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली काव्य-माध्यम के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी, किन्तु संस्कृत के वर्ण-वृत्त बने रहे। एक तो भाषा का रूप अस्थिर था ऊपर से उपदेश की शुष्कता; अतः रस पर इतिवृत्तात्मकता हावी हो गई। वर्ण्य-विषय में परिवर्त्तन होने के कारण रीति-शृंगार और नायिकाभेद में

प्रयुक्त परम्पराश्रित अलंकारों के लिए इस काल में अवकाश नहीं रह गया था। भावानुकूल अप्रस्तुत-योजना के विधान में पुरातन उपमानों का छूट जाना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक वर्षों में तीखी और व्यंग्यात्मक उक्तियाँ लिखना ही कवि-कर्म की चरम परिणति समझा जाता था।

युग के द्वितीय चरण में भाषा का रूप परिनिष्ठित हो चुका था। कवि-समाज स्वेच्छा से उसके अत्यन्त तत्सम-प्रधान समस्त रूप, व्यास-प्रधान प्रांजल रूप और उर्दू-बहुल बोलचाल तीनों रूपों का प्रयोग कर रहा था। भाषा के तत्सम-प्रधान हो जाने से मुहावरों द्वारा समाविष्ट रही-सही लाक्षणिकता भी जाती रही। युग का प्रभाव इतना शक्तिशाली था कि 'चित्राधार' का चिन्तनशील कवि प्रसाद भी इससे अस्पृश्य न रह पाया। संवत् १९७० में प्रसादजी खड़ीबोली की ओर आये और उनके 'कानन कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व' एवं 'प्रेम पथिक' शीर्षक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए। 'कानन कुसुम' में अधिकांशतः द्विवेदी-काल के ढंग की कविताएँ हैं। 'इन्दु' में प्रकाशित 'प्रेम राज्य' (सं० १९६६), 'वनवासिनी बाला' (सं० १९६६), 'स्मृति' (सं० १९६७), 'सत्यव्रत'[1] (सं० १९७०), 'भरत' (सं० १९७०), तथा 'शिल्प सौन्दर्य', 'कुरुक्षेत्र', 'वीर बालक' आदि पौराणिक और ऐतिहासिक कथावृत्तों के आधार पर रचित अधिकांश आख्यानक कविताएँ 'कानन कुसुम' में संगृहीत हैं। 'महाराणा का महत्व' एवं 'प्रेम पथिक' अतुकान्त रचनाएँ हैं। अतुकान्त कविता का मार्ग बहुत पहले अम्बिकादत्त व्यास तथा श्रीधर पाठक दिखा चुके थे। 'करुणालय' पौराणिक गीति-नाट्य है। कवि की अन्तर्भाव व्यंजक कविताएँ संकलित होकर 'झरना' (सं० १९७५) में आई। किन्तु 'झरना' के प्रथम संस्करण की चौबीस कविताओं[2] में नूतन भाव-विधान करके भी, कवि प्रसाद ने अभिव्यंजना की दृष्टि से बिम्ब-विधायिनी-चित्रात्मकता तथा लाक्षणिक-वैचित्र्य का विशेष चमत्कार नहीं दिखाया। तात्पर्य यह है कि प्रसादजी ने पाँच-छः वर्ष की अल्प अवधि में प्रभूत काव्य-रचना की, किन्तु अभिव्यंजना के किसी नूतन मार्ग का उन्मेष न किया। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त हिमकन, सुढर, हरियारी, ढार, नहि, हि, पूरन, सुखमा, सम्हार, पौन, इक पूतरी, नेक, लहै, दीखता, कपैंगे, पिन्हा, गुरिया आदि प्रान्तीय शब्दों ने खड़ीबोली के प्रकृत रूप को विकृत कर दिया है। इनके साथ राजी, चहलकदमी, नशा, प्याला, दर्द, कमाल, रुख जैसे उर्दू-शब्द भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाते हैं। युग की तत्सम शब्दावली के आग्रह से कविताओं में एक ओर सुमलिन्द, सुशीतल, दौर्वृत्य, किरणाली, अतीताब्धि, यथेप्सित, श्यामलोज्ज्वल जैसे शब्द प्रयुक्त हुए तो दूसरी ओर विचरती है, वितरती है, शोभते हैं, अवगाहो, को विवाहा, निर्माऊँ जैसे क्रिया-पदों की भी कमी नहीं मिलती। हाँ, 'झरना' की रचनाओं में कवि का ध्यान शब्द-मैत्री की ओर अधिक हो गया था; अतः मन-मृग, तटिनी-तरंग, परमात्मा-प्रभुता,

---

१. 'सत्यव्रत' शीर्षक कविता 'कानन कुसुम' में 'चित्रकूट' नाम से संकलित है।

२. 'झरना' का दूसरा संस्करण सं० १९८४ में निकला था जिसमें आधी से अधिक (इकत्तीस रचनाएँ) और जोड़कर पुस्तक का स्वरूप ही बदल दिया गया था। अभिव्यंजना का अनूठापन एवं चित्रमयता से परिपूर्ण 'विषाद', 'बालू की बेला', 'खोलो द्वार', 'बिखरा हुआ प्रेम', 'किरण', 'बसन्त की प्रतीक्षा' आदि रचनाएँ पीछे जोड़ी गई हैं।

नित्य-नवल, गज-ग्रस्त, ललित-लता, वीर-विचित्र जैसे युगल शब्द भी आ गए हैं। अतः इन रचनाओं में सामान्यतया खड़ीबोली का रूप अनिश्चित-सा रहा। उनमें कहीं व्रजभाषा का रंजन है और कहीं उर्दू-शब्दों के आग्रह से विदेशीपन आ गया है, जैसे—

भारी बोझा लाद लिया न सँभार है
छल-छालों से पैर छिले न उबार है ॥[1]

किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री-झनकार
जो नौबत खाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में ॥[2]

आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार रहो
गलबाँही दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे ला ॥[3]

यही नहीं, अधिकांश स्थलों पर भाषा आवश्यकता से अधिक गद्यात्मक है, अन्वय किये बिना ही उसे गद्यान्तरित किया जा सकता है, देखिए—

थोड़ा भी हँसते देखा ज्यों ही मुझे
त्यों ही शीघ्र रुलाने को उत्सुक हुए।
क्यों ईर्ष्या है तुम्हें देख मेरी दशा,
पूर्ण सृष्टि होने पर भी यह शून्यता ॥[4]

प्रायः लोग कहा करते हैं—'रात भयानक होती है—
घोर कर्म्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते हैं।'
किन्तु नहीं, दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है।
जहाँ सरल के लिये अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं ॥[5]

शब्दालंकारों में अनुप्रास के प्रति कवि का विशेष मोह लक्षित होता है। 'प्रेम पथिक', 'कानन कुसुम' आदि में से दो-एक रचनाएँ देखिए, वर्णावृत्ति के लिए कवि दो-दो पंक्तियों तक शब्दों से खिलवाड़ करता चला गया है—

मधुर मलयानिल महक की मौज में मदमत्त है,
लता ललिता से लिपटकर ही महान प्रमत्त है।
क्यारियों के कुसुम-कलियों को कभी खिझला दिया,
सहज झोकों से कभी दो डाल को हि मिला दिया ॥[6]

लहराती ललित लता सुबाल लजीली,
लहि संग तरुन के सुन्दर बनी सजीली ॥[7]

---

१. कानन कुसुम—पृ० १२
२. प्रेम पथिक—पृ० १६
३. झरना—पृ० ३२
४. कानन कुसुम—पृ० ८०
५. प्रेम पथिक—पृ० ११
६-७. कानन कुसुम—पृ० १८, ३८

खेल खेलकर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नंदन कानन का अरविंद।[१]

अर्थालंकारों में प्रायः रूढ़ उपमानों का ही आश्रय लिया गया है, यथा—

वाक्योपमा

बैठी है वसन मलीन पहिन इक बाला,
पुरइन-पत्रों के बीच कमल की माला ॥[२]

खुले हुए कचनार बिखर गये थे वदन पर,
जैसे श्याम सिवार आसपास हो कमल के ॥[३]

प्रतीप

सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से ।[४]

—'प्रेम पथिक'

दृष्टान्त

तारा हीरक हार पहनकर चन्द्रमुख
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से ॥[५]

—'महाराणा का महत्व'

किन्तु ज्यों-ज्यों भावानुभूति प्रखर एवं गम्भीर होती गई है, त्यों-त्यों कवि द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक अभिव्यंजना-शैली के बन्धन से मुक्त होता दिखाई देता है । उसने आत्माभिव्यंजन के लिए नूतन उपमान एवं प्रतीकों का अन्वेषण प्रारम्भ किया। निम्न उद्धरण देखिए, उपमान मूर्त्त हों अथवा अमूर्त्त उनमें सर्वत्र एक प्रकार की नवीनता है—

सुन्दर कुटिया वह कैसी है, रम्य कुटी में सरिता के,
शान्त तपस्वी सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई ।[६]

—'प्रेम पथिक'

एक तापसी भी है बैठी दुख पद-दलिता, छाया सी ।[७]

—'प्रेम पथिक'

स्वप्न सदृश निद्रा भी टूटी, वन-विहंग के कलरव से ।[८]
यह कुहेलिका कैसी फैली जिसमें सब बीती बातें,
दिन की तरह छिपीं विस्मृति का नीला परदा डाल दिया ।[९]

—'प्रेम पथिक'

---

१. प्रेम पथिक—पृ० १६
२-३. कानन कुसुम—पृ० ३९, ६७
४. प्रेम पथिक—पृ० १६
५. महाराणा का महत्व—पृ० ७
६—९. प्रेम पथिक—पृ० ९, १०, २४, २४

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रही
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा
बाह्य-आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।[1]

—'करुणालय'

उड़ा दो मत गुलाल सी हाय, अरे अभिलाषाओं की धूल।[2]

भीषणता रुक कर करुणा सी हो गई।[3]

मानवीकरण

विह्वल सी थी दीन वेदना मुँह खोले मलीन अवकाश।[4]

लज्जे ! जा बस अब न सुनूँगी एक भी,
तेरी बातों में से, तूने दुःख दिया।[5]

—'अर्चना'

धृष्ट मारुत भी उड़ा अंचल तुरत चलता हुआ,
माधवी के पत्र कानों को सहज मलता हुआ।[6]

धर्म बिलखता सोचता, हम क्या से क्या हो गये।[7]

प्रतीक-योजना

स्पन्दनहीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था,
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से।[8]

रिक्त हो रही मधु से, सौरभ सूख रहा है आतप से,
सुमन-कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरायेगी।[9]

इस प्रकार के नूतन उपमान-चयन की आकांक्षा में कवि कहीं-कहीं अटपटे उपमान भी प्रयुक्त कर बैठा है—

खुले किवाड़ सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को।[10]

तब जैसे कन्दील प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी।[11]

---

१. करुणालय—पृ० १६
२. झरना—पृ० ७०
३. कानन कुसुम—पृ० १०६
४-५. झरना—पृ० ३३, ३६
६-७. कानन कुसुम—पृ० १८, ६४
८. करुणालय—पृ० १६
९. झरना—पृ० ३९
१०. कानन कुसुम—पृ० ६०
११. प्रेम पथिक—पृ० २१

इन रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि सन् १९१६-१७ तक प्रसाद जैसे समर्थ कवियों ने अभिव्यंजना-शैली में तरह-तरह के प्रयोग करके अपनी प्रतिभा को परखना शुरू कर दिया था।

प्रसाद कृत 'झरना' (संवत् १९७५) और 'आँसू' (संवत् १९८२) के प्रकाशन-काल के दीर्घ अन्तराल में सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' अभिव्यंजना के क्षेत्र में नूतन काव्य-शिल्प लेकर आये। पन्त की इस काल की अधिकांश मुक्तक रचनाएँ 'वीणा' में संकलित हैं। उनका प्रसिद्ध प्रणय काव्य 'ग्रन्थि' सन् (१९२०) भी इसी समय प्रकाशित हुआ। निराला की सर्वप्रथम रचना 'जुही की कली' सन् १९१६ में लिखी जा चुकी थी। किन्तु निरालाजी की रचना-प्रगति इन वर्षों में अपेक्षाकृत मन्द रही। इन कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिये प्रकृति के उपकरणों को उपमान-रूप में ग्रहण किया और प्रकृति की पृष्ठभूमि पर ही अपने विदग्ध प्रेम का व्यंजन किया। कवि पन्त ने छन्द के संगीत को हृदयंगम किया, शब्द के नाद-सौन्दर्य को परखा और उसकी आत्मा (अर्थ) को नूतन कान्ति प्रदान की। किन्तु प्रारम्भिक रचनाओं में कवि कल्पना-विलास के साथ साम्य-योजना को ही महत्व देता रहा। इसीलिये पन्त की 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में नवीन उपमाओं की बाढ़-सी आ गई है, साथ ही भाषा भी सानुप्रासिक है। उपमा और अनुप्रास का अतिरंजन होते हुए भी काव्य-भाषा का नैसर्गिक प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ है प्रत्युत उसमें सौन्दर्य के साथ माधुर्य, और गति के साथ गेयता का समावेश हो गया है। भावाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त उपमाएँ कहीं अनावृत्त रूप में लक्षित होती हैं तो कहीं प्रतीकों के आवरण में भाव की झाँकी प्रस्तुत कर विलीन हो गई है, देखिए—

कौन कौन तुम परिहत-वसना,
म्लान-मना, भू-पतिता सी ?
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?[1]

मधुरिमा के मृदु हास, हृदय के सुरभित साँस।[2]

शरद-घन सा लीन हो, गिर पलक-सा।[3]

एक जलकण जलद शिशु सा, पलक पर,
आ पड़ा सुकुमारता सा, गान सा,
चाह सा, सुधि सा, सगुन सा, स्वप्न सा।[4]

तिमिर के अज्ञात अंचल में छिपी,
झूमती है भ्रान्ति मेरी भ्रमर सी।[5]

१-२. वीणा—पृ० १३, ५५
३—५. ग्रंथि—पृ० ६, २३, ४८

प्रतीक

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल।[1]

सलिल शोभे ! जो पतित आहत भ्रमर,
सदय हो तुमने लगाया हृदय से।
एक तरल तरंग से उसको बचा,
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः ॥[2]

प्रथम केवल मोतियों को हंस जो,
तरसता था अब उसे तर सलिल में।
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद,
लालसा पल-पल विकल थी कर रही।[3]

मानवीकरण

बाल्य की विस्मय भरी आंखें मृदुल,
कल्पना की कृश लटों में उलझ के।
रूप की सुकुमार कलिका के निकट,
झूम मँडराने लगी थी घूम कर ॥[4]

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी,
गान से विधि ने गढ़ीं ? जो हृदय को।
याद आते ही विकल संगीत में,
बदल देती हैं भुलाकर मुग्ध कर ॥[5]

किस गहनता के अधर से फूटकर,
फैलते हैं शून्य स्वर इसके सदा ॥[6]

पतन के नीले अधर पर भाग्य का,
जो निठुर उपहास मैंने आपको।
आज दिखलाया उसे किस की दया,
कर सकी है मन्द ? क्या लोकेश की ?[7]

इनके अतिरिक्त वह मूर्तिमती लाक्षणिकता जो 'पल्लव' में जाकर आभासित हुई है, 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में भी मिलती है। विशेषणों के कुछ नूतन प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

---

१. वीणा—पृ० १२

२—७. ग्रंथि—पृ० ११, १५, ३१, ३४, ४३, ५०

अँगडाते तम में,
अलसित पलकों से, स्वर्ण स्वप्न नित,
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात ।

—'वीणा'

वायु विस्मित गूढ़ छाया में तथा,
सरल तुतले बिम्ब में भी वारि के,
ये नयन डूबे अनेकों बार हैं ।

और देखिये—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
विरह ! अहह कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा ।

यहाँ 'शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ' पदांश पर अंग्रेज़ी का स्पष्ट प्रभाव है । इसके अतिरिक्त पन्त ने भाषा की नादात्मक शक्ति को भी महत्व दिया, इसलिए उनके निर्झर 'झर झर' करने लगे थे और 'वीणा' के गीतों में 'टल् टल्', 'छल् छल्' भी आ गई थी ।

'जुही की कली' (१६१६ ई०) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की प्रथम खड़ीबोली रचना कही जाती है यद्यपि 'मतवाला' (१६२३ ई० में प्रकाशित) के कई अंक निकलने के बाद 'जुही की कली' के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे । इस रचना ने अपनी नूतन काव्य-शैली के कारण अत्यधिक ख्याति पाई । 'मतवाला' के प्रारम्भिक अंकों में निराला जी की जो कविताएँ प्रकाशित हुईं, उनसे साम्य करने पर उससे बहुत पूर्व रचित 'जुही की कली' भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ दिखलाई पड़ती है । डॉ० रामविलास शर्मा का अनुमान है कि इस कविता को निराला जी ने अनेक बार सँवारा होगा, क्योंकि मतवाला में 'जूही' दीर्घ अकारान्त है और 'वंकिम विशाल नेत्रों' के बदले अलग अन्दाज़ में 'बाँके विशाल नेत्र' है ।[1] 'जुही की कली' पत्नी के देहावसान के उपरान्त श्मशान पर लिखी गई कविता है । इसमें कल्पना की प्रधानता है । इसके नायक और नायिका दोनों स्वप्न-लोक के वासी हैं । कवि ने प्राकृतिक उपकरणों का 'मानवीकरण' करके अपने हृद्गत भावों को मूर्त्तिमन्त किया है :—

विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल, तनु तरुणी-जुही की कली
दृग बन्द किए, शिथिल-पत्रांक में

१. निराला, पृ० ५१—डॉ० रामविलास शर्मा

वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।[1]

इस प्रकार सन् १९२० तक खड़ीबोली में व्याकरण-सम्बन्धी परिमार्जन के साथ भाषा में लाक्षणिक शक्ति और अप्रस्तुत-विधान में नूतन प्रतीक-योजना के समावेश द्वारा अभिव्यक्ति को सूक्ष्म और सशक्त बनाया गया। ध्वन्यर्थव्यंजना, नादात्मकता, मानवीकरण आदि द्वारा भाषा की समृद्धि के चिह्न भी लक्षित होने लगे। प्रसाद, पन्त तथा निराला के अवतरण से खड़ीबोली कविता को नवीन दिशा का संकेत मिला। और कालान्तर में इन्हीं कवियों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित करके छायावाद युग का सूत्रपात किया।

१. परिमल, पृ० १९१—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

अँगडाते तम में,
अलसित पलकों से, स्वर्ण स्वप्न नित,
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात ।

—'वीणा'

वायु विस्मित गूढ़ छाया में तथा,
सरल तुतले बिम्ब में भी वारि के,
ये नयन डूबे अनेकों बार हैं ।

और देखिये—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
विरह ! अहह कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा ।

यहाँ 'शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ' पदांश पर अंग्रेज़ी का स्पष्ट प्रभाव है । इसके अतिरिक्त पन्त ने भाषा की नादात्मक शक्ति को भी महत्व दिया, इसलिए उनके निर्झर 'झर झर' करने लगे थे और 'वीणा' के गीतों में 'टल् टल्', 'छल् छल्' भी आ गई थी ।

'जुही की कली' (१९१६ ई०) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की प्रथम खड़ीबोली रचना कही जाती है यद्यपि 'मतवाला' (१९२३ ई० में प्रकाशित) के कई अंक निकलने के बाद 'जुही की कली' के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे । इस रचना ने अपनी नूतन काव्य-शैली के कारण अत्यधिक ख्याति पाई । 'मतवाला' के प्रारम्भिक अंकों में निराला जी की जो कविताएँ प्रकाशित हुईं, उनसे साम्य करने पर उससे बहुत पूर्व रचित 'जुही की कली' भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ दिखलाई पड़ती है । डॉ० रामविलास शर्मा का अनुमान है कि इस कविता को निराला जी ने अनेक बार सँवारा होगा, क्योंकि मतवाला में 'जूही' दीर्घ अकारान्त है और 'वंकिम विशाल नेत्रों' के बदले अलग अन्दाज़ में 'बाँके विशाल नेत्र' है ।[1] 'जुही की कली' पत्नी के देहावसान के उपरान्त श्मशान पर लिखी गई कविता है । इसमें कल्पना की प्रधानता है । इसके नायक और नायिका दोनों स्वप्न-लोक के वासी हैं । कवि ने प्राकृतिक उपकरणों का 'मानवीकरण' करके अपने हृद्गत भावों को मूर्त्तिमन्त किया है :—

विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल, तनु तरुणी-जुही की कली
दृग बन्द किए, शिथिल-पत्रांक में

१. निराला, पृ० ५१—डॉ० रामविलास शर्मा

वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।[१]

इस प्रकार सन् १९२० तक खड़ीबोली में व्याकरण-सम्बन्धी परिमार्जन के साथ भाषा में लाक्षणिक शक्ति और अप्रस्तुत-विधान में नूतन प्रतीक-योजना के समावेश द्वारा अभिव्यक्ति को सूक्ष्म और सशक्त बनाया गया। ध्वन्यर्थव्यंजना, नादात्मकता, मानवीकरण आदि द्वारा भाषा की समृद्धि के चिह्न भी लक्षित होने लगे। प्रसाद, पन्त तथा निराला के अवतरण से खड़ीबोली कविता को नवीन दिशा का संकेत मिला। और कालान्तर में इन्हीं कवियों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित करके छायावाद युग का सूत्रपात किया।

१. परिमल, पृ० १९१—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

अँगड़ाते तम में,
अलसित पलकों से, स्वर्ण स्वप्न नित,
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात ।

—'वीणा'

वायु विस्मित गूढ़ छाया में तथा,
सरल तुतले बिम्ब में भी वारि के,
ये नयन डूबे अनेकों बार हैं।

और देखिये—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
विरह ! अहह कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।

यहाँ 'शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ' पदांश पर अंग्रेज़ी का स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त पन्त ने भाषा की नादात्मक शक्ति को भी महत्व दिया, इसलिए उनके निर्झर 'झर झर' करने लगे थे और 'वीणा' के गीतों में 'टल् टल्', 'छल् छल्' भी आ गई थी।

'जुही की कली' (१९१६ ई०) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की प्रथम खड़ीबोली रचना कही जाती है यद्यपि 'मतवाला' (१९२३ ई० में प्रकाशित) के कई अंक निकलने के बाद 'जुही की कली' के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे। इस रचना ने अपनी नूतन काव्य-शैली के कारण अत्यधिक ख्याति पाई। 'मतवाला' के प्रारम्भिक अंकों में निराला जी की जो कविताएँ प्रकाशित हुईं, उनसे साम्य करने पर उससे बहुत पूर्व रचित 'जुही की कली' भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ दिखलाई पड़ती है। डॉ० रामविलास शर्मा का अनुमान है कि इस कविता को निराला जी ने अनेक बार सँवारा होगा, क्योंकि मतवाला में 'जूही' दीर्घ अकारान्त है और 'वंकिम विशाल नेत्रों' के बदले अलग अन्दाज़ में 'बाँके विशाल नेत्र' है।[1] 'जुही की कली' पत्नी के देहावसान के उपरान्त श्मशान पर लिखी गई कविता है। इसमें कल्पना की प्रधानता है। इसके नायक और नायिका दोनों स्वप्न-लोक के वासी हैं। कवि ने प्राकृतिक उपकरणों का 'मानवीकरण' करके अपने हृद्गत भावों को मूर्त्तिमन्त किया है :—

विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल, तनु तरुणी-जुही की कली
दृग बन्द किए, शिथिल-पत्रांक में

१. निराला, पृ० ५१—डॉ० रामविलास शर्मा

वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।[1]

इस प्रकार सन् १९२० तक खड़ीबोली में व्याकरण-सम्बन्धी परिमार्जन के साथ भाषा में लाक्षणिक शक्ति और अप्रस्तुत-विधान में नूतन प्रतीक-योजना के समावेश द्वारा अभिव्यक्ति को सूक्ष्म और सशक्त बनाया गया। ध्वन्यर्थव्यंजना, नादात्मकता, मानवीकरण आदि द्वारा भाषा की समृद्धि के चिह्न भी लक्षित होने लगे। प्रसाद, पन्त तथा निराला के अवतरण से खड़ीबोली कविता को नवीन दिशा का संकेत मिला। और कालान्तर में इन्हीं कवियों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित करके छायावाद युग का सूत्रपात किया।

१. परिमल, पृ० १९१—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

परिशिष्ट-१

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रंथ

अग्नि पुराण—व्यास

अलंकार सर्वस्व—रुय्यक, निर्णयसागर प्रेस, १९३९, द्वितीयावृत्ति

ऋतु संहार—कालिदास

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णय सागराख्य यन्त्रालय, १९०१ सन्

काव्यमीमांसा—राजशेखर, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, १९३४ सन्

काव्यादर्श—दण्डी, कलिकताराजधान्याम् पशुपति यन्त्रे मुद्रितः, १९११ ई० तृतीय सं०

काव्यालंकार सूत्र—वामन, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९०७

काव्य प्रकाशः—मम्मट, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, खिस्ताब्दः १९२१

काव्यालंकार—मम्मट, प्र० जयकृष्णदास, हरिदास गुप्तः, विद्यविलास प्रेस, १९८५ सं०

काव्यालंकार सार संग्रह—उद्भट, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, १९३१ ई०

किरातार्जुनीयम्—भारवि

कुमार सम्भवं—कालिदास, निर्णयसागर मुद्रणालय, १९५५ सन्, चतुर्दश संस्करणम्

ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन, निर्णयसागराख्य मुद्रण यंत्रालय, १९११ खिस्ताब्द : चतुर्थावृत्ति

न्याय सूत्र—गौतम

नाट्य शास्त्र—भरत, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४ ई०

महाभाष्य—पतंजलि

रघुवंश—कालिदास, चौखम्बा, संस्कृत पुस्तकमाला, १९५३, तृतीय संस्करण

रस गंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ, निर्णयसागराख्य मुद्रणयंत्रालय, खिस्ताब्द : १९१६

वाक्य पदीय—भर्तृहरि

वक्रोक्ति जीवितम्—कुन्तक

शिशुपाल वध—माघ

सरस्वती कण्ठाभरण—भोजदेव, प्र० पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, द्वितीयावृत्ति, खिस्ताब्द १९३४
हिन्दी साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, सं० डॉ० सत्यव्रत सिंह, सं० २०१४ चौखम्बा, वाराणसी
हृदय दर्पण—भट्टनायक

हिन्दी-ग्रंथ

अधखिला फूल—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
अनाथ—सियारामशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २०१२
अनुराग रत्न—नाथूराम शर्मा 'शंकर'
अभिलाष माधुरी—प्र० साह गौरशरण गुप्त, संवत् १९८८, द्वितीय आवृत्ति
अष्टछाप के कवि—प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, संवत् २००६, द्वितीय संस्करण
आधुनिक काव्य धारा—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, बनारस, संवत् २००७, तृतीय आवृत्ति
आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद, १९४८ ई०, द्वितीय आवृत्ति
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० कृष्णशंकर शुक्ल, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, संवत् २००६, सप्तम संस्करण
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, १९४२ ई०, प्रथम संस्करण
आलम केलि—ला० भगवानदीन, प्र० उमाशंकर मेहता, सं० १९७९
आल्हा खण्ड—सं० सी० ई० इलियट, सन् १९३०
आँसू—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत् २०१३
इन्दर सभा—अमानत, हरिप्रकाश यंत्रालय, संवत् १९४९, द्वितीय संस्करण
उर्दू का रहस्य—पं० चन्द्रवली पाण्डेय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् १९९८
उर्दू साहित्य का इतिहास—एहतिशाम हुसैन, अनजुमने तरक्की उर्दू (हिन्द), अलीगढ़, १९५४ ई०, प्रथम संस्करण
उर्दू साहित्य का इतिहास—रामबाबू सक्सेना
ए कलेक्शन ऑफ़ हीम्स ऑफ़ डेली वरशिप—जॉन पारसन और जॉन क्रिस्चयन, बैप्टिस्ट,मिशन प्रेस, १८७९ ई०, चतुर्थ संस्करण
एकान्तवासी योगी—श्रीधर पाठक, तृतीय संस्करण, राजपूत ऐंग्लो आरिएन्टल प्रेस, आगरा
कुतुब मुशतरी—दक्खिनी प्रकाशन समिति, हैदराबाद, सन् १९५४
कबीर साहिब की ज्ञान-गुदड़ी, रेखते और झूलने—बेलवडियर प्रेस प्रयाग, १९५० ई०
कबीर वचनावली—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००३, नवाँ संस्करण

कबीर की विचारधारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर
कबीर—डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर लिमिटेड बम्बई, १९५५ ई०, पाँचवाँ संस्करण
कबीर ग्रंथावली—डॉ० श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २०११, पाँचवाँ संस्करण
करुणालय—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०११, तृतीय संस्करण
कलिराज कथा—बालमुकुन्द गुप्त
कविता कौमुदी, भाग १ और २—पं० रामनरेश त्रिपाठी
कवि सियारामशरण गुप्त—सं० डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
कविता कलाप—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९०९ ई०, प्रथम संस्करण
कानन कुसुम—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, सं० २००७, पंचम आवृत्ति
काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, सं० २००५, प्रथम सं०,
काव्य दर्पण—पं० रामदहिन मिश्र, सन् १९४७, ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर, प्रथम सं०,
काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, तृतीय आवृत्ति, सं० २००७, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता
किसान—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) सं० २००२
खड़ीबोली का आन्दोलन—डॉ० शितिकंठ मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१३, प्रथम संस्करण
खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं० १९९८, प्रथम सं०
खड़ीबोली का पद्य—अयोध्याप्रसाद खत्री, सं० फ्रेड्रिक पिंकट, डब्ल्यू० एच० एलेन, लन्दन, १८८९ ई०
खड़ीबोली का पद्य, भाग १—नारायण प्रेस, मुज़फ्फ़रपुर, १८८७ ई०
खड़ीबोली का आन्दोलन—अयोध्याप्रसाद खत्री
खुसरो की हिन्दी कविता—ब्रजरत्नदास, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २०१०, द्वितीय संस्करण
ग्रामीण हिन्दी—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
गीत और भजन—इलाहाबाद मिशन प्रेस, १८७५ ई०
गीतों की पुस्तक—१८८९ ई०
गीतिका—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
गुलज़ार चमन—शीतलदास, श्याम काशी प्रेस, मथुरा
गुप्त निबन्धावली, भाग १—बालमुकुन्द गुप्त, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति कलकत्ता, सं० २००७, प्रथम बार
गुप्तजी की कला—डॉ० सत्येन्द्र, साहित्य प्रेस आगरा, सं० २०११, पंचम संस्करण

गर्भ रण्डा रहस्य—नाथूराम शर्मा 'शंकर'

ग्रंथ साहिब—प्र० भाई जवाहरसिंह कृपालसिंह, सं० १९६४

ग्रंथि—सुमित्रानन्दन पन्त, भारती भंडार इलाहाबाद, सं० २०१३, तृतीय आवृत्ति

गोरख बानी—डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल

गोरा बादल की कथा—सं० अयोध्याप्रसाद खत्री

घनानन्द ग्रंथावली—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीमद्भागवत प्रेस काशी, सं० २००८

चन्द्रकला भानुकुमार नाटक—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

चिन्तामणि, भाग १ और २—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी

चित्राधार—जयशंकर प्रसाद

चुभते चौपदे—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस

चोखे चौपदे—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस

जगत सचाई सार—श्रीधर पाठक

जयद्रथ वध—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०१३, बयालीसवाँ सं०

झरना—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार इलाहाबाद, सं० २०१२, नवाँ संस्करण

झंकार—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०१४, तृतीयावृत्ति

तुलसीसाहिब की शब्दावली और जीवन चरित्र—बेलवडियर प्रेस प्रयाग, १९५३ ई०

दक्खिनी हिन्दी—बाबूराम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९५२ ई०, प्रथम संस्करण

द्विवेदी काव्यमाला—महावीरप्रसाद द्विवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४० ई० प्रथम संस्करण

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ—काशी नागरी प्रचारिणी सभा

देवदूत—रामचरित उपाध्याय, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, सं० १९७६

दूर्वादल—सियारामशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २००४, द्वितीय संस्करण

नज़ीर की बानी—सं० रघुपति सहाय फ़िराक, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, १९५३ ई०, प्रथम संस्करण

नागर समुच्चय—नागरीदास, ज्ञानसागर छापाखाना, मुंबई, १८९८ ई०

नादिराते शाही—शाह आलम, हिन्दुस्तान प्रेस, रामपुर, १९४४ ई०

नासिकेतोपाख्यान—पं० सदल मिश्र

निम्बार्क माधुरी—अग्रवाल प्रेस, वृन्दावन

निराला—डॉ० रामविलास शर्मा, शिवलाल अग्रवाल कं०, आगरा, १९५५ ई०, दूसरा सं०

नीति कविता—हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, सन् १९१४, द्वितीय संस्करण

पत्रावली—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०१२
पथिक—रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मन्दिर प्रयाग, १९५६ ई०, तेतीसवाँ संस्करण
पद्य प्रबन्ध—मैथिलीशरण गुप्त, इंडियन प्रेस प्रयाग, १९१२ ई०, प्रथम संस्करण
पद्य पुष्पांजलि—पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, प्रथम सं०, सं० १९७२, स्टार प्रेस कानपुर
परिमल—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गंगा ग्रंथागार, सं० २००७, पंचम आवृत्ति
पलासी का युद्ध—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०१३, द्वितीय संस्करण

पलटू साहिब की बानी—संतबानी पुस्तक माला कार्यालय, १९५४ ई०
पल्लव—सुमित्रानन्दन पन्त
पुरानी हिन्दी—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१३, प्रथम संस्करण

पुष्पांजलि, भाग १—पं० शुकदेव बिहारी मिश्र
पूर्ण संग्रह—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'
प्रताप लहरी—पं० प्रतापनारायण मिश्र, नारायणप्रसाद अरोड़ा, १९४९ ई०, प्रथम बार
प्रताप पीयूष—पं० रमाकान्त पीयूष, १९३३ ई०
प्रिय प्रवास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं० २००२, चतुर्थ संस्करण

प्रेमसागर—लल्लूजीलाल, हिन्दुस्तानी प्रेस, कलकत्ता, सन् १८०५
प्रेमसागर—लल्लूजीलाल, छोटेलाल, दुरखशानी का छापाखाना, सं० १९१०
प्रेम पथिक—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण
प्रेमघन सर्वस्व, भाग १—बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' प्रथम सं०, सम्वत् १९९६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रेम पुष्पोपहार—नागरी प्रचारिणी सभा, १९०४ ई०
फ़ोर्ट विलियम कॉलेज—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, यूनिवर्सिटी इलाहाबाद, सं० २००४
बनारसी विलास—सं० नाथूराम प्रेमी, निर्णयसागर प्रेस, १९०८ ई०
बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन (पाण्डुलिपि)—डॉ० नत्थनसिंह, आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, १९५६ ई०

बोलचाल—खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, सन् १९२८
ब्रजनिधि ग्रंथावली—सं० हरिनारायण पुरोहित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् १९९०, प्रथमावृत्ति

ब्रज बिहार—सं० ला० भगवानदीन
ब्रज माधुरी सार—वियोगी हरि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, संवत् २०११, दसवाँ संस्करण
भक्तमाल—नाभादास, नवलकिशोर प्रेस, १८९५ ई०
भारत गीत—श्रीधर पाठक, सं० १९८५, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय सं०

भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २००३, बाईसवाँ संस्करण

भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, २ और ३

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—ब्रजरत्नदास, सन् १९४८, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद द्वितीय सं०

भारतेन्दु युग—डॉ० रामविलास शर्मा, युग मन्दिर, उन्नाव

भाषा विज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, संवत् २००६, चतुर्थ संस्करण

भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, हिन्दी भवन, १९५७ ई०, द्वितीय संस्करण

भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, राजकमल प्रकाशन, १९५७ ई०, द्वितीय संस्करण

भीखासाहिब की बानी—बैलवडियर प्रेस प्रयाग, १९१९ ई०

भूषण ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास, १९३० ई०

मनोविनोद, भाग ३—श्रीधर पाठक, प्र० गिरिधर पाठक, नवीन संस्करण

मलूकदास की बानी—बैलवडियर प्रेस प्रयाग, १९४६ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानु सिंह

महाकवि नज़ीर—रघुराज किशोर

महाराणा का महत्व—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१२, चतुर्थ संस्करण

महाकवि हरिऔध का प्रिय प्रवास—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

महाकवि हरिऔध—पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश

मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, २, ३ और ४.

मिलन—रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मन्दिर प्रयाग, संवत् २०१०, नवाँ संस्करण

मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई का पद्य संग्रह—सं० ब्रजराज और वियोगी हरि, संवत् १९७९

मेवाड़ गाथा—लोचनप्रसाद पाण्डेय, सन् १९१४, नरसिंह प्रेस, कलकत्ता, प्रथम बार

मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—डॉ० उमाकान्त, प्रथम सं० सन् १९५८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली

मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन—डॉ० रामरतन भटनागर

मौर्य विजय—सियारामशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०१३

रहीम रत्नावली—मायाशंकर याज्ञिक, साहित्य सेवा सदन काशी, तृतीयावृत्ति

रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ—पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २०१२, प्रथम संस्करण

राधाकृष्णदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड

रामचरित चन्द्रिका—पं० रामचरित उपाध्याय, ग्रन्थमाला कार्यालय बाँकीपुर, १९१९ ई०, प्रथम संस्करण
रामचरित चिन्तामणि—पं० रामचरित उपाध्याय, ग्रन्थमाला कार्यालय बाँकीपुर, १९२० ई० प्रथम संस्करण
रंग में भंग—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २०१२
लावनी, चौदह रत्न—सं० राजाराम मिश्र, बिहार बन्धु प्रेस, द्वितीय संस्करण
लावनी, बनारसीदास—अहमदी प्रेस आगरा, १८८६ ई०
विकट भट्ट—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २०१०, पंचमावृत्ति
विरहिणी व्रजांगना—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २०१०, पंचमावृत्ति
वीरांगना—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, (झाँसी), संवत् २०१०, पंचमावृत्ति
वीणा—सुमित्रानन्दन पन्त, भारती भण्डार इलाहाबाद, संवत् २००७, द्वितीय संस्करण
वैतालिक—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २००८
वृन्द सतसई—शंकरदेव शास्त्री, संवत् १९८७
वृन्दावन विलास—सं० नाथूराम प्रेमी, निर्णयसागर प्रेस, १९०८ ई०
शकुन्तला नाटक, भाग १—गणेशप्रसाद, दिलकुश प्रेस, फतेहगढ़, संवत् १९४७
शकुन्तला—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २०१३, तेरहवाँ संस्करण
शिवसिंह सरोज—सं० शिवसिंह सेंगर, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, १९२६ ई०
शंकर सर्वस्व—सं० हरिशंकर शर्मा, निराला प्रेस आगरा, संवत् २००८, प्रथम संस्करण
शंकर सरोज—नाथूराम शर्मा 'शंकर', प्र० आर्यसमाज, बरौटा, हरदुआगंज, अलीगढ़, संवत् १९८७, चतुर्थ संस्करण
श्रान्त पथिक—सुदर्शन प्रेस इलाहाबाद, १९०२ ई०, तृतीय संस्करण
श्रीगोपिका गीत—श्रीधर पाठक, पद्मकोट प्रयाग, संवत् १९७३
संत सुधासार, खण्ड २—वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली, १९५३ ई०
संत कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद
संचारिणी—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, १९५५ ई०, चतुर्थ संस्करण
संत साहित्य—भुवनेश्वरनाथ मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय बाँकीपुर, १९४१ ई०, प्रथम संस्करण
सत्य धर्म मुक्तावली—श्रद्धाराम, हिन्दू धर्म प्रकाशन सभा, संवत् १९३२
साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००६, नवीं आवृत्ति
साकेत : एक अध्ययन—डॉ० नगेन्द्र, साहित्य प्रेस, आगरा, १९४० ई०, प्रथम संस्करण
साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), संवत् २००७
साहित्य नवनीत—पं० अम्बिकादत्त व्यास, चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस, १८९९ ई०, द्वितीय संस्करण